आचार्य श्री कुंथुसागर ग्रंथमाल.

विद्यानंदि--स्वामिविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारः

(भाषाटीकासमन्वित)

(सप्तमखण्डः)

※ टीकाकार ※

तर्करत्न, सिद्धांतमहोदधि, न्यायदिवाकर, स्याद्वादवारिधि, दार्शनिकशिर

श्री पं. माणिकचन्दजी न्यायाचार्य

※ संपादक व प्रकाशक ※

स्व. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

(विद्यावाचस्पति व्या के समाजरत्न, धर्मालंकार, न्यायकाव्यतीर्थ)

ऑ. मन्त्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला,

सन् १९८४) मूल्य रु १०० (प्रति ६००

Bhartiya Shruti-Darshan Kendra
JAIPUR

प्रकाशकीय

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार का यह सप्तम एवं अंतिम खंड आपके हाथोंमें है। इस ग्रंथ के टीकाकार स्व. श्री माणिकचन्दजी कौन्देय, न्यायाचार्य की यह कृति, जो सात भागोंमें प्रकाशित हुई है, उनकी विद्वत्ताका सूचक है। जैनेतर आचार्योंकी मिथ्या धारणाओंका खण्डन करके जैनाचार्योंकी सम्यक् धारणाको प्रस्तुत करनेकी उनकी कुशलता अद्वितीय है। तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकारके इन सात खंडोंको पाकर जैन एवं भारतीय समाज कृतकृत्य हुआ है।

इस खण्डके लिए मैसोर विश्वविद्यालयस्य जैनविद्याविभाग प्रमुख डॉ. एम. डी. वसंतराजने परिश्रमपूर्वक प्राक्कथन लिखा जो अत्यंत विद्वत्ता-प्रचुर है। उनके हम हार्दिक ऋणी हैं। इस ग्रंथ प्रकाशनमें प्राप्त पंडितरत्न श्री जिनदासजी शास्त्री एवं पं. नरेंद्रकुमारजी भिसीकर सोलापुरवालोंका हार्दिक सहयोग उल्लेखनीय है।

कल्याण प्रिंटिंग प्रेसने अनेक कठिनाईयोंके बावजूद इस ग्रंथके मुद्रणका दायित्व लिया उनका हम आभारी हैं।

आशा है, इससे पहले छह खंडोंका जिस धर्मबुद्धिसे स्वागत हुआ था, इसका भी उसी प्रकार होगा।

सुभाष वर्धमान शहा

स्व. पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्य

स्व. पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

प्राक्कथन

यह तो स्वभावसिद्ध ही है कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं। यदि सुख निजस्वरूप है तो उस सुखका स्वरूप क्या है? इसे पानेका उपाय क्या है? आदि विचारो पर सतत मन्थन करनेकी प्रथा प्राचीनकालसे ही चली आ रही है। आगे जाकर यही "आध्यात्मिक चिंतन" के स्वरूपमे विकसित होकर भारतमे अभी तक जीवन्त है। ऐतिहासिक प्राचीन स्तर "मोहेंजोदारो" के अति पुरातन अवशेषोमें इतिहासज्ञोने सशोधनके द्वारा इस "आध्यात्मिक-चिंतन" को पहिचाना है। प्राचीन ऐतिहासिक अवशेषो-प्रतीकोमें जो कायोत्सर्ग (खड्गासन) की मूर्तियाँ तथा नग्न तपस्वियोके चित्र पाये जाते है, इसका ज्वलन्त साक्षी है। इससे हम "जैन तत्वचिंतन' की प्राचीनताको भली भाति समझ सकते है।

तीर्थंकर (जिनेश्वर) का "दिव्योपदेश" द्वादशागोमे समाविष्ट था, और वह "उपदेश" गुरु-शिष्योंकी श्रुतपरम्पराकी धाराके रूपमें बहती आ रही थी। वही श्रुत (शास्त्र) धारा महावीर निर्वाण के बाद १६२ वर्षोतक अविछिन्न रहो। फिर विस्मृतिके गर्त्तोमे गिरकर क्रमश लुप्त होती गई। वीर निर्वाण के ६८३ वर्षो बाद महावीरकी दिव्यवाणी सिर्फ आशिकरूपमे ही रह गई। महावीर की "दिव्य-वाणी" के पूर्णरूपसे लुप्त हो जानेका भय उत्पन्न हुआ। इसी भयके कारण श्रुत (सुना हुआ) ज्ञान, अक्षरो (अविनाशी) में सुरक्षित रख दिया गया, अर्थात् लिपिबद्ध कर दिया गया।

आरभिक दशामें तो जैनागम ग्रथोकी रचना प्राकृत भाषामे ही हुई थी। बादमे लोकप्रियताकी दृष्टिसे संस्कृत भाषामे भी उसकी रचनायें होनें लगी। आचार्योकी संस्कृत कृतियोमे तत्वार्थसूत्रको आद्यता दी जाती है। दिगबर जैनाम्नायमे "तत्वार्थसूत्र" तथा श्वेतांबराम्नायमे "तत्वार्थाधिगमसूत्र" के नामसे, सर्वमान्य जैनागमोमे यह महान् ग्रथ "जैन वेदके रूपमे सुप्रसिद्ध हुआ है। इस कृतिपर लिखी गई व्याख्यानोकी सख्या अन्य किसी जैन शास्त्रको प्राप्त नही है। केवल सख्यामे ही नही, अर्थगाभीर्यमे भी इस ग्रथकी समानता दूसरा कोई जैन ग्रथ अब तक पा नही सका है। इसीसे हम समझ सकते है कि इस महान् ग्रथराजका महत्व जैनोमे कितना गहरा प्रभाव डाल चुका है। इतना ही नही उत्तरकालीन सभी जैनाचार्योकी दृष्टिमे भी यह जैनागमोका महान "आधारस्तंभ" माना गया है। यही इस ग्रथकी गभीरता का भी द्योतक है। यह ग्रथ जो मोक्षमार्गके दर्शनसे लेकर "आत्मायत्त" अनन्तसुख रूपी मोक्ष स्वरूपके निरूपणके साथ पूर्ण होता है, इसीलिए इसे "मोक्षशास्त्र" भी कहते है। इसमे दस अध्याय हैं।

षट्खडागमकी सुप्रसिद्ध 'धवला' टीकाकार 'श्री वीरसेनाचार्य' तथा 'विद्यानन्दी' आचार्योंके मतसे 'गृद्धपिछाचार्य' तत्वार्थसूत्रके 'रचयिता' है। दिगबर जैन पथमे उपलब्ध उल्लेखोमे वीरसेनाचार्यका कथन ही अतीव प्राचीन है। 'उमास्वाति' 'उमास्वामी' ये दोनो नाम भी दोनो दिगबर-श्वेताबर पथोंमे

प्रचलित है। यद्यपि 'गृद्धपिछाचार्य' यह नाम 'कुदकुदाचार्य' के नामोंमे है । तथापि कुछ दूसरे 'ऐतिहासिक-कथन' के अनुसार कुदकुदाचार्यके बादमे जो नन्दिसघके प्रधानाचार्य हुए यह उन्हीका नाम है। परम्परागत कथनानुसार श्री कुदकुदाचार्यका स्वर्गवास महावीर निर्वाणाव्द ७०१ मे हुआ है, और उसी वर्ष 'गृद्धपिन्छाचार्य' आचार्य स्थानपर नियुक्त हुए थे । इस ऐतिहासिक आधार पर तत्वार्थसूत्रकी रचना महावीर निर्वाण सवत् ८ वे (शतमान) मे हुई होगी । 'तत्वार्थसूत्र' दिगबर-श्वेतावर और यापनीयादि सर्व पथोमे मान्यता प्राप्त महान ग्रन्थरत्न है। दस अध्यायोमे समाप्त होनेवाले इस ग्रथराजकी कई व्याख्यायें केवल व्याख्या तक ही सीमित न रहकर 'स्वतन्त्र ग्रथ' की मान्यता प्राप्त कर चुकी है। इ,से हम 'तत्वार्थ-सूत्रका महत्व और भी अच्छी तरह समझ सकते है।

'सर्वार्थसिद्धि" वृत्ति–

यह अत्यन्त प्राचीन सर्वादृत व्याख्या है। देवनन्दी-पूज्यपादने इस वृत्तिकी रचना की है । आगम-पारगामी पूज्यपादने मूलग्रथके प्रत्येक सूत्रकी व्युत्पत्ति, तथा अर्थका औचित्य इसमें वताया है । सूत्रके उद्दिष्टार्थमें आगमाविरोधके साथ सूक्ष्म विश्लेपण किया है। इसमें कोई अत्युक्ति न होगी कि इस व्याख्याके सूक्ष्म विवेचनात्मक विश्लेपणको देखनेवाला हर कोई विद्वान दग रह जाता है। नतमस्तक होता है। इसमें कोई सदेह नहीं कि सर्वार्थसिद्धि की रचना द्वारा आचार्य पूज्यपादने जैनसिद्धात एव सस्कृत साहित्य को अपूर्व सपत्ति दी है । इस वातकी पुष्टिके लिए 'आगमचक्ष' पण्डितप्रवर फलचन्दजी 'सिद्धात शास्त्रीके' मन्तव्यको उन्हीके वचनोंमे यहा पर उल्लेख करना ज्यादा उचित होगा । पढिये—

"आचार्य पूज्यपादने इसमें केवल भाषा सौष्ठवका ही ध्यान नही रखा है। अपि तु आगमिक परपरा का भी पूरी तरह निर्वाह किया है। प्रथम अध्यायका सातवा और आठवा सूत्र इसका प्राजल उदाहरण है । इन सूत्रोंकी व्याख्याका आलोढन करते समय उन्होने सिद्धात ग्रथोका कितना गहरा अभ्यास किया था इस वातका सहज ही पता लग जाता है। इस परसे हम यह दृढतापूर्वक कहनेका साहस करते है कि उन्होने सर्वार्थसिद्धि लिखकर जहा एक ओर सस्कृत साहित्यकी श्रीवृद्धि की है वहा उन्होने परपरासे आए हुए आगमिक साहित्यकी रक्षाका श्रेय भी सपादित किया है।

निचोडरूपमे सर्वार्थसिद्धि की रचना, शैलीके विषयमें सक्षेपमे यही कहा जा सकता है कि वह ऐसी प्रसन्न और विषयस्पर्शी शैलीमे लिखी गई है जिससे वाचक उमास्वाति प्रभृति सभी तत्वार्थसूत्रके भाष्यकारोको उसका अनुसरण करनेके लिए बाध्य होना पडा है।"

'तत्वार्थाधिगम भाष्य' –

यह तो हम पहले ही वता चुके हैं कि श्वेतावर पन्थमे 'तत्त्वार्थसूत्र' को 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' कहा जाता है। ऐसा भी सुननेमे आता है कि तत्वार्थाधिगमसूत्रका भाष्य स्वय उमास्वातिने रचा है । लेकिन यह बात विवादापन्न है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार श्वेतावर पथियोंने अपने पन्थकी मान्यता प्राप्त करनेके उद्देश्यसे मूल सूत्रोके कुछ स्थानोमे कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन कर दिये हैं । तथा अन्तमे यह सिद्ध करनेका विफल प्रयत्न किया है कि 'भाष्य स्वय उमास्वातिने रचा है।'

" तत्त्वार्थ राजवार्तिक " –

दिगम्बराम्नायमें 'सर्वार्थसिद्धि' के बादमे रची हुई कृतियोमे यह 'वार्तिक' अतीव मान्यताप्राप्त महान ग्रथ है। जैनतार्किकप्रवर श्री अकलकदेवने इसकी रचना की है। तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या करनेवाले सभी ग्रथकार जैसे– समन्तभद्रकी 'आप्तमीमासा', दूसरी व्याख्या 'अष्टसहस्री', 'लघीयस्त्रय' आदि सभी न्याय ग्रथोके रचयिता इस वार्तिकमे प्रभावित हैं। अकलकदेवके इस व्याख्यानके महत्त्वके बारेमे मान्य न्यायाचार्य' पडित दरबारीलालजी कोठिया की बातका उल्लेख करना उचित होगा। 'आप्तपरीक्षा' वीर सेवा मन्दिर– प्रकाशनकी प्रस्तावनामे पृष्ठ २४ में वे कहते हैं कि 'विद्यानन्द' को यदि 'अकलकदेव' का 'तत्त्वार्थवार्तिक' न मिलता तो उनके 'श्लोकवार्तिक' में वह विशिष्टता न आती जो उसमे है ।

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक–

अकलकदेवके राजवार्तिक व्याख्याके बाद विद्यानन्दी आचार्य का 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' दिगम्बरा–म्नायमे अपार जनमान्यता प्राप्त महान ग्रथ माना जाता है। इस वार्तिकके आद्य मगल श्लोकमे लिखा है– 'प्रवक्ष्यामितत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्' इसीसे सूचित होता है कि यह तत्त्वार्थसूत्रके श्लोकरूपी वार्तिक हैं। मगर कही कही श्लोकोके बीचमे सूत्रोके विवरणरूपमे गद्य व्याख्यान भी विद्यमान है। इसमे कोई शक नही कि यह स्वय विद्यानदजीकी रचना हैं। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार 'अध्याय' नामक विभागोमे अलावा, 'व्याख्यानवी-शदीकरण' (स्पष्टीकरण) के अन्तमे 'आह्निकम्' नामक विभाग भी जुडे हुए है। इन विभागोकी समाप्ति पर 'इति तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालकारे आह्निकम्' प्रशस्ति भी लिखी गई है। इससे पता लगता है कि इस व्याख्यानका 'श्लोकवार्तिक' का दूसरा नाम श्लोकवार्तिकालकार भी रहा होगा। अनुमान होता है कि श्लोक तथा गद्य व्याख्यान दोनोको मिलाकर इसका नाम 'श्लोकवार्तिकालकार' रखा होगा। यह व्याख्यान तार्किक-शैलीमे बहुत ही प्रौढ तथा गहन हैं। विद्यानन्दीके असाधारण 'आगमपाडित्य' तथा दिगम्बर मुनियोकी आचारनिष्ठा का यह एक 'ज्वलत साक्षी' है। इस व्याख्यानके बारेमे सन्मान्य न्यायाचार्य प दरबारीलालजी जैन कोठियाके वक्तव्यका यथावत उल्लेख विज्ञ पाठकोके समक्ष रखना अतीव लाभप्रद होगा। देखिए–

'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृष्ठ ४५२) में तत्त्वार्थसूत्रके छठे अध्यायके ग्यारहवे सूत्रका व्याख्यान करते हुए जब उन्होंने दुःख शोक, आदि असातावेदनीयरूप पापास्रवके कारणोका समर्थन किया, तब उनसे कहा गया कि जैन मुनि कायक्लेशादि दुश्चर तपोको तपते है– और उस हालतमे उन्हे उनसे दुःखादि होना अवश्यम्भावी है। ऐसी दशामे उनको भी पापास्रव होगा। अतः कायक्लेशादि तपोका उपदेश युक्त नही है और यदि युक्त है तो दुःखादिको पापास्रवका कारण बतलाना असगत है ? इसका विद्यानन्दी अपने पूर्वज पूज्यपाद, अकलकदेव आदिकी तरह ही आर्षसम्मत उत्तर देते है कि जैन मुनियोको कायक्लेशादि तपश्चरण करनेमे द्वेषादि कषायरूप परिणाम उत्पन्न उत्पन्न नही होते, बल्कि उसमे उन्हे प्रसन्नता होती– उसे भार और आपद मानते हैं उन्हीके वे दुःखादिक पापास्रवके कारण है। यदि ऐसा नही हो तो स्वर्ग और मोक्ष के जितने भी साधन है वे सब ही दुःखरूप है और इसलिए सभीको उनके पापास्रवका प्रसग आवेगा। तात्पर्य यह है कि सभी दर्शन–कारोने यम, नियमादि विभिन्न साधनोको स्वर्ग–मोक्षका कारण बतलाया है और वे यम नियमादि दुःखरूप ही हैं तब जैनेतर साधुओके भी उनके आचरण से पापबध प्रसक्त होगा। अतः केवल दुःखादि पापास्रवके कारण नही है अपि तु सक्लेश परिणामयुक्त दुःखादिक ही पापास्रवके कारण हैं। दूसरे तपश्चरण करनेमे जैन मुनिके मनोरति–आनन्दात्मक परम समता रहती है, बिना उस मनोरतिके वे तप नही करते और मनोरति सुख है। अतः जैन मुनिके लिए कायक्लेषादिक तपश्चरणका उपदेश प्रयुक्त नही है।

विद्यानन्दीके इस सुदृढ और शास्त्रानुसारी विवेचनसे प्रकट है कि वे जैन मुनियोंके लिए उपदिष्ट अनशनादि व कायक्लेशादि बाह्य तपोंको कितना महत्व देते थे और उनके परिपालनमें कितने सावधान और विवेकयुक्त तथा जागृत रहते थे ।

विद्यानन्दका दूसरा विचार यह है कि जैन साधु वस्त्रादि ग्रहण नही करता, क्योंकि वह निर्ग्रंथ और मूर्छारहित होता है । यद्यपि यह विचार सैद्धान्तिक शास्त्रमे प्राचीनतम कालसे निबद्ध है, पर तर्क और दर्शन के ग्रन्थोंमे वह अधिक स्पष्टताके साथ विद्यानन्दने ही शुरू हुआ जान पडता है । उनका कहना है कि जैन सिद्धातमे जैन मुनि उसीको कहा गया है जो अप्रमत्त और मूर्छारहित है । अत यदि जैन मुनि वस्त्रादिको ग्रहण करता है तो वह अप्रमत्त और मूर्छारहित नही हो सकता, क्योंकि मूर्छाके बिना वस्त्रादिका ग्रहण किसीके सभव नहीं है । इस सबधमे जो उन्होने महत्वपूर्ण चर्चा प्रस्तुत की है उसे हम पाठकोंके ज्ञानार्थ 'शका—समाधान' के रूपमे नीचे देते है—

शका— लज्जानिवारणके लिए मात्र खण्ड वस्त्र (कौपीन) आदिका ग्रहण तो मूर्छाके बिना भी सभव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि कामकी पीडाको दूर करनेके लिए केवल स्त्रीका ग्रहण करने पर भी मूर्छाके अभावका प्रसग आयेगा और यह प्रकट है कि स्त्रीग्रहणमे मूर्छा है

शका— स्त्रीग्रहणमे जो स्त्रीके साथ आलिंगन है वही मूर्छा है ?

समाधान— तो खण्डवस्त्रादिके ग्रहणमे जो वस्त्राभिलाषा है वह वहा मूर्छा हो । केवल अकेली कामकी पीडा तो स्त्रीग्रहणमें स्त्रीकी अभिलाषाका कारण हो और वस्त्रादि ग्रहणमें लज्जा कपडेकी अभिलाषाका कारण नही, इसमे नियामक कारण नही है । नियामक कारण तो मोहोदयरुप ही अन्तरग कारण है जो वस्त्रग्रहण और स्त्रीग्रहण दोनोम समान है । अत यदि स्त्रीग्रहणमे भी मूर्छा मानी जाती है तो वस्त्रग्रहण भी मूर्छा अनिवार्य है, क्योंकि बिना मूर्छाके वस्त्रग्रहण हो ही नही सकता ।

शका— यदि मुनि खण्डवस्त्रादि ग्रहण न करे— वे नग्न रहे तो उनके लिंगको देखनेसे कामिनियोंके हृदयमे विकारमात्र पैदा होगा । अत उस विकारभावको दूर करनेके लिए खण्डवस्त्रका ग्रहण उचित है ?

समाधान— यह कथन भी उपरोक्त विवेचनसे खडित हो जाता है, क्योंकि विकारभावको दूर करनेरूप चेष्टा ही वस्त्राभिलाषाका कारण है । तात्पर्य यह कि यदि विकारभावको दूर करनेके लिए वस्त्रग्रहण होता है तो वस्त्राभिलाषाका होना अनिवार्य है । दूसरे, नेत्रादि सुन्दर अगोंके देखनेसे भी कामिनियोंमें विकारभाव उत्पन्न होना सभव है, अत उनको ढकनेके लिये भी कपडेके ग्रहणका प्रसग आवेगा, जैसे लिंगको ढकनेके लिए कपडेका ग्रहण किया जाता है । आश्चर्य है कि मुनि अपने हाथसे बुद्धिपूर्वक खण्डवस्त्रादिको लेकर धारण करता हुआ भी वस्त्रखण्डादिकी मूर्छारहित बना रहता है ? और जब यह प्रत्येय एव सभव माना जाता है तो स्त्रीका आलिंगन करता हुआ भी वह मूर्छारहित बना रहे, यह भी प्रत्येय और सभव मानना चाहिए । यदि इसे प्रत्येय और सम्भव नहीं माना जाता तो उसे (वस्त्रग्रहण करने पर भी मूर्छा नही होती, इस बातको) भी प्रत्येय एव सभव नही माना जा सकता, क्योंकि वह युक्ति और अनुभव दोनोसे विरुद्ध है । अत सिद्ध हुआ कि मूर्छाके बिना वस्त्रादिका ग्रहण सम्भव नही है, क्योंकि वस्त्रादिग्रहण मूर्छाजन्य है— वस्त्रादिका ग्रहण कार्य है और मूर्छा उसका कारण है और कार्य, कारणोके बिना नही होता । पर, कारण कार्यके अभावमे भी रह सकता है और इसलिए मूर्छा तो वस्त्रादिग्रहणके अभावमें भी सभव है, जैसे भस्माच्छन्न अग्नि धूमके अभावमें ।

शका– यदि ऐसा है तो पिछी आदिके ग्रहण मे भी मूर्छा होनी चाहिए ?

समाधान– इसीलिये परम निर्ग्रंथता हो जानेपर परिहारविशुद्धि सयमवालोसे उसका (पिछी आदिका) त्याग ही जाता है, जैसे सूक्ष्म सापराय और यथाख्यात सयमवाले मुनियोके हो जाता है । किंतु सामायिक और छेदोपस्थापनासयमवाले मुनियोके सयमका उपकरण होनेसे प्रतिलेखन (पिछी आदि) का ग्रहण सूक्ष्म मूर्छाके सद्भावमें भी युक्त ही है । दूसरे, उसमें जैनमार्गका विरोध नही है। तात्पर्य यह कि जिन सामायिक और छेदोपस्थापना सयमवाले मुनियोके पिछी आदिका ग्रहण है उनके सूक्ष्म मूर्छाका सद्भाव है और शेष तीन सयमवाले मुनियोके पिछी आदिका त्याग हो जानेसे उनके मूर्छा नही है । दूसरी बात यह है कि मुनि के लिए पिछी आदिका ग्रहण जैनमार्गके अविरुद्ध है, अत उसके ग्रहणमें कोई दोष नही हैं । लेकिन इसका मतलब यह नही है कि मुनि वस्त्र आदि भी ग्रहण करने लगें, क्योकि वस्त्र आदि नाग्न्य और सयम के उपकरण नही है ।

दूसरे वे जैनमार्गके विरोधी है। तीसरे, वे सभीके उपभोगके साधन है । इसके अलावा, केवल तीन चार पिछ व केवल अलाबूफल तूमरी (कमण्डलु) प्राय मूल्यमें नहीं मिलते, जिससे उन्हे भी उपभोगका साधन कहा जाय । नि सदेह मूल्य देकर यदि पिछादिका भी ग्रहण किया जाय तो वह न्यायसगत नही है, क्योकि उसमें सिद्धातविरोध है । मतलब यह कि पिछी आदि न तो मूल्यवान वस्तुए है और न दूसरो के उपभोगकी चीजे है। अत मुनिके लिए उनके गहणमे मूर्छा नही है । लेकिन वस्त्रादि तो मूल्यवाली चीजें है और दूसरेकें उपभोगमे भी वे आती है, अत उनके ग्रहणमे ममत्वपूर्ण मूर्छा होती है ।

शका– क्षीणमोही वारहवे आदि तीन गुणस्थानवालोके शरीरका ग्रहण सिद्धातमें स्वीकृत है, अत समस्त परिग्रह मोह–मूर्छाजन्य नही है ?

समाधान– नही क्योकि उनके पूर्वभव सवधी मोहोदयसे प्राप्त आयु आदि कर्मवधके निमित्तस शरीरका ग्रहण है–उन्होने उस समय उसे वुद्धिपूर्वक ग्रहण नही किया है । और यही कारण है कि मोहनीयकर्मके नाश हो जानेके वाद उसको छोडनेके लिये परमचारित्रका विधान है । अन्यथा उसका आत्यन्तिक त्याग सभव नही है । मतलव यह कि वारहवे आदि गुणस्थानवाले मुनियोके शरीरका ग्रहण आयु आदि कर्मवधके निमित्तसे है–इच्छापूर्वक नही है ।

शका– शरीरकी स्थितिके लिये जो आहार ग्रहण किया जाता है उससे मुनिकी अल्प मूर्छा होना युक्तही है ?

समाधान– नही क्योकि वह आहार ग्रहण रत्नत्रयकी आराधनाका कारण स्वीकार किया गया है । यदि उससे रत्नत्रयकी विराधना होती है तो वह मुनिके लिये अनिष्ट है । स्पष्ट है कि भिक्षाशुद्धिके अनुसार नवकोटी विशुद्ध आहारको ग्रहण करनेवाला मुनी कभी भी रत्नत्रयकी विराधना नही करता । अत किसी पदार्थका ग्रहण मूर्छाके अभावमे किसीके सभव नही है और इसलिए तमाम परिग्रह प्रमत्तके ही होते है, जैसे अब्रह्म ।

विद्यानन्द इसी ग्रथमे एक दूसरी जगह और भी लिखते है कि 'जो वस्त्रादि ग्रथरहित है वे निर्ग्रंथ है, क्योकि प्रकट है कि वाह्य ग्रथके सद्भावमें अन्तर्ग्रथ (मूर्छा) नाश नही होता । जो वस्त्रादिकके ग्रहणमे भी निर्ग्रथता वतलाते है उनके स्त्री आदिके ग्रहणमे मूर्छाके अभावका प्रसग आवेगा । विषयग्रहण कार्य है और मूर्छा उसका कारण है और इसलिए मूर्छारूप कारणके नाश हो जानेपर विषयग्रहणरूप कार्य कदापि सभव नही है । जो कहते है कि 'विषय कारण है और मूर्छा उसका कार्य है' तो उनके विषयके अभावमे मूर्छाकी उत्पत्ति सिद्ध नही होगी। पर ऐसा नही है, विषयोसे दूर वनमें रहनेवालोकी भी मूर्छा देखा जाती है, अत मोहोदयसें अपने अभीष्ट अर्थमे मूर्छा होती है और मूर्छाके अभीष्ट अर्थका ग्रहण होता है । अतएव वह जिसके है स्वय उसी निर्ग्रथता कभी नही वन सकती। अत जैनमुनि वस्त्रादि ग्रथरहित ही होते है ।'

(पू स् आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, पृ ११–१५)

श्री विद्यानन्दाचार्य का व्यक्तित्व व जीवितकाल.

साधारणत' मुनिगण एक एक सघ, गण या गच्छके अन्तर्गत रहकर अपने सघ या गण सूचक नाम पाते थे । उस आधारपर कह सकेगे कि आचार्य विद्यानन्दी ' नन्दी ' सघके होंगे । यही नही तत्वार्थ श्लोकवार्तिकालकारके हर अध्यायके अन्तमे ' प्रशस्ति ' वाक्यके रूपमे 'विद्यानदी' नामका उल्लेख किया गया है । लेकिन इसी आचार्य की विरचित ' आप्तपरीक्षामे ' – 'विद्यानन्द' नामकी सूचना मिलती है । और इनका यही नाम ज्यादा प्रचलित भी है । इससे अनुमान लगा सकते हैं कि ' राजवार्तिकालकार ' ग्रथकर्तृके दोनो नाम (विद्यानन्द और विद्यानन्दी) प्रचार मे थे ।

प्राय मुनियोका पूर्वाश्रम अर्थात् माता–पिता–जन्मस्थान–वचपन आदिका पता प्राप्त नही है । ससार–विरक्त–जीवन मे उनको ये सब पिछले जीवनकी गौण बाते गौण लगती है । मुनि–जीवन सबधी बातोका पता लगाना भी कही कही मुश्किल ही नही वल्कि असभव सा हो जाता है । क्योंकि वे अपने परिचयसे ज्यादा धर्मपरिचयकी ओर लगे रहते थे । इसीलिये विशेषत मुनिविरचित ग्रथोके आधारपर ही उन मुनियोके व्यक्तित्व पहिचाने जाते हैं । दि० जैन पथकी श्रेष्ठताके प्रति और दिगम्बर मुनियोके आचार व नियम पालन करनेके बारेमे विद्यानन्दके मनमे अपार श्रद्धा तथा निष्ठाका भाव जागृत था । ई सन ग्यारहवी (शताब्दि) मे विद्यमान ' वादिराज सूरि ' ने न्याय–विनिश्चय-विवरणमे विद्यानदके बारेमे ' अनवद्याचरण ' नामसे उनके नियम पालनके प्रति अपना हार्दिक–गौरव व्यक्त किया है । इनकी विद्यासम्पन्नताके विषय मे नि सदेह कह सकते हैं कि अकलकदेव के बाद दिगबर जैनाम्नायमे इतिहासप्राप्त केवल इने–गिने तार्किक विद्वानोमे ' विद्यानन्द ' का स्थान सर्वोपरि है । जैनसिद्धात, जैन–न्याय–व्याकरणादि मे ही नही वल्कि जैनेतर वौद्ध, नैयायिक, वशेषिक, साख्य मीमासक, चार्वाकादि अन्य दर्शन शास्त्रो मे वे गहराई तक पैठे हुए ' सिद्धात ' तथा अनमोल ' तार्किकरत्न ' भी थे । इनसे रची ग्रन्थराशि ही इसका प्रत्यक्ष साक्षी है ।

विद्यानन्दीके ' जीवित काल ' के बारेमे विश्लेषण या सशोधन करनेकी ज्यादा आवश्यकता ही प्रतीत नही होती, फिर भी हमारे मतमें यहा पर एक बातका मनन करना, याद रखना अवश्य उचित होगा । डॉ श्रीकण्ठ शास्त्रीके मतानुसार विद्यानन्द (×) गगवशके सायि गोट्ट

(×) जैन आण्टिक्वाइरी वाल्यूम X X न II दिसम्बर १९५४ पृ ९ से १४ तक ।

शिवकुमार के छोटे भाई विजयादित्यके पुत्र राचमल्ल तथा सत्यवाक्यके समकालिन थे । मान्य कामताप्रसाद जैन, महेद्रकुमार शास्त्री और दरवारीलाल कोठिया आदि पडित प्रवरोके कथनानुसार 'आप्तपरीक्षा,' 'प्रमाणपरीक्षा' युक्त्यनुशासनालकारोमे विद्यानंदने परोक्षरूपमें (×) 'विजयादित्य' तथा सत्यवाक्योके नामोका उल्लेख किया है । इसके अलावा (×) राचमल्ल सत्यवाक्य दोनोका अमोघवर्षके सेनानी 'बकेश' से युद्धमे सामना करनेकी वात भी उल्लिखित है ।

अब यहा इस विषयसे सवध रखनेवाली एक वातको कहना आवश्यक होगा । ज्यादातर कर्नाटक प्रातमे 'नोम्पी' (व्रताचरण) करनेकी धार्मिक परिपाटी (प्रथा) बहुतकाल पहिले से ही चलनी आ रही है । इन व्रताचरणोसे सबधित 'नोपी कथाए' (व्रत कथाए) विशेपत प्रचारमे है । उन कथाओमें 'नागस्त्री नोपी कथा' भी एक है । इसमे लिखा है कि 'तेरदाळ' के राजा बकभूपने विद्यानन्दी और माणिक्यनन्दी नामक दो मुनियोको आहार देनेके पश्चात् उनसे 'नागस्त्री' नोपी (व्रत) का ग्रहण किया था । परपरासे अकृत्रिमरूप मे चले आए इस कथन की 'ऐतिहासिकता' के बारेमे कोई सदेह नही उठता । क्योकि इस 'नोपी कथा' के आधारपर लिखा हुआ मेरा विश्लेषणात्मक एक लेख 'सन्मति' पत्रके अप्रेल, मई १९८० के अक के पृष्ठ ९४–१०० में प्रकट हुआ है । विद्यानन्दी द्वारा परोक्षरूपमे सत्यवाक्य तथा राचमल्लकी जो सूचना मिलती है, राचमल्ल द्वारा बकेशका सामना करनेकी बात केरेगोडे रगपुरके ताम्रपट शासनके कथनोसे जब समन्वय रखती है तो इससे नोपी कथाकी ऐतिहासिकता को और भी पुष्टि मिल जाती है । इन सब बातोसे एक बात दृढ हो है कि विद्यानन्दी और माणिक्यनन्दी मुनि दोनो साधर्मी भ्राता बनकर बकरस [बकेश] अमोघवर्ष, राचमल्ल, सत्यवाक्य इनके समकालीन थ, और इन दोनो (विद्यानन्दी, माणिक्यनन्दी) का जीवित काल प्राय ई सन आठवी और नौवी शताब्दीके मध्यवर्ती कालमे रहा होगा । अर्थात् ई सन ७७५ से ७८० के वीचमे होगा ।

पट्खंडागम की धवला तथा कषाय पाहुडकी जयधवला व्याख्याके प्रथम भागके रचयिता सुप्रसिद्ध सिद्धातकेसरी श्री वीरसेनाचार्य भी इसीकालमें जीवित थे । विद्यानन्दी मुनिके कालके वारेमे यह निर्णय यद्यपि सर्वसमत माना जाता है फिर भी विद्यानन्दीके धर्मभ्राता माणिक्यनन्दीके कालके वारेमे मान्य न्यायाचार्य प दरबारीलाल कोठियाने आपकी लिखी आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना (पृष्ठ २७ से ३३) मे माणिक्यनन्दी, 'सुदसण चरिउ' के रचयिता 'नयनन्दी' और प्रमेयकमलमार्तड के रचयिता 'श्री प्रभाचन्द्र' के साक्षात् गुरू थे और 'उनका जीवितकाल ई सन ९९३ से १०५३ के बीचमे होगा' ऐसा अपने विचारका मण्डन किया है । परन्तु उन्हीके कथनानुसार तथा विभिन्न शिलालेखोके आधार पर 'प्रमेय कमलमार्तड' के रचयिता श्री प्रभाचद्र पद्मनन्दी सैद्धाती (ऋषभनन्दी) तथा चतुर्मुख देवके शिष्य थे । प्रभाचन्द्र माणिक्यनन्दीके साक्षात्

(×) पिछले पृष्ठके वाल्यूम मे ही पृ. स ११ पर ।
(×) ,, ,, ,, पृ स १३ पर ।

शिष्य थे, इस कथनका कोई समर्थन कही नही मिलता । प्रमेयकमलमार्तंडकी प्रशस्ति मे माणिक्यनन्दी पदपंकजप्रसादसे ' शास्त्ररचना करता हू ' इस अर्थकी उक्ति जरूर है । मगर इस कथन मात्रसे इन दोनोके गुरु-शिष्यका साक्षात् सबध साधित नही होता । ई सन १०२५ के समय वादिराजसूरिने ' न्याय विनिश्चयविवरण ' तथा प्रमाण-निर्णय ' इन दो न्यायग्रन्थोकी रचना की थी और उनमे विद्यानन्दीकी रचना की थी और उनमे विद्यानदीके वाक्योका उद्धरण किया जरूर है, मगर माणिक्यनन्दीके परीक्षामुखका उल्लेख नही किया । इससे प्रतीत होता है कि माणिक्यनन्दी वादिराजसूरिके पूर्वकालीन न होकर निकटवर्ती समकालीन रहे होगे । ऐसा निर्णय मान्य श्री कोठियाजीका है । लेकिन यहापर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि विद्यानन्दी के ग्रथोसे उद्धरण करनेके बाद माणिक्यनन्दीके परीक्षामुखसे भी उद्धरण करनेकी आवश्यकता उनको नही पडी होगी । इतनाही नही कोई एक अर्वाचीन ग्रन्थकार द्वारा किसी प्राचीनकालीन ग्रन्थकारका, अपने ग्रन्थमे उल्लेख न करना ही उसके कालनिर्णयमे साधक या बाधक नही माना जा सकता । ' विद्यानन्दी ' और ' माणिक्यनन्दी ' दोनो समकालीन थे । इस बातका समर्थन करनेवाली नोपी कथाके पोषक दूसरा एक प्रबल साक्ष्याधार भी हमे मिलता है और वह यह है- ' श्री पी वी देसाई ' जी के ' जैनीजम इन सौत इन्डिया ' के पृ ३८८ मे जो विचार प्रकाशित है नीचे दिया जाता है-

" पूर्वकालमें ' वर्धमान ' " गग घरानेके गुरु थे । इनके ' विद्यानन्दी ' और ' माणिक्यनन्दी ' नामके दो शिष्य थे । इनमेंसे दूसरा (माणिक्यनन्दी) ' तार्किकार्क ' प्रशस्ति प्राप्त था । माणिक्यनन्दीके बाद गुणचन्द्र, विमलचन्द्र और गुणचन्द्र ये तीनो तीन पीडियोके क्रमागत शिष्य हुए थे । गुणचन्द्रके गण्डविमुक्त [प्रथम] अभयनन्दी ये दो शिष्य थे । "

इस कथनके अनुशीलनसे ' विद्यानन्दी ' और ' माणिक्यनन्दी ' ये दोनो एक ही गुरूके समकालीन धर्मभ्राता शिष्योतम थे, इसमे अब कोई सन्देह बकी नही रह जाता ।

बहुश्रुत विद्वान ही सैद्धातिक ग्रन्थोका अनुवाद या व्याख्यान लिख सकते हैं, दूसरे नही । उन महान ग्रन्थोमे भी तर्कसरणिके ग्रन्थोका अनुवाद कार्य, सिद्धात एव न्यायशास्त्र दोनोमे परिणत मेधावी पण्डित रत्नोद्वारा ही सभव है । ऐसे ही पण्डित रत्नोमे एक ' तर्करत्न ' ' सिद्धान्त-महोदधि ' ' स्याद्वादवारिधि ' ' दार्शनिकशिरोमणि ' ' न्यायदिवाकर ' प माणिकचन्दजी न्यायाचार्य फिरोजाबाद-आग्रा भी माने गए हैं । इन्हींके द्वारा ' तत्त्वार्थ-चितामणि-टीका ' रची हुई है ।

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक-

मूल ग्रन्थ ५१२ पृष्ठोमे (केवल मूल प्रति) पहले प्रकाशित (छपा) हुआ है । इसकी पुरानी जीर्ण प्रतिका ' मुखपृष्ठ ' लुप्त है । इसलिए इस बातका पता लगाना मुश्किल है कि इसके प्रकाशक कौन थे । इस समय आचार्य श्री कुन्थुसागर ग्रन्थमाला शोलापुर के प्रकाशनमे

श्लोकवार्तिकालकार हिंदी-टीका (पू प. माणिकचदजीकी रची टीका) सहित सात खण्डोमे विभाजित, कुल मिलाकर ३६२६ पृष्ठोमे प्रकाशित है। हर एक खण्डमे सपादकीय, प्राक्कथन, तथा परिशिष्ट आदि विषयही करीब १५० पृष्ठोमे निर्देशित है। पहिले दो-चार साल तक अजमेरके श्रीमान माननीय "धर्मवीर" रा ब भागचन्दजी सोनी इस ग्रथमालाके अध्यक्षपद पर रहे, और ग्रन्थमाला की प्रगतिमे हरतरहका 'योगदान' देते हुए ग्रन्थप्रकाशन के कार्योमे मुख्यपात्र बने रहे। इसके पहिले के पाच खण्डो के 'समर्पण' क्रमसे १) परमपूज्य आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज २) सर सेठ हुकमचदजी ३) तपोनिधि आचार्य श्री नेमिसागर महाराज ४) आचार्य श्री वीरसागर महाराज तथा ५) तपोनिधि आचार्य श्री शिवसागर महाराजोके करकमलोमे किये गये है। छठे खण्डके प्रकाशनमें सुलतानपुरके निवासी ला० जिनेश्वरप्रसादजीकी धर्मपत्नी श्रीमती जयवन्ती देवीजीको धनसहायता इस अवसरपर स्मरणीय है।

'श्लोकवार्तिक' ग्रन्थके टीकाकार श्री पं माणिकचदजी कौन्देय, न्यायाचार्य के प्रति और इस महान ग्रन्थके बारेमे महान सन्त श्री गणेशप्रसादजी वर्णी श्री इन्द्रलालजी शास्त्री न्यायालकार, वादीभकेसरी, विद्यावारिधि, प. मक्खनलालजी शास्त्री विद्वद्वर श्री पं कैलाशचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री इन विद्वत समाजके अग्रेसरोद्वारा किये गये प्रशसापर वक्तव्य तथा पहलेके चार खण्डोके सम्पादकीय मे प्रकटित विचार धारासे जो बाते व्यक्त की गई है, वही इस महती कृति के महत्वको बतानेवाली प्रत्यक्ष निदर्शनि है।

दिवगत सुप्रसिद्ध विद्वान पण्डित वर्धमान शास्त्री विद्यावाचस्पति' व्याख्यानकेसरी, समाजरत्न, धर्मालङ्कार, विद्याकार न्याय-काव्यतीर्थ, सात खण्डोमें प्रकाशित इस ग्रन्थरत्नके सम्पादक और प्रकाशक रहे। तथा कुन्थुसागर ग्रन्थमालाके गौरवमत्रीभी थे। इनके नामके साथ लगी उपाधिया इनके जीवनकी महती साधना, धर्म एव सामाजिक सेवाओमें तत्परता, आदि सद्गुणोका प्रतिनिधित्व करती है। यही इनके व्यक्तित्व की परिचायिकाए है। पहिले के छहो खण्डोके सम्पादकीय इनकी अनुपम प्रतिभा तथा कार्यदक्षताका द्योतक दर्पण है।

इस सातवे खण्डकी छपाई यद्यपि सन्मान्य पण्डितजीके नेतृत्वमे हुओ है, फिर भी इस खण्डमे स्वर्गवासी शास्त्रीजीके सम्पादकीयका अभाव मनमे खटकता है। क्योकि उनकी पाण्डित्यभरी लेखनी द्वारा लिखे जानेवाले सम्पादकीय, प्राक्कथन एव परिशिष्टादि विशिष्ट लाभोसे जिज्ञासू पाठकगण इसबार वचित रहे है।

यह सातवा खण्ड तत्वार्थ सूत्रके आठवे अध्यायके प्रथम सूत्रसे आरम्भ होता है, और दसवे अध्यायान्तमे परिसमाप्त होता है। इसके साथही इस 'श्लोकवार्तिकार' का प्रकाशनभी पूर्ण हो जाता है। 'श्री कुन्थुसागर ग्रन्थमाला' द्वारा अब तक प्रकाशित उद्ग्रन्थोकी सख्या ही स्वर्गीय शास्त्रीजी के धार्मिक एव सामाजिक सेवामनोभावको उंगलियोसे निर्देश, कर रही है। पू स्व शास्त्री महोदयका वह महोद्देश, आगे उनके सुपुत्र द्वारा पूर्ण हो। यही शुभभावना यहापर हम व्यक्त करते है।

समारोप

स्व० मान्य श्री प वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्रीजी की धर्मपत्नी श्रीमती मदनमजरी-देवी शास्त्री एव उनके सुपुत्र श्री सुभाष शास्त्री एम् ए तथा उनकी धर्म-पत्नी श्रीमती सुजाता शास्त्री एम् ए श्लोकवार्तिकाड्कारके इस सातवे खडके प्रकाशन-कार्य में पूर्ण श्रेयोभागी है। ये सुयोग्य दम्पती कार्यतत्पर, धर्मसलग्न-धर्मज्ञ एव बडे विनयशील हैं। स्वर्गवासी श्री शास्त्रीजीके जीवनकी जो सदिच्छा थी, इस ग्रंथ प्रकाशनका जो सदुद्देश्य था, वह इन आदर्श दम्पत्तियोकी लगनसे तथा कर्तव्य-परता से आज सफल हो रहा है। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि इसी प्रकार आगे भी इनके द्वारा धार्मिक सेवाए समाजको प्राप्त हो, और स्वर्गीय शास्त्रीजीका नाम समाजमे चिरस्थायी रहे।

"प्राक्कथन" लिखकर इस पुण्यकार्यमें भाग प्राप्त करनेका जो सदवकाश मिला है, इसके लिए मै इन दम्पत्तियोका बहुत बहुत आभारी हू। मेरे इस प्राक्कथन के हिंदी अनुवादक-'आस्थानविद्वान्' 'हिंदी रत्न' 'सिद्धात शास्त्री' 'स साहित्यशिरोमणी' प शिशुपाल पार्श्व-नाथ शास्त्री का मै ऋणी हू। इस कथनके साथ 'प्राक्कथन' से लेखनी विरमती है।

प्रोफेसर और अध्यक्ष स्नातकोत्तर जैनालाजी,
प्राकृत विभाग, मानसगगोत्री
मैसूर-६

आपका विश्वस्त-
डॉ० एन डी वसतराज
एम ए पी एच डी
१६-१०-८३

आचार्य विद्यानंद स्वामीकी विद्वत्ताका परिचय.

आचार्य विद्यानन्द स्वामी सपूर्ण तार्किक विद्वानोके समूहमे चूडामणीके समान थे । इनका सर्व शास्त्रोमे स्वतन्त्र–अद्वितीय वाग्मित्व–वाक्पटुत्व था । सरस्वतीरूपी लतावेलीके विस्तृत भूषावेषसे विभूषित ऐसे न्यायशास्त्र–व्याकरणशास्त्र–सिद्धातशास्त्र इन ग्रथत्रयी विद्याको जाननेवाले विद्वानोमे इनकी प्रज्ञाप्रभा सूर्यकी प्रभाके समान विशेष अतिशयको धारण करनेवाली त्रिलोकव्यापी प्रतापवान् थी, इस विषयमे परिपक्व प्रज्ञाके गरिमाको धारण करनेवाले तार्किक कोई भी विद्वानोमे विवाद नही है ।

इनके द्वारा रचित अष्टसहस्री नामक सुलभकृति हजारो एकातवादी दुर्जनोको निर्मद करनेवाली है । हजारो तत्त्वशकाके कष्ट–दु खोको दूर कर समीचीन वस्तु तत्त्वोका प्रतिष्ठापन करनेवाली है । हजारो तत्त्वभ्रष्ट लोगोको अपने चरणोमे शरण लाकर नम्र किया है । इनकी सप्तभंगीका प्रतिपादन करनेकी पटुताकी विलक्षण प्रतिभा ज्ञानीजनोके चित्चैतन्यको चमत्कारक प्रतिभासित होती है ।

आजकल उनके द्वारा विरचित विद्यानन्द महोदय नामक ग्रथराजमे उन्होने कितने मेय–प्रमेय सिद्धात गुफित किये है यह हम नही जान सकते है । ऐसी किंचित् प्रमोद जनक तो किंचित् खेदजनक परिस्थिती उत्पन्न हुई है । उसको कौन रोक सकता है ?

इन्होने स्याद्वाद वाणीकी दुदुभिध्वनिको उद्घोषित कर गुरुपरपरागत अकलकदेवकी निष्कलक–निर्दोष प्रक्रियाका अनुसरण कर अत्यत रुक्ष विषयक न्यायशास्त्रका उद्धार किया है ।

इन्होने तत्वार्थशास्त्रावतार से स्वामी अकलकदेव रचित स्तुतिगोचर आप्तमीमासा अलकृतिके षड्दर्शनशास्त्रके सक्षिप्त लघुसिद्धात गणनाको विस्तृत कर तीनसो त्रेसठ एकातवादी मतोका खडनपूर्वक अनेकात जिनशासनकी ध्वजापताका अन्य प्रवादी लोगोके नभोमडलमे फडकायी ।

' वस्तुमे जो जो परिणमन कार्य होता है वह अपने अपने वस्तुस्वभाव–भेदके कारण होता है ' (अन्य निमित्त के कारण नही) ऐसा अन्य शास्त्रोमे न पाये जानेवाला अत्यत गूढ रहस्य सिद्धात आचार्य विद्यानन्द स्वामीने स्पष्टतासे उद्योति किया । वह इस प्रकार है, जैसे कि–

छोटासा बालक भी धनुष्यके लकडीको उसके मध्यभागमे मूठसे पकडकर उठा सकता है । उस धनुर्यष्टीको कोई तरुण उसके अग्रभागको भी मुष्टीसे पकडकर उठा सकता है । कोई मल्ल उस धनुर्यष्टीको उसके केवल अग्रभागको केवल अपने एक अग्रभागके अगुलीके आधार पर लेकर उठा सकता है ।

उसी प्रकार धनुर्यष्टिके स्थानीय जो वस्तुमे स्वाभाविक अपने वस्तुस्वभावके कारण परिणतिया होती है वे अपने अगुरुलघु नामक शक्तिके कारण अविभाग प्रतिच्छेदोमे षट्स्थान पतित हानि–वृद्धिके कारण अपने अन्तरग निमित्त के कारण ही होती है । बाह्य निमित्त कारण

उन परिणतियोका केवळ निमित मात्रसूचक कारण होता है । कारक कारण नही है । ऐसा मनीषी-तत्त्वजिज्ञासु लोकोको निर्णय करना चाहिये ।

तत्वार्थाधिगम शास्त्रके अन्तर्गत अतीद्रिय, सूक्ष्म-अत्यत परोक्ष विषयोका इनकें श्लोक-वार्तिक नामक महाग्रथमे प्रतिपादन किया गया है। जैसें कि—

एक कार्यका दूसरे कार्यमे अत्यताभाव, (हेतुर्मान्निष्ठ-अत्यताभाव) (अप्रतियोगि-साध्यसमानाधिकरण्य)- साधकतम कारणके साथ साध्य का निष्प्रतियोगी-निर्बाध-अविरुद्ध-समाधिकरणता, (अविनाभाव) साध्यकी तरह अन्यापोहात्मक आदि अनेक दुर्लक्षणोका निषेध कर अन्यथानुपपत्तिरुप लक्ष्यको अकित करनेवाले सम्यक् हेतुका युक्तिपुरस्सर अनुमान प्रमाण द्वारा प्रतिपादन किया है । प्रमाण सप्लव माननेवाले, ताथागत, मीमासक, अक्षपाद, कापिल, साख्य) इत्यादि अन्य प्रतिवादियोके हृदयोके हृदयोको हरण करनेवाली स्याद्वाद जिनवाणी द्वारा स्वामी विद्यानन्दनें प्रतिपादन किया है।

जब दन्तोका समूह अपनी जिस शक्तीके द्वारा चनोको चबाकर उनका जैसे चूर्ण करते हैं वैसे उसी शक्तिके द्वारा वह दन्तसमूह दूधमिश्रित अन्न भी खाते हैं। तब उनमे चनोको चबानेंवाली और पायसको खानेवाली एक शक्ति प्रगट होती है। उसी तरह चनकोके कणोमे भी असाधारण धर्मोंसे युक्त नानारस, नानागध, कठिनपना व्यक्त होता है और क्षीरान्नमे भी मृदुत्वकी तरतमता प्रकट होती है ।

उसी तरह विद्यानन्द आचार्य का यह अष्टसहस्त्री नामक ग्रथकार्योमे जो नानापना दिखता है वह नानापना उत्पन्न करनेकी शक्तिया कारणोमे होती है ऐसा वर्णन करता हैं ।

अन्य मतोके शास्त्र ससारसमुद्रके भवरोमे भ्रमण करनेवाले हैं और वे काचके समान हैं। और यह अष्टसहस्त्री ग्रथ ससार समुद्रके भोवरोमेंसे निकालनेवाला है और मानो कशोपासमे चूडामणी विद्वानोको अलकारके समान हैं। अन्य मतोके शास्त्र काचके टुकडोके सम न हैं और यह अष्टसहस्त्री ग्रथ चूडामणितुल्य है ।

यह अष्टसहस्त्री ग्रथ विद्यानन्दरूप महासमुद्रही है तथा विद्यानन्द आचार्यजीने इस ग्रथ को प्रथम बनाया हैं। इस ग्रथके वाक्य छोटे छोटे हैं तो भी इसकी वाक्य पक्तिया विपुल प्रमेयो का निरूपण करनेवाली हैं । श्रीहर्ष वगैरह जो अन्य मतके विद्वान हैं उन्होने खडनखाद्य आदिक दर्शन शास्त्रोकी रचना की हैं परन्तु वे शास्त्र अल्पसारयुक्त है और अतिशय कटु और कठोर शब्दसमूहसे भरे हुए हैं ।

अर्हत्परमेष्ठीके मुखसे प्रकट हुआ जो द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञानरूप वाङ्मय वह मानो गभीर गुहा है । इस गुहामे जिनकी गणना करनेमे हम असमर्थ हैं ऐसे अनन्त प्रमेयरूप रत्न भरे हुए हैं । उनका स्वरूप जाननेकी जिनको इच्छा है तथा जो मुक्तिको जाननेवाले विद्वान है उनके लिये आचार्य विद्यानन्दी ये जिनवाणीका मानो जयजयकार ध्वनि करनेवाले नगारेके समान है ।

ऐसे विद्यानन्दी आचार्यश्रीने तत्वार्थलकाररूप ग्रथमें अज्ञजनोको बोधकरनेके लिये, हम जिनकी गणना नही कर सकते ऐसे जीवादि प्रमेयरत्न भर दिये है । ऐसे प्रमेयरत्न भरनेसे आचार्य विद्यानन्दीजी लोकोत्तर प्रतिभासे भूपित थे ऐसा दृढ विश्वास उत्पन्न होता है।

आचार्य श्री विद्यानन्दजीने रचे हुए तत्वार्थ श्लोकवार्तिकके प्रारभमें मगल श्लोककी रचना की है। अज्ञान तथा रागादि दोषोको—मलोको जो नष्ट करके निर्मल सुखका देता है उसे मगल कहते हैं ।

शिष्योको समझानेके लिए उस मगल श्लोकको यहा लिखकर उसके पाच अर्थोका यहा वर्णन करते है—

श्रीवर्धमानमाध्याय घातिसङ्घातघातनम् ।
विद्यास्पद प्रवक्ष्यामि तत्वार्थश्लोकवार्तिकम् ।।

इस मंगल श्लोकका प्रथमत मैं अर्थ लिखता हू ।

मै विद्यानन्द स्वामी अन्तरंग तथा बहिरग दो लक्ष्मीओसे सतत वृद्धिको जो प्राप्त हुए हैं तथा ज्ञानावरणादि सेंतालिस कर्म प्रकृतिओका जिन्होने समूल उच्छेद किया है तथा जो 'विद्यास्पद' अर्थात विद्यानन्द नाम धारक ऐसे मुझे आलबन शरण्य—रक्षक है ऐसे श्री वर्धमान नामक चौवीसवे तीर्थंकर को मन, वचन तथा शरीरसे चिंतन कर उमास्वामी आचार्य विरचित तत्वार्थ मोक्षशास्त्र नामक प्रसिद्ध जैनदर्शन जिसको अर्ध नामसे लोग तत्त्वार्थ कहते है तत्त्वार्थसूत्रमें वर्णित प्रमेयोपर बत्तीस अक्षरात्मक अनुष्टुप् छन्दस्वरूप श्लोकबद्ध वार्तिकोकी रचना मै करूंगा इस प्रकार श्लोकका अभिप्राय है ।

इस श्लोकमें प्रवक्ष्यामि क्रियापद है उसका स्पष्टीकरण—यह क्रियापद भविष्यत्कालवाच लृट्लकार की क्रियाको व्यक्त करता है । अर्थात 'मै कहुगा' ऐसा अभिप्राय व्यक्त होता है । अह शब्द यहा यदि रखा जाता तो पुनरुक्तिका दोष आ जाता । जो अभिप्रायसे जाना जाता ह उसको पुन. कहना उसे पुनरुक्त कहते हैं । प्रवक्ष्यामि—मै विद्यानन्द स्वामी प्रकर्षसे—अर्थात् युक्ति पूर्वक परपक्षनिराकरणपूर्वक वक्ष्यामि कहूगा, ऐसा अभिप्राय यहा है क । तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम् तुम क्या कहोगे ? तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकको मै कहूगा । नामका एकदेश सपूर्ण नाममें प्रवृत्त होता है । जैसे सत्यभामा नाम सत्या शब्दसे कहा जाता है । उमास्वामी आचार्यजीनेही यह तत्त्वार्थ मोक्षशास्त्र नामक प्रसिद्ध जैनदर्शन रचा है । इसेही उनके चरणोकी स्तुति करनेमें निपुण विद्वान 'तत्त्वार्थ' इस नामसे बोलते है ।

अत्यन्त प्रिय व्यक्तिका वाच्य जो नाम है उसका अर्धउच्चारण करनेकी प्रसिद्धि है ।

तत्त्वार्थसूत्रमें कहे हुए प्रमेयोंके ऊपर बत्तीस अक्षरात्मक **अनुष्टुप छन्दस्वरूप श्लोकबद्ध** वार्तिकोकी रचना मै करता हू ऐसी प्रतिज्ञा आचार्य विद्यानन्दजीने की है । वार्तिकका लक्षण

आचार्यने ऐसा कहा है– मूलग्रथकारसे कहे हुए पदार्थ तथा उससे न कहे हुए पदार्थ इनका चिंतन तथा अन्य पदार्थोका चिंतन जिनमे किया जाता है, चर्चा की जाती है ऐसे वाक्योको वार्तिक कहते है ।। इन वार्तिकोकी रचना करनेके पूर्व आचार्यने अन्तरङ्ग लक्ष्मी तथा वहिरङ्ग लक्ष्मीओसे सतत वृद्धिको प्राप्त हुए श्रीवर्धमान तीर्थकरका मनोयोग, वचनयोग तथा काययोगके द्वारा चिंतन किया । वे वर्धमान तीर्थंकर घाति सघात घातन थे अर्थात् उन्होंने ज्ञानावरणादि सेंतालीस कर्म प्रकृतियोका समूल नाश किया था । वे वर्द्धमान तीर्थंकर पुन कैसे थे ? "विद्यास्पद" विद्यानद वे अर्थात् मुझको "आस्पदम्" आलम्वन शरण्य–रक्षक थे । गुरुजन 'अरे विद्या' ऐसे प्रिय इष्ट अधसज्ञासे मुझे बुलाते थे और वह उनका विद्या शब्द प्रयोग विद्यानन्द आचार्यको बहुत प्रिय लगता था ।

अब इसी आद्य पद्यका दूसरा अर्थ आगे लिखे हुए प्रकारसे आप जान लेवे–

अह घातिसघात घातनम्–अन्योन्य का जन्मसे विरोध करनेवाले हरिण, सिंह, सर्प और गरुड, गाय और व्याघ्र आदि घातक प्राणियोमे जो जन्मसे ही वैर रहता है उसका अर्हत्परमेष्ठीने नाश किया है ऐसे अर्हत्परमेष्ठिका मनमें चिंतन करके मै (विद्यानन्द आचार्य तत्त्वार्थके ऊपर श्लोकवार्तिक ग्रथको कहूगा । अर्थात् जैनागममें जो जीवादिक प्रमेयोका वर्णन पूर्वाचार्योंने किया है उनकी सिद्धि मै दृष्टात तथा हेतुपूर्वक दार्शनिक विद्वानोके आगे करूगा । जिनका मनमें चिंतन किया जाता है वे अर्हन् कैसे है– 'श्रीवर्द्धमान अवाप्योरुपसर्गयो "इस सूत्रके नियमसे अव उपसर्गका अकार लुप्त हो जानेसे श्रीवर्द्धमान शब्द सिद्ध हुआ । श्रीवर्द्धमान इस शब्दका स्पष्टीकरण– ' श्रायुक्त अवसमन्तात् ऋद्ध प्रदीप्त मान केवलज्ञान यस्य–बाह्यसमवसरणलक्ष्मीयुक्त तथा सपूर्ण द्रव्य, सपूर्णक्षेत्र, सपूर्ण काल और सपूर्ण भावोमे प्रभु वर्धमान जिनेश्वरका केवलज्ञान प्रदीप्त हुआ है अत महावीर प्रभु यथार्थ वर्धमान है ।

पुन वे अर्हंत वर्धमान 'विद्यास्पदं' विशेषणसे युक्त है अर्थात् जाना गया जो सपूर्ण द्वादशाग वाङ्मय उसके अधिष्ठाता है । पुनरपि वे अर्हंत कैसे है ? तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकम् बुद्धीका विषय होनेसे तथा वि[illegible] धर्मका प्रकर्ष होनेसे अन्योन्यसे भिन्न ऐसे जो जीव अजीवादि पदार्थ है वे तत्त्वार्थ है. तथा सपूर्ण वस्तुओमे जो मुख्य है, श्रेष्ठ है ऐसा जो शुद्ध आत्माका भाव वह ही आत्माका स्वाभाविक परिणाम है उसको उत्पन्न करनेवाला तथा पुण्यगुणका मवत्र कथन करनेवाला तथा शुद्ध आत्मस्वरूपरूपी जो यश उसकी प्राप्ति करनेवाले चरित्रके वे अर्हंत रक्षक हैं । तथा वे अरिहत दयामृत समुद्र है । तथा वे अर्हंतपरमेश्वर देवाधिदेव है । यथा यथाख्यात चारित्रकी उत्तरोत्तर शुद्ध परिणति होनेसे तेरहवे सयोग केवलि गुणस्थानमे तीर्थंकरत्व का उचित महाप्रभावना करनेवाले कर्तव्योको करनेवाले प्रभु परमश्रेष्ठ यशको पाप्त करके प्रसिद्ध और अत्यत शुद्ध अपने आत्मपदकी रक्षा करेगे ।

☼ ☼

क आध्याय प्रवक्ष्यामि– मै शुद्ध परमात्मस्वरूपको जो प्राप्त हुए है ऐसे सिद्ध परमेठ ी का मनमे स्मरण करता हू । तदनतर शास्त्राथ करनेके कार्यमे मै सिहके समान स्वभाववाला हू । जैसे सिह मत्त हाथियोके कुभस्थल विदारण करनेमे तत्पर होता है वैसे मै भी प्रतिवादि– दार्शनिक विद्वानोको आव्हान देकर उनके मतोका निराकरण करनेमे दक्ष ऐसी सप्तभङ्गी वाणी का निरूपण करूगा । वे सिद्धपरमेष्ठो श्री वर्धमान श्रीवान् है अर्थात् अन्तरग बहिरग लक्ष्मीको देते हैं तथा वे सिद्धपरमेष्ठी अनन्तानन्त सख्याक परिमाणको धारण करनेवाले हैं । वे सिद्ध केवल अपने अस्तित्वसे ही नाना भव्य जीवोके हितके लिये कारण होते है । तथा स्वाभाविक परिणतिको ही सर्वदा धारण करते हैं । तथा वे अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठो सिद्धक्षेत्रमे विराजमान होते हैं । पुन वे सिद्धपरमेष्ठी कैसे हैं ? उत्तर–घातिसघात घातनम् आत्माके ज्ञानादि गुणोका नाश करनेवाले कर्मोके समूहका नाश करनेवाले हैं । कौन कौन कर्म आत्माके ज्ञानादि गुणोका नाश करते हैं इस प्रश्नका उत्तर आगेकी दो गाथाओसे आचार्य देते है–

मोहो खाइयसम्म केवलणाणं च केवलालोय ।
हणदि हु आवरणदुग अणतविरिय हणेइ विग्घ तु ॥
सुहुम च णामकम्म हणेइ आऊ हणेइ अवगहण ।
अगुरुलहूण च गोद अव्वाबाह हणेइ वेयणिय ॥

मोहनीय कर्म आत्माके क्षायिक सम्यग्दर्शनका नाश करता हैं । ज्ञानावरण कर्म तथा दर्शनावरण कर्म ये क्रमसे केवलज्ञान तथा केवलदर्शनको नष्ट करते हैं । तथा विघ्नकर्म–अन्तराय कर्म आत्माकी अनन्तशक्तिको नष्ट करता है । नामकर्म आत्माके सूक्ष्म गुणका–अमूर्तिकताका नाश करता है । तथा आयुकर्म अवगाहनगुणका नाश करता है । गोत्रकर्ममे अगुरुलघुत्वगुण नष्ट होता है और वेदनीय कर्म अव्याबाध गुणका घात करता है ।

इन दो गाथा प्रमाणरूपका अनुसरण करनेसे आत्माके सम्यक्त्वज्ञान, दर्शनादि आठ गुणो का विघातकत्व इन आठ कर्मोमे है यह सिद्ध होता है । अत सिद्ध भगवान वीर प्रभुमे ज्ञाना- वरणादि आठ कर्म तथा उनके उत्त ोतर प्रकृति समूहका विध्वसकत्व सिद्ध होता है ।

पुन वे सिद्ध परमेष्ठी वर्धमान कैसे है ? कथ भूत क विद्यास्पद–वे सिद्धपरमेष्ठी विद्याके केवलज्ञानके सार्वभौम अधिपति हैं । अथवा भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म य सिद्ध भगवानमेसे निकल जानेसे वे शुद्ध चिदानद चैतन्य मात्रमे अवस्थान कर रहे है । उन सिद्धपरमेष्ठीका निरूपण मै कैसे करू ? तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक यथास्यात्तथा आत्मतत्त्वके हितका वर्णन करनेसे ससारसबधी पीडाका परिहार जैसा होगा उस प्रकारसे वर्णन करना ।

❋ ❋ ❋

अब चतुर्थ अर्थका विद्वज्जन इस प्रकारसे विचार करे ।

‘ अह विद्यास्पद आध्याय प्रवक्ष्यामि ’ मै विद्यानन्द हू और मुझे जो तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हुई है उसमे मुख्य–प्रधान आधार श्रेष्ठ गुरू श्री समन्तभद्राचार्यकी वाक्यपक्ति ही कारण

थी । इसलिये विद्यानन्द यह अन्वर्थक नाम जिसका है ऐसे मेरे समन्तभद्र स्वामी श्रद्धास्पद गुरू महाराज हैं । इसलिये अनेक शास्त्र ज्ञानके आधारभूत समन्तभद्र स्वामीका मनमे चिंतन कर स्वर्गमें रहे हुए गुरूओके सामने तत्त्वार्थ शास्त्रका जो मैं परिशीलन–अभ्यास किया है उसकी परीक्षा देनेकी इच्छा करनेवाला मैं छोटे शिष्यके समान जिनका मैंने अभ्यास किया है ऐसे प्रमेयो का निरूपण करूगा ।

वे समन्तभद्र फिर कौन कौन गुणोसे भूषित हैं ? कथभूत विद्यास्पद, समन्तभद्र श्री वर्द्धमान वे समन्तभद्र आचार्य विद्यास्पद है समन्तभद्र है और श्री वर्द्धमान हैं । पाटलीपुत्र, काची, वाराणसी इत्यादि नगरिओमे महाविद्वानोके साथ वाद करके-शास्त्रार्थ करके समन्तभद्र आचार्यजीने विजयलक्ष्मी प्राप्त की थं तथा शिवकोटि भट्टारक महोदयके सामने आपके नमस्कार-भारको धारण करनेमे समर्थ तथा सर्व जगतको आनन्द देनेवाले चन्द्रप्रभ भगवानकी प्रतिमाकी प्रभावना का चमत्कार प्रगट किया था । इन कृत्योसे जैनधर्मकी ध्वजा सर्व जगतमे आपने फहरायी थी । उनके फहरानेसे जैनधर्मकी विजयलक्ष्मीकी प्राप्ती हुई तथा जैनधर्मकी वृद्धि हुई और विस्तार हुआ । तथा वह जगतमें मान्यताको प्राप्त हुआ । तथा आचार्य महाराजका आत्मगौरव वढ गया । तथा आचार्य महाराजकी मानवृद्धि होनेसे जैनधर्मकी लक्ष्मी वढ गई । वे समन्नभद्र महाराज फिर भी कैसे थे ? घातिसघातघातन सम्यग्दर्शनादि गुणोके समूहको नष्ट करनेवाले जो मिथ्यात्वादि कर्मोका समुदाय उनको नष्ट करनेवाले थे ।

समन्तभद्राचार्यके शरीरमे भस्मकादि रोगोका समुदाय उत्पन्न हुआ तब उनके शरीरका स्वास्थ्य नष्ट हो गया । उस समय उन्होने जिनवाणीरूप अमृतधारासे उन रोगोका विनाश किया । अथवा वे समन्तभद्र मुनिराज भावी उत्सर्पिणी कालमे तीर्थंकर होकर ज्ञानावरणादि कर्म समूहका नाश करनेवाले होगे । इस आशयका वर्णन ऐसा है–

वलवत्तर पापके उदयसे नरकनिगोदादि अशुभ गतिमे ये प्राणी गिरकर दु:ख भोगेंगे इन प्राणियोको अभयदान मै दूगा ऐसी कृपा आचार्य महाराजके मनमे उत्पन्न होगी और वे स्याद्वाद सिद्धातका प्रचार कर जैनधर्म की प्रभावना स्वरूप शुभ भावनाके विचारवासनासे आगे के जन्ममे त्रैलोक्यको आनन्द देनेवाली तीर्थंकर प्रकृतिका वध करेंगे और भविष्यत् उत्सर्पिणी लाकमे तीर्थंकर पदका अनुभव लेकर ज्ञानावरणादि कर्म कर्मका घात करेगे ।

पुन कथभूत समन्तभद्र तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम् । यथार्थरूपसे निर्णय जिनका किया है ऐसे जो जीवादिक पदार्थोका समूह उसका प्रकाशन करनेके लिये अर्थात् परवादियोके गर्वको नष्ट करनेवाली यह समन्तभद्राचार्यकी वाणी मानो दीप कलिकाओके समान है । यहा वार्तिकोके सवध से प्रदीपका अथ लक्षणोसे जाना जाता है । वार्तिक शब्दका अर्थ वत्ती अर्थात् दीपकी वत्ती यह अर्थ होता है । श्री समन्तभद्र स्वामीकी जो वचनधारास्वरूप प्रदीप कविका है उससे प्रकाशित जीवादिक तत्त्व वे खूब प्रकाशित होते हैं ।

अब पाचवा वाच्यार्थ सुनो ।

" अहं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमाध्याय प्रवक्ष्यामि । अब मै तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका चितन करके उसका वर्णन करता हू । विनय तपके ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय तथा उपचारविनय ऐसे चार भेद है उनमे ज्ञानविनय प्रधान है, श्रेष्ठ है । शुद्ध अन्तकरणमे जब अपने आत्मस्वरूप का अनुभव उत्पन्न होता है तब उस आत्मानुभवका उपयुक्त ऐसे आत्मज्ञानकी वृद्धि होती है । उस आत्मज्ञान का बहुमनन अतिशयमनन जब होता है तब उस मनन को ज्ञानविनय कहते है । जगतके सर्व परद्रव्योमे अपने मनको हटाकर अपने आत्माके जो स्वाभाविक गुण हैं उनका चिंतन ही मुक्तिका साक्षात् कारण है ऐसा समझकर–जानकर अपने आत्मासे पूर्णरूपसे विराजमान हुए पूज्य ज्ञानस्वरूप श्लोकवार्तिक ग्रथका ध्यान करके प्रवचनरूपसे श्लोकवार्तिक ग्रथको मै कहूगा अर्थात् उसकी रचना करूगा । पूर्वाचार्योका अनुसरण करके पदवाक्यरूपसे मै ग्रथरचना करूगा " ऐसी प्रतिज्ञा ग्रथकार करता है । जो ऊहापोहसे जो शोभायुक्त है– तथा प्रतिवादिरूप हाथिओको भगानेके लिये जो सिंह गर्जनाके समान है तथा प्रति समय जो नये नये अखण्डय विचार तर्कोको धारण करती है, तथा जो स्याद्वाद सिद्धान्तोका सर्वत्र प्रचार करती है, जो विद्वान लोगोके मनमे चमत्कार उत्पन्न करती है तथा पढनेवाले शिष्य तथा विद्वान् लोकोके ज्ञानको निर्मल निर्दोष व विशद बनाती है ऐसी जो तर्कणा लक्ष्मी उससे जो उत्तरोत्तर बढ रहा है ऐसे श्लोकवार्तिक ग्रथ की मै रचना करूगा । आचार्य विद्यानद इस ग्रथका 'आध्याय घातिसङ्घातघातनम् ।' इस विशेषण द्वारा महत्त्व दिखाते है– यह वार्तिक ग्रंथ सर्व प्रकारोसे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति करनेवाला है । अर्थात् आत्माके ज्ञानस्वरूपका नाश करनेवाले जो मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण घाति कर्म हैं उनका उदयाभावरूप क्षय करनेवाला यह ग्रथ है । अर्थात् यह ग्रथ कुयुक्तियोका और अप-सिद्धातोका नाश करनेवाला है ।

यह ज्ञानात्मक ग्रथ 'विद्यास्पद' है अर्थात् नैयायिक, मीमासक, तथा वेदान्ती, वगैरे विद्वानोके जो न्याय, मीमासादिक दर्शनोके विद्याओको पूर्वपक्षमे रखकर उत्तरपक्षमे जैनसिद्धात और जैन न्यायके द्वारा उनका खडन किया है । इस प्रकार यह ग्रथ तत्त्वार्थसूत्रके श्लोकके– अर्थात् यशका वर्णन करनेके प्रयोजनको धारण करनेवाला होनेसे अन्वर्थ नामको धारता है ।

इस प्रकार महापडितोके योग्य ऐसे जो अनेक गुणो तथा धर्मोमे श्री विद्यानन्द स्वामीमें बडप्पन प्राप्त हुआ है और उससे वे अतिशय शोभायुक्त हुए है ।

मनसे, वचनोमे तथा शरीरसे पूजनीय जैनाचार्योके पदकमलोकी धूलीरूप अमृतसे जिसका शरीर लिप्त हुआ है, और जो श्री विद्यानन्द स्वामीके गुणोमे अनुरक्त है ऐसा मै–

माघ शुक्ल पचमी,
वीर निर्वाण सवत् २४६३

माणिकचन्द्र न्यायाचार्य
जबू विद्यालय, सहारनपुर ।

श्री तत्वार्थश्लोकवार्तिक का मूलाधार
सप्तम खण्ड
अथ अष्टमोऽध्याय

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥१॥ सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्ध. ॥ २ ॥ प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधय ॥ ३ ॥ आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥ ४ ॥ पञ्चनवद्व्यष्टाविंशति-चतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥ ५ ॥ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥ ६ ॥ चक्षुरचक्षुरवधिकेवलाना निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥ सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥ दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनव-षोडशभेदा' सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा-स्त्रीपुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनविकल्पाश्चैकश क्रोधमान-मायालोभा ॥ ९ ॥ नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥ गतिजातिशरीराङ्गो-पाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपो-द्योतोच्छ्वासविहायोगतय प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्ति-सेतराणि तीर्थंकरत्वं च ॥ ११ ॥ उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥ दानलाभभोगोपभोगवीर्या-णाम् ॥ १३ ॥ आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटय परा स्थिति ॥ १४ ॥ सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥ विंशतिर्नामगोत्रयो ॥ १६ ॥ त्रयस्त्रिंशत्सा-गरोपमाण्यायुष. ॥ १७ ॥ अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥ नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥ शेषाणामन्तर्मुहूर्ताः ॥ २० ॥ विपाकोऽनुभव ॥ २१ ॥ स यथानाम ॥ २२ ॥ ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥ नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्राव-गाहस्थिता. सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशा ॥ २४ ॥ सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥ अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

॥ इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे अष्टमोऽध्याय ॥

अथ नवमोध्याय

आस्रवनिरोध. संवर ॥ १ ॥ स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रै ॥ २ ॥ तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥ सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति ॥ ४ ॥ ईर्याभाषैषणा-दाननिक्षेपोत्सर्गा समितय ॥ ५ ॥ उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्म ॥ ६ ॥ अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोक-बोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिंतनमनुप्रेक्षा ॥ ७ ॥ मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परि-षोढव्या परिषहा ॥ ८ ॥ क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्या-क्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥ ९ ॥ सूक्ष्मसा-म्परायछद्मस्थवीतरागश्चतुर्दश ॥ १० ॥ एकादश जिने ॥ ११ ॥ बादरसाम्पराये सर्वे

॥ १२ ॥ ज्ञानावरणे प्रज्ञानाने ॥ १३ ॥ दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥ चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्कारा ॥ १५ ॥ वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥ एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नेकोनविंशति. ॥ १७ ॥ सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायथाख्यातमिति चारित्रम् ॥ १८ ॥ अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तप ॥ १९ ॥ प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥ नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रम प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥ आलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपच्छेदपरिहारोपस्थापना ॥ २२ ॥ ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारा ॥ २३ ॥ आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसङ्घसाधुमनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥ वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशा. ॥ २५ ॥ बाह्याभ्यन्तरोपध्यो ॥ २६ ॥ उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥ २७ ॥ आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥ परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥ आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहार ॥ ३० ॥ विपरीत मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥ वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥ निदान च ॥ ३३ ॥ तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥ हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयो ॥ ३५ ॥ आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम ॥ ३६ ॥ शुक्ले चाद्ये पूर्वविद ॥ ३७ ॥ परे केवलिन. ॥ ३८ ॥ पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥ ३९ ॥ त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥४०॥ एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥ अवीचार द्वितीयम् ॥ ४२ ॥ वितर्क. श्रुतम ॥ ४३ ॥ वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्ति ॥ ४४ ॥ सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥४५॥ पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्था ॥ ४६ ॥ संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पत साध्या ॥ ४७ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे नवमोऽध्याय ।

अथ दशमोध्याय

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम ॥ १ ॥ बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष । २ । औपशमिकादिभव्यत्वाना च । ३ । अन्यत्र केवल सम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य । ४ । तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् । ५ । पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च । ६ । आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च । ७ । धर्मास्तिकायाभावात् । ८ । क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वत साध्या । ९ ।

अन्त्यमंगल ग्रन्थसमाप्तिश्च—

मोयात्सज्जनताश्रय शिवसुधाधारावधानप्रभुर्ध्वस्तध्वाततति समुन्नतगतिस्तीव्रप्रतापान्वित. ।
प्रोर्जज्योतिरिवावगाहनकृतानन्तस्थितिर्मानत सन्मार्गस्त्रितयात्मकोऽखिलमलप्रज्वालनप्रक्षम ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे दशमोऽध्याय

अक्षरमात्रपदस्वरहीन व्यञ्जनसन्धिविवर्जितरेफम् । साधुभिरत्र मम क्षमितव्य को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ॥ १ ॥ दशाध्यायपरिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति । फल स्याद्उपवासस्य भाषित मुनिपुङ्गवैः ॥ २ ॥ तत्त्वार्थसूत्रकर्तार गृध्रपिच्छोपलक्षितम् वन्दे गणीन्द्रसजातमुमास्वामिमुनिश्वरम् ॥ ३ ॥

॥ इति तत्वार्थसूत्रम् समाप्तम् ॥

अष्टम, नवम, एवं दशम इन अध्यायोंमें प्रतिपादित विषय-

अथ अष्टमो अध्यायः ॥

अव इसके अनन्तर आठवे अध्यायका प्रारंभ किया जाता है ।

अथ बंधेऽभिधातव्येऽभिधीयंतेस्य हेतवः ।
निर्हेतुकत्वकूटस्थाकारणत्वनिवृत्तये ॥१॥

आठवे अध्यायका अवतरण इस प्रकार है कि जीवादि सात तत्त्वोका अधिगम करानेवाले इस तत्त्वार्थाधिगम ग्रन्थमे सात अध्यायोतक जीव, अजीव और आस्रव इन तीन तत्त्वोका निरूपण किया जा चुका है।अब संगति अनुसार बध तत्त्वका प्ररूपण करना योग्य है। तहाँ प्रथम बंधके हेतुरहितपन, कूटस्थपन और अकारणपन की निवृत्ति करनेके लिये इस बंधके हेतुओको कहा जाता है। अर्थात्—अवसर संगति अनुसार आस्रव तत्त्वके अनन्तर बंध तत्त्वका कहना समुचित है। वह बंध अकस्मात् तो नही हो गया है। अन्यथा मोक्ष भी किसी नियत कारणके विना ही चाहे जब हो जायेगी। संवर और निर्जराके कारणोकी पुरुषार्थपूर्वक योजना करना व्यर्थ पड़ेगा। अत बंधके लक्षणको छोडकर प्रथम ही बधके कारणको कहा जाता है क्योकि कारण पहिले होता है कार्य पीछे होता है। पहिले कारणोकी प्रतिपत्ति हो जानेपर कार्यकी प्रतिपत्ति झटिति ही सुलभतया हो जाती हैं। अतः सूत्रकार बंधके कारणोको अग्रिम सूत्र द्वारा कह रहे हैं। जो कि कारणोका निरूपण कर देना तीन इतर व्यावृत्तियोको साधना है बंधके मिथ्यादर्शन आदि पाच कारण है, अत: वन्ध सकारणक है,हेतुरहित नही है, अथवा बंधका ज्ञापक हेतु विद्यमान है। मिथ्यादर्शन आदि करके अनुमान द्वारा बंधको साध लिया जाता है। तथा बहुव्रीहिमें क प्रत्यय करनेपर निर्हेतुक शब्दसे यह भी किसीका हेतु हैं जो कारणोसे उत्पन्न होता है वह उत्तरवर्ती पर्यायोको भी उप जाता है।

" नित्यहेतुककूटस्थाकारणत्वनिवृत्तये " यह पाठ साधु जचता है जैसे कि " तन्निसर्गादधिगमाद्वा " इस सूत्रके अवतरणमे ग्रन्थकारने सम्यग्दर्शनके हेतुओका निरूपण करते हुये नित्यपन, नित्य हेतुकपन, और अहेतुपनकी व्यावृत्ति कर दी है बन्धके व्यक्तिरूपसे कदाचित् कारणोका प्रतिपादन कर देनेसे नित्य हेतुकपनकी व्यावृत्ति हो जाती है, ऐसी दशामे बन्ध की सर्वदा ही क्वचित् हो रहे उत्पत्ति नही होती रहती है किन्तु नियत कारणोके अनुसार भिन्न भिन्न प्रकारके न्यारे न्यारे (बदल बदल कर) कर्मबध होते रहते है तथा कारणो के कहदेनेसे बधके कूटस्थपन यानी नित्यपनकी व्यावृत्ति हो जाती है। अकारणपनकी निवृत्ति हो जाती तो कारणोके निरूपण का फल प्रसिद्ध ही है। छठे और सातवे अध्यायोमे आस्रव का निरूपण करते हुये सूत्रकारने एक प्रकार से बंधके हेतुओको कहा है, तभी तो इन पाचो की क्रिया जो आदिमे निरूपण किया जा चुका कह दिया जायगा। यहा क्रियाभेदसे उनको कहा जाता है।

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥१॥

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाच बन्धके कारण है। अर्थात् तत्त्वार्थोका श्रद्धान नही कर अन्य देवताओकी स्तुति करना, कर्मफल चेतनामे आकुलित रहना,आदि मिथ्यादर्शन है। व्रतोके प्रतिकूल हो रही छह कायके जीवोकी रक्षा नही करना और छह इन्द्रियोका असंयम रखना स्वरूप अविरति है। पुण्यसपादक अथवा विशुद्धि वर्धक कुशल कर्मों में आदर नही करना प्रमाद कहा जाता है। आत्माकी स्वाभाविक परिणतियो को कषनेवाली अनन्तानुबन्धी आदि कषाये प्रसिद्ध ही है। आत्मप्रदेशो का परिस्पन्द हो जाना योग है। पहिले गुणस्थान मे तेरह योग पाये जाते है। आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग छठे गुणस्थान मे ही सम्भवते हैं। यो ससारी जीवो के ये पाच बन्धके कारण हैं। पहिले के होनेपर पिछले समस्त कारण अवश्य पाये जाते है। भेद प्रभेदोकी अपेक्षा करनेपर तो व्यस्त रूपसे भी कारण हो जाते है जैसे कि पाचवे गुणस्थान मे स्थावर जीवोकी अविरति है, किन्तु जागृत अवस्थामे निद्रा प्रमाद नही हैं। अथवा सामायिक करते हुये श्रावक के विकथाये भी नहीं हैं, अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय नही है, आहारक, आहारकमिश्र, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, कार्मण ये छ योग नही पाये जाते है।

मिथ्यादर्शनं क्रियास्वन्तर्भूतं, विरतिप्रतिपक्षभूताप्यविरतिः। आज्ञाव्यापादनानाकांक्षक्रियायामंतर्भाव प्रमादस्य, कषायाः क्रोधादयः प्रोक्ताः, योगा कायादिविकल्पा प्रक्लृप्ताः।

मिथ्यादर्शन आदि पाचो कारणोको पहिले कहा जा चुका है। देखिये मिथ्यादर्शन

तो छठे अध्यायमे कही जा चुकी । पच्चीस क्रियाओमे अन्तर्भूत हो गया है। अतं उसका लक्षण वहा देख लेना चाहिये, " कुर्वेत्यादि प्रतिष्ठादिर्या मिथ्यात्वप्रवर्द्धिनी, सा मिथ्यात्वक्रिया वोध्या मिथ्यात्वोदयसश्रिता" इस वार्तिकमे मिथ्यादर्शन क्रिया का लक्षण कहा जा चुका है। विरति का प्रतिपक्ष हो रही अविरति भी सूचित कर दी गई है। यानी हिंसानृतस्तेयाब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरतिव्रत " इस सूत्रमे व्रतके प्रतिपक्ष अनुसार अविरति कह दी गई है और इन्द्रियकपायाव्रत, इत्यादि सूत्रमे अव्रतोके निरूपण द्वारा अविरतिको ध्वनित कर दिया है । पच्चीस क्रियाओमे कही गई आज्ञाव्यापादन और अनाकाक्षा इन दो क्रियाओमे प्रमाद का अन्तर्भाव हो जाता है क्रोध आदि कपायोंको भी इन्द्रियकषायाव्रत, इत्यादि सूत्रमे ही भले प्रकार कह दिया है, अवलम्ब हो रहे काय आदि विकल्पोवाले योगोको " कायवाङ्मन. कर्मयोग " इस सूत्रमे सपूर्ण रूपसे वढिया नियत कर दिया है । यो बन्धके कारणोको एक प्रकारसे कहा ही जा चुका है । आस्रवतत्त्व बधका कथचित् हेतु ही है ।

मिथ्यादर्शनं द्वेधा नैसर्गिकपरोपदेशनिमित्तभेदात् । तत्रोपदेशनिरपेक्ष नैस-र्गिक, परोपदेशनिमित्त चतुर्विध क्रियाक्रियाव्राद्याज्ञानिकवैनयिकमतविकल्पात् । चतुरशीति क्रियावादा इति कौत्कुल्यकण्ठविद्धिप्रभृतिमतविकल्पात् । अशीतिशतप्रक्रियावादानां मरी-चिकुमारोलूककपिलादिदर्शनभेदात् । आज्ञानिकवादाः सप्तषष्ठिसख्या साकल्यवाक्ल्य प्रभृतिदृष्टिभेदात् । वैनयिकानां द्वात्रिंशत् वशिष्टपराशरादिमतभेदात्, एते मिथ्यादर्शनो पदेशास्त्रीणि शतानि त्रिषष्ठ्युत्तराणि बधहेतव ।

सम्यग्दर्शनके समान मिथ्यादर्शन भी निसर्गसे जायमान नैसर्गिक और परोप-देशको निमित्त मानकर हुआ अधिगमज इन भेदोसे दो प्रकार है। उन दोमे परोपदेशकी नही अपेक्षा कर केवल मिथ्यात्व कर्मके उदयसे अथवा मिथ्यात्व कर्मका उदय होते हुये अन्य कारणोसे जो उपज जाता है वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है । परोपदेशोको निमित्त मानकर हुआ मिथ्यादर्शन तो क्रियावादी, अक्रियावादी, आज्ञानिक और वैनयिक, मतोके विकलपसे चार प्रकारका है । पदार्थोमे देशसे देशान्तर हो जाना रूप क्रियाको मान रहे क्रियावादी दार्शनिकोके कौक्कल, काण्डेविद्धि, या कौत्कुल्य, कण्ठेविद्धि आदिक मतोके विकल्प से क्रियावाद चौरासी प्रकार है । तथा पदार्थोमे क्रियाको नही माननेवाले मरीचिकुमार, उलूक, कपिल गार्ग्य, व्याभूति आदि अक्रियावादियोके दर्शनोके भेदसे अक्रियावाद एक सौ अस्सी प्रकार का है । एवं साकल्य, वाकल्य, वादरायण, बसु, जैमिनि, माध्यन्दिन, पैप्पलाद इत्यादिके दर्शनोके भेदोसे अज्ञानसे प्रयुक्त हुये आज्ञानिक वादोकी सदसठि सख्या है । तथैव वशिष्ठ

पराशर, जतुकर्ण, वाल्मिकि आदिके मन्तव्योके भेदसे वैनयिकोके बत्तीस प्रकार हैं। मिथ्या-दर्शनका उपदेश देनेसे ये बन्धके त्रेसठि ऊपर तीनसौ यानी तीनसौ त्रेसठि हेतु हो जाते हैं जो कि उपदेशापेक्ष मिथ्यादर्शन कारणका परिवार है। नैसर्गिकके असख्य भेद न्यारे है।

प्राणिवधनिमित्तत्वादधर्महेतुत्वसिद्धे । आगमप्रामाण्यात् प्राणिवधो धर्म हेतुरिति चेन्न, तस्यागमत्वासिद्धेरनवस्थानात् । परमागमे प्रतिषिद्धत्वात्तदसिद्धिरिति चेन्न, अतिशयज्ञानाकरत्वात् । अन्यत्राप्यतिशयज्ञानदर्शनादिति चेन्न, अतएव तेषां सम्भवात् ।

यहा किसीका आक्षेप है कि बादरायण, वसु, जैमिनि आदिक दार्शनिक तो वेदोमे विहित किये गये ज्योतिष्टोम, अग्निहोत्र, अश्वमेध आदि कर्मकाण्डोको मानते है। ऐसी दशामे उन वेद पाठियोको अज्ञानी मिथ्यादृष्टि क्यो गिनाया गया है ? इस आक्षेपके उत्तर मे ग्रन्थकार कहते हैं कि प्राणियोंके वधका निमित्त होनेसे श्रुतिविहित अजमेध, अश्वमेध आदिकके पोषक मतोको अधर्मका हेतुपना सिद्ध है। अतः पापका हेतु हो रही हिसा कदाचित् भी धर्मका साधन नही है यो उनकी आत्मापर महान् अज्ञान तम.पटल छा रहा है। यदि पूर्व मीमासावाले जैमिनि इस प्रकार कहें कि ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ये अपौरुषेय आगम है वेदका कर्ता नही होनेसे अकृत्रिमवेदमे कर्ता पुरुषोके रागद्वेष,अज्ञान, मूलक प्रयुक्तहो जानेवाले अप्रामाण्यके कारणोका अभाव है। अतः वेद आगमकी प्रमाणतासे प्राणियोका विधि विहित वध करना धर्मका हेतु है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना। क्योंकि उस हिंसा प्रतिपादक वेदको आगमपना असिद्ध है। जो सम्पूर्ण प्राणियोके हितकी शिक्षा करमेने प्रवृत्त हो रहा है वही आगम है। हिंसा को पोष रहे वाक्य उसी प्रकार आगम नही है जैसे कि चोरी, डाका आदिके पोषक वचन आगम नही हो सकते हैं। एक बात यह भी है कि वेदके वचन कोई ठीक व्यवस्थित नही है। कही " न हिंस्या सर्वाभूतानि, लिखा है अन्यत्र अश्वमेध, अजमेध, आदिको गाया है। एव किन्ही श्रुतियोसे सर्वज्ञताकी पुष्टि होती है, उन वाक्योंको अर्थवाद माननेवाले मीमासक पण्डित किसीको सर्वज्ञ मानते ही नही हैं तथा क्वचित् अद्वैतको पुष्ट किया जाता है अन्यत्र द्वैत प्रक्रियाकी भरमार है यो कोई निर्णीत अवस्था नही होनेसे वेद आगमको प्रमाण नही कहा जा सकता है। सबसे प्रधान बात यह है कि तीन लोकमे तीन कालमें सम्पूर्ण प्राणियोके हित का उपदेश दे रहे श्री अरहन्त भगवान् करके बढिया कहे गये परमोत्कृष्ट जिनागममे प्राणिवधका प्रतिषेध किया गया हैं। अहिसा ही परमधर्म है अत. प्राणियोका वध धर्म का हेतु कथमपि नही है। यदि यहा कोई यो कुचोद्य उठावे कि श्री अरहन्त भगवानके कहे गये प्रवचनका परमागमपना असिद्ध हैं मीमासक मान बैठे हैं कि पुरुषोकी कृतिया क्वचित् कदाचित् विसवादवाली हो ही जाती है

ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना, क्योकि वह जिन आगम सातिशय ज्ञानोकी खान है। जैसे कि रत्नोकी उत्पत्ति समुद्र या खानोसे ही होती है उसो प्रकार सातिशय तात्त्विक ज्ञानोकी उत्पत्ति जिनागमसे ही होती है। यहा कतिपय दार्शनिक आक्षेप करते हैं कि अन्यत्र व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, वैद्यक, नव्य न्याय, शारीरिक विज्ञान, शल्यचिकित्सा, साईन्स, भूगर्भविद्या आदि में भी सातिशय ज्ञान देखे जा रहे है। अत. ये भी परमागम हो सकते हैं ? आप जिनागम को ही सम्पूर्ण ज्ञानोकी खान या ताली क्यो बखान रहे है ?। आचार्य कहते है कि यह तो न कहना, क्योकि इस जिनागमसे ही उन सम्पूर्ण सातिशय ज्ञानोकी उत्पत्ति होती है। पूर्व आचार्योंने यही कहा है कि नैयायिक, वैयाकरण, सोइन्टफिक, वैद्य, भूगर्भशास्त्र वेत्ता, पुरातत्त्ववेत्ता, डाक्टर फिलौसफर, आदि विद्वानोके तत्त्वोमे जो कुछ भी सुन्दर ज्ञाना-तिशय दीख रहे है। द्वादशागमे सम्पूर्ण ज्ञान, विज्ञान, कलाये अन्तर्भूत है, जगत्के सम्पूर्ण ज्ञानोका जनक आर्हत प्रवचन है।

श्रद्धामात्रमिति चेन्न भूयसामुपलब्धेः रत्नाकरवत्। तदुद्भवत्वात्तेषामपि प्रामाण्यमिति चेन्न निस्सारत्वात् काचादिवत्, सर्वेषामविशेषप्रसगात्।

मीमासक, वैशेषिक, आदि अन्य दार्शनिक विद्वान् कह रहे है कि अरहंत भग-वानका कहा हुआ ही आगम सम्पूर्ण सातिशयज्ञानोका आकर है यह जैनो का कहना अपने मत की केवल श्रद्धा हैं, युक्तियोको नही सह सकता है, श्रद्धा प्रेमवश होकर सभी माताये अपने बालक को सर्वसुन्दर समझती है उसी प्रकार जैन भी अपने आगमपर अन्धश्रद्धा रखते हुये स्वकीय अर्हत प्रोक्त प्रवचन को पावन ज्ञानोका उत्पादक समझ बैठे है, क्या हिसा, चोरो, शस्त्रनिर्माण, मारण उच्चाटन प्रयोग मिथ्यात्वपोषक या रागवर्धक कामशास्त्र, द्यूतक्रीडा, परस्त्रीवशीकरण, वाजीकरण आदि के प्रतिपादक वचनोको अरहत भगवान कहेगे? कभी नही, आचार्य कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योकि जैसे गाव, नगर, राजधानी आदिमे धन-पति, सेठ, भूमिपति, राजा, महाराजाओके यहा पाये जा रहे रत्नोके आद्य उत्पत्तिस्थान समुद्र या खाने ही है, गाव, नगर, बगीचा, सरोवर आदि नही है, उसी प्रकार सम्पूर्ण अति-शय ज्ञानोका प्रभवस्थान जैन प्रवचन ही निर्णीत किया जाता है। चौसठि कलाये, कामसूत्र, वैद्यविद्या, सामुद्रिक, स्वरशास्त्र, भूमिविज्ञान, आदि सभी सिद्धातोका निरूपण जैन शास्त्रोमे पाया जाता है, पूर्वपक्ष अनुसार या निषेधने योग्य कही गयी प्रक्रिया अनुसार साख्य दर्शन हिंसा प्रकरण, द्यूत क्रीडा, रसायनविधि, आदि सभी बातोको जैन शास्त्रोमे दरशाया गया है।

पुनरपि मीमांसकोका पूर्वपक्ष है कि उस अर्हन् प्रोक्त प्रवचनसे ही यदि वेद व्याकरण,कामसूत्र आदि की उत्पत्ति मानी जाती है ऐसा हो जानेसे तो उन वेद आदि को अथवा उनमे क्वचित् कहे गये हिंसा, भ्रातृजायासेवन आदि के अनुष्ठान उपदेशको प्रमाणता हो जानी चाहिये जैसे कि वेदमे कहे गये दान प्रकरण अहिंसावचन आदि को प्रमाण मानलिया जाता हैं ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना, क्योकि जिनशासनरूपी समुद्रसे उत्पत्ति होनेपर भी वेद आदिको साररहित होनेसे प्रामाण्य नही है, जैसे कि काच, खार, सख, कौडी, आदि भी समुद्रसे उपजते है, खानोमे पत्थर, कोयले, ककड भी निकलते है, किन्तु नि सार होनेसे उनको अधिक मूल्य या आदर नही है।एक वात यह भी है कि हिसा यदि धर्म का साधन हो जायगी तो मछली, पक्षी, पशुओको पकडनेवाले या मारनेवाले सभी हिसकोको अन्तररहित होकर धर्म की प्राप्ति हो जानेका प्रसग आजावेगा, हिसक याज्ञिक ब्राह्मण या बकरोकी कुर्बानी करनेवाला मुल्ला (पेशमाम) बगुला सिह, उल्लू आदि सभी विशेषता रहित धर्मात्मा समझे जायेगे ऐसी दशामे "अहिसा लक्षणो धर्म " कहना अयुक्त पडेगा ।

यज्ञकर्मणोन्यत्र वधः पापायेति चेन्न, उभयत्र तुल्यत्वात् । तादर्थ्यात्सर्वस्येति चेन्न, साध्यत्वात् अन्यथोपयोगे दोषप्रसगात् ।

हिंसाके प्रतिपादक वेदको प्रमाण मान रहे कितने ही दार्शनिक अपना मत यो पुष्ट कर रहे हैं कि यज्ञमे किया गया पशुवध पापका कारण नही हैं, हाँ यज्ञकर्मके अतिरिक्त अन्य स्थलोपर की गई हिसा पाप के लिए मानी गई हैं,अत "अहिंसा लक्षणो धर्म " का कोई विरोध नही हैं । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना, क्योकि प्राणियोको मृत्युजन्य महान् दुःखका कारण होनेसे वह हिंसा चाहे यज्ञ मे की जाय या शिकार खेलना आदिमे की जाय दोनो स्थलोपर तुल्य रूपसे दुःख का हेतु ही है अत फल भी समान रूपसे पापास्रव होना चाहिये या यज्ञवेदी के भीतर किया गया पशुवध (पक्ष) पाप का कारण है (साध्य) प्राणवियोगका कारण होनेसे (हेतु) वेदीके बाहर किये गये पशुवधके समान (अन्वयदृष्टान्त) अथवा बलि-वेदी के भीतर हुई हिंसाको यदि हिंसा नही मानकर पुण्यसम्पादिका मानते हो तो वेदी के बाहर कसाईखानोमे किये गये पशुवध को भी स्वर्गका साधन मान लो । यदि मीमांसक यो कहे कि

यज्ञार्थं पशव स्रष्टा स्वयमेव स्वयंभुवा,
यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवध "

विधाताने सभी पशु पक्षी यज्ञ के लिये ही बनाये हैं, अत यज्ञमे पशुओको होम

देनेसे याजकको कोई पाप नही लगता है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना, क्योंकि यज्ञ के लिये ही पशु रचे गये है, यह साध्य कोटीमे ही पडा हुआ है, यज्ञ के लिये पशुओकी सृष्टि होना सिद्ध नही हो चुका है, जगत्के सम्पूर्ण प्राणी अपने अपने उपात्त कर्मोंके वश हो रहे जन्म मरण करते है उनको क्लेश पहुँचानेवाला पापी है, ईश्वरका निराकरण करनेवाले प्रघट्टमे ईश्वर सृष्टिवादका समूलचूल खडन कर दिया गया है। यदि पशुओको यज्ञके लिए बनाया गया माना जाता है तो सिह व्याघ्र, नक्र, चक्र आदिका आलाभन क्यो नही किया जाता है? विचारे घोडे,बकरे आदि दीन पशुओंपर ही शस्त्राघात किया जाता है,इस हिंसावाद को धिक्कार है। दूसरी बात यह है कि जो जिसके लिए होता है उसका दुसरे प्रकारोसे उपयोग करनेपर दोप उपजना देखा जाता है जैसे कि ज्वर, श्लेष्म, वातपीडा, आदि के निवारणार्थ की गई औषधी का यदि अन्य प्रकारोसे उपयोग किया जायेगा तो रोगी को हानि उपजेगी तिसी प्रकार यदि यज्ञ के लिए ही पशु बनाये गये माने जाते है तो पशुओका क्रयविक्रय दुग्ध-पान, सवारी, भारवाहन आदि कार्योमे उपयोग करनेसे कर्ताओको अनिष्ट फलकी प्राप्तिरूप हो जानेका प्रसग आवेगा जो कि वैदिकोको इष्ट नही है।

मन्त्रप्राधान्याददोष इति चेन्न, प्रत्यक्षविरोधात्। हिसादोषाविनिवृत्तेः नियतपरिणामनिमित्तस्यान्यथा विधिनिषेधासंभवात् कर्तुरसभवाच्च।

यज्ञमे पशु हिसा का फल स्वर्गादि है, यो माननेवाले कह रहे है कि मन्त्रोकी प्रधानता हो जानेसे कोई दोष नही आता है। अर्थात् विपका उपयोग भी कर लिया जाय, साप बिच्छू को हाथमे ले लिया जाय, किन्तु मत्रोकी प्रधानतासे विपका असर नही पडता है, मृत्यु नही हो पाती है, तिसी प्रकार मन्त्रोके सस्कारसे किया गया पशुवध भी पापोका कारण नही है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध आता है, जैसे कि मन्त्रसे नही सस्कार किये गये विषमे मन्त्रसंस्कृत विपसे अन्तर दीखता है, मन्त्रकीलित सर्पकी साधारण कृष्ण सर्पसे विशेपता है। लेज, साकल, आदि बधनोके विना भी जल, मनुष्य चिटी, मछली, आदिका मन्त्रोद्वारा स्तम्भन कर दिया जाता है, तिसप्रकार यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओमे केवल मन्त्रोसे ही पशुओका मार देना दीखता होता तब तो मन्त्रके बलपर श्रद्धा की जा सकती थी, किन्तु लेज, यूप आदिसे पशुको बाधकर पुनः शस्त्राघातसे वहाँ पशुओको मारा जाता है तिस कारण प्रत्यक्ष विरोध हो जानेसे निर्णीत किया जाता है कि मन्त्रोकी सामर्थ्य कुछ भी नही है, एक बात यह भी है कि शस्त्र आदिको करके प्राणियोको मार रहे हिसकके अशुभ अभिप्राय अनुसार पापबध अवश्य होता है उसीप्रकार मन्त्रोसे भी यदि पशु मार दिये

जाय तो भी हिंसाके दोषोकी कथमपि निवृत्ती नही हो सकेगी। जिस प्रकार मन्त्रोद्धारा शत्रुको या साप को मार रहा प्राणी हिंसक ही है, उसी प्रकार मन्त्रोसे भी अश्व, बकरा आदि को मारनेवालेके खोटे पाप कर्मोका बध अवश्य ही होवेगा, हिंसा, परस्त्रीसेवन, पूजन, दान आदि क्रियाओ अनुसार नियत हो रहे अशुभ शुभ परिणामोको कारण मानकर पापकर्म और पुण्य कर्मोका बध नियत हो रहा है, स्वार्थवश किये गये हिंसा आदि कर्मोद्वारा उसका अन्य प्रकारोंसे विधि या निषेध करना असभव है। तीसरी बात यह है कि कर्ताका असभव है अर्थात् अग्निहोत्र आदि क्रियाओका कर्ता न तो शरीर हो सकता है तथा सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक आत्मा भी कर्ता नही हो सकता है। देखिये भौतिक शरीर कर्ता माना जायेगा तब तो वह अचेतन होनेसे पुयपाप क्रियाओकी सचेतना नही कर सकता है, सर्वथा नित्य आत्मा पूर्वापर कालोमे एकसा है। अत विकार नही होनेसे कर्तृता हट जाती है, क्षणिकआत्माके मन्त्रार्थोंका स्मरण रखना उनका प्रयोग चिंतन आदि बन नही सकते है। अत कर्ता का अभाव हो जानेसे क्रियाफल का सम्बन्ध नही हो सकता है, वार्तिक वाक्योका तत्वार्थ राजवार्तिकमे श्री अकलक देव महाराजने प्रथमसे ही श्रेष्ठ भाष्य रच दिया है विशेषज्ञ पुरुष वहासे व्युत्पत्तिलाभ करे।

पञ्चविध वा मिथ्यादर्शनम्।

मिथ्यादर्शनके नैसर्गिक और परोपदेश जन्य दो भेद किये, परोपदेश जन्य के तीन सौ त्रेसठ भेद कहे गये है। अब दुसरे प्रकारोसे मिथ्यादर्शनके भेद को कहते है कि अथवा एकात मिथ्यादर्शन, विपरीत मिथ्यादर्शन, सशय मिथ्यादर्शन, वैनयिक मिथ्यादर्शन और आज्ञानिक मिथ्यादर्शन यो पाच प्रकारका मिथ्यादर्शन है। यह इस प्रकार ही है यो धर्मो और धर्ममे एकान्त आग्रहपूर्वक अभिप्राय रखना प्रकान्त मिथ्यादर्शन है जैसे कि ब्रह्माद्वैतवादि सभी पदार्थोको ब्रह्ममय मानते है कोई पण्डित पदार्थोको अनित्य मानते हें, अन्य नित्यपनका आग्रह कर बैठे है, ये सब एकान्त मिथ्यात्व है। वस्तुस्थितीके विपरीत ही श्रद्धान कर बैठना विपर्यय मिथ्यादर्शन है। जैसे कि परिग्रहसहित भी पुरुष अथवा स्त्री भी मोक्षलाभ कर लेती है साधारण मनुष्योके समान केवली भी कौर खाकर आहार करते है यो श्वेताबरो,बौद्ध,वैष्णव, आदि पण्डितोने अभिनिवेश कर रक्खा। प्रमाणोद्वारा निर्णीत हो रहे विषयोमे सशय रखना संशय मिथ्यादर्शन है। तदनुसार सम्पूर्ण विष्णु,महादेव, भैरव, जिनेद्र, बुद्ध, अल्लामिया, ईसा काली आदि देवो और सम्पूर्ण कुराण, पुराण, बाइबिल, आल्हखड, कामसूत्र, गोम्मटसार ग्रन्थसाहब, आदि ग्रन्थोको समान दृष्टिसे पूजना, पढना आदि किया जाता है किसीकी निन्दा

नही की जाती है, यो विनयप्रकाश करना वैनयिक मिथ्यादर्शन है। हित, अहित की परीक्षा नही करना आज्ञानिक मिथ्यादर्शन है।

अविरतिकषाययोगा द्वादशपञ्चविंशतित्रयोदशभेदाः, प्रमादोनेकविध । समुदायावयवयोर्बन्धहेतुत्वं वाक्यपरिसमाप्तेर्वैचित्र्यात् ।

अविरति के भेद बारह है कषाय पच्चीस प्रकारकी हैं योगोके तेरह भेद है। अर्थात् पृथिवीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन छह कायके जीवोको रक्षा नही करनेका अभिप्राय रखना, तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन इन छह इन्द्रियोके निग्रहका प्रयत्न नही करना यो बारह प्रकारकी अविरति है अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ १२ सज्वलन क्रोध, मान, माया लोभ १६, हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, २२ स्त्रीवेद, पुवेद, नपुसक वेद २५ यो सोलह कषाय और नौ नोकषायोके भेदसे कषाये पच्चीस प्रकार की है। सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभय-मनोयोग, अनुभयमनोयोग ४ सत्यवचन योग, असत्यवचन योग, उभय वचन योग, अनुभय वचन योग ८ औदारिक कोययोग, औदारिक मिश्रकाय योग, वैक्रियिककाय योग, वैक्रियिक मिश्रकाय योग, कार्मणकाय योग, ५ यो तेरह प्रकारका योग है। आहारक काय योग और आहारक मिश्रकाय योग ये दो योग तो मुनि के छठे गुणस्थान मे ही सम्भवते है। सम्पूर्ण योग पन्द्रह माने गये है। बीचमे कहे गये प्रमादके पाच समिति, तीन गुप्ति, और भावशुद्धि आदि आठ शुद्धिया उत्तम क्षमा आदि दशधर्म आदि विशुद्धचग परिणतियोमे उत्साह नही रखने के भेदसे अनेक प्रकार है। मिथ्यादर्शन आदि पाचोके समुदायको समस्तरूपसे और पाचोके एक, दो, तीन, चार अवयवो को व्यस्तरूपसे बध का हेतुपना है। अर्थात् पहिले गुणस्थानवर्ती जीवमे बध के कारण पाचो विद्यमान है, यहा मिथ्यादर्शन की व्युच्छित्ति हो जाती है। अत दुसरे, तिसरे, चौथे गुणस्थानोमे जीवोके अविरति, प्रमाद, कषाय, योग ये चार बधके कारण है। पाचवे गुणस्थानमे स्थावरोको अविरति से मिले हुये प्रमाद, कषाय, और योग यो श्रावक, श्राविकाओके बधू उपयोगो साढेतीन कारण है। छठे मे प्रमाद,कषाय योगो को निमित्त पाकर मुनियोके कर्मवध होता है, यह वध के कारण प्रमादकी व्युच्छित्ति हो जाती है। सातवे, आठवे नौमे, दशमे गुणस्थानो मे योग और कषाय दो बध के कारण

हैं। उपशात कषाय, क्षीणकपाय और सयोग केवलियोके योग ही एक बंध का कारण रह जाता है, जो कि एक समय ठहरकर दुसरे समयमे निर्जरा हो जानेवाले सातावेदनीय कर्म का मात्र बधक है, नोकर्म वर्गणायें भी योगसे आती है, चौदहवे गुणस्थानमे कोई आस्रव या बंध नही है। यो आर्ष आम्नाय अनुसार वाक्योकी परिसमाप्तीके अनुरोधसे सूत्रका उक्त अर्थ निकालना पडता है। मिथ्यादर्शन आदि के क्रियाबादी, एकातमिथ्यादर्शन, पृथिवी कायिक अविरति, विकथा भावाशुद्धी, अनुत्साह, अनन्तानुबंधी क्रोध, सत्यमनोयोग आदि भेद प्रभेदोकी अपेक्षा विचार करने पर तो प्रत्येकको या असमग्रको बध का हेतुपना समझा जाय कारण कि सभी मिथ्यादर्शन एक समयमे एक आत्माके साथ नही सम्भवते हैं। इसी प्रकार अविरति, प्रमाद, कषाय, योगोके भेद प्रभेद भी सभी युगपत् नही सभवते है। पच्चीस कषायो मे से एक समयमे अधिक से अधिक अनन्तानुबधी क्रोध१,अप्रत्याख्यानावरण क्रोध२,प्रत्याख्या-नावरण क्रोध३ सज्वलनक्रोध४ तथा हास्य५ रति६ इन चारमे दो एवं भय जुगुप्सा८ और स्त्रीवेद, पुवेद, नपुसक वेदोमे से एक वेद९ यो नौ कषाये उदयरूप हैं, पन्द्रह योगो मे से एक जीवके एक समयमे एक ही योग रहेगा। अत. भेदप्रभेदोको व्यस्तरूपसे कारणपना है।

अविरते प्रमादस्याविशेष इति चेन्न विरतस्यापि प्रमाददर्शनात्। इति चेन्न, कार्यकारणभेदोपपत्ते .।

यहाँ कोई शका उठाता है कि अविरति से प्रमाद का कोई अन्तर नही है? अत दोनोमे से एक का ग्रहण करना समुचित है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योकि विरत हो रहे मुनिके भी विकथा, कषाय, इन्द्रिय, निद्रा और स्नेह स्वरूप प्रमाद हो रहे सभव जाते है। पुन कोई आक्षेप करता है कि कषायो और अविरतियो मे कोई भेद नही दीखता है, दोनो ही हिसादि परिणामो स्वरूप हैं, आचार्य कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि कार्य और कारणके भेदसे इनके पृथक् निरूपणकी सिद्धी हो रही है। क्रोधादिकषाये कारणस्वरूप हैं और हिंसादि की अविरतिया कार्य है अतः इनका भी न्यारा निरूपण करना उचित है। कोई कोई विद्वान प्रमाद पदसे उन्ही विकथा आदि प्रमादोको पकडते है जो कि छठे गुणस्थान मे ही पाये जाते हैं शेष रहे तीव्र प्रमादोको मिथ्यादर्शन और अविरति की मुख्यतासे ही गिन लिया जाता है, इसी प्रकार कषायपदसे सातवे गुणस्थानसे दशवे गुणस्थान तक सम्भव रही कषायें ही ली जाय अन्य अनन्तानुबन्धी आदि कषायोको पहिले कारणोमे

गतार्थ कर लिया जाय "तच्चिन्त्य" ।।

कुत पुनर्मिथ्यादर्शनादयः पचबधहेतव इत्याह—

यहाँ कोई तार्किक पण्डित प्रश्न करता है कि मिथ्यादर्शन आदि पाचोको बंधका कारण किस युक्तिसे समझ लिया जाय ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक को कहते है ।

स्युर्बंधहेतवः पुंसः स्वमिथ्यादर्शनादयः ।
तस्य तद्भावभावित्वादन्यथा तदसिद्धितः ॥२॥

जीवके अपने मिथ्यादर्शन, अविरति आदि पाच (पक्ष) बंध के कारण हो सकते है (साध्यदल) उस बंध का उन मिथ्यादर्शन आदि के सद्भाव होनेपर हो जाना स्वरूप अन्वय होनेसे (हेतु) अन्य प्रकारोसे उस बध के होने की असिद्धि है (व्यतिरेकव्याप्ति) इस अनुमान द्वारा सूत्रोक्त बध कारण सिद्धात को युक्तिसे साध दिया गया है ।

पुसो बंधहेतव इति वचनात् प्रधानस्य क्षणिकचित्तस्य सतानस्य च व्यवच्छेद. स्वमिथ्यादर्शनादय इति निर्देशात् प्रधानपरिणामास्ते पुसोबंधहेतव इति व्युदस्तं, कृतनाशाकृतभ्यागमप्रसगात् बंधस्य मिथ्यादर्शनाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानात्तध्देतुकत्वसिद्धिः ।

उक्त वार्त्तिकमे पुरुषके कर्मोका बध होजानेके मिथ्यादर्शन आदि कारण है। यो कथन कर देनेसे प्रधानके अथवा क्षणिक चित्तके या सन्तानके बंध होने का व्यवच्छेद हो जाता है । भावार्थ कपिलसिद्धान्त अनुसार प्रकृतिके ही वंध होना माना गया है वे आत्माको शुद्ध कमलपत्रसमान निर्लेप स्वीकार करते है । जैसे जलसे कमल का पत्ता विमुक्त रहता है । वस्तुत विचारा जाय तो पत्ते के ऊपर बहुत बारीक रोमाबली है, जलके मोटे कण उस सूक्ष्म रोमावलि पर टिके रहते हैं। पत्तेके ही रोम है अत. पत्तेके अवपरोसे जल सयुक्त है ही,न्यारी जातिवाले पदार्थोका सयोग भी भिन्न प्रकारका है । बौद्धोके यहा क्षणिक चित्त था कल्पित संतानके ही बध होना इष्ट किया गया है, ऐसी दशामे आत्माकी परतन्त्रता नही सुघटित होती है । जो बंधता है वही स्वकीय स्वाभाविक पुरुषार्थोद्वारा मोक्षलाभ करता है, अतः

आत्माका ही परद्रव्यके साथ बध जाना जैन दर्शनमें इष्ट किया गया है। वार्तिकमे "स्वमिथ्या दर्शनादय" ऐसा कथन करदेनेसे साख्योके इन मन्तव्योका खण्डन हो जाता है कि मिथ्यादर्शन आदिक तो प्रकृति के परिणाम है और पुरुपके वंध जानेमे कारण है। बात यह है कि चोरका खोटा परिणाम विचारे साहुकारके बंधनेका कारण नही हो सकता है। इसी प्रकार प्रकृतिका परिणाम सर्वथा भिन्न हो रहे शुद्ध आत्माको नही बाँध सकता है अन्यथा कृतनाश और अकृ-तके अभ्यागमका प्रसग हो जावेगा। प्रकृतिने मिथ्यादर्शन, हिंसा, दान, पूजन, आदि काय किये उसका किया कराया मिट्टीमे मिल गया यो प्रकृतिके कृत पापोका नाश हो गया और जा आत्मा शुद्ध, अकर्ता, बैठा हुआ था उसको बधनमे पडकर दु ख, सुख, भोगना पडा, यही अकृतका अभ्यागम है। इसी प्रकार क्षणिक चित्तका वध मानने पर भी पापपुण्य, कर्म करने-वाला चित्त मरगया, उसके दु खसुखफल किसी कालान्तरभावी अन्य चित्तको ही भुगतने पडते है जोकि न्यायमार्गसे विरुद्ध है। उक्त वार्तिकमे पडे हुये हेतु की उपपत्ति यो करली जाय कि मिथ्यादर्शन, अविरति, आदि के साथ बंधका अन्वयानुविधान और व्यतिरेकानुविधान हो रहा है। मिथ्यादर्शनादिके होनेपर ही बंध होता है और मिथ्यादर्शनादि के न होने पर चौदहवे गुणस्थान मे या सिद्धोके वध नही होता है यो अन्वय और व्यतिरेककी अनुकूलता घटित हो जानेसे उन मिथ्यादर्शनादि को वध के हेतुपने की सिद्धि हो जाती है।

ननु च मोक्षकारणत्रैविध्योपदेशात् बधकारणपांचविध्यं विरुद्धमित्याशकायामाह–

यहाँ शका उठती है कि प्रथम अध्यायमे सबसे प्रथम के सूत्रमे मोक्षके कारणोके त्रिविधपनका उपदेश दिया है अत. बधके कारण भी तीन प्रकार ही होने चाहिये, इस सूत्रमे पाच प्रकार बंध के कारणोका निरूपण करना तो पूर्वापर विरुद्ध है। बात यह है कि प्रतिबंधक हो रहे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, इन तीन मोक्ष कारणोसे प्रतिबध्य माने गये बध के तीन कारण भले ही निवृत्त हो जायेंगे फिर भी बध के शेष दो हेतुओसे जीवके कर्मोका बंध होते रहना टल नही सकता है अतः या बंध के कारण पाच कहे है तो मोक्ष के कारण भी पाच कहने चाहिये थे और यदि मोक्षके कारण तीन कहे जा चुके तो बध के कारण भी तीन ही गिनाईये, पाच नही, ऐसी आशका प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधानकारक उत्तर वार्तिक को कह रहे है।

तद्विपर्ययतो मोक्षहेतवः पंचसूत्रिताः ।
सामर्थ्यादत्र नातोस्ति विरोधः सर्वथा गिराम् ॥३॥

इस सूत्र मे बंध के कारण जब पाच कहे गये हैं तो विना कहे ही सूत्र सामर्थ्य करके उस बंध मार्गका विपर्यय होनेमे मोक्ष कारण भी आदि सूत्र द्वारा पांच ही समझ लिये जाय, अत स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार सूत्रकार की पूर्वापर वाणियोंका सभी प्रकारोंसे कोई विरोध नही है ।

निर्णीतप्रायं चैतन्न पुनरुच्यते ॥

बध के कारण पाच है तो मोक्ष के कारण भी सम्यग्दर्शन, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग ये पाच समझ लिये जाय, जो कि रत्नत्रय में ही गतार्थ हैं। अथवा मोक्षके मार्ग तीन है तो बधके कारण भी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र ये तीन ही समझ लिये जाय इन तीनोंके ही परिकर पाच है । वचनभंगियो से जैनोंका कोई विरोध नही है, इस सिद्धात का हम पहिले प्रकरणोमे ही बहुत निर्णय कर चुके है । आद्यसूत्र का व्याख्यान करते हुये " बंधप्रत्ययपांचध्यसूत्रं न च विरुध्यते " आदिक कतिपय आगे पीछे की वार्त्तिको मे बहुत अच्छा विवेचन किया जा चुका है, अतः इस बंध के तीन कारण या मोक्षके पाच कारण संबन्धी प्रकरणोको यहां फिर दुबारा नहीं कहा जाता है । विशेप जिज्ञासु पण्डित उन पूर्व प्रकरणोको पढ लेवे ॥

कोयं बंध इत्याह—

बध के कारणोंको समझ लिया है अब बताओ कि बंध क्या पदार्थ है? इस प्रकार विनीत शिष्यकी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कहते है ।

बध का लक्षण

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंधः ॥२॥

पूर्वबद्ध कर्मोंसे सकषाय हो जाने के कारण यह जीव कर्म के योग्य पुगद्लोंको ग्रहण करता है वह आत्मा और कर्मका एकरस होकर बंध जाना बंध है ।

पुनः कषायग्रहणमनुवाद इति चेन्न, कर्मविशेषाशयवाचित्वाज्जठराग्निवत् । जीवाभिधानं प्रचोदितत्वात्, जीवस्य हि कथममूर्तेरहस्तस्य कर्मणा बध इति परैः प्राचोदि ततो जीव इत्यभिधीयते । जीवनाविनिर्मुक्तत्वाद्वा, जीवन ह्यायुस्तेनाविनिर्मुक्त एवात्मा कर्म पुद्गलानादत्तेऽतश्च जीवाभिधानं युक्त ।

यहां शका है कि पहिले सूत्रमे कपाय पद पडा हुआ ही है पुनः इस सूत्रमें कपाय शद्बका ग्रहण किया गया है, यह तो केवल पूर्व का अनुवाद है, स्वय अपना अनुवाद करना तो सूत्रकारका व्यर्थ प्रयत्न है, आचार्य कहते है कि यह तो नही कहना, क्योकि जठराग्निके समान कषाय विशेषोके आशय को कह रहा यह कपाय शद्ब है । अर्थात् खाये पीये गये पदार्थकी उदराग्निके आशय अनुसार जैसे तीव्र, मन्द, मध्यम रसोको लिये हुये स्थिति और अनुभव होते है, इसी प्रकार आत्मामे तीव्र, मन्द, मध्यम स्वरूप स्थिती और अनुभव बध होते हैं। अत बध के हेतुओमे कहे गये भी कषायो की स्थिति अनुभागोमे विशेपता कराने के लिये पुनः इस सूत्रमें कषाय शद्बका निर्देश किया गया है । यहा कोई आक्षेप करता हैं कि जीव ही तो कर्मोको बाधता है इस बात को मन्दबुद्धि प्राणि भी जानता है, पुन सूत्रकार ने अत्यंत सक्षिप्त हो रहे सूत्रमे व्यर्थ जीव शब्दको क्यो कहा है ? इसके उत्तर मे आचार्य कहते हैं कि जो कोई वादी यो कुचोद्य कर रहा है कि मूर्तिरहित और हाथपावरहित विचारा जीव किस प्रकार कर्मोंको ग्रहण कर लेता है, किस प्रकार बधवान् हो जाता है, जब कि शरीररहित अमूर्त आकाश बिचारा बध को प्राप्त नही होता है, ऐसी चर्चा उठनेपर सूत्रकारको जीव शद्ब कहना पडा है । अमूर्ति, हस्तरहित जीव भला कर्म करके किसप्रकार बध को प्राप्त हो जाता है ? इस प्रकार दुसरे वादियोने प्रकृष्ट कुचोद्य उठाया था, तिसकारण सूत्रमे जीव–पद कहा गया है, जीवन से नही विनिर्मुक्त होनेसे यह प्रमाण का विषय हो रहा मूर्त ससारी जीव पौद्गलिक कर्मोंको बाधता है । जीवन तो नियमसे आयुष्य है, उससे विशेषतया नही छूट रहा ही यानी आयुष्यधारी ही ससारी आत्मा कर्मपुद्गलोका आदान करता है, आयुके सबन्ध विना शुद्ध जीव कर्मोको नही बाधता हैं, अतोपि सूत्रमें जीवपदका कथन करना समुचित है । अर्थात् कर्मोको ग्रहण कर रहा जीव कथमपि अमूर्त नही है । मूर्त ही जीव मूर्त कर्मोको बांध रहा हैं, बाधनेमे हाथ की कोई आवश्यकता नही है । उष्ण–लोहेका गोला चारो ओरसे पानी को खीच लेता हैं, अंगोपागरहित हो रहा चुंबकपाषाण लोहेको खीच लेता है, इसी प्रकार ससारी मूर्त आतमा भी स्वकीय परिणाम हो रहे योगो करके

कर्मोका आकर्षण कर स्वकीय कषायो अनुसार स्थितिबंध, और अनुभागबध करता रहता है, अनादिकालसे कर्मो करके बधा हुआ यह जीव प्रथमसे ही मूर्त है ।

कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्त इति पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यांतरज्ञापनार्थं तेन कर्मणो जीवः सकषायो भवति पूर्वोपात्तादित्येक वाक्य सकषायत्वात् पूर्वमकर्मकस्य मुक्तवत्स-कषायत्वायोगात् । तथा कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते जीवः सकषात्वात् इति द्वितीय वाक्यं कर्मयोग्यपुद्गलादानात्पूर्वं सकषामस्य क्षीणकषायादिवत्तदघटनात् ततो जीवकर्मणोरनादि बंध इत्युक्तं भवति बीजांकुरवत् । सकषायत्वकर्मयोग्यपुद्गलादानयोर्भाविद्रव्यबधस्वभाव योर्निमित्तनैमित्तिकभावव्यवस्थानात् ।

यहा कोई पण्डित आक्षेप उठाता हैं कि "कर्मणो योग्यान्" ऐसा लघुनिर्देश करना सूत्रकारको उचित था ? इसका आचार्य समाधान करते है कि "कर्मणो योग्यान् पुदगलानादत्ते" कर्म के योग्य हो रहे पुद्गलोको ग्रहण कर रहा है इस प्रकार पृथक् विभक्तिका उच्चारण करना तो अन्य वाक्यका ज्ञापन करने के लिये है, तिस कारण वे दो वाक्य यो बन जाते है कि "कर्मण" (पचमी विभक्ति) जीव· सकषायो भवति । पूर्व जन्ममे उपात्त किये गये कर्मोसे उदयापन्न दशामे हो जानेपर जीव कषायसहित हो जाता हैं, यह एक वाक्य हुआ । पूर्व कर्मो अनुसार सकषाय हो जानेसे ही जीव कर्मोको ग्रहण करता हैं, कर्मरहित जीवके कषायसहितपनका अयोग है, जैसे मुक्त जीवो के कषाये नही होनेसे कर्मबध नही होने पाता हैं, विग्रह गति मे भी एक, दो, तीन, समयतक यह जीव तीन शरीरो और छह पर्याप्तियोके योग्य पुद्गलो को ग्रहण नही कर पाता है, हा, कर्मोका ग्रहण तो सर्वदा होता ही रहता है, अतः कर्मोके ग्रहण नही करनेमे मुक्त के समान कार्मणकाययोगी जीव को भी नोकर्म के ग्रहण नही करनेमे दृष्टात कह सकते हैं। तथा कषायसहित होनेसे यह ससारी जीव कर्मके योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता हैं यह दुसरा वाक्य है । समास नही करनेपर ही यहा कर्मण को षष्ठी विभक्तिवाला मानकर दुसरा "कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते" यह वाक्य बना लिया गया है । देखिये कर्मके योग्य पुद्गलोका ग्रहण करनेसे पहले यदि उप-शात कषाय गुणस्थानवाला जीव अकषाय हो जाता है तो बारहवे क्षीण कषाय आदि गुणस्थानियो के समान उस कर्मपुद्गल का आदान करना घटित नही होता है । ग्रन्थकारने यहा पहिले वाक्यमे "सकषायत्वात्पूर्वं अकर्मकस्य" लिखा है । इससे कोई यो अभिप्राय नही निकाल लेवे कि पहिले कर्मरहित हो जा चुका भी जीव पुन कषायसहित होकर कर्मोका उपार्जन करने लग जाता है । वात यह है कि उपशम श्रेणी लेचुका जीव कषायसहित

होनेके पहिले कषायरहित हो चुका है अतः मुक्तके समान ग्यारहवें गुणस्थान मे कषायसहित पनका अयोग है, ग्यारहवें सद्वेद्य का एक समय स्थितिवाला बध हो रहा और क्रोधादि कषायोका सत्ता मे रहना विवक्षित नही है अथवा सम्पूर्ण कर्मोकी अपेक्षा नही कर किन्तु व्यस्त कर्मोकी अपेक्षा जीवको कर्मरहित माना जा सकता है । अनन्तानुबधी का विसयोजन कर सर्वथा अनन्तानुबधो से रहित हो चुका जीव पुन पहिले दुसरे गुणस्थानो मे लौट कर सकषाय हो जानेसे अनन्तानुबन्धी का बंध कर लेता है । उच्चगोत्र का नाशकर उच्चगोत्र की अपेक्षा अकर्मक हो रहा जीव पुन उच्चगोत्र या नीच गोत्र का आस्रव कर लेता है, यो भिन्न भिन्न प्रकृतियोका विसयोजन, सर्व सक्रमण कर या भुज्यमान आयुको भोगकर पुन बद्धव्य कर्मोके अनुसार सकषाय होकर जीव उन उन कर्मोको नवीन रूपसे बाधता है । इसीप्रकार दुसरे वाक्य से भी "कर्मयोग्यपुद्गलादानात्पूर्वमकषायस्य" ऐसा पाठ है, यहां भी व्यक्तिरूपसे कषायरहितपन या कर्मरहितपन की सिद्धी करली जाय । क्षीणकषाय, सयोग केवली, अयोग केवली और मुक्त जीव तो पुनः कभी न कषायसहित होते है न कर्मोको बाधते है। हा उपशात कषायवाला मुनि तो अनेक भवोतक कर्मोको बाध सकता है,तिस कारण इस सूत्रद्वारा यो कह दिया गया गया है कि जीव और कर्मका अनादिकालसे बध है, पूर्वबद्ध क्रोधादि कर्मोके उदयसे जीव वर्तमानमे कषायसहित हो जाता है, वह सकषाय ससारी यहा जीव पद से लिया गया है, जैसे बीज से वृक्ष और वृक्षसे बीज यो धाराप्रवाह रूपेण अनादिकालसे कार्यकारण भाव चला आ रहा है, उसी प्रकार पहिले बाधे हुये कर्मोमे जीव वर्तमान मे कषायसहित हो जाता है और इस कषायसहितपनसे बाध लिये गये कर्मो करके पुनः कषायसहित होगा, अथवा पहिले खाये पिये गये पदार्थोकी बन गये लारपित्त, अनुसार अब खाया पिया जाता है और इस खाये गये से पुन बननेवाली लार आदिसे पीछे खाया जायेगा यो प्रवाह रूपसे हेतु हेतुमद्भाव मे कोई अन्योन्याश्रय दोष नही है। कारण कि व्यक्ति रूपसे निर्दोष कार्यकारण भाव बन रहा है, जिस बीज से जो अंकुर उपजता है उसी अकुर से पहिला बीज नही उपजता है, जिससे कि परस्पराश्रय दोष हो जाता । बात यह कि जीवका कषाय-सहितपना भाववध स्वरूप है और कर्म बनने योग्य पुद्गलोका ग्रहण हो जाना द्रव्यबध स्वरूप है, भावबंध निमित्त कारण है और द्रव्यबध उस निमित्तसे उपजा नैमित्तिक परिणाम है, जैसे कि बीज निमित्त और अकुर नैमित्तिक है, अंकुर बहुत काल पीछे वृक्ष होकर पुनः पुष्पित, फलित होता हुआ कालांतरमे पककर बीज बनेगा । इसी प्रकार क्रोध आदि

कषायो के उपजते ही भावबध अनुसार झटिति पौद्गलिक कर्मोका ग्रहण हो जाता है। आबाधा कालके पीछे अन्य भी द्रव्य, क्षेत्र काल भावो का निमित्त मिल जानेपर उन कर्मोके अनुसार जीव के कषाय उपजेगी। यह जिनागममे कर्मसिद्धान्त की व्यवस्था युक्तिपूर्ण कही गयी है।

पुद्गलवचनं कर्मणस्तादात्म्यख्यापनार्थं पुद्गलात्मक द्रव्यकर्म न पुनरन्यस्वभावं तदसिद्धमिति चेन्न, अमूर्तेरनुग्रहोपघाताभावात्। न ह्यमूर्तिरात्मगुणो जीवस्यामूर्तेरनुग्रहो पघातौ कर्तुमलं कालवदाकाशादीना। मूर्तिमतस्तु पौद्गलिकस्य कर्मणोनुग्रहोपघातकरणम- मूर्तेप्यात्मनि कथंचिन्न विरुध्यते तदनादिबध प्रतीतस्य मूर्तिमत्वप्रसिद्धेरन्यथा बधायोगात्।

सूत्रमे पुद्गल शब्द का कथन करना तो कर्मका पुद्गल के साथ तदात्मकपने की ख्याती कराने के लिये है, द्रव्यकर्म पुद्गल स्वरूप है, अन्य आत्मगुण या अविद्यास्वरूप नही है। वैशेषिकोने अदृष्ट को आत्माका गुण स्वीकार किया है, किन्तु जो आत्मा का गुण है वह आत्माको मोक्षसे हटाकर संसार बधन का हेतु नही हो सकता है। यौग,बौद्ध, कापिलो ने भी कर्मको अनेक प्रकारो से परिभाषित किया है। सूक्ष्म पर्यवेक्षण करनेपर कर्मपौद्गलिक ही सिद्ध होते हैं। यहा कोई वैशेषिक आक्षेप करता है कि कर्मका वह पौद्गलिकपना असिद्ध है। व्यापक, नित्य, अमूर्तिक आत्माके साथ मूर्त, सावयव, पुद्गल नही बध सकते है, अत पुण्यपाप कर्मस्वरूप अदृष्ट तो आत्माका ही गुण है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना कारण कि अमूर्त आत्माके ऊपर अमूर्त अदृष्ट करके सुख प्राप्ति कराना रूप अनुग्रह करना और दुःखाना रूप उपघात करना नही हो सकते है। जैन तो ससारी आत्माको पौद्गलिक कर्मो के साथ बंध हो जानेके कारण मूर्त स्वीकार करते है, अत मूर्त आत्माके ऊपर मूर्तकर्म अपनेद्वारा अनुग्रह और उपघात कर सकते है, किन्तु वैशेषिको के यहा आत्मा और आत्म गुणोको नियमसे अमूर्त माना गया है, ऐसी दशामे मूर्तिरहित हो रहा आत्मगुण अदृष्ट बिचारा अमूर्तिक जीवके अनुग्रह और उपघातो के करने के लिये समर्थ नही है, जैसे कि अमूर्तिक काल अमूर्त हो रहे आकाश दिशा आदिके उपर अनुग्रह उपघातोको नही कर पाता है। हाँ जैन सिद्धान्त अनुसार मूर्तिमान पौद्गलिक कर्म के द्वारा अनुग्रह और उपघात करना कथंचित् अमूर्त हो रहे भी आत्मा मे कथमपि विरुद्ध नही पडता है। क्योकि उन पौद्गलिक कर्मोके साथ अनादि कालसे बंधे रहने की इत्थंभूत प्रतिपत्ति अनुसार उस आत्मा

को मूर्तिसहितपनेकी प्रसिद्धी है, अन्यथा यानी आत्माको अमूर्त या अन्य प्रकारोसे स्वीकार करनेपर बंध हो जानेका अयोग होजायेगा। जैसे कि अमूर्त आकाश किसी परद्रव्यके साथ नही बधता है। अग्नि, शस्त्राघात, विपप्रयोग आदि से नही सताया जाता है, उसी प्रकार अमूर्त आत्मा का संसारबधन कथमपि नही हो सकेगा। यद्यपि अमूर्त आकाश सभी मूर्त, अमूर्त द्रव्यो के अवगाह देनेमे और अमूर्त कालाणुये सबकी वर्तना करानेमे या अनेक विलक्षण कार्यो के कराने मे कारण हो रहे जैनसिद्धात के अनुसार माने गये है, तथापि आत्माकी परद्रव्य के साथ बध कर हो रही तृतीय अवस्था स्वरूप विभाव परिणति तो अमूर्त द्रव्यो से नही हो सकती है, मात्र इतनेमे कालद्रव्य को दृष्टांत समझ लिया जाय, अथवा वैशेषिको के सिद्धान्त अनुसार उक्त निदर्शन समुचित ही है। उन्हो ने आकाश, दिशा आदि के उपर कालद्रव्य द्वारा किया गया कोई अनुग्रह या उपघात स्वीकार नही किया है "जन्याना जनकः कालः" जैनो के यहा भी आकाश या अमूर्त सिद्ध आत्माओ के ऊपर कालद्रव्यका कोई अनुग्रह, उपघात नही माना गया हैं। हाँ मूर्त, अमूर्त द्रव्योकी अन्य परिणतियो का उदासीन तया कारण तो कालद्रव्य है ही, इसका कौन जैनसिद्धांतज्ञ विद्वान् निषेध कर सकता है।

आदत्त इति प्रतिज्ञातोपसहारार्थं। तथाहि–यो य शुभाशुभफलदायिद्रव्ययोग्यान् पुद्गलानादत्ते स सकषायो यथा तादृशः स सकर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते यथोभयवादि प्रसिद्धः शुभाशुभफलग्रासादि पुद्गलादायी रक्तो द्विष्टो वा सकषायश्च विवादापन्नः ससारी तस्मात् कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते इति प्रतिज्ञातोपसंहार प्रतिपत्तव्यः। अतस्तदुपश्लेषो-बधः तद्भावो मदिरापरिणामवत्।

सूत्रमे "आदत्ते" यह क्रियापद तो प्रतिज्ञा किये जा चुके विषय का उपसहार करने के लिये कहा गया है, उसी को स्पष्ट कर ग्रन्थकार कहते है कि जो जो जीव शुभ अशुभ फलो को देनेवाले कर्मद्रव्यो के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है, वह वह कषायसहित होता है, जैसे कि तिस प्रकार का सुख, दुःख भोग रहा क्रोधी, मानी, संसारी जीव है, (प्रथम व्याप्ति)। और जो जो सकषाय है वह वह शुभाशुभ फलप्रदायक कर्मोंके योग्य पुद्गलो का ग्रहण कर रहा है, जैसे कि हम जैन और तुम नैयायिक आदि दोनो वादी प्रतिवादीयोंके यहा प्रसिद्ध हो रहा शुभाशुभ फलवाले ग्रास, घूंट आदि पुद्गलोका ग्रहण कर रहा रागी अथवा द्वेषी पुरुष है (मुख्यव्याप्तिपूर्वकदृष्टात), कषायोसे सहित हो रहा यह

विवाद मे पडा हुआ ससारी जीव है (उपनय) तिसकारण कर्मके योग्य हो रहे पुद्गलोका ग्रहण करता रहता है (निगमन) यो प्रतिज्ञा किये जा चुके "ससारी जीवः कर्म योग्यान् पुद्गलानादत्ते सकषायत्वात् " का उपसहार उस आदत्ते क्रियासे समझ लेना चाहिये, अतः उन कर्मोंका समरस होकर एकक्षेत्रावगाह अनुसार सर्वांग उपश्लेष हो जाना बध है, जैसे कि मद्य बनने योग्य भाजनमे धर दिये गये बीज, फूल, फल, धान्यो की बधकर मदिरा परिणति हो जाती है, उसी प्रकार आत्माके कषायो के अनुसार बधे हुये कर्म योग्य द्रव्योकी ज्ञानावरण आदि कर्मस्वरूप परिणतिया हो जाती है। हल्दी और चुने का बध हो जानेपर तीसरा ही रूप हो जाता है। जल और घृत को अनेक बार फेंट कर मिला देनेसे अ य विप परिणतिया उपज जाती है, दा वायुये मिलकर न जाने क्या भयकर, अभयकर स्वरूपोको धार लेती है।

सवचनमन्यनिवत्त्यर्थ, कर्मणो योग्यानां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनंतानामादाना-दात्मनः कषायार्द्रीकृतस्य प्रतिप्रदेश तदुपश्लेषो बंध स एव बधो नान्यः संयोगमात्रं स्वगुण विशेषसमवायो वेति तात्पर्यार्थः कषायार्द्री कृते जीवे कर्मयोग्य पुद्गलानां कर्मपरिणामस्य भावाद्गुडोदकधातकीकुसुमाद्यार्द्र भाजनविशेषे मदिरायोग्यपुद्गलानां मदिरापरिणामवत्।

इस सूत्रमे स शद्व का कथन तो अन्यको बध होनेकी निवृत्ति करने के लिये है। कर्मपरिणति के योग्य हो रहे और सूक्ष्म होकर आत्मा के ही एक क्षेत्र में अवगाह कर रहे, अनन्तानन्त पुद्गलोका ग्रहण करनेसे कषायो करके गीले किये जा रहे आत्माके प्रत्येक प्रदेश पर उन पुद्गलोका सश्लेश हो जाना बध है। स शद्व यो कह रहा हैं कि वह पूद्गल और आत्मा का श्लेष हो जाना ही बध है, अन्य कोई केवल सयोग हो जाना अथवा अपने (आत्माके) विशेष गुण हो रहे अदृष्ट का समवाय हो जाना बंध नही है। यदि गुण और गुणोका बध होने लगे जो कि परतन्त्रता का कारण है,तब तो मोक्ष नही हो सकेगी। कारण कि गुणी अपने गुण स्वभावोको कभी नही छोडेगा स्वभावो का ही त्याग हो जाने लगे तब तो गुणी का भी अभाव हो जायगा, ऐसी दशामे मोक्ष किसकी हो सकेगी। अत. आत्मद्रव्य का अन्यविजातीय पुद्गल द्रव्यके साथ एकत्व बुद्धिजनक संबध हो जाना ही बध है, यह इसका तात्पर्य अर्थ निकलता है। जिसप्रकार गीले या भीजे वस्त्रमे यहाँ वहाँकी धूल चुपट जाती है अथवा जलवाले पात्रमे कतिपय पदार्थोंके सडाने से आसव, अर्क बन जाते है, उसी प्रकार कषाय परिणामोद्वारा गीले किये जा चुके जीव मे कर्मपरिणतिके योग्य हो रही कार्मण

वर्गणा पुद्‌गलो के कर्म परिणाम हो जानेका सद्‌भाव है। जैसे कि गुड,पानी,पिठी,धातकीपुष्प आदिक मदिरा योग्य पुद्‌गलोसे उन गीले हो रहे विशेष भांड मे मदिरा योग्य अगूर, महुआ आदि पुद्‌गल फलोका मदिरा परिणाम हो जाता है, अर्थात् नालिका यन्त्रवाले विशेष वर्तनमें धर दिये गये, सडा दिये गये, अनेक रसोवाले बीज, फूल, फलो या गुड, पिठी आदि का प्रक्रिया द्वारा मद्यपरिणाम हो जाता है।

करणादिसाधनो बंधशब्द तस्योपचयापचयसद्‌भावः कर्मणामायव्ययदर्शनात् व्रीहिकोष्ठागारवत्। कर्मणामायव्ययदर्शनं तत्फलायव्ययानुभवनात् सिद्धं—ततो नुमितानुमानं। एतदेवाह।

"बंध बंधने" धातुसे करण, कर्म, भाव आदिसे घञ्‌प्रत्ययकर बंध शब्दकी सिद्धी करली जाय। बध्यतेऽनेन, बध्यते यत्, बंधनमात्र बध्नाति वा यो निरुक्तिकर मिथ्यादर्शन आदिको अपेक्षावश बंध कहा जा सकता हैं। पर्याय और पर्यायी मे कथचित् भेद, अभेद की अपेक्षा अनुसार स्वतन्त्रता, परतन्त्रता की विवक्षा बन जाती है। कर्मोका आय और व्यय देखा जाता है। अत कर्मपिण्डके उपचय (वृद्धि) और अपचय (हानि) का सद्‌भाव है, जैसे कि कोष्ठगृह यानी धान्यो के कोठार मे अनेक धान्य आते जाते रहते हैं, उसी प्रकार अनादि कालीन प्रवाह रूपसे कर्म कोठारमे नवीन कर्मों के आनेसे और अन्यसचित कर्मोके फल देकर निकल जानेसे उपचय, अपचय होते रहते है। भारतवर्ष मे प्रतिदिन अनेक मनुष्य जन्मते मरते रहते है, पसारी की दूकान मे अनेक वस्तुये आती जाती रहती है, दुकानदारी के गल्ले मे सैकडो पैसे रुपये आयव्यय होकर बढते, घटते रहते है। ससारी आत्माके भी कर्मोका यही क्रम चलता रहता है, किंचित् ऊन डेड गुणहानि प्रमाण द्रव्य सदा सचित रहता है, भोगोद्वारा उन कर्मोके फलो के आयव्यय-का अनुभव होते रहनेसे कर्मोका आयव्यय दीखना सिद्ध हो जाता है, यो यह अनुमित अनुमान हुआ एकबार अनुमान कर पुन उस साध्य को हेतु बनाकर दुसरे अनुमान द्वारा कर्मो की वृद्धि हानि को साध दिया है। "कर्मणा (पक्ष) उपचयापचयौ स्त॰ (साध्य) आयव्ययदर्शनात् (हेतु) व्रीहिकोष्ठागारवात् (अन्वय दृष्टात)" यह पहिला अनुमान हैं, तथा "कर्मणा (पक्ष) आयव्ययौ स्त (साध्यदल) तत्फलायव्ययदर्शनात् (हेतु) पेट मे खाये निकले जा रहे पदार्थ के समान (अन्वयदृष्टात) यह दुसरा अनुमान पहिले अनुमान के हेतुदल को स्पष्ट कर रहा है, इस ही सूत्रोक्त बातका ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट कह रहे है।

पुद्गलानां नुरादानं बंधो द्रव्यात्मकः स्मृतः ।
योग्यानां कर्मणः स्वेष्टानिष्टनिर्वर्तनात्मनः ॥१॥

अपने इष्ट, अनिष्ट फलोको बनानेवाले स्वरूप कर्मके योग्य हो रहे पुद्गलोका कपाययोग्यवाले आत्मा को जो आदान हो रहा है वह पूर्वाचार्य सप्रदाय अनुसार द्रव्यआत्मक बध हुआ कहा जाता है, या अबतक आचार्य परंपरानुसार स्मृति से चला आया है ।

कथ पुनः पुद्गलाः कर्मपरिणामयोग्या केचिदुपपद्यन्ते इत्याह ।

यहां कोई तार्किक पूँछता है कि कोई पुद्गल ही कर्म परिणति के योग्य है, यह सिद्धान्त फिर किस प्रकार युक्तियो से उपपन्न हो जाता है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर आचार्य महाराज अग्रिम वार्तिक को कहते है।

पुद्गलाः कर्मणो योग्याः केचिन्मूर्तार्थयोगतः ।
पच्यमानत्वतः शालि–बीजादिवदितीरितं ॥२॥

कोई कोई पुद्गल ही (पक्ष) कर्म होने के योग्य है (साध्य) मूर्त अर्थका योग हो जानेसे परिपाक हो रहा देखा जानेसे (हेतु) शाली चावलोके बीज, आम्रफल रोटी आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान से कर्मोका पौद्गलिकपना सिद्ध हो जाता है । इस बात को हम पहिले भी कई प्रकरणो मे कह चुके है ।

पुद्गला एव कर्मपरिणामभाजो मूर्तद्रव्यसंबंधेन विपच्यमानत्वाच्छालिबीजादिवदित्युक्तं पुरस्तात् । ततः कर्मणो योग्याः पुद्गलाः केचित्सन्त्येव ॥

पुद्गल ही (पक्ष) कर्मपरिणतियो को धार रहे है, (साध्यदल) मूर्त द्रव्यके संबन्ध करके विशेषतया परिपाक हो रहा होनेसे (हेतु) शालिधान, गेहू आदिके बीज या ईन्ट, दाल आदि के समान (दृष्टात) । अर्थात् पौद्गलिक आतप, तृण, अग्नि आदि करके जैसे धान्य बीज पक जाते है, अग्नि से रोटी पक जाती हैं, अत ये मूर्त द्रव्य माने गये पुद्गल से पक रने पदार्थ जैसे पौद्गलिक है उसी प्रकार मखमल, गुड,पुष्प, सुन्दररूप आदि करके साता वेदनी

परिपाक होता है, और ककड, काटा, दुर्गन्ध आदि पुद्गल पदार्थो से असाता वेदनीय कर्मका विपाक होता है। अग्नि, बूरा आदि पुद्गलो से ही स्पर्शान्तर या रसान्तर हो सकते है, आकाशसे दूध के रस, रूप, शद्ब नही बदलते हैं, पुद्गलो करके पुद्गलो मे परिपाक हो सकता हैं, आत्मगुण या अन्य अमूर्त पदार्थोमे नही । अतः सिद्ध है कि कर्म पुद्गलस्वरूप ही है, इस बातको हम पहिले भी कह चुके हैं। दुसरे अध्यायके "अप्रतीघाते" सूत्रका व्याख्यान करते हुये " कर्मपुद्गलपर्यायो जीवस्य प्रतिपद्यते, पारतन्त्रनिमित्तत्वात् कारागारदिबधवत् " यो कर्मको पुद्गल उपादान कारणो का उपादेय पर्यायपना स्वीकार किया है। चौथे अध्यायके उपान्त्यमे "सूक्ष्मो भूतविशेषश्चेद्व्यभिचारेण वर्जितः, तध्देतुर्विविध कर्म तन्न सिद्धं तथाख्यया" इसके द्वारा भी कर्मो के पुद्गलपने का आभास मिलता है, इस कारण सिद्ध हो जाता हैं कि कर्म बननेके योग्य कार्मण वर्गणा स्वरूप कोई कोई पुद्गल ही हैं यो सूत्रोक्त सिद्धात पुष्ट हो जाता है।

तानादत्ते स्वयं जीवः सकषायत्वतः स तु ।
यो नादत्ते प्रसिद्धो हि कषायरहितः परः ॥३॥
सकषायः सकर्मत्वाज्जीवः स्यात्पूर्वतोन्यतः ।
कषायेभ्यः सकर्मेति नान्यथा भवभागयं ॥४॥

कषायसहित होनेसे स्वयं वह जीव ही तो उन कर्मोको ग्रहण करता है, जो जीव कर्मोको ग्रहण नही करता हैं, वह उस संसारी जीवसे न्यारा उत्कृष्ट आत्मा नियमसे कषाय–रहित प्रसिद्ध है (व्यतिरेकव्याप्तिपूर्वक अनुमान) पूर्व समयोमे वाधे गये अन्य कर्मोसे सहित होने के कारण वही जीव कषाय उदय होनेपर वर्तमानमे कषाय सहित हो जावेगा और फर इन कषायोसे कर्मोको वाधकर कर्मसहित हो जावेगा। जीव के इस प्रकार भावकर्मसे द्रव्यकर्म, और द्रव्यकर्म से भावकर्मसहितपने की व्यवस्था हो रही है। अन्य प्रकारोसे माननेपर यह जीव ससार को सेवनेवाला नही हो सकता हैं। अर्थात् अदृष्ट को आत्मा का गुण मानने–पर या आत्मा को कमल दल के समान निर्लेप मानने पर जीवके ससार परिभ्रमण होना नही वन सकता है, जो कि सभी वादी, प्रतिवादियो को मानना चाहिये।

जीवस्य बंध इति वा सकषायत्वतोन्यथा ।
तस्य मुक्तात्मवत्तत्त्वानुपपत्तेः प्रसिद्धितः॥५॥

अथवा उक्त सूत्रके आगम वाक्य का यो भी परार्थानुमान प्रयोग बना लिया जाय कि कषायसहितपना हो जाने के कारण जीव के बंध हो जाता है, अन्यथा यानी कषायसहितपनसे बध की व्यवस्था यदि नही मानो जायेगी तो मुक्तात्माके समान उस संसारी जीवके उस बधसहितपनकी उपपत्ति नही होनेकी प्रसिद्धी हो जायेगी, किन्तु मुक्तात्माके समान ससारो जोव तो बधरहित नही है, अतः क्रोधादि कषायो से सहितपना ही जीव के बद्ध हो जानेका अंतरग बीज है ।

सकषायत्वमध्यक्षतस्वसंवेदनतः स्वयं
कोपवानहमित्येवं रूपात् सिद्धं हि देहिनां ॥६॥

उक्त अनुमान मे पडा हुआ सकषायपना हेतु तो स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है । जब कि मै क्रोधी हू, मै लोभी हू इत्यादि एव स्वरूपवाले स्वससेदन प्रत्यक्ष से शरीरधारी जीवोको कषायसहितपनकी स्वय सिद्धी हो रही है, तो प्रत्यक्ष सिद्ध हो रहे हेतु से कर्मादान साध्य की सिद्धि हो जाती है, यहा सकषायपना ज्ञापक हेतु है और कारक हेतु भी है ।

प्रधानं सकषायं तु स्यान्नैवाचेतनत्वतः ।
कुम्भादिवत्ततो नेदं सबंधमिति निर्णयः ॥७॥

कपिल मतानुयायी कहते है कि जीवके कषाये नही होती है, किन्तु त्रिगुणात्मक प्रकृति के राजस, तामस कषाये जानी जा रही है । इस पर आचार्य कहते है कि अव्यक्त प्रधान तो कषायसहित नही हो सकेगा (प्रतिज्ञा) अचेतन होनेसे (हेतु) घट, पट, आदि के समान (अन्वयदृष्टात)। तिसकारण यह प्रधान तो बधसहित नही है, यो निर्णय कर दिया जाता है ।

कर्मणः सकषायत्वं जीवस्येति न शास्वतं
सहेतुकस्य कौटस्थ्यविरोधात् कुटकादिवत् ॥८॥
ततो न मुक्त्यभावो नुः कुतश्चित्कर्मणः क्षये ।
सकषायत्वविध्वंसाविध्वंसकृतसिद्धितः ॥९॥

कर्मोसे यो जीवके कषायसहितपना हुआ वह शाश्वत यानी सर्वदा ठहरनेवाला नही है, क्योकि हेतुओसे सहित हो रहे कादाचित्क कार्य के कूटस्थपन का विरोध हैं। जैसे कि कारणोसे उपजे घर, पोथी, वृक्ष, आदिक पदार्थ अनादि अनन्त सदा ठहरनेवाले नही हैं, तिस कारण किन्ही सवर, निर्जरा आदि कारणो मे कर्मोका क्षय हो जानेपर जीव के मुक्तिका अभाव नही हो सकता हैं। कारण कि कषायसहितपन के विध्वस द्वारा किये गये मुक्तिपन की सिद्धि हैं और सकषायपनका जबतक विध्वस नही किया गया है, तवतक जीव के मुक्तिका अभाव याने ससार की सिद्धी हो रही हैं अर्थात् व्यक्तिरूपसे सभी कर्मोंका सम्बन्ध सादि सान्त है और उन कर्मोके उदय से हुआ कषायसहितपना भी कादाचित्क है सार्वदिक नही है। अत सवर निर्जराओ एवं अन्य पुरुषार्थो करके डेड गुणहानि प्रमाण संचित कर्मोका क्षय कर देने पर जीव के मोक्ष हो जाती हैं। यदि प्रकृति (कर्मो) के कषायसहितपना माना जायेगा या जीवके कषायसहितपना नित्य माना जायेगा तो जीव को मोक्षलाभ नही हो सकेगा। मोक्षका प्रधान वोज सकषायत्व का क्षय है और ससार का मुख्य कारण कषायसहितपन की लम्बी लेज बिछी रहना हैं।

जीवो हि कर्मणो योग्यानादत्ते पुद्गलान् स्वयं ।
सकषायस्ततः पूर्वं शुद्धस्य तदसंभवात् ॥१०॥

कषायसहित जीव ही कर्मके योग्य हो रहे पुदगलोको स्वयं ग्रहण करता हैं, उस कषायसहितपनसे पहिले शुद्ध हो रहे जीवके उस कर्मग्रहण करनेका असभव हैं अर्थात् ग्यारहवे गुणस्थान से क्रम से उतर कर जीव दशवे, छठे, चौथे या पहिले गुणस्थानोमे सकषाय हो रहा कर्मोको वाधने लग जाता है। जैन सम्प्रदायमे शुद्ध हो चुके मुक्त जीव के पुनः कर्मोका ग्रहण करना या संसार मे लौटना नही माना गया है। आर्यसमाजी पण्डित

मुक्ति मे जीवकी पुनः आवृत्ति स्वीकार करते है, किन्तु एकबार मुक्त हो जानेपर योग्य कषायोका सर्वथा अभाव हो जानेसे पुन कर्मबध नही हो पाता है यह जैन सिद्धांत है । अतः कषायसहितपन से पहिले शुद्ध हो रहे इस वाक्यका अर्थ कषाय की अपेक्षा या जीवके विशेष विशेष कर्मो बध के पहिले हुई आंशिक विशुद्धि की अपेक्षा सुघटित हो सकता है । श्रुतसागर सूरि तो कहते है कि " कश्चिदाह– आत्मा मूर्तिरहितत्वादकरः पाणिरहितः कथं कर्म गृण्हाति कथ बधवान् भवति इति चर्चितः सन्नुमास्वामिदेव प्राणधारणायुसंबधसहितो जीवः कर्म गृह्णाति नत्वायुःसबधं विना कर्मादत्ते इति सूचनार्थं जीवनाज्जीवस्तेन जीव शब्दस्य ग्रहणं चकार आयुसबधविरहे जीवस्यानाहारकत्वात् एकद्वित्रिसमयपर्यन्त कर्म नादत्ते जीवः "एकं द्वौ त्रीन्वानाहारक. इति वचनात् ।। इससे ध्वनित होता है कि विग्रह गतिमे एक,दो,तीन समय तक जीव कर्मोको ग्रहण नही करता है, किन्तु जैन सिद्धातमे अनादिकालसे तेरहवे गुणस्थान तक निरंतर कर्मोंका ग्रहण करना इष्ट किया गया है, विग्रहगति मे मात्र नोकर्मोंका ग्रहण नही है, कार्मणकाययोगद्वारा कर्मोंका ग्रहण तो हो ही रहा है, भुज्यमान आयुका वियोग हो जानेपर उसी क्षण ध्यमान बआयुका उदय आ जाता है, पूर्वभव की आयुके वियोग और बाधी जा चुकी उत्तर भवकी आयुःके प्रथम निषेकके उदय का एक ही समय है, जबतक ससार है तबतक एक समय के लिये भी आयु कर्म का वियोग हो जाना असंभव है । सर्वार्थसिद्धि, राजवार्त्तिक, गोम्मटसार मे विग्रह गति के एक, दो, तीन, समयो मे कर्मोका ग्रहण तो निरतर हो रहा स्वीकार किया है, अतः श्रुतसागर स्वामीके अभिप्रायको वे ही जाने । यहा श्री विद्यानन्द आचार्यने "ततः पूर्वं शुद्धस्य तदसभवात् जो लिखा है, वह अपेक्षाओ से सिद्ध किया जाता है । पुद्गल तो शुद्ध होकर पुन स्वकीय स्पर्श गुणकी स्निग्ध रूक्ष पर्यायो के अविभाग प्रतिच्छेदो की द्व्यधिकतानामक अन्तरग कारणवश अशुद्ध हो जाता है, किन्तु जीव एकबार भी शुद्ध होकर पुन कषाय आदि विभाव परिणतियो को नही धारता है ऐसा जिनागम है ।

तद्द्रव्यकर्मभिर्बंधः पुद्गलात्मभिरात्मनः ।
सिद्धो नात्मगुणैरेवं कषायैर्भावकर्मभिः ॥११॥

तिसकारण इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि आत्माका पुद्गलस्वरूप द्रव्यकर्मो के साथ बंध हो जाना सिद्ध है, जो कि द्रव्यबध कहा जा सकता है इसी प्रकार भावकर्मस्वरूप कषायो के साथ भी आत्मा का बध हो रहा है, जो कि भावबंध कहा जाता है । किन्तु नैया– यिको के यहा अपने ही गुण मान लिये गये अदृष्ट आदि गुणो के साथ आत्माका बध नही

है। बात यह कि गुण ही तो द्रव्य हैं, गुणोका द्रव्य के साथ तादात्म्य है, उपरिष्टात् हो रहा बध नही है जो कि संयोग को मूल कारण मानकर बंध हुआ करता है।

अन्यथा सकषायत्वप्रत्ययस्य विरोधतः।
संसारिणां शरीरादिसंबंधस्यैव हानितः ॥१२॥

यदि जीवका द्रव्य कर्म और भाव कर्मोके साथ बंध जाना नही मानकर अन्य प्रकारोसे आत्माको व्यापक, निर्लेप, कूटस्थ माना जायेगा तो आत्माके क्रोधीपन, मानीपन, शोकसहितपन, स्त्रीवेदीपन आदि कषायसहितपन का स्वसंवेदन स्वरूप ज्ञान होनेका विरोध हो जायगा ऐसी दशामे ससारी जीवोके शरीर इन्द्रिय आदि के साथ संबंध हो जाने की हानि हो जावेगी। शुद्ध आत्माके शरीर आदिका संबंध कथमपि नही हो सकता है, जैसे कि आकाश द्रव्य के कोई उपाधियोका एकरसवाला सबंध नही हैं अत सिद्ध हो जाता है कि कषायसहित होने के कारण यह ससारी जीव विजातीय कर्म योग्य पुद्गलोका ग्रहण करता रहता है वही बंध है।

सोयं सामान्यतो बंधः प्रतिपादितस्तत्प्रकारप्रतिपादनार्थमाह;—

वह प्रसिद्ध हो रहा यह बध सूत्रकारने उक्तसूत्रद्वारा सामान्य रूपसे समझा दिया है, ऐसी दशामे शिष्यका उस बधके विशेष भेद प्रभेदोको जानने की इच्छा उपजना सुलभ साध्य है, अत बधके प्रकारोकी प्रतिपत्ति कराने के लिए सूत्रकार अगले सूत्र को कह रहे हैं।

प्रकृतिस्थित्यनुभाग(भव)प्रदेशास्तद्विधयः ॥३॥

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये चार उस बध के प्रकार हैं, अर्थात् योगो अनुसार आ रही कार्मण वर्गणाओमे आत्मपरिणाम को निमित्त पाकर हुई जो अर्थ को नही जानना, अर्थका आलोचन नही कर सकना, सुख, दुःखका वेदन कराना, आदि प्रकृतियोके रूपमे बंधजाना प्रकृति बंध हैं। खाये, पिये गये खाद्य, पेय द्रव्यो के शारीरिक परिणतियोको निमित्त पाकर जैसे रस, रुधिर, आदि परिणाम हो जाते हैं, उसी प्रकार कार्मण पुद्गलो के ज्ञानावरणादि प्रकृतिवानो का आत्मा के साथ कर्मबंध हो जाता है, उन अर्थोको नही जानने देनेवाले आदि कर्मस्वभावो की जबतक च्युति नही होय वह स्थिति बध है। जैसे कि अन्न, पेय, के बन गये रुधिर मांस, हड्डी, आदि की अनेक दिनो तक ठहरने की

स्थिति पड जाती है, अथवा खाया, पिया गया पदार्थ उदरमे जाकर कितनी देर तक ठहर कर जठराग्निद्वारा परिपक्व होता हुआ निर्जीर्ण हो जायेगा उतना उसका स्थितिकाल समझा जायेगा। ज्ञानावरणादि मे आत्माको रसविशेष देने की सामर्थ्य को अनुभवबध कहते है, खाये, पिये गये अन्न, दूध आदि मे भी शरीरपरिणति अनुसार रसविशेष पड जाते है। कर्मवर्गणाये इतने परिणाम को लिये हुये वध गई है, इस प्रकार परमाणुओ की गणना का परिमाण लिये हुये बंधना प्रदेशबंध है। फोक पदार्थ और सघन पदार्थ के खाने पीने मे परमाणुओ की गणना अनुमित हो रही दृष्टात कही जा सकती हैं। हजार योजन के राघव मत्स्य के योग बडा है अतः कर्मवर्गणाये अधिक खिचती है और तन्दुल मत्स्यके छोटा योग होनेसे परमाणुयें थोडी आती हैं, रस अधिक पडता है, स्थूलरूपसे गिनने पर वे परमाणुये सिद्ध राशिके अनन्तवे भाग और अभव्य राशिसे अनन्तगुणी है फिर भी बडे मत्स्यसे तदुलमत्स्य के स्वद्धकमे परमाणु प्रदेश थोडे हैं, किन्तु अनुभाग शक्ति दोनो के बाधे गये कर्मो मे एकसी पडती है, अतः दोनो ही सातवे नरक जाते है। वस्तुत अनुभागवध ही शक्तिशाली है, एक इन्दिय, द्वीन्द्रिय जीवो मे कर्मोकी स्थिति थोडी भी पडती हैं और सज्ञीजीवके कर्मस्थिति अधिक पडती हैं, तथापि अनुभाग शक्ति की तीव्रतासे एकेद्रिय, विकलत्रय जीवो के महान् सक्लेश बना रहता है। ये चारो बध एक ही समय मे हो जाते है।

अकर्तरीत्यनुवृत्तेरपादानसाधना प्रकृति भावसाधनौ स्थित्यनुभवौ, कर्मसाधनः प्रदेशशब्द । प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरं, स्वभावाप्रच्युतिः स्थितिः, तद्रसविशेषोनुभवः, इयत्तावधारणं प्रदेश । विधिशब्द प्रकारवचन । तस्य विधयस्तद्विधयो बधप्रकाराः प्रकृत्यादय इत्यर्थः ॥ तदेवाह,–

प्रकृति शब्दको यो साधु व्युत्पन्न कर लिया जाय कि प्रक्रियते अस्याः इति प्रकृति प्र उपसर्गपूर्वक डुकृञ् करणे धातुसे "स्त्रियां क्ति." इस सूत्र करके क्ति प्रत्यय कर लिया जाय "अकर्तरि चकारके संज्ञाया" इस सूत्र के अकर्तरि पदकी अनुवृत्ति हो जानेसे अपादान मे प्रकृति शब्दको साध लिया जाता हैं। स्थिती और अनुभव शब्द का भावमे प्रत्यय कर साधन कर लिया जाय।"ष्ठागति निवृत्तौ" धातु से भाव मे क्तिप्रत्यय कर स्थिति शद्व वन जाता है, और अनु उपसर्ग पूर्वक भूधातुसे भावमे अप्प्रत्यय कर अनुभव शब्द को साव लिया जाय, प्रदेश की कर्म मे घञ् प्रत्यय कर सिद्धि करली जाय। प्रकृति और स्वभाव इन दोनोका एक अर्थ ही हैं, भिन्न अर्थ नही है। जैसे कि नीबकी प्रकृति तिक्त (कडवी) है, गुडका स्वभाव मीठा है, उसी प्रकार ज्ञानावरण की प्रकृति स्व और अर्थ को नही जानने देना हैं। दर्शनावरण कर्म की प्रकृति अर्थोकी सत्ता का आलोकन नही कराना है। साता, असाता वेदनीय कर्म की

टेव जीव को सुख, दु ख का सवेदन कराना हैं । दर्शनमोहनोयकी वान तत्त्व और अर्थोका श्रद्धान नही होने देना है । चारित्रमोहनीयकर्मका स्वभाव सयमपरिणाम नही उपजने देना है । भवको धारण कराना आयुकर्म की टेव है । नारक आदि भावो या शरीर आदिको बनानेमे नाम कर्म की धुनि लगी रहती है, उच, नीच स्थानो मे वैसे अनुरूप आचरण कराना गोत्र कर्मका स्वभाव है । दान आदि मे विघ्न करना अन्तराय कर्म की टेव है । इससे उक्त कार्य या प्रकरण प्राप्त किये जाते है, अतः यह प्रकृति कही जाती है । उस उस स्वभावसे प्रच्युति नही होना स्थिति हैं, जैसे छिरिया, गाय, भैस आदि के दूधो की मधुरता स्वभावसे कुछ कालतक च्युत नही होती है । कर्मो मे रसविशेष के पडजाने को अनुभव कहते है, उदय दशामे उन कर्मों का रस अनुभवा जाता है, अत पहिले पड गये अनुभाग बंधका अनुमान हो जाता है । कर्मस्वरूप हो गये पुद्गलस्कन्धोके परमाणुओं को नाप करके इतने परमाणुरूप अवधारण करना प्रदेश है । सूत्रमे पडा हुआ विधि शब्द प्रकार अर्थको कह रहा है, तद्विधय शब्द मे षष्ठीतत्पुरुष समास कर उस बधकी विधिया तो "तद्विधय" शब्दसे कही जाती है । बंध के प्रकार हो रहे प्रकृति आदिक हैं, यह इस तद्विधय शब्द का अर्थ है उन्ही विधियोको ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिको द्वारा कहते है ।

तस्य बंधस्य विधयः प्रकृत्याद्याः सुसूत्रिताः ।
तथाविधत्वसंसिद्धेर्बद्धव्यानां कथंचन ॥१॥
स्थित्यादिपर्ययोन्मुक्तैः कर्मयोग्यैर्हि पुद्गलैः ।
प्रकृत्यावस्थितैर्बंधः प्रथमोत्र विवक्षितः ॥२॥
प्रतिप्रदेशमेतैर्नु मतो बंधः प्रदेशतः ।
स्थित्यादिपर्ययाक्रान्तैः स स्थित्यादिविशेषितः ॥३॥

वार्त्तिको मे सूत्रका अर्थ यों समझिये कि तस्य विधयः' तद्विधय ' उस बंध के प्रकृति, स्थिती आदिक प्रकार तो उक्त सूत्रद्वारा भले प्रकार सूचित कर दिये गये है, कारण कि बध होने योग्य पदार्थोके कथमपि तिस ढंग से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश यो चार प्रकारोकी भलेप्रकार सिद्धि हो रही है स्थिति, अनुभाग आदि पर्यायो से रहित हो रहे किन्तु अर्थको नही जानना आदि स्वभावो के पडजाने की दशासे अवस्थित हो रहे कर्मयोग्य पुद्गलो करके आत्मा का बंध जाना यहा पहिला प्रकृतिबध विवक्षाप्राप्त किया गया है । तथा इन कर्मयोग्य पुद्गलो करके आत्माके प्रत्येक प्रदेश मे जो कर्म परमाणु-ओके प्रदेशोसे बध हो रहा हैं, वह दुसरा या चौथा प्रदेशबध माना गया है, एवं स्थिति

आदिक यानी स्थिति पड जाना और रस देनेकी शक्ति यो स्थिति और अनुभाग पर्यायोसे चारो ओर घेर लिये गये कर्मयोग्य पुद्गलो करके जो आत्मा का बंध जाना है वह स्थिति आदिक से विशेषित हो रहा स्थितिबंध और अनुभागबंध है, यो सूत्रोक्त विषय की युक्तियोसे सिद्धि हो जाती है।

बंधस्य भेदादेवं हि बधो भिद्यते नान्यथा बद्धव्यानि च कर्माणि प्रकृत्यावस्थितानि प्रकृतिबधव्यपदेशं लभंते। तान्येवात्मप्रदेशवृत्तीनि प्रदेशबधव्यपदेशं। समयादूर्ध्वस्थिति पर्ययाक्रान्तानि स्थितिबधव्यपदेशं। फलदानप्रशक्तिलक्षणानुभवपर्ययाक्रान्तान्यनुभवबंध- व्यपदेशमिति शोभन सूत्रिताः प्रकृत्यादिविधयो बधस्य। तत्र योगनिमित्तौ प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्य- नुभवौ कषायहेतुकौ। आद्यो द्वेधा मूलोत्तरप्रकृतिभेदात् ॥

बंध के भेदसे इस प्रकार ही बंध भिन्न भिन्न हो रहा है। इनको चार छोडकर अन्य प्रकारोसे बध के भेद नही नियत है, आत्माके साथ बंधने योग्य कर्म ही प्रकृति अवस्थामे प्राप्त हो रहे सन्ते प्रकृतिबध इस नाम को प्राप्त कर लेते है। "भावेन भाववतोभिधान" इस नियम अनुसार प्रकृतिबध मे प्रकृतिका अर्थ ज्ञान आदिका आवरण कराने की प्रकृति को धारनेवाले प्रकृतिवान्‌का बध जाना है। और वे ही कर्म अनन्तानन्त स्वकीय प्रदेश परमाणुओकी सख्या अनुसार आत्माके असख्यात प्रदेशो पर बर्तते हुये एकक्षेत्रावगाह होते हैं, तब वे ही कर्म प्रदेश बध नामसे व्यवहार प्राप्त हो जाते है। तथा एक समयसे प्रारम्भ कर दो, तीन, चार सौ, सख्यात, असख्यात समयो तक की स्थिति परिणतिसे आक्रान्त हो जाते है, तो वे ही आत्मस्थ कर्म स्थितिबंध नाम को पा जाते हैं। एवं वे ही बध रहे पौद्गलिक कर्म उसी समय आत्मा को फल देने की प्रकर्ष शक्तिस्वरूप अनुभव पर्यायसे आक्रान्त हो जाते हैं, तो अनुभाग बध इस व्यपदेशको धार लेते है। कर्मनामक अशुद्ध द्रव्यमे उसी समय प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशोस्वरूप परिणतिया उत्पन्न हो जाती है जैसे कि खाये हुये अन्न मे तत्काल ही उदराग्नि, शक्ति, देश, काल, प्रकृति अनुसार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश, परिणतिया उद्भूत हो जाती है। खिचडीकी प्रकृति लघुपाचन है। दो घंटे मे पच जायेगी, शरीर मे हलकापन बनाये रक्खेगी, पावसेर खिचडीमे परमाणु थोडे है, जब कि पावसेर खीरमे उससे कई गुने पौष्टिक स्कन्ध प्रविष्ट हो रहे है, उदरमे जाकर अन्नका कारणो के वश उत्कर्षण, विसयोजन, उदी- रणा आदि हो जाते है। उसी प्रकार कर्मोकी भी दशाये सम्भवती रहती है, स्थितियां भी न्यून, अधिक, हो जाती है, अनुभाग शक्तियोके भी घात या प्रकर्ष हो जाते है। चारित्र मोह- नीय या दर्शनमोहनीय एवं चारो आयुष्योको छोडकर तुल्यजातिवाली उत्तर प्रकृतियो का

परमुख करके भी अनुभव होने लग जाता है । यो बंध की प्रकृति आदिक विधियोका श्री उमा-स्वामी महाराजने इस सूत्रद्वारा शोभा युक्त निरूपण कर दिया है, तभी तो वार्तिककारने " सुसूत्रिताः " कहा था । कर्मसिद्धान्त का सूत्रकार द्वारा निरूपण होनेसे ग्रन्थकार को बडी प्रसन्नता हुई है । उन चारो बंधोमे प्रदेश बध तो आत्माके योग नामक यत्न को निमित्त पाकर हो जाते हैं । और आत्माकी विभावपरिणतिया कषायोको हेतु मानकर स्थितिबध और अनु-भागबध पड जाते है, योग और कषायोकी प्रकर्षता, अप्रकर्षतासे कर्मबध की विचित्रतायें होती रहती है । कारणो के अनुरूप ही तो कार्य होगा । आदि मे कहा गया प्रकृति बध तो मूल प्रकृतिबध और उत्तरप्रकृतिबध इन भेदो से दो प्रकार है ।

तत्र मूलप्रकृतिबंध तावदाह;--

उन प्रकृतिबध के भेदोमे सबसे पहिले मूल प्रकृतिबध को सूत्रकार कहते है ।

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायाः ॥४॥

आदिमे होनेवाला मूल प्रकृतिबध तो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोह-नीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठ विकल्पोवाला है । चेतना गुणकी परिणति ज्ञान को आवरण करनेवाला कर्म ज्ञानावरण है । और चेतना के विवर्त दर्शनको आवरण करनेवाला कर्म दर्शनावरण है । सुखदुखोका वेदन करानेवाला कर्म वेदनीय है, आत्माको विपरीत रस कराकर सम्यक्त्व और चारित्रसे भ्रष्ट करानेवाला कर्म मोहनीय है । ससारमे जीव को शरीर धारण कराकर रोके रहे वह आयु कर्म है । अनेक प्रकार शरीर आदिको वनानेवाला नाम कर्म है । ऊचे, नीचे आचरण अनुसार आत्माको उच्च, नीच, कहलानेवाला गोत्र कर्म है । दाता और पात्र या भोग्य और भोक्ता आदिके मध्यमे मानू पडकर जो विघ्न उत्पन्न करता है, वह अन्तराय है। ये प्रकृतिबधके आठ भेद है , ज्ञानावरण का उदय हो जाने पर आत्मा ज्ञानरूप परिणत नही हो पाता है , जैसे कि जो मनुष्य प्रथमसे ही शीतल प्रदेश या शीतल वायुमे वैठा हुआ है , उसको पसीना नही आता है । ऐसे ही दृष्टात यहा अनुकूल पडेंगे । पसीना आ रहा हो पुन उसको ठडी वायु से सुखाया जाय यह दृष्टात विषम है । वस्तुतः कर्मबध हो चुकनेपर आत्मा अवधिज्ञान आदि पर्यायोको ही नही धारसकता है ।

सामानाधिकरण्ये सति पूर्वोत्तरवचनविरोध इति चेन्न, उभयनयधर्मविवक्षासद्-भावात् तयोरेकवचनबहुवचनप्रयोगोपपत्तेः । प्रमाण श्रोतार इति सामान्यविशेषयोरेकत्वबहुत्व-व्यवस्थितेर्यथासभवं कर्त्रादिसाधनत्व ज्ञानावरणादिशब्दानां । प्रयोगपरिणामादागच्छदेव-विशिष्ट कर्म ज्ञानावरणादिविशेषैर्विभिद्यते अन्नादेर्वातादिविकारवत् ।

यहाँ कोई शका उठाता है कि ज्ञानावरण को आदि लेकर अन्तराय पर्यन्त प्रकृतिबध है। यो ज्ञानावरण आदिके साथ जब आद्य शब्द द्वारा कहे गये प्रकृतिबध का समानाधिकरण हो रहा है ऐसा होते सन्ते तो पूर्ववर्ती समसित अन्तराय पदके बहुवचनका विरोध पडता हैं। जैसे कि " नील उत्पल यहा समानाधिकरण होनेपर विभक्ति और वचन समान है, जो ही नीलका अधिकरण है वही समान रूपसे उत्पलका अधिकरण है। इसी प्रकार यहां प्रथमाविभक्तिका तो विरोध नही है, किन्तु अन्तराया: इस बहुवचनके समान आद्य शब्द भी बहुवचनान्त होना चाहिये। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना। क्योकि यहा द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय इन दोनो नयोके विषय हो रहे धर्मोकी विवक्षाका सद्भाव हैं। अत: उन उद्देश्य विधेय पदोमे एकवचन और बहुवचन के प्रयोग की सिद्धी हो जाती हैं। द्रव्यार्थिक नय अनुसार सामान्यकी विवक्षासे प्रकृतिबंध मूलमें एक ही है, इस कारण सूत्रकारने प्रकृतिबंध को कह रहे आद्य शब्दमे एकवचन का प्रयोग किया है। और उस प्रकृतिबन्ध के भेद ज्ञानावरण आदिक अनेक है यो पर्यायार्थिक नयकी प्रधानतासे विवक्षा प्राप्त हा रहे विधेय पदमे बहुवचन का प्रयोग किया गया है, लोक मे भी सामान्य और विशेषोके एकवचन और बहुवचनोकी व्यवस्था हो रही देखी जाती है जैसे कि "प्रमाण श्रोतार." इस चर्चा के निर्णय मे प्रमाणभूत श्रोता जन हैं "गावो धन" अधिक गाय, बैल ही किसानो या वन जारोका धन हैं। ज्ञानावरण आदि शब्दो की जिस प्रकार सभव हो सके वैसे कर्ता, करण; आदिमे प्रत्ययकर सिद्धी करली जाय। " आवृणोति इति आवरण " आव्रियते अनेन इति वा आवरण, ज्ञानाना आवरण इति ज्ञानावरणं। यो कर्ता या करणमे युट् प्रत्ययकर पुन: समास करते हुये ज्ञानावरण शब्दका साधन करलिया जाय। इसी प्रकार दर्शनावरण शब्दको प्रकृति, प्रत्यय, द्वारा, साधलिया जाय " पश्यति इति दर्शनं ' दृश्यते अनेन इति वा दर्शन वेदयते वेद्यते इति वा वेदनीय। मुह्यते अनेन मोहयति वा मोहनीयं,एति अनेन इति आयु: नमयति नम्यते अनेन इति वा नाम, गूयते इति गोत्र, अन्तर मध्य एति ईयते अनेन इति अन्तराय:, यो निरुक्तिकर यथायोग्य प्रत्ययोद्वारा ज्ञानावरण आदि शब्दोकी सिद्धी हो जाती है। आत्माके प्रयोग परिणतियोसे आरहे ही सामान्य कर्म पुन: ज्ञानावरण आदि विशेषो करके विभिन्न विभिन्न परिणाम जाते है, जैसे कि उदर मे जाते ही अन्न आदिक पदार्थ वात, पित्त, श्लेष्म रुधिर रस, आदिक विभाग करके परिणाम प्राप्त हो जाते है, अथवा एक से मेघजलके उन उन वृक्षोमें नाना प्रकार रस, पत्र, पुष्प, फूल, आदि परिणाम बन जाते हैं। उसी प्रकार समान हो रही कार्मणवर्गणाओका आत्माकी प्रयोगपरिणति अनुसार झटिति आवरण, अनुभवन, मोह करादेना, भवधारण, नाम, गोत्र कराना, विघ्न डालदेना आदि अनेकरूप सामर्थ्यो करके युक्त कर्मबंध परिणाम हो जाता है।

ज्ञानावरणमेव मोह इति चेन्न, अर्थान्तरभावात् कार्यभेदे च कारणान्यत्वात्। ज्ञानावरणस्य हि कार्यमज्ञानं, मोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानमचारित्रं चेति। एतेन ज्ञानदर्शनावरणयोरन्यत्वमुक्तं तत्कार्ययोरज्ञानादर्शनयोरन्यत्वात् तदाश्रियमाणयोश्च ज्ञानदर्शनयोरन्यत्वं प्रयुक्त भेदसाधनं।

यहां कोई तर्क उठाता है, कि ज्ञानावरण कर्म ही तो मोहकर्म है। क्योंकि मोह हो जानेपर जीवको हित और अहित की परीक्षा नहीं हो पाती है, तत्त्वों को जीव नहीं समझ पाता है, अत ज्ञानावरणसे मोहनीय कर्मकी कोई विशेषता नहीं दीख पाती है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि ज्ञान वरणीयसे भेद हो रहा है। अर्थको यथार्थ रूपसे जानकर भी मोहनीय कर्म अनुसार सद्भूत अर्थोंका श्रद्धान नही किया जाता है। अनेक विद्वान् हिंसा, स्त्रीसेवन, द्यूतक्रीडा को महान् पाप समझते हुये भी तीव्र राग मोह हो जानेपर उन कुकर्मोंमे आसक्ति कर बैठते हैं। अनेक जैन विद्वान भी स्वगत वैराग्यवश् अनेक स्थलोंपर अथवा उपदेश देते समय समीचीनतोत्या निर्वेदभावोंमे परिणत हो जाते हैं, किंतु शीघ्र ही मोहके माहात्म्य अनुसार विषयोंमे लीन हो जाते हैं। अतः तत्त्वार्थोंका अन्तस्तलस्पर्शी श्रद्धान नहीं होने देनेवाले और ठीक चारित्र नहीं पलने देनेवाले मोहनीय कर्म का ज्ञानावरण से भेद ही रहा है। ज्ञानावरण तो प्रतिपक्षी ज्ञानस्वभाव को न्यून कर देता है, विपरीत नही कर पाता है। किन्तु मोहनीय कर्म तो प्रतिपक्षी हो रहे सम्यक्त्व, चारित्र, गुणोंका सर्वथा विपरीत रस करा देता है एक बात यह भी है कि कार्यों का भेद हो जानेपर कारणोंका भेद अवश्यंभावी है "यह अनुमान प्रमाणसे निर्णीत है। भिन्नकार्यमे भिन्नकारणप्रभावत्वावश्यभावात्" ज्ञानावरण का कार्य अज्ञान है और मोहनीय कर्म का कार्य तत्वार्थोंका श्रद्धान नही हो सकना और चारित्र नही पलने देना है, दर्शन मोहनीय तो तत्त्वार्थ का श्रद्धान नही होने देता है यो दोनो कर्मों मे महान अन्तर है। इस उक्त कथन करके यानी वस्तुस्वरूपकी अपेक्षा और कार्योंका भेद हो जानेसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मोंका का भी भेद कह दिया गया समझ लेना चाहिये, पहिले प्रकरणमें भी स्वपरप्रदर्शक ज्ञान और सत्ताकी आलोचना करनेवाले दर्शनका भेद कहा जा चुका है। ज्ञान साकार हैं और दर्शन निराकार है। आकार का कोई प्रतिविम्ब पड जाना नही हैं। क्योंकि चमकीले मूर्त पुद्गल मे ही मूर्त पुद्गल का प्रतिबिम्ब पडा करता है बौद्धो के समान ज्ञानको साकार यानी प्रतिबिम्ब युक्त मानने पर स्मृति, अनुमान, व्याप्तिज्ञान, आगमज्ञान नही हो सकेंगे। जबकि भूत, भविष्य कालो के पदार्थ ही वर्तमानमे नहीं हैं तो उनका प्रतिविम्ब ज्ञानमे नही, पड सकता है सर्वज्ञ भी कोई नही हो सकेगा अतः जैन सिद्धान्तमे साकारका अर्थ सविकल्प माना गया है, सम्पूर्ण गुणो मे ज्ञान ही एक ऐसा विलक्षण

गुण है जो कि अपनी और विषय विषयांशों की विकल्पनायें कर स्वपरप्रकाशात्मक है ज्ञानसे कथचित् तदात्मक हो रहे सुख, दु ख इच्छा आदि भी स्वसवेद्य हो रहे है, शेष सभी गुण या द्रव्य किसी की विकल्पनाये नही कर सकते है अत' वे निराकार माने गये है, यो देखाजाय तो जिस द्रव्य की जो भी कुछ लम्बाई, चौडाई, मोटाई स्वरूप आकृति है उस द्रव्य के गुणोंका भी वही आकार समझा जायेगा अथवा "निर्गुणा गुणा:," इस सिद्धान्त अनुसार गुणो मे प्रदेश कत्व गुण के विवर्त हो रहे आकार का निषेध संभव जानेपर गुणो मे निराकारता पुष्ट हो जाती है। हा, एकार्थसमवायसवेद्य (कथचित्, सहोदर, तादात्म्य,)से गुणो को आकृतिसहित कहा जा सकता हैं, "साकार ज्ञानं, निराकारं दर्शन ' यहा आकार का अर्थ व्यवसाय करना विकल्पनाये करना, संवित्ति करना, मात्र है। अतः ज्ञान और दर्शन के भेद अनुसार उनके प्रतिपक्ष हो रहे कर्मोका भी भेद है। जबकि उस ज्ञानावरण के कार्य हो रहे औदयिक भाव अज्ञान मे और दर्शनावरण कर्म के कार्य हो रहे अदर्शन मे भेद हो रहा है। अत:, उन कर्मोसे आवरण किये जा रहे ज्ञान और दर्शन परिणामो मे अन्यपना हैं, यो ज्ञानावरण और दर्शनावरण के भेद को साधनेवाला यह ज्ञान और दर्शन का अन्यपना हेतु बढिया समुचित है, श्रेष्ठ युक्तिवाला हैं।

ज्ञानावरणस्याविशेषेपि प्रत्यास्रवं मत्यादिविशेषो जलवत् । एतेनेतराणि व्याख्यातानि दर्शनावरणादीन्यपि प्रत्यास्रवं मूलोत्तरप्रकृतिविकल्पभांजि विभाव्यते। सकल कर्मप्रकृतीनां कार्यविशेषानुमेयत्वादिंद्रियशक्तिविशेषवत् । तदेवाह :—

ज्ञानावरण कर्म की सामान्यतया पिंडरूप से कोई विशेषता नही होते हुये भी भिन्नभिन्न आस्रवो के प्रति मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण आदिकी भिन्न भिन्न विशेषता हो जाती हैं। जैसे कि एकरसवाला भी मेघजल नाना हरी, पीली,नीली शुक्ल, बोतलो मे कतिपय औषधि स्वरूप अथवा नाना वृक्षोमे अनेक सामर्थ्योके भेदसे व्यवस्थित हो जाता है। उसी प्रकार मतिज्ञान का आवरण करने की शक्ति मतिज्ञानावरण मे पडजाती है। और श्रुत ज्ञानावरण कर्म मे श्रुतज्ञान को रोकने की सामर्थ्य हो जाती हैं। इस कथन करके अन्य दर्शनावरण मोहनीय आदि कर्मोका भी उपलक्षण करके व्याख्यान कर दिया गया समझलेना चाहिये। दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आदिक भी प्रत्येक स्पर्धक का आस्रव होनेपर मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति तथा उत्तरोत्तरप्रकृति इन विकल्पो को धार रहे सन्ते विचार लिये जाते है अथवा विभाग को प्राप्त हो जाते है। जिस प्रकार रस रुधिर, हड्डी, आदि कार्योंका प्रत्यक्ष होजानेसे सामान्य खाद्य, पेय पदार्थो का उन उन

उदरो में जाकर वैसी वैसी विशेष सामर्थ्यो का धारना अनुमित हो जाता है। अथवा चाक्षुष प्रत्यक्ष, रासन प्रत्यक्ष, आदि कार्यविशेपोसे अतीन्द्रिय इन्द्रियो या उन वाह्यनिवृत्ति स्वरूप इन्द्रियोकी रूपग्रहणशक्ति रसग्रहणशक्ति आदि विशेपोका अनुमान करलिया जाता है, उसी प्रकार अज्ञान, मति अज्ञान, दर्शनमोहन, अनुकूलवेदन, प्रतिकूलवेदन, भव धारण, शरीरादिनिर्माण, उच्चाचरण, विघ्न पड़ जाना, आदि कार्य विशेपो करके सम्पूर्ण मूलप्रकृति, उत्तरप्रकृतियोका अनुमान करलिया जाता हैं। परिदृष्ट कारणो का व्यभिचार देखने से अतीन्द्रिय कर्मों की सिद्धि हो जाती है। उस ही बात का ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा कह रहे हैं।

कर्मप्रकृतयस्तत्र स्युर्ज्ञानावरणादयः।
तादृक्कार्यविशेषानुमेयाः करणशक्तिवत् ॥१॥

उन चार प्रकारके बधोमें ज्ञनावरण आदिक मूल प्रकृतिया और कर्मोंकी मति ज्ञानावरण, चक्षुर्दर्शनावरण आदिक उत्तर प्रकृतियां तो तिस तिस प्रकार ज्ञानको नही होने देना, मतिज्ञन को नही उपजने देना, चाक्षुषदर्शन को रोकलेना आदि देखे जा रहे कार्य विशेषो करके अनुमान करलेने योग्य है। जैसे कि इन्द्रियोंकी रूप को ग्रहण कर सकना आदि शक्तियोका अनुमान करलिया जाता है अथवा "देवदत्त, कुठारेण छिनति काष्ठ' वेगयुक्त होकर उठना, गिरना व्यापारवाले कुठार करके काठका छेदन हो जाना दीखने से कुठार की छेदकत्व शक्ती का अनुमान करलिया जाता है। अवधिज्ञानी, मनपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी को कर्मोका प्रत्यक्ष हो जाता है। किन्तु मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी जीव उन कर्मों की अनुमान प्रमाण से सिद्धि कर डालते है।

कश्चिदाह—पुद्गलद्रव्यस्यैकस्यावरणसुखदुःखादिनिमित्तत्वानुपपत्तिर्विरोधात् इति। स विनिवार्यते न वा, तत्स्वाभाव्याद्वन्हेर्दाहपाकप्रतापप्रकाशसामर्थ्यवत्। अनेकांतित्वाच्च द्रव्यस्य नैकत्वादिरूपेणानेकान्तिकत्व यतो विरोधः।

यहाँ कोई पण्डित आक्षेप करता हुआ कह रहा है कि सामान्य रूप से एक ही पुद्गल द्रव्यको आवरण कर देना, मोह करना, सुख दुःख उपजावना आदि अनेक कार्योमे निमित्तपना नही बन सकता है, क्योकि एक कारणद्वारा अनेक कार्यो के हो जाने का विरोध है। इस प्रकार जो कहरहा है, ग्रन्थकार करके वह पण्डित विशेषरूपतया निवारण किया जाता है कि हम जैनो के ऊपर यह दोष नही आता है, क्योकि उन कार्यों मे अन्तरग बहिरग

कारणवश पड गये अनेक स्वभावोसे अनेक कार्य हो रहे है जैसे कि एक अग्निके दाह करना पचाना, उष्णप्रताप करना, प्रकाश करना ये सामर्थ्य पायी जाती है । बात यह है कि अग्नी मे दाहकत्व, पाचकत्व आदि अनेक स्वभाव है तदनुसार वह अनेक शक्तिओ का पिण्ड हो रही एक अग्नी भी असख्य कार्यो को कर सकती है । "यावन्ति कार्याणि तावन्त: प्रत्येकस्वभाव भेदा: । परस्पर व्यावृत्ता " यही सत्यमार्ग है "कार्यभेद : कारणभेद देव भवति " इस नियम की जैन सिद्धान्तमे अक्षुण्ण प्रतिष्ठा है । दूसरी बात यह है कि अनेकान्तवादमे द्रव्य अनेक धर्मो से युक्त सिद्ध किया गया है । द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से कर्म पुद्गल द्रव्य एक है तथा अनेक परमाणुये या उनके गुण एव कर्मो की पर्याय शक्तिया और स्वभाव इन पर्याय की अपेक्षा तो पर्यायार्थिक दृष्टी अनुसार कर्म द्रव्य अनेक भी है । तिस कारण अनेक कारणो करके अनेक कार्यो की उत्पत्ति होती रहने से कोई विरोध नही है । द्रव्य का एकत्व, अनेकत्व आदि रूप करके व्यभिचार नही आता है अथवा " नैकत्वादिरूपेणैकान्तिकत्व " पाठ होनेपर एकत्वादिरूप करके द्रव्यका एकान्त नही है जिससे कि विरोध दोष आता, उपलभ्यमान हो रहे एकत्व, नानात्व, आत्मक वस्तु मे विरोध दोष नही आता है "अनुपलम्भसाध्यो विरोध " अथवा यो अर्थ किया जासकता है कि जब द्रव्य मे एकत्व आदि एक ही अर्थ का एकान्त नही पुष्ट हुआ तो एक द्रव्य को अनेक कार्योका निमित्त नही सिद्ध होने देने मे प्रयुक्त किया गया विरोध हेतु व्यभिचारी हैं ।

पराभिप्रायेणेन्द्रियाण भिन्नजातीयानां क्षीराद्युपभोगे वृद्धिवत् । वृद्धिरेकैवेति चेन्न, प्रतीन्द्रियवृद्धिभेदात् । तथैवातुल्यजातीयेनानुग्रहसिद्धिः । तेन चेतनस्यात्मनोऽचेतन कर्मानुग्राहक सिद्धं भवति ।

अथवा हमने जो एक ही कर्म पुद्गलद्रव्य को अनेक सुख, दुःख आदिको का निमित्तपना कहा है वह दूसरे नैयायिक या वैशेषिक अथवा चार्वाक पण्डितोके अभिप्राय करके कहा गया हैं । वैशेषिक पण्डित स्पर्शन इन्द्रिय को वायुसे बना हुआ स्वीकार करते है, पृथिवी से घ्राण इन्द्रिय आरब्ध है इन से विजातीय माने जा रहे जलद्रव्य से रसना इन्द्रिय बनी हुई है भिन्न जातीय परमाणुवाले तेजो द्रव्यसे चक्षु.इन्द्रिय सम्पन्न हुई है । चार्वाको ने भी " पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि ततः शरीरेन्द्रियविषयसज्ञा " ऐसा कहकर पृथ्वी आदिक से इन्द्रियोकी उत्पत्ति स्वीकार की है । यो उन दूसरे पण्डितो के अभिप्राय अनुसार भिन्न भिन्न जातिवाले द्रव्योसे आरब्ध हुई इन्द्रियो की जैसे दूध, घी, बादाम आदि एक एक के भी उपयोग करनेपर वृद्धि हो जाती है । उसी प्रकार एक कर्म द्रव्य भी जीव है

अनेक सुख दु ख आदिको का अनुग्राहक हो जाता है। यदि यहा कोई यो आक्षेप करे कि इन्द्रियो की वृद्धि तो एक ही है अतः एक दूध या घीसे एक ही वृद्धिस्वरूप कार्य हुआ ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नही कहना। क्योकि सूक्ष्मदृष्टी से विचार करनेपर प्रत्येक इन्द्रिय की अपेक्षा वृद्धि न्यारी न्यारी है, जिस प्रकार इन्द्रिया भिन्न है उसी प्रकार उनकी वृद्धिया भी पृथक पृथक् है.घी खानेसे आखमे नसो को पुष्टी होने हुये दर्शनशक्ति दृढ हो जाती है जिन्हा को रूक्षता दूर होकर रसग्रहणशक्ति स्थिर हो जाती है, इसी प्रकार स्पर्शन, घ्राण श्रोत्रोके उपकरणोकी पुष्टि हो जाती है, घृत से पावोके तलका मर्दन करने पर भी चक्षुओ को लाभ होकर शिर पीडा दूर हो जाती हैं, यो भिन्नजातिवाले पार्थिव घीसे अतुल्य जातिवाले तेजोनिर्मित चक्षुः वायुनिर्मित स्पर्शन आदिका अनुग्रह होना जैसे अनुभूत हो रहा है उसी प्रकार भिन्न जातीय अचेतन कार्मण पुद्गलद्रव्य करके अतुल्य जातीय चेतन जीवद्रव्यका अनुग्रह हो जाने की सिद्धि हो जाती है, तिस कारण चेतन आत्माका अचेतन कर्म अनुग्रहण करनेवाला सिद्ध हो जाता है आत्मपरिणतियोने ही कर्म को तिस प्रकार अपने सुख दुःख का अनुग्राहकपनसे परिणमन करालिया था, जैसे कोई पुरुष अपने स्त्री पुत्र, भृत्य आदि को वैसी वैसी टेव बनाकर उनसे स्वय सुख दुःख उठाता रहता है। रजस्वलास्त्री स्वय अपने शरीर के विकारसे अशुद्ध हो जाती है अथवा जीवित शरीर ही स्वपरिणतियोके अनुसार वात, पित्त कफ, सम्बधी दोषो को या गुणोको बनाकर अथवा रस, रुधिर हड्डी आदिका निर्माणकर पुन उन बध गये विजातीय पुद्गलोसे अनेक प्रकार दुखो या सुखोको भोगता रहता है दन्तव्रण(पायोरिया)रोगसे शरीर मे ही दूषितविष बनता है और उसीसे शरीर मे दुख विकार उपजते हैं पुन दूषित विष बनता है उससे जीव दुःख भोगता है। उसी प्रकार कर्मनोकर्मो करके यह जीव अनेक निग्रह, अनुग्रह प्राप्त करता रहता है।

किमेतावानेव प्रकृतिबंधविकल्पो नेत्याख्यायते--एकादिसंख्येयविकल्पश्च शब्दतः तत्रैकस्तावत्सामान्यात् कर्मबन्धो विशेषाणामविवक्षितत्वात् सेनावनवत्। स एव पुण्यपापभेदाद्द्विविधः स्वामिभृत्यभेदात् सेनावत्। त्रिविधश्चानादिःसान्तः, अनादिरनन्तः सादि सान्तश्चेति, भुजाकारात्पतरावस्थितभेदाद्वा।

यहाँ कोई सक्षेप रुचिवाला शिष्य प्रसन्नतावश प्रश्न उठाता है अथवा विस्तार रुचिवाला विनीत जिज्ञासावश पूँछता है कि क्या पहिले प्रकृतिबध के विकल्प उक्त आठ सख्या के परिमाण को लिये हुये इतने ही है? ग्रन्थकार कहते है कि इस शंकाका उत्तर "नही" यह बखाना जाता है अर्थात् इतने ही आठ विकल्प नही है। किन्तु प्रकृतिबधके

अत्यधिक विकल्प है, जगतमे शब्द संख्यात ही है, कालाणुओ आदिके बराबर असख्याते शब्द नही हैं, और जीव, पुद्गल, द्रव्योके अनन्त समान अनन्तानन्त भी नही है। असंख्याते द्वीप समुद्र या देवदेवियोके अथवा त्रिकालसम्बधी मनुष्योके नाम सब पुनरुक्त है, एक एक नामको धार रहे असख्याते पदार्थ है यो शब्द जब मध्यम संख्यात ही हैं तो वाचक शब्दोकी अपेक्षासे प्रकृतिबधके एक, दो, तीन, चार आदि संख्याते विकल्प हो जाते है, उन संख्यात भेदोमे सबसे पहिला एक भेद तो सामान्यरूपसे कर्मबध एक ही है यहाँ विशेष भेदोकी विवक्षा नही कही गई है। जैसे कि सैनिक,घोडे,रथ आदि भेदो की विवक्षा नही कर समुदायकी अपेक्षा एक सेना शब्द प्रवर्त रहा है अथवा अशोकवृक्ष, तिलकवृक्ष, मौलसिरी, वबूल, ढाक, आदि वृक्षोकी नही अपेक्षा कर सामान्य आदेशसे वन एक कहदिया जाता है। "सामण्णजीवतसथावरेसु" यो सम्पूर्ण जीवोको भी तो सामान्य से एक जोवसमासमें गर्भित करलिया जाता है, तथा वही कर्मबन्ध पुण्यकर्म और पापकर्मके भेदसे दो प्रकारका माना गया है, जैसे कि एक ही सेनाको स्वामी यानी अफसर और भृत्य यानी सेवक (सिपाही) के भेदमे दो ही भेदोमे गतार्थ कर लिया जाता है। यहाँ अडसठ पुण्यप्रकृतियाँ और सौ पाप प्रकृतियाँ इन प्रभेदो की अपेक्षा नही की गई है। प्रकृतिबध तीन प्रकार का भी है अनादिसान्त १ अनादिअनन्त२ और सादिसान्त ३ यो अथवा भुजाकार, अल्पतर, और अवस्थित भेदसे भी कर्मबध तीन प्रकार है। अर्थात् किसी मोक्षगामी भव्यजीवका अनादिकालसे प्रवाहरूपेण चला आरहा कर्मबध क्षपक श्रेणीके पश्चात् सान्त हो जाता है अथवा तेरहवे गुणस्थान के अन्तमें योग नष्ट हो जानेपर सातावेदनीय कर्मके बध का भी अन्त हो जाता है। दूसरा अभव्य जीव या दूरभव्य जीवके अनादिसे अनन्तकाल तक धाराप्रवाह हो रहा अनादिअनन्त बंध है। उपशम श्रेणीसे गिरकर नीचले गुणस्थानोमे हुआ बध सादिसान्त है अथवा व्यक्तिरूपसे सभी कर्मोका बंध सादि सान्त है। कोई भी कालमे पाया जारहा कर्मपिण्ड सत्तर कोटा कोटी सागर कालसे अधिक समयोतक नही टिक सकता है "सादी अवधबधे सेढि अणारूढगे अणादीहु,अभव्व सिद्धम्मि धुवो भवसिध्दे अध्रुवो बंधो" इस गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा अनुसार अबध होनेपर पुनः कर्मके बधने को सादिबंध कहा गया है। जैसे किसी जीवके दशवे गुणस्थानतक ज्ञानावरणकी पाच, दर्शनावरण की चार, अन्तराय की पाच, यशस्कीर्ति और उच्च गोत्र इन सोलह प्रकृतियोका बध होता था किन्तु वह जीव ग्यारहवे गुणस्थानमे पहुच गया वहाँ इनका बध नही हुआ पश्चात् ग्यारहवेसे गिरकर पुन दशवेमे आकर ज्ञानावरण आदिका बंध करने लग गया ऐसा बंध सादि कहलाता है तथा श्रेणीपर नही चढ रहे जीवके अनादिबध समझा जायेगा

इत्यादि व्याख्यान है। भुजाकार आदिको यो समझलिया जाय "अप्प बंधंतो बहु बंधे बहुगादु अप्पबंधेवि, उभयत्थ समे बधे भुजगारादी कमे होति पहिले थोडी प्रकृतियोको बांधते हुवे पुन वहुत प्रकृतियोके बाधनेपर भुजाकार बंध है, जैसे कि गजदन्त के समान अगुलियो, पोचा कोनी, बाहोपर उत्तरोत्तर मोटी होती जारही भुजाका आकार है, उसी प्रकार ग्यारहवे, गुणस्थानसे उतरकर दशवें, नौमे आदि गुणस्थानोमे अधिक अधिक कर्मोंके बधनेकी अपेक्षा भुजाकार बध है। पहिले बहुत प्रकृतियोका बध करते हुवे पुन थोडी सख्यावाली प्रकृतियो को बाधने लगजाना अल्पतर बध हैं जैसे कि पहिले गुणस्थानमे दर्शनावरणकी नौ प्रकृतिया बंधती थी किन्तु दूसरे में स्त्यानगृद्धि आदि तीनकी व्युच्छित्ति हो जानेपर तीसरे आदिमे छह प्रकृतिया बधने लग जाती है आठवे के प्रथम भागमे निद्रा और प्रचला की बधव्युच्छित्ति हो जानेपर आगे चार ही दशवे गुणस्थानतक बंधती है यो वह अल्पतरबंध हुआ समझा जायेगा। पहिले और पीछे दोनो कालो मे समानबध होने पर अवस्थितबंध हैं जैसे कि दशवें तक चक्षुर्दर्शनावरण का बध अवस्थित हैं।

प्रकृत्यादिभेदाच्चतुर्विध द्रव्यादिभेदात् पचविधः। षड्जीवनिकायभेदात् षोढा। रागद्वेष मोहक्रोधमानमायालोभहेतुभेदात् सप्तविधः। ज्ञानावरणादिविकल्पादष्टविधः एव संख्येया विकल्पाः शब्दतो योजनीया। च शब्दादध्यवसायस्थानविकल्पादसख्येयाः प्रदेशस्कन्ध परिणामभेदादनन्ता. ज्ञानावरणाद्यनुभवाविभागपरिच्छेदापेक्षया वा।

प्रकृति आदि यानी प्रकृतिबध स्थितिबध, अनुभागबध और प्रदेशबध के भेदसे बध चार प्रकार का हैं भुजाकार, अल्पतर, अवस्थित, और अवक्तव्य भेदोसे भी बंधके चार विकल्प हो सकते हैं। तथा द्रव्य आदि यानी द्रव्य, क्षेत्र काल, भव, भाव इन भेदो से बध के पांच प्रकार हैं। द्रव्य क्षेत्र आदिका निमित्त पाकर वह कर्मबध स्थूलरूपसे पाच प्रकार का परिणम जाता है। छह जीवनिकायो के भेदसे स्वामियोकी अपेक्षा बध छह प्रकार का भी कहा जा सकता है। बधके हेतु हो रहे राग, द्वेष, मोह, क्रोध मान, माया, लोभ, इन सात, भेदोसे बंध सात प्रकार का है निमित्त के भेदसे नैमित्तिकमें भेद हो ही जाता है। ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि प्रकृतियोके भेदसे आठ प्रकार का बध प्रसिद्ध ही है। नौ पदार्थोंके प्रतिकूल कषायो अनुसार बध के नौ भेद भी हो सकते है। दशधर्मोके विपरीत आचरण करनेपर हुये कर्मबधो की दश जातिया भी कही जा सकती है। जगत् मे शब्द सख्यात ही है यो बधके शब्दोकी अपेक्षा संख्याते विकल्पोकी योजना करलेनी चाहिये। "एकादि सख्येयविकल्पाश्च" यहा पडे हुये च शब्द करके कर्मके असंख्यात और अनन्त भेद भी कहे गये समझलेने चाहिये

कषायाध्यवसायस्थान और अनुभागबधाध्यवसायस्थान संख्यामे असंख्यात लोकपरिमाण है अत स्थितिबंध और अनुभागबंध के उपयोगी इन अध्यवसाय स्थानो के विकल्पसे कर्मबध असख्यात नामकी विशेप सख्याको लिये हुये है। तथा ज्ञानावरण आदिके अनन्तानन्त प्रदेश परमाणुओ और अनन्तानन्त कर्मस्कन्ध परिणतियो के भेदसे कर्मबधके अनन्त भेद है अथवा ज्ञानका आवरण कराना आदि तारतम्यरूप से हीनाधिकता को लिये हुये है यो अनन्त प्रकार के सुखदु खो को देनेरूप अनुकूल अनुभवोके अविभाग प्रतिच्छेदोकी अपेक्षा करके कर्मके उन पूर्वोक्त अनन्तानन्तोसे भी अनन्तानन्त गुणे अनन्तानन्त भेद है, कर्मोकी शक्तियोंके अविभाग प्रतिच्छेदोको सख्या बहुत बडी अनन्तानन्त है। अत: संख्याते, असंख्याते और अनन्ते विकल्प पहिले प्रकृतिबधके सभव जाते है।

क्रमप्रयोजनं ज्ञानेनात्मनोधिगमात् ज्ञानावरणं सर्वेषामादावुक्तं। ततो दर्शनावरण मनाकारोपलब्धेः। तदनन्तरं वेदनीयवचनं तदव्यभिचारात्। ततो मोहाभिधानं तद्विरोधात्। आयुर्वचनं तत्समीपे तन्निबधनत्वात्। तदनंन्तरं नामवचन तदुदयापेक्षत्वात् प्रायो नामोदयस्य। ततो गोत्रवचनं प्राप्तशरीरादिलाभस्य संशब्दनाभिव्यक्ते। परिशेषादन्ते अन्तरायवचन ॥

ग्रन्थकार अब ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मोके क्रमसे प्रयोग करनेका प्रयोजन कहते है। सब कर्मोके आदिमे ज्ञानावरण को इसलिये कहा गया है कि ज्ञान करके ही आत्माका अधिगम होता है, आत्माके स्वानुभवका निमित्त होनेसे ज्ञान प्रधान या पूज्य है, पूज्य ज्ञानका आवरण भी "नारायण प्रतिनारायण" न्याय अनुसार पहिले कहा गया है। उसके पश्चात् दर्शनावरण कहा गया है। क्योकि साकार उपयोगवाले ज्ञानसे निराकार दर्शन जघन्य है। ज्ञान करके स्व और अर्थका प्रकट ग्रहण होता है, किन्तु दर्शन करके अर्थका मात्र अव्यक्त आलोकन हो जाता है अर्थविकल्पनास्वरूप आकारसे रहित उपलब्धि होनेके कारण दर्शनावरण पीछे कहा गया है। उस दर्शनावरणके अनन्तर वेदनीय कर्मका कथन है क्योकि उन ज्ञान और दर्शनोसे अव्यभिचार होनेके कारण वेदना प्रवर्तती है मोहनीय कर्मकाल पाकर वेदनीय कर्म भी घाति कर्मोके समान जीवके वास्तविक सुखको बिगाडता है अत सूत्रकारने मोहनीयके आदिमे पढदिया है। उस वेदनीयके पश्चात् मोहनीयका कथन करना आवश्यक है कारण कि उन ज्ञान, दर्शन, सुखदु.खका विरोध करनेवाला मोह है। क्वचित् मोहनीय कर्म करके मूढ होरहा जीव न जानता है, न आलोकन करता है, और सुखदु.खोका वेदन भी नही करपाता है। उन पूर्वोक्त कर्मोके समीपमे पश्चात् आयु.कर्मका प्रयोग है, क्योकि उस आयु.को ही कारण मानकर प्राणियो के सुख, दुःख आदि प्रवर्तते है। उस आयु कर्मके अव्यवहित पश्चात्

नामकर्मका वचन किया जाता है क्योकि उस आयुःके उदयकी अपेक्षा रख रहा हो प्राय गति आदि नाम कर्मका उदय देखा जाता है "आयुबलेण अवट्ठिदिभवस्स इदि णाम आउपुव्वं तु भवमस्सिय णीचुच्च इदि गोदं णामपुव्वं तु" उस नाम कर्मके पश्चात् गोत्र कर्मका निरूपण करना उचित ही था। कारण कि नामकर्मके विपाक अनुसार शरीर आदिके लाभको प्राप्त कर चुके ही जीव के गोत्रको निमित्त मानकर हुए उच्च नीच, आचरण अनुसार शुभ अशुभ शब्दो करके उच्चारण किये जानेकी प्रकटता होती है तिस कारण नामके पीछे गोत्र कह दिया गया है। आयु, नाम, और गोत्रो का क्रम बडा अच्छा है। सबके शेषमे बचे रहनेसे अन्तरायका कथन अतमे किया गया है। अन्तराय कर्मका प्रतिपक्ष वीर्य है शक्तिरूपवीर्य सभी जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्योमे पाया जाता हैं जैसे जीवमे अनन्तानन्त वीर्य है उसी प्रकार पुद्गलोमे भी अनन्तानन्त सामर्थ्य है। जीव पुद्गलोकी गति के सहकारी धर्मद्रव्य और सभी द्रव्योकी स्थितिमें सहकारी अधर्म द्रव्यकी सामर्थ्य छोटो नही हैं अनन्त है। कालपरमाणुये तो अनन्त सामर्थ्यो की धार रही प्रतीत हो ही रही है। "परिशुद्धप्रतिभानां सुलभमेतत्" यो "जीवाजीवगदमिति चरिमे" अन्तराय पीछे कहा गया है। इस प्रकार उक्त सूत्रके द्वद्वसमास गर्भित पदो के यथाक्रमसे निरूपण का बीज कह दिया है।

अथोत्तरप्रकृतिबंध प्रतिपिपादयिषुस्तत्संख्याभेदान् सूत्रयन्नाह,—

पहिला मूल प्रकृतिबध आठ प्रकारका कहा दिया गया हैं अब दूसरे उत्तर प्रकृतिबध की शिष्यो को प्रतिपत्ति करानेकी अभिलाषा रखते हुवे सूत्रकार महाराज उस उत्तर प्रकृतिबंधके सख्या भेदोकी सूत्ररचना करते हुये कह रहे हैं।

पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपंचभेदा यथाक्रमम् ॥५॥

पाच भेदवाला ज्ञानावरणीय कर्म है, नौ प्रकारवाला दर्शनावरण कर्म है। वेदनीयके दो भेद हैं, अट्ठाईस प्रकारोवाला मोहनीय हैं, आयुःकर्मके चार भेद हैं। नामकर्मकी उत्तर प्रकृतिया ब्यालीस प्रकार है गोत्रकर्म द्विविध है, अन्तराय कर्मको उत्तर प्रकृति गणना पाच है। आठ प्रकार प्रकृतिबधके यथाक्रमसे ये पाच, नौ आदि विकल्प हो जाते है, यह इस सूत्रमे कहा गया है।

पंचादिपदानामन्तानां द्वद्वस्यान्यपदार्थनिर्देशः। द्वितीयग्रहणमिति चेन्न परिशेषात्सिद्धेः। पूर्वत्राद्यवचनात् इह हि परिशेषादेव द्वितीयउत्तरप्रकृति बध इति सिध्यति। भेदशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते। यथाक्रमं यथानुपूर्वं तेन ज्ञानावरणं पंचभेदमित्यादिसंबंधः परिपाट्या द्रष्टव्यः। एतदेवाह,—

पाच, नौ, को आदि लेकर आठवे पाच पर्यंत शब्दोंका पूर्वभेद द्वंद्वसमासकर पीछे अन्य पदार्थ को प्रधान रखनेवाले बहुव्रीहि समासद्वारा निर्देश करलिया जाय अर्थात् पंचच नव च, द्वौ च, अष्टविंशतिश्च, चत्वारश्च, द्विचत्वारिंशच्च, द्वौ च, पंचच, यों विग्रहकर "पचनवद्वच्ष्टाविशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्विपच" वह पद बनालिया जाय। पुनः वे पाच, नौ, दो, अठ्ठाईस, चार, व्यालीस, दो और प्रांच ये भेद जिस उत्तर प्रकृतिबंध के है वह "पचनवद्वच्ष्टाविशतिचतुर्द्विचत्वरिंशद्विपचभेदा:" ऐसा बहुवचनान्त पाठ है तो पहिले "गोत्रान्तराया." इस बहुवचनान्त पदके साथ "भेदा येषा" यो निरुक्ति कर सामानाधिकरण्य विचार लिया जाता है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि पहिले सूत्र मे जब आद्यपद कण्ठोक्त है, तो यहां द्वितीय पदका ग्रहण करना चाहिये, तभी इन भेदोवाला दूसरे उत्तर प्रकृतिबंधका समीचीन प्रत्यय हो सकेगा, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि परिशेषन्यायसे द्वितीय शब्द को बिना कहे ही प्रकरण अनुसार सामर्थ्य से सिद्धि हो जाती है। पहिले सूत्रमे आद्यका कथन कह देनेसे यहा परिशेषन्याय अनुसार ही दूसरा उत्तर प्रकृतिबंध है, यह नियम से सिद्ध हो जाता है। आदिका मूल प्रकृतिबध कहा जा चुका है तिस कारण यह दूसरा उत्तर प्रकृतिबध ही समझा जायेगा। संक्षिप्त शब्दो करके अत्यधिक वाच्यार्थ को कह रहे सूत्रकार विचारे सामर्थ्यसिद्ध पदोको नही कहा करते है, परिशेषसिद्ध को कह भी दिया जाय, फिर भी पुनरुक्तता दोप उठानेवाले कहां चुप बैठनेवाले है? अतः हित, मित उच्चारण हो मुक्तिस्वरूप उमाका स्वामी है, समन्तभद्र है अकलंक है। श्रेष्ठविद्याका आनन्द है। द्वन्द्वके अन्तमे पडे हुये भेद शब्दकी प्रत्येक पदमे पिछली ओर समाप्ति कर दी जाती हैं "पचभेद", निवभेदः द्विभेदः, इत्यादि रूपसे सम्बध करलेना चाहिये। सूत्रमें पडे हुये यथाक्रमका अर्थ सूत्रोक्त पदो की आनुपूर्वीका उल्लंघन नही करना है तिस कारण ज्ञानावरण कर्म पाच भेदोवाला है और दर्शनावरण नौ भेदोवाला है, इत्यादि रूपसे उक्त पदोके प्रयोग की परिपाटी करके चौथे और पाचवे सूत्रका सम्बध हुआ देखलेना चाहिये। इस ही सूत्रोक्त विषयको ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा युक्तिपूर्वक कह रहे है।

ते च पंचादिभेदाः स्युर्यथाक्रममितीरणात्
कार्यप्रभेदतः साध्याः सद्भिः प्रकृतयोपराः ॥१॥

वे ज्ञानावरण आदिक कर्म यथाक्रमसे इन पाच आदि भेदोंवाले है ऐसा इस सूत्रमे कथन कर देनेसे सदागम प्रमाणवादी सज्जन विद्वानो करके कार्योका प्रभेद होरहा

दीखनेसे दूसरी उत्तर प्रकृतिया भी साध लेने योग्य हैं। भावार्थ-ज्ञानका आवरण हो जाना आदि कार्य विशेषोसे जैसे ज्ञानावरण आदि मूल प्रकृतियोका अनुमान करलिया जाता है, उसी प्रकार उनके भी व्याप्य कार्य हो रहे मतिज्ञानका आवरण चक्षुरिंद्रियावरण आदि भेद प्रभेदो (ज्ञापकहेतु) से कारण स्वरूप उत्तर प्रकृतियो को साध लिया जाता है "पर्वतो वन्हिमान् धूमात्" के समान कार्य हेतुमे कारण की सिद्धि करनेपर कारण विचारा-ज्ञाप्यस ाध्य हो जाता है और कार्य तो ज्ञापक हेतु हो जाता है। यो अनेक भेद प्रभेदरूप दृश्यमान कार्योसे अंतरंग कारण हो रहे कर्मोकी उत्तर प्रकृतियो या उत्तरोत्तर प्रकृतियोका अनुमान करलिया जाता है।

तत्र केषां ज्ञानानां पचानामाव्रियमाणानामावृतिकार्यभेदात्पंचभेदं ज्ञानावरणमित्याह;-

वहाँ किसीका प्रश्न है कि उत्तर प्रकृतियो द्वारा आवरण किये जा रहे कौन कौन से पाच ज्ञानोकी आवृत्ति हो रहे स्वरूप कार्यो के भेदसे ज्ञानावरण कर्म भला उन कर्मोमे पाच भेदोवाला माना गया है ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर सूत्रकार महाराज अग्रिमसूत्रको समाधानार्थ कह रहे हैं।

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥६॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, इन पाच ज्ञानोके आवरण करनेवाले कर्म पाच होते है, अर्थात् मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मन पर्ययज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण, ये ज्ञानावरण कर्म की पाच उत्तर प्रकृतियां है।

मत्यादोन्युक्तलक्षणानि, मत्यादीनामिति पाठो लघुत्वादिति चेन्न, प्रत्येकमभि-संबंधार्थत्वात्। तेन पच ज्ञानावरणानि सिद्धानि भवति। पचवचनात्पचसख्याप्रतीतिरिति चेन्न, प्रत्येक पचत्वप्रसगात्। प्रतिपद पठेत्। मतेरावरण, श्रुतस्यावरणमित्याद्यभिसंबधात् प्रत्येक पचावरणानि प्रसज्यन्ते।

मति, आदि ज्ञानोके लक्षण तो प्रथम अध्याय मे कहे जा चुके हैं। यहाँ कोई पण्डित आशका उठाना है कि मति आदिक ज्ञान जब कहे ही जा चुके है तो यहा आदि शब्द करके श्रुतज्ञान आदिका ग्रहण होय ही जायगा। अत "मत्यादीना" इतना ही पाठ सूत्रम किया जाय, क्योकि इसमे अनेक अक्षरोका लाघव है जो कि सूत्रमे अत्यावश्यक है, ग्रन्थकार

कहते हैं कि यह तो नही कहना । क्योकि प्रत्येक मे परली बाजूसे आवरणका सबध करनेके लिये पाचो पदोका पाठ करना पडा है । यदि ऐसा नही कहा जाकर केवल "मत्यादीना" कहदिया जाता तो उन मति आदि पाचोका एक ही आवरण है यो परिज्ञान करलिया जाता, जो कि इष्ट नही हैं । पाच ज्ञानोके पाच आवरण अभीष्ट है, यह प्रयोजन पांचो को कण्ठोक्त करने पर ही सिद्ध होता है । तिस कारण पाच ज्ञानावरण कर्म सिद्ध हो जाते है । पुनरपि वही पण्डित आक्षेप करता है कि पूर्वसूत्रमे ज्ञानावरण की उत्तर प्रकृतिया पाच कही जा चुकी है, मति आदि ज्ञान पाच भी कहे गये हैं, तिस कारण ज्ञानावरण कर्म की पांच सख्या की प्रतीति हो जायेगी । फिर "मत्यादीना" ऐसा लघुसूत्र छोडकर व्यर्थमे इतना लम्बा सूत्र करने की क्या आवश्यकता है ? आचार्य कहते है कि यह तो नही कहना । क्योकि मतिज्ञान आदि प्रत्येक के पाच पांच भेद हो जानेका प्रसग आजावेगा उक्त सूत्रके पाच शब्दोको मत्यादि प्रत्येक मे पढदिया जावेगा । मतिज्ञान के आवरण पाच श्रुतज्ञानके आवरण पाच इत्यादि रूपसे प्रत्येक मे पाच पदका सबध हो जानेसे प्रत्येक के पाच पाच आवरण हो जानेका प्रसग आ जाता है । हा सूत्रमे मति,श्रुत, अवधि, मन पर्यय, और केवल इन प्रत्येक पदो का ग्रहण हो जानेपर तो इन उक्त पदो की सामर्थ्यसे ही अभीष्ट अर्थ को समीचीन ज्ञप्ति की जा सकती है । यथाक्रम की अनुवृत्ति अनुसार पाच पदका मति, श्रुत आदि समस्त पाचो के साथ सबध किया जायेगा । गम्भीर महान पुरुष व्यर्थ की बाते नही बका करते है । कोई धनका अभिलाषी दीन पुरुष यदि किसी महामना उदात्त धनिक के निकट याचना करने के लिये जाता है धनिक पुरुष यदि कारणवश उसको निषेध भी कर दे पुन कुछ समयतक दीन पुरुष के साथ वह सेठ यहा वहा की बाते करता हैं कि भाई तुमको क्या आवश्यकता है ? तुम कहा रहते हो ? तुम्हारे कितने बालबच्चे है ?, इत्यादिक व्यर्थसी प्रतीत हो रही बातें भी प्रयोग सिद्धि की घटक है । आज नही तो कल उस दीनयाचक की अभीष्ट सिद्धि होयगी, पर होयगी । अत अतिसंक्षिप्त कहने की टेव रखनेवाले का कदाचित् अधिक कह देना व्यर्थ नही जाता है । वह कुसीद (व्याज) सहित मूल को चुका देता है ।

कश्चिदाह-मत्यादीनां सत्त्वासत्त्वयोरावृत्यभाव इति तं प्रत्याह, न वात्रादेशवचनात् सतश्चावरणदर्शनात् नभसोभोधरपटलवत् । मत्यादीनां सत्त्वैकान्ते वासत्त्वैकांते च क्षायोपशमिकत्वविरोधात् कथञ्चित् सतामेवावरणसंभव. ।

यहाँ कोई साख्य या नैयायिक मत अनुसार शंका उठाता है कि मति आदिको का विद्यमान होना माननेपर अथवा आत्मामे अविद्यमान होना मानने पर दोनो पक्षोमे आवरण

होना घटित नही होता है। देखिये, आत्मा में मति आदि ज्ञानोका सद्भाव माना जायेगा तो वे अपना आत्मलाभ कर ही चुके हैं। विद्यमान पदार्थ का आवरण कुछ भी नही हुआ, ज्ञान कुछ लड्डूके समान तो है नही, जो कि विद्यमान होरहा ही कटोरदान करके ढक देने के समान आवरण माने गये, कर्म से ढंक दिया जाय। ज्ञान तो उत्पत्ति मात्र से चरितार्थ हो जाता है साप के निकल जानेपर लकीर को पीटते रहने से कोई लाभ नही हैं, उल्टा सकल्प हिंसाका पाप और चढ बैठना है। द्वितीयपक्ष अनुसार आत्मामें ज्ञानका असद्भाव मान जायेगा तब तो उसके ऊपर आवरण करना कथमपि नहीं सम्भवता है जैसे कि असत् हो रहे खर विषाण का किसी वस्त्र, डिव्वा आदि करके आवरण नही किया जासकता है। इस प्रकार कह चुकनेपर उस कश्चित् पण्डित के प्रति ग्रन्थकार समाधानवचन को कहते हैं कि यह दोष हमारे उपर नही आता है। कारण कि यहा नयो की विवक्षासे आपेक्षिक कथन है आत्मामें चेतनागुण अनुजीवी होकर शाश्वत रहता है। कारणो के मिल जानेपर उसकी मति, श्रुत आदि परिणतिया हो सकती है शक्ति की अपेक्षा जैसे मट्टीमे घड़ा हैं यानी कारण मिल जाय तो मिट्टी घटस्वरूप हो सकती है। उसी प्रकार द्रव्यार्थिक नयसे आत्मा मे सत् हो रहे मति आदिकोका आवरण हुआ समझलिया जाय और पर्यायार्थिक नयसे नही विद्यमान हो रहे दोनोका कर्म करके आवरण हुआ है जैसे कि मट्टीमें तत्कालीन घट पर्याय नही है। जैन मतमें सर्वथा सत् कार्यवाद नही माना गया है और सर्वथा असत् कार्यवाद भी नहीं अभीष्ट किया गया है, यो कथचित् सत् होरहे और कथचित् असत् होरहे ज्ञानोका आवरण होना सभव जाता है। आपने जो यह कहा था कि सत् का आवरण नहीं होना है उसपर हमारा यो कहना है कि देखिये विद्यमान होरहे प्रकाश युक्त पुद्गलसे संयुक्त आकाश मण्डलके मेघपटल, आंधी, आदि करके आवरण हो रहा देखा जाता है मेघोकी काली घटाओसे सूर्य भी छिप जाता है भीतो या तिजोरियोसे भूषण, रत्न, आदि छिपे रहते हैं, उसी प्रकार शक्तिरूपेण विद्यमान होरहे मति आदिकी का आवरण सम्भव जाता है। एक बात यह भी है कि मति आदिको के सर्वथा विद्यमान हानेका एकान्त माननेपर और मति आदिको के सर्वथा नास्तित्व का एकान्त माननेपर उनके क्षायोपशमिकपनेका विरोध हो जायेगा। वर्तमान कालके सर्वघातिस्पर्धकोका उदयाभाव यानी बिनाफल दिये हुये खिरजानारूप क्षय और आगामी कालमें उदय आनेवाले सर्वघातिनिषेकोका वहा का वही उपशम बने रहना, तथा देशघाति प्रकृतियो का उदय हो जाना स्वरूप क्षयोपशमसे ही भाव उपजते हैं जो कि कथंचित् सत् और कथचित् असत् हैं। ज्ञानोसे सर्वथा रीते होरहे शब्द, अधकार, काजल, सूखेतृण, घी, तेल

आदिमें ज्ञानावरण कर्मोंका क्षयोपशम नही सम्भवता है तथा ज्ञानसे भरपूर होरहे केवलज्ञानी आत्मामें भी ज्ञानावरण का क्षयोपशम नही है। यो कथचित् सत् होरहे ही ज्ञानोका आवरण होना संभवता है।

अर्थातराभावाच्च प्रत्याख्यानावरणवत्। यस्योदये ह्यात्मनः प्रत्याख्यान परिणामो नोत्पद्यते तत्प्रत्याख्यानावरण न पुनरर्थांतरं प्रत्याख्यानमावृतस्याभावात्। तद्वदात्मनो यत्क्षयोशमे सति मतिज्ञानादिरूपतयोत्पत्तिस्तन्मत्याद्यावरणं न पुनरर्थांतरं मत्यादिज्ञानमावृतस्यासंभवात्।

दूसरी बात यह भी हैं कि जिस प्रकार महाव्रत स्वरूप प्रत्याख्यान कोई पिण्ड सरीखा आत्मामे नही रक्खा हुआ है जिसका कि आवरण करनेसे प्रत्याख्यानावरण कर्म माना जाय, किन्तु जिस प्रत्याख्यानावरण नामकर्मका उदय होनेपर आत्माके चारित्रगुणकी प्रत्याख्यानपरिणति नही उपजपाती है वह प्रत्याख्यानावरण कर्म है, इससे भिन्न फिर कोई प्रत्याख्याननामक पदार्थ नही है। यो आवरण किये जा चुके किसी छुपे हुये प्रत्याख्यानका अभाव है। अतः जैसे कोई अर्थान्तर नही होनेमे प्रत्याख्यानावरण अपना नियतकार्य करता हुआ कर्म माना गया है उसी के समान जिस कर्मका क्षयोपशम होतेसन्ते आत्माके चेतनगुणकी मतिज्ञानरूप परिणति करके उत्पत्ति हो जाती हैं वह मतिज्ञानावरण कर्म है। इसी प्रकार जिस (श्रुतज्ञानावरण आदि) कर्मका क्षयोपशम हो जानेपर आत्माकी श्रुतज्ञानादिरूप करके उत्पत्ति हो जाती हैं वह श्रुतज्ञानावरण आदि कर्म है। किन्तु फिर कोई मति आदिक ज्ञान अर्थान्तर नही रक्खा हुआ है, कारण कि आवरण किये जाचुके सद्भूत पदार्थका असम्भव है। भावार्थ पर्याय रूपसे विद्यमान होरहे ज्ञानका आवरण नही किया गया है। प्रथमसे ही शीतल वायुके झकोरोसे प्रसन्न होरहे पुरुष को जैसे पसीना नहीं आपाता है वा चेचकका अव्यर्थ टीका लगादेनेपर मातायें नही निकलती है, भूंकसे प्रथम ही डटकर खाजानेवाले आतुर धनाढ्यको भूंक लगाती ही नही है उसी प्रकार ज्ञानावरणका उदय होते सन्ते प्रथमसे ही ज्ञान नही उपजपाता है। हाँ पुरुषार्थद्वारा उसका क्षयोपशम या क्षय करदेनेपर ज्ञान उत्पन्न हो जायेगा अतः कथचित् सत्, असत् ज्ञानोका आवरण कह रहे कर्म सिद्ध हो जाते है।

अपर आह—अभव्यस्योत्तरावरणद्वयानुपपत्तिस्तदभावात्। न च, उक्तत्वात्। किमुक्तमिति चेत्, आदेशवचनात् सतश्चावरणदर्शनात् भावांतराभावाच्चेति। द्रव्यार्थादेशात् सतोरपि मनःपर्यय केवलज्ञानयोरावरणोपगमे स्याद्वादिनां नाभव्यस्य भव्यत्वप्रसंगः कदाचित्तदावरणविगमासंभवात्। पर्यायार्थादेशादसतोरपि तयोरावरणघटनादुत्पत्तिप्रतिबन्धिनोऽप्यावरणत्वप्रसिद्धेः तयोरभव्यादर्थांतरयोरभावाच्च न कश्चिद्दोषः।

यहाँ कोई दूसरा विद्वान् एक शकाको बहुत अच्छे ढगसे कह रहा है कि अभव्य जीव के परली बाजूके मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण ये दोनो आवरण नही बनते हैं। क्योकि जब अभव्यके सर्वदा पहिला ही गुणस्थान होता है तो छठेसे ऊपर बारहवे गुणस्थानतक सम्भवनेवाला मनःपर्ययज्ञान और तेरहवेमे ऊपर पाये जारहे केवलज्ञान के होनेकी योग्यता ही नही है, ऐसी दशामे उन दोनो ज्ञान पर्यायोका अभाव हो जानेसे फिर किनको आवरण कर रहे, दो परली ओर के आवरण कर्म मान लिये जाय ? बताओ। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना। क्योकि हम इसका उत्तर कह चुके हैं। पुन वह पूछे कि इसका उत्तर क्या कहा जाचुका है ? बताओ। यो किसी विस्मरणशीलका बलात्कारसे प्रश्न उठने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि अभी जो आदेशवचन से समाधान किया जाचुका है, स्वल्पकाल पहिले ही द्रव्यदृष्टिसे सत्का आवरण देखा जारहा कह दिया है और पर्यायदृष्टिसे कोई वहा मनःपर्यय ज्ञान या केवलज्ञान भावान्तर विद्यमान नहीं है यह भी बतला दिया है। प्रत्याख्यानावरणका दृष्टान्त देकर "अर्थान्तराभावाच्च" कह दिया है। द्रव्यार्थिकनय अनुसार कथन करनेसे विद्यमान होरहे भी मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञानका आवरण हो जाना स्वीकार लेनेपर स्याद्वादियोके यहा अभव्यको भव्यपन का प्रसग नही आजावेगा क्योकि कदाचित् भी यानी तीन काल मे भी उन दोनो आवरणोके क्षयोपशम या क्षय हो जानेका असम्भव हैं। अर्थात् अभव्य के सर्वदा उक्त दोनो कर्मोके सर्वघाति स्पर्धकोका तीव्र उदय रहता है। पर्वतो के नीचे दबी हुई मट्टीमे घट बननेकी शक्ति है तथापि उससे घट बनता नही है। चाकके ऊपर रक्खी हुई मट्टी और अगाध समुद्र के नीचे दबी हुई मट्टीका जाति अपेक्षा कोई भेद नही है। इसी प्रकार अभव्य और भव्यके चेतना गुणोमे कोई विजातीय अन्तर नही है। दोनो ही गुण कारण मिलजानेपर और प्रतिबधकोके हट जानेपर केवलज्ञानरूप हो सकते हैं। भोगभूमि या स्वर्गके कल्पवृक्षोकी शाखा का दण्ड भी घट को बनानेकी योग्यतारूप कारणता को धारता है। किन्तु प्रतिबधकोके नही हटनेसे वह फलोपधायक नही हो सकता है। जिससे कि वैशेषिको के मत अनुसार "स्वजन्यभ्रमिजन्यकपाल-द्वयसंयोगवत्व" सम्बंध करके घटका अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती कारण हो सके। किन्तु अभव्य जीवके सर्वदा दोनो आवरण लगे रहते है, अत अभव्यका चेतनागुण उन दो पर्यायोस्वरूप नही परिणाम सकता है। तथा पर्यायार्थिकनय अनुसार कथन कर देनेसे असत् होरही भी उन दोनो मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान पर्यायोका आवरण होना घटित हो जाता है। क्योकि उत्पत्तिका प्रतिबध कर रहे पदार्थको भी आवरणपना प्रसिद्ध है। ज्वरके प्रथम ही ज्वरोपशमक

औषधिके खालेनेपर ज्वरका आवरण हो जाता है। छत या डेरे के भीतर वृष्टिजल या घामका आवरण होरहा है। एक बात यह भी है कि जो कि कही जाचुकी है कि अभव्य आत्मासे सर्वथा भिन्न होरहे उन मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान का अभाव हैं अर्थात् अभव्यमें कोई दो पर्याये भिन्न पडी हुई नही है, जिनका कि आवरण दोनो कर्म करते रहे किन्तु दोनो आवरणो का सतत प्रकृष्ट उदय होते रहनेसे अभव्य आत्माका मन.पर्ययज्ञानरहितपन और केवलज्ञान रहितपन इन दो स्वभावोसे तदात्मक एकरस परिणमन होता रहता हैं। अतः स्याद्वादसिद्धान्त अनुसार कोई भी दोष नही आता है।

न च मन.पर्ययादिसदसत्त्वमात्रात् द्रव्यतो भव्येतरविभागः। किं तर्हि ? सम्यक्त्वादिव्यक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वविकल्प, कनकेतरपाषाणवत्। न च ज्ञानावरणोदयादज्ञोतिदुःखितस्ततोनादिरेव परमनिवृत्तिरिति दर्शनमुपपन्न। कुतः पुनर्मत्याद्यावरणसिद्धिरित्याह;-

निर्णय इस प्रकार है कि मन.पर्यय आदिके केवल द्रव्यार्थिकनय अनुसार सत्त्वमात्रसे भव्यपनका और मन पर्यय, केवलज्ञानोके असद्भावसे अभव्यपनका द्रव्यरूपेण विभाग नही है। क्योकि अनेक दूरभव्य जीव भी मनःपर्यय और केवलज्ञान को नही पासकेगे ऐसा सिद्धान्त है। अभव्यका द्रव्य भी मन पर्यय, केवलज्ञान शक्तियोसे तन्मय है। फिर भव्यपन और अभव्यपनका विभाग किस प्रकार है ? इस प्रश्नका उत्तर यों हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि पर्यायोकी व्यक्ति हो जानेके सद्भावसे भव्य नामका विकल्प निर्णीत है और सम्यग्दर्शन आदिकी व्यक्ति नही होनेके कारण अभव्यपनका विकल्प व्यवस्थित है, जैसे कि कतकपाषाण और अन्धपाषाण है। स्वर्णपाषाणमे विद्यमान होरहे सुवर्ण की प्रयोगोद्वारा अभिव्यक्ति हो जाती है और अत्यन्त गूढ होरहे सोनेको शक्तिरूपेण धार रहे अन्धपाषाणमे से सहस्त्रो प्रयोग करनेपर भी स्वच्छ सोना नही निकलपाता है। अग्नि, जल, पात्रका निमित्त मिल जानेपर मूग सीझ जाती है किन्तु सेकडो मन लक्कड़ जलानेपर भी टोरा मूग नही पकती है। इसी प्रकार जिस जीवके सम्यग्दर्शन आदि पर्यायोके व्यक्त होनेकी योग्यता है, वह भव्य है और जिसके सम्यग्दर्शनादि की अभिव्यक्ति की योग्यता नही है वह अभव्य है। शक्तिरूपेण मन पर्ययके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा करके भव्य, अभव्यका विकल्प नही है "भवितु योग्यो भव्यः" यो भविष्यकालमे रत्नत्रयकी व्यक्ति योग्य हो जानेके अनुसार भव्यत्व है। अभव्यके कदाचित् भी औपशमिक सम्यग्दर्शनकी प्रकटता नही हो पायेगी। इस ससारी जीवके अनादिसे ज्ञानावरणका उदय होनेसे बारहवे गुणस्थानतक अज्ञानभाव

छा रहा है। अतः ज्ञानावरण का सतत उदय बना रहनेसे अज्ञानी जीवकी ज्ञानसामर्थ्य नष्ट हो गई है, अच्छी स्मृतियोका लोप होजानेसे धर्ममार्ग के सुनने में जीवका उत्साह नही है यों ज्ञानके अनादरसे किये गये बहुत दुःखो का जीव भोग रहा है, कल्याणमार्ग में लगानेवाला प्रधान कारण ज्ञान ही है। जब ज्ञानावरण कर्मसे ज्ञान गु णही लुप्तप्राय हो गया है तभीतो अनादि कालसे महान दु.खो को भोग रहा है। तिस कारण सिद्ध होता है कि यह अज्ञान, अतीव दुःखी जीव अनादि कालसे ही कर्मबद्ध है। जो कोई सांख्यमती पण्डित जीवकी अनादिकालसे ही परमनिवृत्ति यानी मोक्ष होरही स्वीकार कर रहे हैं, इस प्रकार उन कापिलोका दर्शन युक्तिसिद्ध नही है। कनकपाषाण और अन्धपाषाण के दृष्टान्तद्वारा जीवको अनादिबंधनबद्ध सिद्ध किया जाचुका है। यहा श्रीविद्यानन्द महाराजके प्रति किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि जीवके उक्त सूत्र अनुसार मति आदि ज्ञानो के आवरणोकी भला किस प्रमाणसे सिद्धि हो जाती है ? बताओ। इस प्रकार विनीत शिष्यकी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार इस अग्रिमवार्तिक को कहे देते है।

मत्यादीनां हि पंचानां ज्ञानानां पंचवेदितं
कर्मावरणमन्यस्य हेतोर्भावेप्यभावतः ॥१॥

मति आदिक पाच ज्ञानोंके आवरण करनेवाले कर्म पाच ही उक्त सूत्रमें, निवेदन किये जाचुके ठीक हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि अन्य बहिरंगहेतुओंके होने पर भी मति आदिक ज्ञानो की उत्पत्तिका अभाव है अर्थात् कतिपय सेठों, राजाओ या पण्डितो के पुत्रो के निकट धन अध्यापक, पुस्तकें, विद्यालय आदि सामग्रियोंके होते हुये भी उनको विशेष विद्वत्ताकी प्राप्ति नही होती देखी जती है। अतः ज्ञानो का आवरण करनेवाले अव्यभिचारी कारण अतरग पौद्गलिककारण होरहे कर्मोकी सिद्धि हो जाती है "दृष्टकारणव्यभिचारेऽदृष्टकारणसिद्धिः" प्रत्येक कार्यकी नियतनिष्पत्तिमे नियत कारण होना ही चाहिये।

सत्यप्यात्मन्युपादानहेतौ कालाकाशादौ समाने विषये च योग्यदेशवर्तिन्याहार परोपदेशाभ्यासादौ च कस्यचिन्मत्यादिज्ञानविशेषाणामभावात्। ततोन्यत्कारणमदृष्टमनुमीयते तत्तदावरणमेव भवितुमर्हतीति निश्चयः॥

उक्त कारिकाका विवरण यो है कि ज्ञानके उपादानकारण माने गये आत्माके होते सन्ते तथा काल आकाश, पुस्तक, आदि निमित्त कारणोके समान होते हुये भी और योग्य देशमें वर्तरहे अवलम्ब कारण विषयके होते हुये, एवं आहार करना, परोपदेश प्राप्ति, अभ्यास

करना, सहपाठियोके साथ परामर्ष करना आदि उपयोगी कारणोंके मिलजाने पर भी किसी किसी मन्दबुद्धि पुरुषके मति, श्रुत, आदि ज्ञानोकी विशेष व्युत्पत्तियोका अभाव देखा जाता है। किसीकी अन्यज्ञानवृद्धि देखी जाती है। अत अनुमानद्वारा निर्णीत किया जाता है कि उन उक्त कारणोसे न्यारा कोई अदृष्ट यानी पौद्‌गलिक कर्म ही ज्ञानका विघातक लग रहा है वह कर्म हो उन ज्ञान आदिकोका आवरण होने योग्य है। प्रतिभाशालियोके यहा यह सिद्धान्त निश्चित हो जाता है। कितने ही विद्यार्थी ज्ञानवर्धक कारणोके मिलजाने पर भी व्युत्पत्ति-शून्य देखे जाते हैं, और अनेक छात्र स्वल्पकारणो द्वारा ही विशेष विद्वत्ता को प्राप्त करलेते है, मानो ज्ञान भण्डार की ताली मिलगई। अतः अतरग कारण होरहे कर्म या कर्मोके क्षयोपशमका अनुमान हो जाता है "कार्यानुमेयानि कारणानि भवंति"।

अथदर्शनावरणं, नवभेदं कथमित्याह,–

ज्ञानावरणकी उत्तर प्रकृतियोके भेद समझलिये, इसके अनन्तर अब दर्शनावरण कर्मके नौ भेद किस प्रकार है? ऐसी प्रतिपित्सा प्रवर्तनेपर सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे है, दत्तचित होकर सुनिये या पढिये।

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्रा प्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ।७।

चक्षुर्दर्शनका आवरण १ अचक्षुर्दर्शनका आवरण २ अवधि दर्शनका आवरण ३ और केवलदर्शनका आवरण ४ निद्रादर्शनावरण ५ निद्रानिद्रादर्शनावरण ६ प्रचला दर्शनावरण, प्रचलाप्रचला दर्शनावरण ८ तथा स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण ९ ये दर्शनावरण कर्मकी नौ उत्तर प्रकृतिया है। भावार्थ, चाक्षुप मतिज्ञान के पूर्व चक्षुद्वारा होनेवाले सामान्य आलोचनका आवरण करनेवाला चक्षुदर्शनावरण है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र और मन इन्द्रियोद्वारा उपजनेवाले मतिज्ञानके पूर्व होनेवाले महासत्तालोचक अचक्षुर्दर्शनका आवरण करनेवाला अतरंग कारण अचक्षुर्दर्शनावरण कर्म है। अवधि ज्ञानके प्रथम होनेवाले आलोचक अवधि दर्शनको रोकदेनेवाला अवधि दर्शनावरण कर्म है, केवलज्ञानके साथ होनेवाले महासत्तालोचक केवलदर्शन का सर्वघाति केवलदर्शनावरण कर्म है, विवेकपूर्ण सत्यार्थ पदार्थों के ज्ञानके कारणभूत दर्शनका पाचो निद्राये आवरण कर देती है अत. निद्राओके सम्पादक पौद्‌गलिक कर्म भी सर्वघाती दर्शनावरण कर्म है। मद, खेद, परिश्रमोके निवारणार्थ विनोद के लिये सोजाना निद्रा है, निद्रा आजाने पर गमन करता हुआ खडा हो जाता है फिर गिर पडता है इत्यादि क्रियाये करता है। निद्रानिद्रा कर्मका उदय हो जानेसे सावधान किया

गया भी आँखो को नही उघाड सकता है नीदमे ही नाना वातें कहने लग जाता है। आखे उघाडते हुये ही नीदको रक्तिमा आँखोमे आकर थोडा आलस्य आजाना, थोडा थोडा ज्ञान रहते भी वार वार शीघ्र सोजाना, जगजाना प्रचला है। यह नीद सर्वमे श्रेष्ठ है। तथा सोते हुये लार वहने लगजाय, अंग उपाग चलने लगजाय, वडे वडे खुर्राटे आवे वह नीद प्रचला-प्रचला है। स्वप्नमे भी जिससे वीर्यविशेषका प्रादुर्भाव होकर सोता हुआ ही जीव अनेक रौद्रकार्योको कर आवे, अटसट वोले भी फिर भी सावचेत नही होय, पुनः गाढा सोजाय, ऐसी स्त्यानगृद्धि को करनेवाला स्त्यानगृद्धि दनर्शनावरण है। दर्शनावरण कर्म आत्माके चेतना गुणकी आलोचनापरिणति को रोकता है। यह आलोचनापरिणति ज्ञानसे भिन्न है। प्रमाणनय स्वरूप नही है। मिथ्याज्ञान स्वरूप भी नही है आलोचनामे मिथ्या या सम्यक् भेद नही पाये जाते हैं। "दसणपुव्वं णाणं छद्मुमत्थाणं" मतिज्ञान और अवधिज्ञानके अव्यवहित पूर्वमे दर्शन होता है। हाँ यदि इन ज्ञानोकी कुछ देरतक धारा चलती जाय तो सबसे पहिला हुआ दर्शन ही काम देगा कैसे कि अवग्रह ज्ञानके प्रथम दर्शन हो गया अब ईहा, अवाय-धारणा नामक मतिज्ञानोमे प्रत्येक के लिये पूर्वमे दर्शनकी आवश्यकता नही है। कोई मनुष्य पाच मिनट तक यदि किसीके रूपको ही देखता रहा या रस ही चाटता रहा अथवा शब्द ही सुनता रहा तो पाच मिनटो मे धारारूपसे हुये सेकडो उपयोग आत्मक चाक्षुष मति-ज्ञान, रासनप्रत्यक्ष, श्रोत्रजमतिज्ञानो मे फिर प्रत्येक के लिये पूर्ववर्ती दर्शनका होना अनिवार्य नही है। दो मिनट या पाच मिनट तक होरहे दुर्ध्यान या धर्मज्ञानरूप हजारो लाखों श्रुतज्ञानो मे भी प्रत्येक के लिये पूर्वमे दर्शन होना आवश्यक नही हैं। हा श्रुतज्ञान और मन पर्यय ज्ञानके व्यवहित पूर्वमे दर्शन होता है। कारणकि इन दो ज्ञानोके प्रथम मतिज्ञान होता है और मतिज्ञानके पहिले दर्शन होताही हैं कही धारारूपेण कतिपय श्रुतज्ञान हो जाते हैं और उनके पूर्व अनेक मतिज्ञान प्रवर्त चुके रहते है हाँ उन सबके पहिले एक दर्शन हो चुका पाया जाता है। कुमति कुश्रुतज्ञानपूर्वक हुये विभग् ज्ञानके प्रथम भी दर्शन नही होता है। केवलज्ञानके साथमे ही केवलदर्शन होता है जिसका कि फल त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थोकी महासत्ताका युगपत् आलोचन करना है। जो कि ज्ञानावरणका क्षय हो जानेपर धाराप्रवाहसे सतत प्रवर्त रहे केवलज्ञानरूप सूर्यके महान् प्रकाशमे सम्मिलित है।

चक्षुरादीना दर्शनावरण संबधाभ्देदनिर्देशः चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां दर्शनावरणानीति। मदखेदक्लमविनोदार्थ स्वापो निद्रा, उपर्युपरि तद्वृत्तिर्निद्रानिद्रा। प्रचनयत्यात्मानमिति प्रचला, पौन पुन्येन सैवाहितवृत्तिः प्रचलाप्रचला, स्वप्ने यथा वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः स्त्याने स्वप्ने गृध्यति दीप्यते रौद्रबहुकर्म करोति यदुदयादित्यर्थ.।

चक्षु आदिक यानी चक्षु , अचक्षु :, अवधि, और और केवल इन चार पदोका पष्ठी विभक्तिद्वारा भेदरूपसे कथन करना तो दर्शनावरण कर्मके संबंधसे किया गया है, अतः चक्षुका दर्शनावरण, अचक्षुका दर्शनावरण,अवधिका दर्शनावरण और केवलका दर्शना-वरण यो भेदनिर्देश है। परिश्रम, भोजन, आदि करके उपजे मदखेद और ग्लानिका निवारण करते हुये विनोद के लिये सो जाना निद्रा है। उस निद्राकी अधिक रूपसे ऊपर ऊपर वृत्ति होना निदानिद्रा है। जो नीद आत्मा या आत्मप्रदेशोको चलायमान कर देती है इस कारण यह अच्छी नीद प्रचला कही जाती है। यह शोक, श्रम, मद, आदिसे उत्पन्न होती है। प्रीतिका कारण है। बैठे हुये या चलते हुये मनुष्य, पशु, पक्षियों के नेत्र, शरीर के मन्थर या सालस विकारों करके सूचित कर दी जाती है। वह प्रचला ही यदि फिर फिर करके आवृत्तिको प्राप्त हुई वृत्ति को धार लेती है बारबार आती है वह प्रचलाप्रचला है। स्वप्नमे जिस प्रकाण्ड निद्रा करके बलविशेष प्रकट हो जाता हैं वह स्त्यानगृद्धि है "स्त्यै स्वप्नसंघातयोः"धातुसे स्त्यान शब्द बनालिया जाता है। धातुओके अनेक अर्थ होते हैं अतः स्त्यै धातुका अर्थ यहा स्वप्न, समझलिया जाय, गृद्धिका अर्थ दीप्ति है। "गृधु अभिकाक्षायां,, धातुका दीप्ति अर्थ करलिया-जाय, स्त्यान यानी स्वप्नमे गृध्यति यानी उद्दीप्त हो जाता है जिस स्त्यान गृद्धिकर्मके उदयसे यह जीव वेहोशीम अनेक प्रकार के भयावह रौद्र कर्म कर डालता है। यह इस स्त्यानगृद्धिका परिभाषिक अर्थ हुआ विशेष यो है कि यहाँ वहाँ का स्मरण कर अटसट पदार्थोंका ज्ञान जो स्वप्नमे होता रहता है वह निद्रासे मिली हुई स्वप्नोकी भ्रान्त अवस्था न्यारी है। सत्यस्वप्न भी वस्तुत. भ्रमज्ञान ही है, उनका फल सत्य होजानेसे स्वप्नोमे सत्यपना उपचरित है, स्वप्न अवस्थामे निद्रा, कुज्ञान, ज्ञानाभाव स्मरणाभास, प्रत्यक्षाभास इनको मिश्रण परिणति सुषुप्ति अवस्था न्यारी हैं।

नानाधिकरणाभावाद्वीप्सानुपपत्तिरिति चेन्न, कालादिभेदेन तद्भेदसिद्धिः, पटुर्भवान् पटुरासीत् पटुतर एव स इति। तथा देशभेदादपि मथुरायां दृष्टस्य पुनः पाटलिपुत्रे दृश्यमानस्य तत्त्ववत्। तत्रैकस्मिन्नप्यात्मनि कालदेशभेदात् नानात्वभाजिवीप्सा युक्ता निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचलेति। आभीक्ष्ण्ये वा द्वित्वप्रसिद्धिः यथा गेहं गेहमनुप्रवेशमास्त इति।

यहाँ कोई तर्की शका उठाता है कि अनेक अधिकरणो को विषय करनेवाली वीप्सा हुआ करती है जैसे कि वृक्ष वृक्षं प्रति सिचति" "गृह गृह प्रति विद्योतते विद्युत्"वृक्षवृक्षको सीच रहा है, प्रत्येक घर के ऊपर विजली चमक रही हैं। यहाँ नाना अधिकरणोके होनेपर वीप्सा होसकी है किन्तु निद्रानिद्रा, या प्रचलाप्रचला तो एक ही आत्मामे वर्त रही हैं। अतः

निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचला यह पदप्रयोग साधु नही वन सकता है। अनेक अधिकरण नही होनेसे यह वीप्सा नही सम्भवती है? ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना। क्योकि काल, देश, अवस्था, आकृति आदि भेद करके उस एक वस्तुके भी भेद सिद्ध हो जाते हैं, आप पटु हैं, पहिले भी पटु ही थे वही अब अत्यधिक दक्ष हो, यो काल भेदसे एक ही व्यक्तिमे पटुकी वीप्सा हो जाती है, तथा देशभेदसे भी एक ही व्यक्तिमे वीप्सा घट जाती हैं 'पहिले मथुरामें देखा गया था वही पुरुष अब पटनामे देखा जा रहा है कि यहा तुम दूसरे ही हो गये हो, उस पुरुषका जैसे देश भेद अनुसार उस वीप्सा का वन जाना घटित हो जाता हैं उसी प्रकार कालभेद और देशभेदसे अनेकपनको धारण कर रहे उस एक आत्मामे भी निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचला यो वीप्सा बन जाना समुचित है अथवा अभीक्ष्यपन यानी वारवार वर्तनेकी विवक्षा करनेपर निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचला यो दोपना प्रसिद्ध हो जाता है जैसे कि वारवार प्रवृत्ति करनेपर घर घर मे पीछे पीछे प्रवेश करता हुआ ठहरता है। यहा गेह गेह इसमे अभीक्ष्णता में द्वित्व हुआ है।

निद्रादिकर्मसद्वेद्योदयात् निद्रादिपरिणामसिद्धिः। निद्रादीनामभेदेनाभिसंबध-विरोध इति चेन्न विवक्षातः सबंधात्।

निद्रा आदि कर्म और सद्वेद्यकर्म के उदय से आत्मा के निद्रा आदि परिणामो की सिद्धि हो जाती है। नीद के आ जाने पर शोक, ग्लानि आदि का विनाश हो गया देखा जाता है रोग भी न्यून होता है। अतः अतरगमे सद्वेदनीय कर्म का उदय हो रहा स्पष्ट रूप से जान लिया जाता है। सोते समय असद्वेदनीय का मन्द उदय है, हां क्लोरोफार्म सूघना, मूछित हो जाना आदि अवस्थाओ मे असद्वेद्य का तीव्र उदय है अर्थात् पापप्रकृति मानी गयी निद्रा के साथ पुण्यप्रकृति सातावेदनीय लगी हुई है। यो तो शिकार खेलना, अब्रह्मसेवना, द्यूतक्रीडा आदि करते समय भी कपायवान् जीवोको आनन्द आता है। बात यह है कि घातिकर्म माने गये स्त्रीवेद, पुवेद, निद्रा, हास्य, रति इन कर्मों के उदय के साथ सातावेद-नीय का उदय सहचरित है। श्वेताम्बरो ने हास्य आदि को पुण्यप्रकृतियोमे गिना है वह प्रशस्त मार्ग नही है। सूत्र मे कहे गये निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यान गृद्धि की अनुवृत्ति किये जा रहे दर्शनावरण के साथ अभेद करके सवन्ध कर लेना चाहिये। यहा कोई शका उठाता है कि चक्षु आदि चार का षष्ठी विभक्ति अनुसार दर्शनावरण के साथ भेदनिर्देश लिया गया है और निद्रा आदि पाच के साथ प्रथमाविभक्ति अनुसार अभेद निर्देश किया गया है यो एक ही दर्शनावरण की अपेक्षा कर भेद और अभेद करके संबंध

किया जाना विरुद्ध पडता है। नौऊ का भेद करके षष्ठी विभक्तिवाला संबंध करना चाहिये, भेद होने पर षष्ठी विभक्ति हो जाती है। अतः निद्रा आदि पाच का अभेद करके विधेयदल की और दर्शनावरण के साथ संबध कर देनेसे विरोध दोष आता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना। क्योंकि वक्ता के कथन करने की इच्छा से सबंध हो जाता है "विवक्षात कारकप्रवृत्ते" एक सूत्र के दो, तीन, वाक्य बनाकर विवक्षा के वश से भेद और अभेद करके सबध हो जाने का कोई विरोध नही है।

चक्षुरचक्षुर्दर्शनावरणोदयाच्चक्षुरादींद्रियालोचनविकल', अवधिदर्शनावरणोदयादवधिदर्शनविप्रयुक्तः, केवलदर्शनावरणोदयादनाविर्भूतकेवलदर्शनः, निद्रानिद्रानिद्रोदयात्तमोमहातमोवस्था, प्रचलाप्रचलाप्रचलोदयाच्चलनातिचलनभावः ॥ एतदेवाह--

चक्षुर्दर्शनावरणकर्म और अचक्षुर्दर्शनावरणकर्म के उदय से यह जीव चक्षुःइन्द्रिय और स्पर्शनइन्द्रिय, आदि द्वारा होने वाले आलोचन से रहित हो जाता है। तथा अवधिदर्शनावरणकर्म के उदय से अवधिदर्शन करके विशेषतया छोड दिया जाता है यानी कथमपि अवधिदर्शन नही होने पाता है। सर्वघाती हो रहे केवलदर्शनावरण के उदय से इस जीव के केवलदर्शन प्रकट नही होने पाता है। एवं निद्राकर्म के उदय से इस जीव के चेतनागुण की अधकार अवस्था हो जाती है और निद्रानिद्राकर्म के उदय से तो महान् अंधकार अवस्था उपज जाती है। प्रचलाकर्म के उदय से यह जीव चलायमान हो जाता हैं, बैठा हुआ भी घूमने, ओघने लग जाता है। शिर, हाथ, पाव, चल जाते है, देखता हुआ भी नही देखता है। अन्य चार निद्राओ की अपेक्षा इस प्रचला में सहचारी सातावेदनीय का उदय बढिया है। कतिपय पुरुषो को पलंग पर सो जाने की अपेक्षा बैठे ओघना बडा मीठा, सुखकर अनुभूत होता है। प्रचलाप्रचलाकर्म के उदय से अत्यन्त चलना या कंप परिणाम हो जाता है। बैठा हुआ भी अधिक चक्कर खाता है, सुई आदि करके त्रस्त किया गया भी कुछ नही समझता हैं, हाथ पात्रो को हला दो, खेच लो, आख खोलकर दिखा दो, तो भी होश मे नही आता है। पाचवी नीद स्त्यानगृद्धिकर्म के उदय से भयानक कर्म भी करते हुये सोते ही रहना प्रसिद्ध ही है। इस ही सूत्रोक्त रहस्य को ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा कह रहे है।

चतुर्णां चक्षुरादीनां दर्शनानां चतुर्विधं।
निद्रादयश्च पंचेति नव प्रकृतयोस्य ताः ॥ १ ॥

चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन आदिक चार दर्शनो का आवरण करने वाला चार प्रकार का दर्शनावरणकर्म है और निद्रा, निद्रानिद्रा आदिक पाच प्रकार का भी दर्शनावरण

कर्म है यो इस दर्शनावरणकर्म की वे सूत्रोक्त प्रसिद्ध हो रही नौ प्रकृतियां है इनको युक्ति-योसे भी सिद्ध कर लो।

चतुर्णां हि चक्षुरादिदर्शनानामावरणाच्चतुर्विधमवबोध्यं, तदाव्रियमाणभेद त् तद्भेदसिद्धे । निद्रादयश्च पच दर्शनावरणानीति भेदाभेदाभ्यामभिसबंधोत्राविरुद्ध एवेत्युक्तं ॥

चेतना गुण की, चक्षु, अचक्षु आदि परिणति होने वाले दर्शनो के आवरण करनेवाले होने से दशनावरण कर्म चार प्रकार का समझना चाहिये, कारण कि उन पौद्गलिक कर्मों करके आवरण किये जा रहे चार दर्शनो के भेद से उन आवरक कर्मों के भेद हो जाने की सिद्धि हो जाती है। ढके जाने वाले पदार्थो की गणना अनुसार ढकने-वाले पदार्थो का भेद मानना प्रतितिसिद्ध है। यो दर्शनावरण के चार भेद तो चेतनागुण की परिणतियो को ढकने के कारण हुये। तथा निद्रा, निद्रानिद्रा आदिक पाच प्रकार के दर्शनावरण कर्म अन्य भी है ये भी पांच कर्म उसी दर्शन परिणति का आघात करते हैं यो भेद और अभेद करके यहा सूत्र में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध रूपसे सबंध कर लिया जाता है, कोई विरोध नही पडता हैं। इस ही वात को सूत्रकार ने उक्त सूत्र मे स्पष्ट रूप से कह दिया है। भावार्थ–सूत्र के "चक्षुरचक्षुरवधिकेवलाना" इस षष्ठी विभक्तिवाले पद का दर्शनावरण पद के साथ भेदरूप करके अन्वय करना चाहिये और "निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धयश्च" इस प्रथमान्त पद का दर्शनावरण के साथ अभेद रूप से संबंध किया जाता है यो सूत्रोक्त सिद्धान्त अविरुद्ध वन रहा हैं। विवक्षा के वश से भेद और अभेद करके सबंध हो जाना सूत्रकार को अभीष्ट है। सिद्धान्तशास्त्र के अनुसार व्याकरणशास्त्रको चलाओ। शब्दानुसारी व्याकरण के अधीन इस वस्तुपरिणति प्रतिपादक सिद्धान्तशास्त्र को नही बनाओ।

अथ तृतीयस्योत्तरप्रकृतिबधस्य भेदप्रदर्शनार्थमाह,—

अब इस द्वितीय कर्मप्रकृति के उत्तर भेदो का निरूपण करने के पश्चात् तीसरे वेदनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियो के बध का भेदप्रदर्शन करने के लिये सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को स्पष्ट कह रहे हैं।

सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥

सातारूप से यानी स्वानुकूलरूप से वेदनेयोग्य फल को देनेवाला सद्वेद्य कर्म

और प्रतिकूल रूप से अनुभवने योग्य लौकिक दुखो का कर्ता असद्वेद्य कर्म यो वेदनीय कर्म की ये दो उत्तर प्रकृतिया है ।

यस्योदयाद्देवादिगतिषु शारीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यं, यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्य तदेवोपदर्शयति--

जिस पुण्य कर्म के उदय से देव, मनुष्य आदि गतियो मे शरीर संबधी और मनःसबंधी सुखो की प्राप्ति होती है वह सातावेदनीय कर्म है और जिसका फल ससारी जीवो को अनेक प्रकार के दुखो का देना है वह असाता वेदनीय कर्म है। उस ही सूत्रोक्त सिद्धान्त को ग्रन्थकार श्री विद्यानन्दस्वामी अगली वार्त्तिक द्वारा युक्तिसिद्ध करते हुये दिखला रहे है।

द्वेधा तु सदसद्वेद्ये सातेतरकृतादिमे.
प्रकृती वेदनीयस्य नान्यथा तद्व्यवस्थितिः ॥ १ ॥

निज को अनुकूल सुख प्राप्त हो जाना स्वरूप साता और इससे इतर स्व को प्रतिकूल हो रहे दुख का प्राप्त हो जाना स्वरूप असाता, इनके द्वारा भेद किया गया होने से वेदनीय कर्म की तो सद्वेद्य और असद्वेद्य ये दो प्रकार की प्रकृतिया इस सूत्र मे कही गयी हैं। अन्यथा यानी देखे जा रहे दूसरे प्रकारो से उन साता, असाताओ की व्यवस्था नही हो सकती है। अर्थात् सुख के कारण मिला देने पर भी किसी को दुःख व्याप रहा है तथा अन्य को दुःख के कारण मिलने पर भी अतरग मे सुख का अनुभव हो रहा है यो परिदृष्ट कारणो का सुख दुख देनेमे व्यभिचार हो रहा है, इस कारण अनुमान प्रमाण द्वारा सुख दुःख देने वाले अंतरंग कारण पौद्गलिक कर्मो की सिद्धि हो जाती हैं। यो वार्तिक मे सूत्रोक्त सिद्धान्त का युक्तिपूर्ण अनुमानप्रमाण बना दिया है।

अथ चतुर्थोस्योत्तरप्रकृतिबंधस्य भेदोपदर्शनार्थमाह;--

अब क्रम से प्राप्त हो रहे चौथी मूलप्रकृति माने गये मोहनीय कर्म के उत्तर प्रकृति बंध के भेदो का नातिसंक्षेप, नातिविस्तार, यो मध्यमरूपसे प्रदर्शन कराने के लिये सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे है। मोहनीय कर्म के यदि अतिसक्षेप से भेद किये जाय तो दो, तीन, भेदो द्वारा ही प्रकृष्ट बुद्धिवाले विद्वान् समझ जाते है और अतीव विस्तार से यदि मोहनीय के भेदो का निरूपण किया जाय तो शब्दो की अपेक्षा करोडो, अरबो, खरबो, भेद हो सकते है। कर्म के फल देने की अनुभाग शक्तियोका लक्ष्य कर भेद

करने से असंख्यात भेद हो सकते हैं और कर्मव्यक्तियो की अपेक्षा मोहनीय के अनन्त भेद हो सकते है जिनका कि लिखना ही अशक्यानुष्ठान हैं। अतः मध्यमरुचिवाले तत्त्व-जिज्ञासुओ के प्रति मध्यमरूप से भेदो का प्रतिपादन करना ही सूत्रकार महाराज का मुख्य प्रयत्न है।

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभय-जुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदा अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलन-विकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय तथा अकषाय वेदनीय एवं कषायवेदनीय इन संज्ञाओ को धारनेवाले यथाक्रम से तीन, दो, नौ और सोलह भेद, उस मोहनीय कर्म के हैं। प्रथम ही दर्शनमोहनीय के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और उन दोनों का मिला हुआ उभय सम्यङ्मिथ्यात्व ये तीन भेद है। चारित्र मोहनीय कर्म के अल्पकषाय रूप करके और कषाय रूप से वेदनेयोग्य अकषाय और कषाय ये दो भेद हैं तिन में ईषत् कषाय कर्म के हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद और नपुसक वेद ये नौ भेद हैं, तथा कषाय-रूपेण अनुभवने योग्य कषायकर्म के अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, और संज्वलन ये चार विकल्प होते हुये एक एक के क्रोध, मान, माया, और लोभ ये चार-चार भेद होकर कषायवेदनीय मोहकर्म के सोलह भेद हो जाते हैं। यो मोहनीय कर्म के सपूर्ण भेद अट्ठाईस हुये।

दर्शनादिभिस्त्रिद्विनवषोडशभेदानां यथासंख्येन संबधः। दर्शनमोहनीयं त्रिभेद। चारित्रमोहनोय द्विभेदं, अकषायवेदनीय नवविधं, कषायवेदनीय षोडशविधमिति। तत्र दर्शन-मोहनोय त्रिभेद सम्यक्त्व मिथ्यात्व तदुभयानीति। तद्बधं प्रत्येकं भूत्वा सत्कर्म प्रतीत्य त्रेधा।

इस सूत्र की आदि मे प्रयुक्त किये गये दर्शन आदि चार पदो के साथ तीन, दो, नौ और सोलह भेदो के वाचक पदो का यथासख्य यानी क्रम अनुसार संबंध कर लेना चाहिये। उस से यो अर्थ संपन्न हो जाता हैं कि दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रकार हैं और चारित्रमोहनीय कर्म के दो भेद हैं। नौ प्रकार वाला अकषाय वेदनीय है तथा कषायवेदनीय सोलह प्रकार का है। उन चारो मे पहिला दर्शनमोहनीय कर्म तो सम्यक्त्वप्रकृति और

मिथ्यात्वप्रकृति तथा उन दोनो की दहीगुड के समान मिली हुई जात्यन्तर सर्वघाती मिश्र-प्रकृति इस प्रकार तीन भेदोवाला है। वह दर्शनमोहनीयकर्म मात्र बन्ध के प्रति एकसख्या वाला होकर पुनः प्रथमोपशम सम्यक्त्वपरिणामो करके चक्की द्वारा कौदो के हुये तीन प्रकार टुकडो के समान तीन प्रकार का हो जाता है। अत सत्ता में विद्यमान हो रहे कर्मों की प्रतीति अनुसार अपेक्षा लगाने पर दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रकार हैं। जिस कर्म के उदय से जीव सर्वज्ञ प्रतिपादित सन्मार्ग से पराङ्मुख हो जाता है, सप्ततत्त्वो का श्रद्धान करने मे उत्सुक नही रहता है आत्मीय हित और अहित का सद्विचार नही कर सकता हैं वह मिथ्यात्व कर्म है। वही कर्म यदि शुभपरिणामो से कोदो की भुसी समान क्षीणशक्ति हो रहा सन्ता आत्मा के श्रद्धान को नही रोकता है, वह सम्यक्त्व नाम का पौद्गलिक कर्म है। वही मिथ्यात्व खण्ड कर्म यदि स्वल्प धोये हुये आधी क्षीण, अक्षीण, शक्तिवाले कोदो धान्य के समान उन जीवादि तत्त्वो के श्रद्धान, अश्रद्धान रूप परणतियो का संपादन करने योग्य होता है वह मिश्र प्रकृति है।

चारित्रमोहनीयं द्वेधा, अकषाय, कषायभेदात्। कषायप्रतिषेधप्रसंग इति चेत् न, ईषदर्थत्वान्नञः। अकषायवेदनीयं नवविध हास्यादिभेदात्। कषायवेदनीयं षोडशविध-मनतानुबंध्यादिविकल्पात्।

चारित्रमोहनीय कर्म अकषाय और कषाय इन भेदो से दो प्रकार है। यहाँ कोई शंका उठाता है कि अकषाय शब्द मे नञ् का अर्थ अभाव है, ऐसी दशा मे अकषाय कहने से कषाय का प्रतिषेध हो जाने का प्रसग आता है। अकषाय कोई कर्म नही हो सकता है। अकषाय तो आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है। अत. चारित्रमोहनीय कर्म का अकषाय नाम का भेद करना उचित नही दीखता, विरोध दोष है। अब ग्रन्थकार कहते है कि यह कटाक्ष तो नही करना, यहाँ नञ् अव्यय का अर्थ ईषत् यानी छोटा है अल्पकषायका जो कारण है वह अकषाय कर्म है। स्वल्पकषायरूपसे वेदने योग्य हो रहा अकषाय वेदनीय कर्म हास्य, शोक आदि के भेद से नौ प्रकार हैं। दूसरा कषायरूप से अनुभवने योग्य कषाय वेदनीय कर्म तो अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण आदि विकल्पो से सोलह प्रकारवाला है। हास्य और अनन्तानुबन्धी आदि कर्मों के लक्षण प्रसिद्ध ही है। आत्मा का सर्वथा व्यामोह यानी महामूढ अवस्था नही हो कर कषाय और अकषायरूप से चारित्र मोहनीय कर्म का वेदन होता रहता है। यही मोहनीय कर्म के पुन. वेदनीय रूप से अवान्तर भेद करने का अभिप्राय है। मिथ्यात्व कर्म तो आत्मा को सर्वथा मोहित कर देता है। जो सासादन

गुणस्थान के सिवाय सर्वदा दोषोत्पादन करता रहता हैं अत वह अनतानुबधी कर्म हैं। जो स्वल्प भी देशव्रत को नही करने देता है वह अप्रत्याख्यानावरण है। यह कर्म अणुव्रतरूप ईषत् प्रत्याख्यान का आवरण करता है। जो पूर्णसयम नामक प्रत्याख्यान का आवरण करे वे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ है। सयम के साथ भी जो एकार्थसमवाय-संबन्ध से आत्मा मे कर्मानुभव होता रहे अथवा जिन कर्मोंका उदय होनेपर भी सयम जाज्वल्यमान होकर चमकता रहे वे संज्वलन कर्म है। यो मोहनीय के अट्ठाईस उत्तर प्रकृतिबध को समझा दिया गया है।

कुतो मोहस्याष्टाविंशतिः प्रकृतयः सिद्धा इत्याह--

यहा कोई तर्कबुद्धि शिष्य आक्षेप करता है कि किस प्रमाण से मोहनीय कर्म की अट्ठाईस उत्तर प्रकृतिया सिद्ध होती है ? बताओ। प्रमाणो द्वारा सिद्ध किये विना वचन-मात्र से किसी परोक्ष तत्त्वकी सिद्धि नही हो सकती है। ऐसा आक्षेप प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अनुमानप्रमाण रूप उत्तरवार्तिक को कहे देते हैं।

दर्शनेत्यादि सूत्रेण मोहनीयस्य कर्मणः
अष्टाविंशतिराख्यातास्तावद्धा कार्यदर्शनात् ॥ १ ॥

" दर्शनचारित्रमोहनीय " इत्यादि सूत्र करके मोहनीय कर्म की अट्ठाईस उत्तर-प्रकृतिया गुरुपर्वक्रम अनुसार सूत्रकार महाराज ने कह दी है (प्रतिज्ञा) तितने प्रकार से कार्यो का दर्शन होने से (हेतु)। अर्थात् जितने प्रकार के कार्य देखे जायेंगे उतने प्रकार के अतरग कारणो का अनुमान कर लिया जाता है। तत्त्वार्थ अश्रद्धान आदि अट्ठाईस प्रकार के कार्यो के अतरग कारण कर्म अट्ठाईस होने ही चाहिये " कार्यलिगं हि कारणं "।

प्रसिद्धान्येव हि मोहप्रकृतीनामष्टाविंशतेस्तत्त्वार्थाश्रद्धानादीनि कार्याणि मिथ्यात्वादीनामिहेति न प्रतन्यते। ततस्तदुपलंभात्तासामनुमानमनवद्यमन्यथा तदनुपपत्तेर्दृष्ट-कारणव्यभिचाराच्च ॥

मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व आदि अट्ठाईस प्रकृतियो के तत्त्वार्थ अश्रद्धान, हंसना, क्रोध करना, आदिक कार्य इस लोक मे आबालवनिता मे प्रसिद्ध ही हैं। इस कारण उन मोहनीय कर्म के कार्यो का यहा विस्तार नही किया जाता है। तिसकारण उन कार्यों का उपलभ होने से उन मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियो का व्यभिचार आदि दोपरहित

अनुमानप्रमाण हो रहा है अन्यथा यानी मोहनीय के अट्ठाईस भेद माने विना उन उपलभ्य-मान अट्ठाईस कार्यो की सिद्धि नही हो सकती है, यो हेतु की साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति (व्याप्ति) बन रही है। एक बात यह भी हैं कि अन्य दृष्ट कारणो का व्यभिचार हो रहा है। भावार्थ–क्रोध, हास्य आदि के गाली, विदूषक आदि कारण मिलाने पर भी किसी धर्मात्मा पुरुष को क्रोध आदि नही उपजते है दूसरे को इन कारणो के विना भी क्रोध आदि भाव उपज जाते है। अत. क्रोध आदि के दृश्यमान गाली आदि को कारण मानने मे व्यभिचार दोष आता है। अतः अतरंगकारण कर्मो का मानना ही निर्दोष हैं।

अथायुरुत्तरप्रकृतिबंधभेदमुपदर्शयन्नाह;--

अब इसके अनन्तर आयु कर्म के उत्तर प्रकृतिबध के भेदो का प्रदर्शन कराते हुये सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे है।

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

जीवो के नरक मे उदय हो रही नारक आयु और तिर्यञ्च योनि के जीवोमे पाई जा रही तैर्यग्योन आयुः तथा मनुष्यो के मनुष्य भव करा रही मानुष्य आयु. एवं देवों मे सम्भव रही दैव आयुः, ये चार प्रकार पाचवे आयु कर्म की उत्तर प्रकृतिया है।

आयूषीति शेष.। नारकादिभवसंबधेनायुर्व्यपदेशः।

इस सूत्र मे उद्देश्यदल कठोक्त है, हाँ विधेयदल आयुय है। इतना शेष रह गया है उद्देश्यदल और शेष रहे विधेयदल का अन्वय लगाकर ये चार आयुये हैं यो अर्थ कर लिया जाता है। नारक आदिक या नारक आदि मे भवधारण के संबन्ध करके आयु का भी नारक आदि शब्द करके व्यवहार हो जाता है। "आऊणि भवविवाई" आयुष्य कर्म का भव से विपाक होता है। अतः जो भव का नाम है वही आयु का नाम उपचार से कह दिया है।

यद्भावाभावयोर्जीवितमरणं तदायु। अन्नादि तन्निमित्तमिति चेन्न, तस्योप-ग्राहकत्वात् देवनारकेषु चान्नाद्यभावात्।

जिस विशेष कर्म के उदयापन्न सद्भाव से आत्मा का ससार मे विवक्षित पर्याय युक्त होकर जीवन हो रहा है, और जिस उदयप्राप्त कर्म का अभाव होने पर ससारी जीव का मरण हो जाता है, वह आयु कर्म है। यहाँ कोई शंका करता है कि जीवित और

अथवा अपनी पर्याय के च्युत हो जाने के ज्ञापक चिन्ह हो रहे आज्ञाहानि और माला, गहनों, की कान्तिहीनता अथवा प्रकृष्ट पुण्यशाली देव, इन्द्र, नारायण, चक्रवर्ती द्वारा पराभव प्राप्त ही जाने से देवो के भी मानसिक दुःख प्रकट हो जाता है। इस बात को प्रायः शब्द ध्वनित कर रहा हैं।

कुत एतान्यायूषि सिद्धानीत्याह——

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि किस कारण से ये चारो आयुये युक्तिसिद्ध हैं ? बताओ। ऐसी अनुकूलतर्कवाले शिष्य की जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक द्वारा उत्तर कहते है।

नारकादीनि चत्वारि चायूंषि भवभेदतः।
सिद्धानि तदभावेस्य प्राणिनामव्यवस्थिते ॥ १ ॥

ससारी जीवो का नरक आदि चार भवो मे परिभ्रमण करना प्रमाणसिद्ध है इस भवधारण के भेदो से नरक आदिक चार आयुयें अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध हो जाती है। कार्य से कारण का अनुमान कर लिया जाता है। उन चार आयुःकर्मों के नही मिलने पर (विना) प्राणियो के इस नानाप्रकार भव धारण करने की व्यवस्था नही बन सकती है, यो हेतु और साध्य की अन्यथानुपपत्ति सिद्ध है।

अथ नामोत्तरप्रकृतिबंधभेददर्शनार्थमाह;——

पांचवें आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियो को गिना चुकने पर अब छठे नामकर्म के उत्तरप्रकृति बंध का भेदप्रदर्शन कराने के लिये सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसंस्थानसंहनन-स्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशस्कीर्ति सेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥

गति, जाति, शरीर, अंगोपाग, निर्माण, बंधन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास,

मरण के साथ तो अन्न, जल, आदि का अन्वय, व्यतिरेक, वन रहा है अन्न, जल, स्वच्छ वायु आदि का लाभ होने पर जीवन स्थिर रहता है और अन्न आदि के न मिलने पर या विप, रक्तक्षय, शस्त्राघात, आदि कारण मिल जाने पर ससारी जीव का मरण हो जाता है अत अन्न आदिक ही उन जीवित और मरण के निमित्त कारण है, अदृश्य आयु कर्म नही। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना, क्योकि वे अन्न आदिक तो केवल जीवन के सहायक हो सकते हैं प्रकृष्ट कारण नही है। दूसरी वात यह है कि देव और नारकी जीवो मे अन्न-भक्षण, जलपान आदि का अभाव है देवो के कवल आहार नही है, मानसिक आहार है नारकियो के नोकर्म आहार है। यहा लोक मे कितने ही मनुष्य, तिर्यंचो को अन्न, जल, औषधि, आदि के मिलने पर भी उनका जीवित स्थिर नही रहता है, मरण हो जाता है कुछ दिनो तक अन्न न खाने पर भी कतिपय उपवासी स्त्री, पुरुप, जीवित वने रहते हैं अत अन्वयव्यभिचार, व्यतिरेकव्यभिचार, प्राप्त हो जाने से अन्न आदि उस जीवित, मरण के कारण नही हैं हाँ कुछ मनुष्य तिर्यञ्चो के सहायक मात्र हो सकते हैं।

नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु यन्निमित्त दीर्घजीवनं तन्नरकायुः। क्षुत्पिपासा-शीतोष्णवातादिकृतोपद्रवप्रचुरेषु तिर्यक्षु यस्योदयाद्वसनं तत्तैर्यग्योनं। शारीरमानससुखदुःख भूयिष्ठेषु मनुष्येषु जन्मोदयान्मानुष्यायुषः। शारीरमानससुखप्रायेषु देवेषु जन्मोदयाद्दैवायुषः।

तीव्र शीत की वेदना और तीव्र उष्णता को वेदना को करनेवाले नरको में जिस निमित्त कर्म को पाकर दीर्घकाल तक भवधारण बना रहता है वह नरक आयुःकर्म है। पहिली, दूसरी, तीसरी और चौथी पृथिवियो में तथा पाचवी के पौन भागपर्यंत नार-कियो को अत्यन्त उष्णवेदना का दुःख है एव पाचवी के नीचले पाव भाग और छठी, सातवी, पृथिवियो मे नारकी जीवो को अत्यन्त शीत की बाधा का महान् दुःख है उष्ण वेदना से शीत बाधाका दुःख बढकर है। जिन तिर्यञ्च जीवो मे भूख, प्यास, शीतवेदना, उष्णवेदना, तीव्रवायु, वर्षा, डास, मच्छर आदि करके हुये उपद्रवो की बहुलता पाई जाती है उन तिर्यञ्च पर्यायो मे श्वास के अठारह वे भाग रूप अन्तर्मुहूर्त से प्रारम्भकर तीन पल्य तक अनेक जीवो का निवास करना जिस कर्म से होता है वह तैर्यग्योन आयु है। शरीर सबन्धी और मनःसवधी सुख दुःखोकी बहुलता को झेल रहे मनुष्यो मे जीवो का मानुष्य आयुके उदय से जन्म हुआ करता है। शारीरिक और मानसिक सुखो के बाहुल्य को धारने-वाले देवो मे जिस आयुके उदय से जन्म हुआ करता है वह दैवआयु समझना चाहिये। कभी कभी प्रिया के वियोग से या महान् ऋद्धि वाले देवो का ईर्षासहित निरीक्षण करने से

अथवा अपनी पर्याय के च्युत हो जाने के ज्ञापक चिन्ह हो रहे आज्ञाहानि और माला, गहनों, की कान्तिहीनता अथवा प्रकृष्ट पुण्यशाली देव, इन्द्र, नारायण, चक्रवर्ती द्वारा पराभव प्राप्त हो जाने से देवो के भी मानसिक दुःख प्रकट हो जाता है। इस बात को प्रायः शब्द ध्वनित कर रहा हैं।

कुत एतान्यायूषि सिद्धानीत्याह—

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि किस कारण से ये चारों आयुयें युक्तिसिद्ध है ? बताओ। ऐसी अनुकूलतर्कवाले शिष्य की जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक द्वारा उत्तर कहते है।

नारकादीनि चत्वारि चायूंषि भवभेदतः।
सिद्धानि तदभावेस्य प्राणिनामव्यवस्थिते ॥ १ ॥

ससारी जीवो का नरक आदि चार भवो मे परिभ्रमण करना प्रमाणसिद्ध है इस भवधारण के भेदो से नरक आदिक चार आयुयें अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध हो जाती है। कार्य से कारण का अनुमान कर लिया जाता है। उन चार आयुःकर्मो के नही मिलने पर (विना) प्राणियो के इस नानाप्रकार भव धारण करने की व्यवस्था नही बन सकती है, यो हेतु और साध्य की अन्यथानुपपत्ति सिद्ध है।

अथ नामोत्तरप्रकृतिबंधभेददर्शनार्थमाह;—

पाचवे आयुःकर्म की उत्तर प्रकृतियो को गिना चुकने पर अब छठे नामकर्म के उत्तरप्रकृति बंध का भेदप्रदर्शन कराने के लिये सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसंस्थानसंहनन-स्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशस्कीर्ति सेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥

गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बंधन, संघात, संस्थान, स्पर्श, रस, गध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत,

विहायोगति, ये इक्कीस प्रकृतिया हुयी, तथा प्रत्येकशरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशस्कीर्ति, ये दश प्रकृतिया है, ये दशो प्रकृतिया अपने इतर यानी प्रतिपक्षी प्रकृतियो से सहित है जो कि साधारणशरीर, स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, बादर, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय, अयशस्कीर्ति नाम की है। एवं अर्हन्तपने का कारण तीर्थकरत्व नामकर्म यो नाम कर्म की व्यालीस उत्तर प्रकृतिया है। गति चार प्रकार, जाति पाच प्रकार इत्यादि प्रभेदो अनुसार नाम कर्म के तिरानवै भेद भी है। अनेक प्रकार जानी जा रही सूरत, मूरत, वाणी, आदि अनेक कार्यजातियो की अपेक्षा असंख्यात भेद भी कहे जा सकते है।

कुत पुर्नारमे नाम्नः प्रकृतिभेदा समनुमीयंत इत्याह;—

यहा कोई युक्तिवादी प्रश्न उठाता है कि फिर यह बताओ कि नाम कर्म के ये उत्तरप्रकृतिभेद भला कैसे अनुमानप्रमाण द्वारा ज्ञात कर लिये जाते हैं? युक्ति रूपी कसौटी पर कसे विना आगम सुवर्ण की महिमा व्यक्त नही हो पाती है ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम कारिका द्वारा सूत्रोक्त सिद्धान्त को युक्ति से सस्कृत करें देते है। यद्यपि सूत्रकार महोदय ने सभी उक्त या वक्ष्यमाण सिद्धान्तो को युक्तिपूर्ण ही कहा है। फिर भी जिन पण्डितो को आगम वाक्यो मे भरी हुई युक्तिया नही ज्ञात हो रही हैं उन्ही युक्तियो को ग्रन्थकार निजनिर्मित वार्तिको द्वारा अभिव्यक्त करे देते है।

द्विचत्वारिंशदाख्याता गतिनामादयस्तथा।
नाम्नः प्रकृतिभेदास्तेऽनुमीयंते स्वकार्यतः ॥ १ ॥

सर्वज्ञ जिनेन्द्र ने जिसप्रकार कर्मसिद्धान्त का निरूपण किया है उसी प्रकार आम्नायानुसार सूत्रकार ने नाम कर्म की गतिनाम, जातिनाम, आदि ब्यालीस उत्तर प्रकृति-भेदो का अन्वाख्यान कर दिया है वे प्रकृतिओ के व्यालीसो भेद अपने-अपने द्वारा किये गये कार्यों से अनुमान द्वारा जान लिये जाते है। गमन होना, अगोपाग बन जाना, हड्डियो का जोड हो जाना, यश, अपयश प्राप्त होना, आदिक दृश्यमान कार्यो से कारणभूत अतीन्द्रिय कर्मो का अनुमान कर लिया जाता है। कर्मो के अतिरिक्त अन्य कारणो से गति आदि कार्यों की उत्पत्ति मानने मे अनेक व्यभिचार आदि दोप आते हैं।

यदुदयादात्मा भवांतर गच्छति सा गति । तत्राव्यभिचारिसादृश्यैकीकृतोर्थात्मा

जातिः । यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम, यदुदयादंगोपांगविवेकस्तदंगोपांगनाम, यन्निमित्ता परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणं ।

अब नामकर्म की प्रकृतियों मे से प्रत्येकका लक्षण लिखते हैं, प्रथम ही भवांतर को जाना, श्वास, उश्वास, लेते समय फूलजाना, सकुच जाना, आदि अनेक कार्यो को करने वाले गति कर्म का लक्षण कहते है। आत्मा जिस कर्म के उदय की पराधीनता से एक विवक्षित भवको छोड कर दूसरे भव को गमन करता है वह जीवविपाकी गति नाम का नामकर्म हैं उन–उन नरक आदि गतियो मे व्यभिचाररहित सदृशता करके एकीभूत कर लिया गया अर्थ आत्मक जाति कर्म है। यह कर्म एकेन्द्रिय, द्वि इन्द्रिय, आदि जीवो मे परस्पर सदृशता को बनाता रहता है। जिस कर्म के उदय से जोव के शरीरो की निष्पत्ति होती है वह शरीर नामकर्म हैं। जिस पौद्गलिक कर्म के उदय से सिर, पीठ, छाती, नितम्ब, दो हाथ, दो पांव ये आठ अंग और माथा, नाक, ओठ आदि उपांगों का पृथक्–पृथक् विन्यास होता हैं वह अगोपांग नामकर्म है। जिस कर्म के उदय को निमित्त पाकर स्थान और प्रमाण रूप से निर्माण की चारो ओर से सिद्धि कर दी जाती हैं वह निर्माण कर्म है।

शरीरनामकर्मोदयोपात्तानां यतोन्योन्यसंश्लेषणं तद्बंधनं, अविवरभावेनैकत्वकरणं संघातनाम ।

शरीर संज्ञक नाम कर्म के उदय होने पर ग्रहण कर लिये गये पुद्गलों का जिस कर्म के उदय से परस्पर मे भले प्रकार चुपक जाना होता हैं वह बंधन कर्म है। बंधन कर्म के उदय अनुसार वृक्ष की पीड से डाले, डालियां बधे रहते हैं, धड से बाहे, बाहों मे अंगुलिया बधी रहती है, बंधन के विना वालु के समान शरीर के अवयव सब विखर जाते, बिखरी हुई लकडियो के समान आपस मे जकडना नही हो सकता था, जो कि दृष्टिगोचर नही है। तथा जिस अतीन्द्रिय कर्म का उदय पाकर छिद्ररहितपन करके प्रदेशो का परस्पर एक दूसरे मे प्रवेश होकर एकम एकपना कर दिया जाता है वह सघात नामकर्म हैं। शरीर मे आवश्यक छिद्रो के अतिरिक्त व्यर्थ के छेदो का नही दीखना इसी कर्म के उदय का परिणाम है।

यद्धेतुका शरीराकृतिनिर्वृत्तिस्तत्सस्थाननाम, यदुदयादस्थिबंधनविशेषस्तत्संहननं, यदुदयात् स्पर्शरसगंधवर्णविकल्पाष्टपचद्विपंचसख्यास्तानि स्पर्शादिनामानि, यदुदयात्पूर्वशरीराकाराविनाशस्तदानुपूर्व्यनाम यन्निमित्तमगुरुलघुत्व तदगुरुलघु नाम ।

जिस नामकर्मविशेष को हेतु पाकर औदारिक आदि शरीरो के आकारो की निष्पत्ति होती है वह संस्थान नामक नामकर्म है। इस कर्म के उदय अनुसार ही शरीर की सुव्यवस्थित या अव्यवस्थित आकृतियाँ बन जाती है। एव जिस कर्म के उदय से हाडों का विशेषरूपेण बधना हो जाता है वह संहनन हैं। हाड, मास, चमडे को धारनेवाले जीवो का शरीर तो हाडो पर ही थंम रहा हैं हा एकेन्द्रिय जीव या देव, नारकियो, के शरीर मे विलक्षण दृढता जो है वह हाडो के बिना ही विलक्षण बंधन द्वारा हो जाती है। तथा जिन कर्मों के उदय से शरीर मे आठ प्रकार का स्पर्श, पांच प्रकार का रस, दो संख्यावाला गंध, और पाच संख्या को धारने वाला रूप बने वे स्पर्श, रस, आदि नामो को प्राप्त हुये नामकर्म है। इनके कर्कशनाम, तिक्तनाम, सुरभिगंधनाम, कृष्णवर्णनाम इत्यादिक बीस अवान्तर भेद है। तथा जिस कर्म के उदय से विग्रहगति मे आत्मा के गृहीतपूर्व शरीर की आकृति का विनाश नही होय वह आनुपूर्व्य नाम कर्म हैं जैसे कोई तिर्यञ्चजीव यदि नरक को जा रहा हैं उसके नरक आयु और नरक गति का उदय हो गया है, फिर भी नरकगत्यानुपूर्व्यकर्म अनुसार वह जीव विग्रहगति मे पहिली तिर्यञ्च शरीर की आकृति को बनाये रक्खेगा। तथा जिस नामकर्म को निमित्त पाकर शरीर लोहपिण्ड के समान भारी नही होवे और अकौआ की रुई के समान लघु भी न हो वह अगुरुलघुसज्ञक नामकर्म है। द्रव्यो मे अगुरुलघु नाम का एक सामान्य गुण भी है जो कि द्रव्य को द्रव्यातर या पर्याय को पर्यायातर नही होने देकर स्वकीय स्वभावो मे ही परिणमन कराता रहता है। दूसरा अगुरुलघु गुण सिद्धो मे गोत्रकर्म के अभाव से व्यक्त होता है। यह तीसरा शरीर मे विपाक करनेवाला अगुरुलघु नाम का पौद्गलिक नामकर्म है। जो कि शरीर को अतीव भारी और अतीव हलका नही होने देता है।

यदुदयात्स्वयंकृतोद्बंधनाद्युपघातस्तदुपघातनाम। यन्निमित्त परशस्त्राघातनं तत्परघातनाम यदुदयान्निर्वृत्तमातपन तदातापनाम यन्निमित्तमुद्योतन तदुद्योतनाम।

जिस कर्म के उदय से स्वयं किये गये ऊपर नीचे बधजाना, वायु के झकोरो से लिभिड जाना, नख, सीग, दात, आदि का अपने ही शरीर मे घुस जाना आदि प्रक्रियाओ से निज का उपघात होय वह उपघात नामकर्म है। तथा जिस पौद्गलिक कर्म को निमित्त पाकर परकीय शस्त्रो आदि करके आघात हो जाय वह परघात नामकर्म है, अन्य को घात करने वाले तीक्ष्ण सीग, नख, डाढ आदिक अवयव जिस कर्म के उदय अनुसार बने वह परघात अच्छा जचता है, तभी तो उपघात को पापप्रकृतियो मे और परघात को

पुण्यप्रकृतियों मे गिनाया गया हैं। एवं जिस कर्म के उदय से पर को आताप करने वाला शरीर निष्पन्न होवे वह आतप नामकर्म है। सूर्यविमान के नीचली ओर उत्पन्न हुये पृथ्वीकायिक जीवो का मूल मे उष्ण नही होकर परिणाम मे दूसरो को आताप करने वाला शरीर इस कर्म के उदय से बनता है। तथा जिस कर्म का निमित्त पाकर शरीर उद्योत रूप बन जावे वह पटवीजना, चमकनेवाली गिडार, आदि के शरीर के उद्योत का सम्पादक उद्योत नामकर्म है। चन्द्रबिम्ब के अधोभाग मे पाये जा रहे पृथ्वीकायिक जीवो के भी उद्योत नामकर्म का उदय है। आतप और उद्योत मे इतना ही अन्तर है कि मूल मे अनुष्ण और प्रभा मे उष्ण प्रतीत होने वाला आतप है तथा मूल या प्रभा दोनो मे शीत या अनुष्ण प्रतिभासित हो रहा उद्योत है।

यद्धेतुरुच्छ्वासस्तदुच्छ्वास नाम, विहाय आकाशं तत्र गतिनिर्वर्तकं विहायोगति-नाम, एकात्मोपभोगकारणं शरीर यतस्तत्प्रत्येकशरीरनाम, यतो बह्वात्मसाधारणोपभोग शरीरता तत्साधारणशरीरनाम।

जिस कर्म को हेतु मानकर श्वास और उच्छ्वास बन जाते है वह उच्छ्वास नामकर्म है। प्राणापान बनने मे उपादान कारण तो आहारवर्गणा नाम का पुद्गल है किन्तु निमित्तकारण यह कर्म है। इसी प्रकार अन्य कर्मों के निमित्तकारणपन का विचार कर लेना चाहिये। योगा हो रहे उपादानकारण को प्रकर्पशक्तिशाली निमित्तकारण यो ही नचाता फिरता है। निमित्तकारण की बडी भारी शक्ति है। विहायस् शब्द का अर्थ आकाश है उस आकाश मे गति का सम्पादन कराने वाला विहायोगति नामकर्म है। अर्थात् मनुष्य, देव, घोडे, हाथी, ऊट, सर्प, खटमल, जूँआ, लट आदि सभी जीव आकाश मे गमन करते हैं। ऊपरले भाग छाती मे स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा वेग को बढाकर इतर शरीर को आकाश मे घसीट ले जाते हैं। जैसे कि बैल गाडी या घोडागाडी बैल और घोडो द्वारा ऊपर भाग मे खीची जाती है नीचले पहिये तो उसी के साथ घसीट लिये जाते है। उसी प्रकार आकाश मे चल रहे शरीर के ऊपरले भाग के साथ ही नीचला भाग घसीटता हुआ चला जाता है। शरीर कर्म के उदय से बन रहा शरीर जिस कर्म के उदय से एक ही आत्मा के उपभोग का कारण बने वह प्रत्येकशरीर सज्ञक नामकर्म है, और बहुत आत्माओ के साधारणरूप से उपभोग का कारण शरीर जिस कर्म के उदय से बने वह साधारणशरीर नामकर्म है। साधारण शरीर को धारनेवाले अनन्तानन्त जीवो का आहार, श्वासोच्छ्वास लेना आदि साथ ही साथ होता रहता है।

यदुदयाद्द्वीन्द्रियादिषु जन्म तत्त्रसनाम, यन्निमित्तं एकेंद्रियेषु प्रादुर्भावस्तत्स्थावरनाम, यदुदयादन्यप्रीतिप्रभवस्तत्सुभगनाम। यदुदयाद्रूपादिगुणोपेतोप्यप्रीतिकरस्तद्दुर्भगनाम, यन्निमित्त मनोज्ञस्वरनिर्वर्तन तत्सुस्वरनाम, तद्विपरीत दु स्वरनाम, यदुदयाद्रमणीयत्वं तच्छुभनाम, तद्विपरीतमशुभनाम, सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तक सूक्ष्मनाम, अन्यबाधाकरशरीरकारणं बादरनाम, यदुदयादाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्तिस्तत्पर्याप्तिनाम षड्विधं, पर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तिनाम, स्थिरभावस्य निर्वर्तकं स्थिरनाम, तद्विपरीतमस्थिरनाम।

जिस कर्म के उदय से द्वीन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, आदि जीवो मे जन्म होवे वह त्रस नामकर्म है। और जिस पूर्वबद्ध पौद्गलिक कर्म को निमित्तकारण पाकर पृथ्वीकायिक आदिक एक स्पर्शनइन्द्रियवाले जीवो मे जन्म प्राप्त किया जाय वह स्थावर नामकर्म है। विरूप आकृतिवाला होता सन्ता भी जिस कर्म के उदय से स्व मे अन्य जीवो को प्रीति का उत्पादक हो जाय वह सुभग नामक नामकर्म है। और सुन्दरता आदि गुणो से सहित हो रहा भी जीव जिस कर्म के उदय से अन्यो को अप्रीति का कारण हो जाय वह दुर्भग नामकर्म है। तथा जिस कर्म को निमित्त पाकर जीव के मनोज्ञ स्वर की निष्पत्ति होवे वह सुस्वर नामकर्म है तथा उससे विपरीत हो रहा दु स्वर नामकर्म है अर्थात् अमनोज्ञ स्वर को बनानेवाला कर्म दु स्वर है। गधा, काक आदि के दु स्वर कर्म का उदय समझना चाहिये। जिस कर्म के उदय से जीव के रमणीयता प्राप्त होती है वह शुभनाम है और उससे विपरीत जिस कर्म के उदय से देखनेवाले या सुननेवाले को रमणीय नही लगे वह अशुभ नामकर्म है। प षाण, अग्नि, वज्रपटल आदि से न घाता जाय और इनको भी घात नही करे ऐसे सूक्ष्म शरीर को बनानेवाला कर्म सूक्ष्म नामकर्म है। इसके विपरीत अन्य को बाधा करनेवाले और अन्य से बाधा को प्राप्त हो जानेवाले शरीर को बनाने का कारण बादर नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से आहार, शरीर आदि पर्याप्तियो की पूर्णता सिद्ध हो जाय वह पर्याप्ति नामकर्म है, उसके आहारपर्याप्तिनाम, शरीरपर्याप्तिनाम, इन्द्रियपर्याप्तिनाम, श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिनाम, भाषापर्याप्तिनाम, मन पर्याप्तिनाम ये छह प्रकार हैं। छहो पर्याप्तियो को पूर्ण नही होने देने का हेतु अपर्याप्तिनामकर्म हैं। अपर्याप्ति नामकर्म के उदय से जीव श्वास के अठारहवे भाग प्रमाण काल तक जीवित रहकर मर जाता है, कोई भी पर्याप्ति इसके पूर्ण नही होने पाती है। अग, उपाग और कतिपय धातु उपधातुओ के स्थिरपन का संपादक स्थिर नामकर्म है और उसके विपरीत अंगोपांगो को कृष करनेवाला या रक्त आदि को चलायमान करने वाला अस्थिर नामकर्म हैं।

प्रभोपेतशरीरताकारणमादेयनाम, निष्प्रभशरीरकारणमनादेयतानाम, पुण्यगुणख्यापनकारणं यशस्कीर्तिनाम यशोगुणविशेषः कीर्तिस्तस्य शब्दनमिति न तयोरनर्थान्तरत्वं । तत्प्रत्यनीकफलमयशस्कीर्तिनाम ।

प्रभा से सहित शरीर हो जाने का कारण आदेय नामकर्म है अर्थात् जिस कर्म के उदय से कान्ति, लावण्य, ओजस्वितायुक्त शरीर बने वह आदेय कर्म हैं, प्रभारहित शरीर को बनाने का हेतु अनादेय नामकर्म है। पुण्यवर्धक गुणों के प्रख्यापन करने का हेतु यशस्कीर्ति नामकर्म है। यहाँ कोई शंका उठावे कि यशस् और कीर्ति शब्द का एक ही अर्थ है फिर सूत्रकार ने यशस्कीर्ति यह नाम क्यों रक्खा ? इसके उत्तर मे आचार्य कहते है कि यश का अर्थ विशेप यानी असाधारण प्रकार के गुण है और कीर्ति शब्द का अर्थ कोर्नन करना है, तब तो उस स्वपरोपकारक गुण का जनता मे सादर हर्षप्रयुक्त कहे गये शब्दो द्वारा प्रख्यापन करना यशस्कीर्तिका अर्थ हुआ, इस कारण उन यशस् और कीर्ति शब्दो मे अभेद नही हैं, किन्तु विभिन्न अर्थों का वाचकपना है। उस यशस्कीर्ति से सर्वथा विपरीत फल को उपजानेवाला अर्थात् जगत् मे पापवर्धक दोपो का कीर्तन करानेवाला अयशस्कीर्ति नामकर्म समझना चाहिये ।

आर्हन्त्यनिमित्तकारणं तीर्थकरत्व, गणधरत्वादीनामुपसंख्यानमिति चेन्न, अन्यनिमित्तत्वात् । गणधरत्वस्य श्रुतज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षहेतुकत्वात्, चक्रवर्तित्वादेरुच्चैर्गोत्रोदयनिमित्तकत्वात् । तदेव तीर्थकरत्वस्यापीति चेत् न, तीर्थकरत्वस्य हि तन्निमित्तत्वे गणधरस्य तत्प्रसंगश्चक्रधरादेश्च, न च तदस्ति ततोऽर्थान्तरनिमित्त यत्तदर्थान्तर तत्तीर्थकरनामैव । घातिक्षयस्य मुंड (सामान्य) केवल्यादेरपि भावान्न तन्निबंधनं तस्य शंकनीयं, छत्रत्रयादि परमविभूतिफलस्य ततो संभवनिश्चयात् ।

समवसरण, देवागमन, आकाशयान, चौसठि चमर आदि वहिरंग विभूति और अनंतचतुष्टय, असंख्यात जीवो को मोक्षमार्ग में लगा देने की शक्ति, आदि अंतरंग अचिन्त्य विभूति करके सहित हो रहे अर्हन्तपने का निमित्तकारण तीर्थकरत्व नामकर्म है। यहाँ कोई शंका करता है कि जिसप्रकार महा–महिमा–अन्वित तीर्थकरत्व नामकर्म को कहा गया है उसी प्रकार गणधरपन, विपुलमतिमन पर्ययज्ञानीपन, सर्वावधिज्ञानीपन,परिहारविशुद्धिसंयम, चक्रवर्तीपन, नारायणत्व, प्रतिनारायणत्व, बलभद्रपन आदिक विशिष्ट समृद्धि करा देनेके कारण हो रहे नामकर्मो का भी अतिरिक्त निरूपण करना चाहिये । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना, क्योकि गणधरपन आदि होने के निमित्तकारण अन्य विद्यमान

हैं। गणधरपना तो श्रुतज्ञानावरणकर्म और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की प्रकर्षता को हेतु पाकर हो जाता है तथा चक्रवर्तिपन, नारायणपन आदि विशेष विभूतियों का निमित्त-कारण तो विशिष्ट जातिवाले उच्चगोत्र कर्म का उदय है। उच्चगोत्र के लाखों, करोड़ों, संख्याते भेद हैं। पुन: यहाँ कोई कटाक्ष करे कि वो उच्चगोत्र कर्म ही तीर्थंकरपन का भी कारण हो जायगा, व्यर्थ में तीर्थंकरत्व नामकर्म क्यों माना जा रहा है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना, कारण कि अर्हन्तपन का निमित्तकारण यदि उस उच्चगोत्र कर्म को ही माना जायगा तब तो गणधर महाराज के भी उस अर्हन्तपने का प्रसंग आ जावेगा, तथा उच्चैर्गोत्र कर्म के उदय को धार रहे चक्री, नारायण, आदि के भी तीर्थंकर हो जाने का प्रसंग आ जावेगा किन्तु वह तीर्थंकरपना गणधर, चक्री आदि के संगत नहीं हैं। तिस कारण उस तीर्थंकरपन का निमित्तकारण कोई भिन्न पदार्थ ही होना चाहिये जो अर्हन्तपने का उच्चगोत्र से न्यारा असाधारण कारण है वही तीर्थंकर नामकर्म है। अर्थात् दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं को भावनेवाले जीवों के अर्हन्तपना प्राप्त होना है, उसका कारण तीर्थंकर नामकर्म ही होना चाहिये। अतः तीर्थंकरत्व कर्म का पृथक् ग्रहण किया है। यदि यहाँ कोई यों शंका करे कि चार घाति कर्मों के क्षय को तीर्थंकरपन का कारण मान लिया जाय, उक्त दोष का निवारण हो जायगा। आचार्य कहते हैं कि उसको यह शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि मूक केवली, सामान्य केवली, अंतकृत् केवली, आदि के भी घातिकर्मों का क्षय विद्यमान है किन्तु उनके अर्हन्तपन नहीं है, अतः उस तीर्थंकरपन का कारण वह घाति-कर्मक्षय नहीं हो सकता है, जिस तीर्थंकरत्व कर्म का फल तीन छत्र, प्रकृष्ट दिव्यध्वनि, भामण्डल, आदिक परमविभूतियां है इन विभूतियों का उस घातिकर्मक्षय से नहीं सम्भव होनेका निश्चय है। कर्मों का क्षय मोक्ष को तो कर देगा किन्तु सांसारिक परम विभूतियों को नहीं उपजा सकता है। लौकिक और पारमार्थिक विभूतियों द्वारा धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करना तीर्थंकर नामकर्म का फल है वह उच्चगोत्र या अन्य सातावेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियों तथा कर्मक्षय करके साध्य नहीं है, इसके लिये परपदार्थ तीर्थंकरत्व जो कि कार्मण-वर्गणा स्वरूप पुद्गल से बना है, उस कर्म की परम आवश्यकता है।

ननु च विहायोगत्यन्तानां प्रत्येकशरीरादिभिरेकवाक्यत्वाभावः कुत इति चेत्, पूर्वेषां प्रतिपक्षविरहादेकवाक्यत्वाभावः। प्रधानत्वात्तीर्थकरत्वस्य पृथग्ग्रहणं, अन्यत्वाच्च प्रत्येकशरीरादिभिरेकवाक्यत्वाभावः प्रत्येतव्यः।

यहाँ पुन: किसी का प्रश्न है कि गति, जाति आदि सूत्र में "विहायोगति"

पर्यन्त एक वाक्य हैं । दूसरा "सेतराणि" तक वाक्य है उसके आगे तीर्थंकरत्व पद न्यारा पडा हुआ है जिस प्रकार विहायोगति पर्यन्त तक का द्वंद्वसमास किया गया है उसीके समान विहायोगतिपर्यन्त पदो का प्रत्येकशरीर, त्रस, आदि पदों के साथ भी एकवाक्यपन का अभाव भला किस कारण से किया गया है ? पूरे सूत्र का द्वंद्वसमास कर देना चाहिये था, तीन चार अक्षरो का अधिक निरूपण नही कर देना पडने से लाघव हो जाता, ऐसा प्रश्न उतरने पर तो आचार्य कहते है कि पूर्व मे कहे गये गति आदिक विहायोगति पर्यन्तों के उलटे हो रहे प्रतिपक्ष कर्मो का अभाव हैं । हमें प्रत्येकशरीर आदि दश कर्मों के प्रतिपक्षी कर्मो का भी सेतर पद से ग्रहण करना है अतः प्रतिपक्षरहित और प्रतिपक्षसहित पदार्थो के एकवाक्य हो जाने का अभाव है । तीर्थंकरत्व का जो पृथक् ग्रहण किया गया है उसका कारण यह है कि सम्पूर्ण शुभ कर्मो मे तीर्थंकरत्व प्रकृति प्रधान है । दूसरी बात यह भी है कि तीर्थंकर-पना ससार के अन्त मे होने वाला है, जिस जीव के उस ही भव से मोक्ष हो जाने वाली हैं उसी के तेरहवे, चौदहवे, गुणस्थानों में तीर्थंकरत्व प्रकृति का उदय होता हैं तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव तो उसी भव मे या दो, तीन भव पूर्व भी हो जाता है । अन्तः कोटाकोटी सागर की स्थिति पडती है । तेरहवे गुणस्थान मे उदीरणा उदय होता है । इसकारण भिन्न होने से प्रत्येक शरीर आदि के साथ पूरे सूत्र का एकवाक्यपना नही किया गया समझ लेना चाहिये, न्यारी विभक्ति वाले तीन पद करने पडे ।

प्राधान्यं सर्वनामेभ्यः शतेभ्यः शुद्धिजन्मनः ।
बोध्यं तीर्थंकरत्वस्य भवांते फलदायिनः ॥ १ ॥

नामकर्म की सैकडो सम्पूर्ण उत्तरोत्तरप्रकृतियो से उस तीर्थंकरत्व प्रकृति की प्रधानता हैं जो कि दर्शनविशुद्धि आदिक सोलहकारण भावनाओं से उपजती हैं या आत्मीय सर्वांग विशुद्धि को जन्म देती हैं, तथा निकट संसारी जीव को संसारपरिभ्रमण के अन्त मे अर्हंतपना शुभफल को देने की टेव रखती है इसकारण सांसारिक और पारमार्थिक सभी पुण्यकर्मो मे तीर्थंकरत्व नामकर्म प्रधान हैं ।

गोत्रोत्तरप्रकृतिबंधभेदप्रकाशनार्थमाह—

अब सातवे गोत्र प्रकृति बंध के उत्तर भेदो का प्रकाश करने के लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को स्पष्ट कह रहे हैं ।

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

सन्तान क्रम से चले आ रहे लोकमान्य ऊंचे कुलो मे जन्म कराने वाला उच्च गोत्र और सन्तान क्रम से चले आ रहे नीचाचरणवाले नीचकुलो मे जन्म करानेवाला नीच-गोत्र यो गोत्रकर्म की दो उत्तरप्रकृतिया हैं।

गोत्रं द्विविधमुच्चैर्नीचैरिति विशेषणात्। यस्योदयात् लोके पूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्र, गर्हितेषु यत्कृतं तन्नीचैर्गोत्र।

ऊचा और नीचा इस प्रकार विशेपण लग जाने से गोत्रकर्म के दो उत्तर प्रकार हो जाते है जिस पौद्गलिक कर्म के उदय से लोक मे पूजे जा रहे कुलो मे जीव का जन्म होता है वह ऊचा गोत्रकर्म हैं तथा लोकनिन्दित कुलो मे जीव जिस के द्वारा किया गया जन्म लेता हैं वह नीच गोत्रकर्म है।

कुतस्तदेवविधं सिद्धमित्याह—

कोई तर्कशाली शिष्य प्रश्न उठाता है कि किस युक्ति या प्रमाण से वह गोत्र-कर्म इसप्रकार पूजित या निन्दित कुलो मे जन्म करानेवाला दो प्रकार का सिद्ध होता है? वताओ। युक्ति की कसौटी पर कसे विना कोई भी सिद्धान्तसुवर्ण परीक्षोत्तीर्ण नही कहा जा सकता है। इस प्रकार निर्णय करने की अभिलापा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान वचन कहते है।

उच्चैर्नीचैश्च गोत्रं स्याद्द्विभेदं देहिनामिह,
तथा संशब्दनस्यान्यहेतुहीनस्य सिद्धितः ॥ १ ॥

इस जगत् में शरीरधारी जीवो के गोत्रकर्म (पक्ष) उच्चगोत्र और नीचगोत्र या दो भेद वाला लगा हुआ हैं (साध्य) तिस प्रकार ऊचे नीचे पन के भलेप्रकार वखाने जाने के अन्य हेतुओ की हीनता की सिद्धि हो रही होने से (हेतु)। अर्थात् ऊचा आचरण और नीचा आचरण इस व्यवहार की अतीन्द्रिय गोत्रकर्म के साथ अन्यथानुपपत्ति है। अत. अवि-नाभावी हेतु से अतीन्द्रिय पौद्गलिक गोत्र कर्म की सिद्धि हो जाती है। अन्य धन, उम्र, विद्या आदि को उक्त व्यवहार का हेतु मानने पर व्यभिचार दोप आता है।

तथांतरायोत्तरप्रकृतिबंधावबोधनार्थमाहः—

जिसप्रकार उक्त सात मूल प्रकृतियो के बन्ध की उत्तरभेदगणना की गयी है

उसी प्रकार अब आठवे अन्तरायप्रकृति बंध के उत्तर भेदो को समझाने के लिये सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे है।

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥

दान देने का विघ्न करनेवाला दानांतराय, लाभ का अन्तराय डालनेवाला लाभान्तराय, भोग का विघ्न करनेवाला भोगान्तराय, और उपभोग को बिगाडनेवाला उपभोगान्तराय, एवं वीर्य यानी सोत्साह पुरुषार्थ का अन्तराय करनेवाला वीर्यान्तराय यो पांच प्रकार का अन्तराय कर्म है।

दानादीनामन्तरायापेक्षयार्थव्यतिरेकनिर्देश, अन्तराय इत्यनुवर्तनात्। दानादि-परिणामव्याघातहेतुत्वात्तद्व्यपदेश।

इस सूत्र मे दान आदि कृत्यो के विघ्नस्वरूप अन्तराय की अपेक्षा करके दान आदि पदार्थो के षष्ठी विभक्ति अनुसार भेद का निर्देश (कथन) किया गया है। "आद्यो-ज्ञान" इत्यादि सूत्र से यहाँ अन्तराय इस पद की अनुवृत्ति कर ली जाती है। दान देना, लाभ प्राप्ति करना, आदि परिणामों के नाश कर देने का कारण होने से उन कर्मो का दानान्तराय, लाभान्तराय आदि शब्दो द्वारा निरूपण कर दिया जाता हैं, तभी तो देने की इच्छा रखता हुआ भी नही दे पाता हैं। लाभ प्राप्त करना चाहता हुआ भी नहीं ले पाता है, भोग भोगना अभीष्ट करता हुआ भी नही भोग पाता है, उपभोग करने की तीव्र वाञ्छा करता हुआ भी उपभोग नही कर सकता है। जानना, क्रिया करना आदि में अंतरंग से उत्साह करना चाहता हुआ भी सोत्साह नही हो पाता है। आत्मा के वीर्य गुण या उसकी दान आदि पर्यायो को बिगाडने वाला यह अन्तराय कर्म है। आत्मा के समान अन्य पुद्गल आकाश, कालाणुयें, धर्म, अधर्म द्रव्यो मे भी वीर्यगुण है। सामर्थ्य के विना कोई भी द्रव्य किसी भी कार्य को नही कर सकता है मात्र जीव द्रव्य के वीर्य गुण को मंद, मंदतर, मंदतम स्वरूप से विघात करने वाला यह प्रकरणप्राप्त अन्तराय कर्म है।

भोगोपभोगयोरविशेष इति चेन्न, गंधादिशयनादिभेदतस्तद्भेदसिद्धेः। कुतस्ते दानाद्यन्तरायाः प्रसिद्धा इत्याहः—

यहाँ कोई शकाकार अपने मत को कह रहा है कि भोग और उपभोग में कोई अन्तर नही है। सुख को अनुभव कराने का निमित्तकारणपना दोनो मे एकसा है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना। सुगंध, माला, स्नान करना, खाना, पीना, आदिक एकवार भोगकर त्यागने योग्य पदार्थों में भोग का व्यवहार है और पलग, स्त्री, हाथी, घोडे, रथ, आदि मे उपभोग करने का व्यवहार है यो गन्ध आदि और शयन आदि भेदो से उन भोग और उपभोग मे स्पष्ट रूप से भेद की सिद्धि हो रही है। यहाँ कोई युक्तिवादी तर्क उठाता है कि किस प्रमाण से वे दान आदि में विघ्न डालने वाले दानान्तराय आदि पाच कर्म सिद्ध हो रहे हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अगली वार्तिक को कह रहे हैं।

दानादीनां तु पंचानामंतरायाः प्रसूत्रिताः ।
पंच दानादिविघ्नस्य तत्कार्यस्य विशेषतः ॥ १ ॥

दान, लाभ, आदि पाच सत्क्रियाओ के अन्तराय हो रहे पाच कर्म तो उमास्वामी महाराज ने इस सूत्र मे प्रमाणसिद्ध हो रहे ही गूथे हैं (प्रतिज्ञा) उनके पाच दान आदि में विघ्न कर देना स्वरूपकार्यकी विशेषताओ की उपलब्धि होने से (हेतु)। अर्थात् दानादि के यथोचित कारण मिलाने पर भी विघ्न पड जाते हैं। अनेक स्थलो पर वहिरग कारण कोई दीखते नही हैं। अतः विघ्न डालने वाले अतरग कर्मो की अनुमान प्रमाण से सिद्धि हो जाती है।

उक्तमेव प्रकृतिबंधप्रपंचमुपसंहरन्नाहः—

पूर्व में कहे जा चुके ही प्रकृतिबंध के विस्तार का उपसंहार करते हुये, ग्रन्थकार अगली वार्तिक को कह रहे हैं।

एवं प्रकृतिभिर्बंधः कर्मभिर्विनिवेदितः ।
आद्यः प्रकृतिबंधोत्र जीवस्यानेकधा स्थितः ॥ २ ॥

इस प्रकार इस आठव अध्याय के आदि भाग मे ज्ञान आदि का आवरण करने वाली ज्ञानावरण आदि कर्मप्रकृतियो के साथ आत्मा का बंध हो जाना सूत्रकार ने विशेषरूपेण निवेदन कर दिया है। इन चार बधो में आदि का प्रकृतिबंध तो जीव के अनेक प्रकार हो रहा व्यवस्थित है। जीव के साथ परतन्त्रता को करनेवाले विजातीय द्रव्य का बध हो रहा युक्तिसिद्ध है। अनेक दार्शनिक इस कर्मसिद्धान्त को मानने के लिये सहर्ष तैयार हैं। गीताकार ने इसे अभीष्ट किया है। यौगदर्शन तो कर्म, पच महाव्रत, ध्यान आदि अनेक मन्तव्यो को स्वीकार करता है।

तदुत्तरप्रकृतिवदुत्तरोत्तरप्रकृतीनामपि प्रकृतिबंधव्यपदेशात् सामान्यतो विशेषतश्च प्रैकृतिबंध स्थित्यादिबंधापेक्षयान्य एवानेकधोक्त. । तथा च—

उस मूल प्रकृतिबंध की उत्तरप्रकृतियो के बंध समान उत्तरोत्तर प्रकृतियो का बंध भी प्रकृतिबन्ध शब्द करके ही कह दिया गया है क्योकि सामान्यरूप से जो मूलप्रकृतिबंध है, वही विशेपरूप से उत्तरप्रकृतिबंध और उत्तरोत्तरप्रकृतिबंध है। विशेषो से रहित सामान्य कोई पदार्थ नही है। यह पहिला प्रकृतिबंध तो स्थितिबंध आदि की अपेक्षा करके अन्य ही है जो कि उक्त सूत्रो द्वारा कह दिया गया है। समान जातिवाले कार्योको करनेको अपेक्षा से ज्ञानावरण कर्म और नामकर्म के असंख्यात भेद है जीवो मे ज्ञान के असंख्यात प्रकार पाये जाते हैं। इसी प्रकार नामकर्म के भी असंख्यात भेद है। नामकर्म के द्वारा सजातीय असंख्यात प्रकार के कार्य हो रहे समझ मे आ जाते हैं। हाँ, अन्य छह कर्मो के संख्यात भेद है उनके अरबो, खरबो, संख्यात जाति वाले, अनेक भेद प्रतीत हो रहे हैं। तिस ही प्रकार से व्यवस्थित हो रहे सिद्धान्त को ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा कहे देते है।

यावताऽनुभवोस्तु फलानां. दृष्टहेतुघटनाच्च जनानां।
तावतीह गणना प्रकृतीस्ताः. कर्मणामनुमिनोतु महात्मा ॥ ३ ॥

देखे जा रहे हेतुओ की घटना से जितने भी फल यानी कार्यो के हो जाने का मनुष्यों को अनुभव हो रहा है यहां उतनी ही कर्मो की उन प्रकृतियो का महात्मा, पण्डित, अनुमान कर लो। अर्थात् कर्मो की उत्तरोत्तर प्रकृतिया अनेकानेक है, जितने कार्यों का अनुभव हो रहा है उतने अतीन्द्रिय कारण हो रहे कर्मो का अनुमान सुलभता से कर लिया जाता है। शेप कर्मो को आगम से जान लिया जाय। "दृष्टहेत्वघटनात्" ऐसा पाठ सुन्दर दीखता है, देखे जा रहे हेतुओ से जो कार्य बन रहे है उनके कारण वे है। छत्र से छाया हो जाती है अग्नि से धुआ उपज जाता है किन्तु जहा देखे जा रहे हेतुओं से कार्य घटित नही हो पाता हैं दृष्टकारणो का व्यभिचार दोप दीखता है, पढने मे परिश्रम करने वाले फेल हो जाते है। औपधि करते हुये भी रोग बढ जाता है, धर्म करते हुये भी क्लेश उठा रहे है, कतिपय पापी जीव आनन्द (मौज) कर रहे है, इस प्रकार दृष्टहेतुओ से घटित नही होने वाले जितने भी कार्यो का अनुभव हो रहा है उतनी संख्यावाली कर्मप्रकृतियो की गिनती कर ली जाय, विस्तररुचिवाले शिष्यो के लिये लम्बा, चौडा क्षेत्र पडा हुआ है। युक्तियो का भी टोटा नही है।

इति अष्टमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ।

आठवे अध्याय का श्री विद्यानन्द स्वामी की ग्रन्थरचना मे इस प्रकार प्रथम आह्निक यानी प्रकरणसमूह समाप्त हुआ ।

जन्मत ही जिनकी शममुखछवि, वीतरागविज्ञानमयी,
सहस नेत्र से निर्निमेष लखि हुआ इन्द्र भी तृप्त नहीं ।
ऐसे इन्द्र असंख्याते जिन के शरणागत खडे रहे,
वे वरद महावीर हमारे कर्मपटल का नाश करें ॥ १ ॥

जम्बूद्वीप पलटने की सामर्थ्य धरै जिन भक्तिमना,
असंख्यात देवो से नुत सौधर्म दण्डधर भृत्य बना ।
ऐसे इन्द्र असंख्यातों से जिनकी शक्ति अनन्तगुणी,
हैं शरण्य श्रीपार्श्व हमारे तीन भुवन के शिरोमणी ॥ २ ॥

—*—*—*—*—*—

दृढसामर्थ्ययुक्तानि कर्माणि निचखान यः
स्वानन्तपुरुषार्थेन तस्मै श्रीश्रेयसे नमः ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराज प्रकृतिवध का निरूपण कर अव स्थितिवंधको अग्रिम सूत्र द्वारा कहते हैं ।

आदितस्तिसृणामंतरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः॥१४॥

इस अध्याय के चौथे सूत्र अनुसार आदि मे गिनाई गई ज्ञानावरण; दर्शनावरण, और वेदनोय इन तीन प्रकृतियो की तथा आठवे अन्तरायकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटीकोटी सागर प्रमाण है। भावार्थ—जैन सिद्धान्त मे सख्यामान के इक्कीस भेद हैं। सबसे वडी उत्कृष्ट अनन्तानन्त नाम की इक्कीसवी सख्या को धार रहे केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद भी किसी नियत संख्या को लिये हुये हैं। यद्यपि केवलज्ञान के अविभाग-प्रतिच्छेदो में दश, सौ, पाचसौ मिला देने से अन्तिम इक्कीसवी सख्या की मर्यादा का भी उल्लंघन हो जाता है। तथापि जगत् में उस बढी हुई संख्या का अधिकारी कोई पदार्थ नही होने के कारण वह इक्कीसवी सख्या ही सर्वोत्कृष्ट मानी गई है। जब संख्या को धारने वाला कोई पदार्थ ही नही है तो व्यर्थ में बक-झक करने से क्या लाभ है, बीसवे मध्यम

अनन्तानन्त में भी अनन्तस्थान ऐसे है कि जिन संख्याओ को धारने वाला कोई अधिकारी नही है, तो भी उनसे बडा केवलज्ञान है। अतः अनेक स्थानो का उल्लंघन कर केवलज्ञान को कहना पडा। इसी प्रकार असंख्यातासख्यात, मध्यम युक्तानन्त, आदि संख्याओ मे से अनेक सख्याओ के अधिकारी कोई पदार्थ जगत् मे नही है। इस भारतवर्ष मे करीब पचपन करोड मनुष्य वसते है, एक पैसे से प्रारम्भ कर तीन चार अरवो रुपये तक के वे यथायोग्य अधिकारी है। भिकारी से लेकर महाराजा पर्यन्त सभी परिग्रहवान् मनुष्य इन मे आ गये, पैसे से प्रारम्भ कर अरबो तक की मध्यवर्ती रुपये, आने, पैसो, की ऐसी भी करोडो सख्याये है जिनका कि कोई स्वामी यहा विद्यमान नही है, दो एक पैसा, आना, रुपया, कमती बढती के स्वामी है। संख्या करने योग्य संख्याओ से संख्याओ की गिनती अत्यधिक है अत संख्या के सपूर्ण भेद विशेषो को झेलनेवाले सख्येयो का न मिलना आश्चर्य-कर नही है। जैनसिद्धान्त मे एक उपमाप्रमाण भी माना गया है उसके पल्य, सागर, सूची, आदि आठ भेद है। त्रिलोकसार ग्रन्थको "रोमहदं छक्केसजलोस्सेगे पणुवीस समपात्ति, संगादं करिय हिदे केसेहिं सागरुप्पत्ती" इस गाथा अनुसार सागर नाम की सख्या उपज जाती है। अत. सूत्रकार ने उपमाप्रमाण का लक्ष्यकर सागरोपम शब्द कहा है। कोटी को कोटी से गुणा करने पर एक के उपर चौदह बिन्दवाली दशनील नामक सख्या एक कोटा-कोटी की समझी जाय। एक बार मे बाध लिया गया ज्ञानावरण कर्म का स्पर्धक आबाधा-काल के पश्चात् उदय में आ रहा संता क्रमसे तीस कोटाकोटी सागर काल मे अवश्य निशेष हो जायगा। उसका एक परमाणु भी आत्मा के साथ बधा नही रह जायगा, भले ही फल दिये विना ही कर्मो को खिरना पडे, स्थितिका उत्कर्षण भी अपनी नियत उत्कृष्ट स्थिति से अधिक नही हो सकता है।

आदित इति वचन मध्यातनिवृत्यर्थ, तिसृणामिति वचनमवधारणार्थं, अंतरा-यस्य चेति क्रमभेदनचनं समानस्थितिप्रतिपत्त्यर्थ। उक्तपरिमाणं सागरोपमं। कोटीकोटय इति बहुत्वानुपपत्तिरिति चेन्न, राजपुरुषवत्तत्सिद्धेः। कोटीनां कोटय. कोटीकोटय इति।

सूत्र मे आदि से यह जो वचन कहा गया है वह मध्य और अन्त का निवारण करने के लिये है, यानी मध्य की या अन्त की तीन प्रकृतियां नही पकड ली जाय इसके लिये "आदित" यह कहा गया है। तिस कारण आदि से ही प्रारम्भकर तीन प्रकृतियो का ग्रहण हो जाता है "तिसृणाम्" यो तीन को कहनेवाला वचन तो नियम करने के लिये है, तिस कारण आदि से दो, चार, पाच, का ग्रहण नहीं हो पाता है तीन ही का ग्रहण करना अभीष्ट

है। सूत्र मे "अन्तरायस्य च" यो क्रम का भेद कर कथन करना तो समान स्थिति की ज्ञप्ति कराने के लिये है अर्थात् क्रम का भेद कर अन्तराय कर्म की स्थिति का निरूपण करना तो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और वेदनीय कर्मों के समान अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति भी तीस कोटा–कोटी सागर की है, यो समझाने के लिये है। अन्तराय के अतिरिक्त अन्य कर्मों की उत्कृष्टस्थिति ज्ञानावरण आदि तीन कर्मों की उत्कृष्टस्थिति के समान नही है। उपमा प्रमाण की लवणसमुद्र अनुसार सागर नाम की सख्या का परिमाण कहा जा चुका है। त्रिलोकसार,राजवार्तिक आदि ग्रन्थोमे सागरोपम सख्याको स्पष्टरूपसे कहा जा चुका है। यहाँ कोई शका कर रहा है कि कोटी कोटी यो वीप्सा मे दो होनेपर "कोटीकोटयौ" यो सूत्र मे द्विवचन प्रयोग होना चाहिये "कोटीकोटय" ऐसा बहुवचन प्रयोग करना बन नही सकता है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना। क्योकि "राजपुरुषः" के समान षष्ठीतत्पुरुष समास करते हुये "कोटीकोटय" वन गया है अर्थात् राज्ञः पुरुष, राजा का पुरुष है यहा जैसे संबंध विवक्षा करने पर षष्ठीतत्पुरुष समास किया गया है उसी प्रकार "कोटीना कोटयः" यो षष्ठी समास कर लिया जाय, करोडो के करोड यानी करोड गुणा करोड यह अर्थ षष्ठीसमास करने पर ही लब्ध होता है इस प्रकार "कोटी–कोटय" शब्द व्याकरणमुद्रा से निर्दोष सिद्ध है।

पराभिधानं जघन्यस्थितिनिवृत्यर्थं। सज्ञिपञ्चेंद्रियपर्याप्तकस्य परास्थिति, अन्येषामागमात्संप्रत्ययः। तद्यथा एकेंद्रियस्य पर्याप्तकस्यैकसागरोपमा सप्तभागास्त्रयः,द्वींद्रियस्य पंचविंशतिसागरोपमाणां सप्तभागास्त्रयः, त्रीन्द्रियस्य पंचाशत्सागरोपमाणां चतुरिंद्रियस्य सागरोपमशतस्य, असंज्ञिपचेन्द्रियस्य सागरोपमसहस्रस्य, अपर्याप्तसंज्ञिपंचेन्द्रियस्यांतः सागरोपमकोटीकोटय।एकद्वित्रिचतु पंचेंद्रियासज्ञिनां त एव भागा पल्योपमसंख्येयभागोना इति परमागमप्रवाह।

इस सूत्र मे उत्कृष्ट अर्थ को कहने वाले परा शब्द का ग्रहण करना तो जघन्य-स्थिति की निवृत्ति के लिये है यानी यह उत्कृष्टस्थिति है जघन्यस्थिति नही है। सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के ही उक्त चार कर्मों की यह उत्कृष्ट स्थिति पडती है, अन्य एकेन्द्रिय आदि जीवो करके बाधे जा रहे ज्ञानावरण आदि चार कर्मो की उत्कृष्टस्थिति का आगम से भले प्रकार निर्णय कर लिया जाय, उसी को ग्रन्थकार स्पष्ट करके इस प्रकार दिखला रहे है कि एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव के बाध रहे ज्ञानावरण आदि चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम के तीन बटे सात ($\frac{3}{7}$) भाग है, यानी एकसागर के सातभागो में तीन भाग प्रमाण है। दो इन्द्रियवाले पर्याप्त जीवों के बाध रहे ज्ञानावरणादि चार कर्मों की उत्कृष्ट

स्थिति पच्चीस सागरोपम के तीन बटे सात भाग है, तीन इन्द्रिय वाले पर्याप्त जीव के बंध रहे ज्ञानावरणादि चार कर्मों की उत्कृष्टस्थिति पचास सागरोपम के सात भागो में तीन भाग प्रमाण हैं। चार इन्द्रियवाले पर्याप्तजीवों के बंध रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति तो सौ सागरोपम के सात भागों मे तीन भाग प्रमाण है। अर्थात् तीन सौ बटे सात सागरोपम है ४२६/७ सागर हैं। मनरहित असंज्ञीपचेन्द्रिय पर्याप्त जीव के बंध रहे ज्ञानावरणादि चार कर्मो मे हजार सागरोपम के तीन बटे सात भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति पडेगी। संज्ञी पचेद्रिय पर्याप्त के तीस कोटाकोटी सागर की स्थिति सूत्र मे ही कह दी है। हाँ लब्ध्यपर्याप्तक संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव के उक्त कर्मों की उत्कृष्टस्थिति अंतः कोटाकोटी सागर प्रमाण पडेगी। करोड से ऊपर और करोडकरोडों यानी दश नील से नीचे की सख्या को अन्तःकोटाकोटी कहते है। अपर्याप्त हो रहे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और असज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीवों के वे ही एक, पचीस, पचास, सौ और हजार सागरों के तीन बटे सात भाग प्रमाण स्थितिया पड़ेगी। किन्तु कर्मो की इन उत्कृष्ट स्थितियो से एकेद्रिय के पल्योपम के असंख्यातमे भाग और द्वीद्रियादि के पल्य के संख्यातमें भाग प्रमाण असंख्याते वर्ष न्यून पडेगी। इस प्रकार गुरुपरिपाटी अनुसार चले आ रहे उत्कृष्ट सर्वज्ञोक्त आगम सिद्धान्त का प्रवाह बह रहा है। गोम्मटसार मे इसका स्पष्ट निरूपण है।

कुतः परा स्थितिराख्यातप्रकृतीनामित्याहः—

इस सूत्र में कण्ठोक्त बखानी गयी चार प्रकृतियों की यह तीस कोटाकोटी सागर उत्कृष्टस्थिति भला किस प्रमाण से सिद्ध समझी जाय ? बताओ। यों किसीका तर्क प्रवर्तने पर ग्रन्थकार दो वार्तिको द्वारा इस प्रकार समाधान कहते हैं।

आदितस्तिसृणां कर्मप्रकृतीनां परा स्थितिः।
अंतरायस्य च प्रोक्ता तत्फलस्य प्रकर्षतः ॥ १ ॥
सागरोपमकोटीनां कोट्यस्त्रिंशत्तदन्यथ ।
तदभावे प्रमाणस्याभावात्सा केन बाध्यते ॥ २ ॥

इस सूत्र मे आ लेकर तीन कर्म प्रकृतियो की और अन्तराय कर्म की तीस कोटाकोटी सागर उत्कृष्टस्थिति बहुत अच्छी कह दी गयी हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि अधिक से

अधिक प्रकर्षता से उन कर्मों के फल की तीस कोटाकोटी सागरोपम काल तक उपलब्धि होती है (हेतुः) दूसरे प्रकारो से इससे न्यून या अधिक उत्कृष्ट स्थिति मानने पर उत्कृष्टता करके तीस कोटाकोटी सागर तक फल हो नही सकता है अतः उस स्थिति का अभाव मानने मे प्रमाण का अभाव है (अन्यथानुपपत्ति)। यो यह युक्तियो से सिद्ध हो रही उत्कृष्टस्थिति भला किस प्रमाण करके बाधी जा सकती है? अर्थात् बाधकप्रमाणो का असभव होने से सूत्रोक्त सिद्धान्त युक्त है।

अथ मोहनीयस्य परां स्थितिमुपदर्शयन्नाह —

अब इसके अनन्तर क्रमप्राप्त मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का प्रदर्शन करा रहे सूत्रकार महाराज इस अगले सूत्र को कह रहे हैं।

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥

चौथे मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तो सत्तर कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

सागरोपमकोटीकोटच. परा स्थितिरित्यनुवर्तते। इयमपि परा स्थिति संज्ञिपंचेंद्रियस्य पर्याप्तकस्य, एकद्वित्रिचतुरिंद्रियाणामेकपंचविंशतिपंचाशच्छतसागरोपमानि यथासंख्यं, तेषामेवापर्याप्तकानामेकेन्द्रियादीनां पल्योपमासंख्येयभागोना, सैव पर्याप्तासंज्ञिपचेन्द्रियस्य सागरोपमसहस्र, तस्यैवापर्याप्तकस्य सागरोपमसहस्र पल्योपमसख्येयभागोन, सज्ञिनोपर्याप्तकस्यांतःसागरोपमकोटीकोटच इति परमागमार्थः।

इस सूत्र का अर्थ करने में पूर्व सूत्र के "सागरोपमकोटीकोटच" और "परा स्थिति" इन पदो की अनुवृत्ति हो रही हैं। अतः उन पदो को जोडकर सूत्र का अर्थ कर लिया जाय। मोहनीय कर्म की यह उत्कृष्टस्थिति भी सज्ञो पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीव के ही बध रहे मोहनीय कर्म में पडती है। हा, एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चौइन्द्रिय जीवो के तो बध रहे मोहनीय कर्म मे यथासख्य रूप से एक, पच्चीस, पचास, सौ सागरोपम की पडेगी। और उन ही अपर्याप्तक हो रहे एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय, आदि जीवो के तो पर्याप्त की एक, पच्चीस आदि सागर स्थिति में से पल्योपम के असंख्यात मे भाग और सख्यात मे भाग कमती उत्कृष्टस्थिति पडेगी। वही मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीव के हजार सागरोपम पडेगी। और उस ही असज्ञी पचेन्द्रिय के लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था मे मोहनीय कर्म की उत्कृष्टस्थिति हजार सागरोपम से पल्योपम के संख्यात में

भाग न्यून होकर पडेगी। हाँ, संज्ञीलब्ध्यपर्याप्तक के तो अन्तःकोटाकोटी सागरोपम उत्कृष्ट-स्थिति पडेगी इस प्रकार परमागम का निर्णीत अर्थ है। गोम्मटसार–कर्मकांड मे "एयं पण कदि पण्णं सय सहस्सं च, मिच्छ वा बधो, इगिविगलाणं अवरं पल्लासखूण संखूणं।" इत्यादि गाथाओ अनुसार भी उक्त अर्थ का ही प्रतिपादन होता है।

अथ नामगोत्रयोः का परा स्थितिरित्याह।

मोहनीय के अनन्तर अब नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अगले सूत्र को कह रहे है।

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ १६ ॥

नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तो बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है। किसी भी जीव के एक बार मे बंध गये नाम या गोत्रकर्म अधिक से अधिक बीस कोटाकोटी सागर तक ठहर सकेगें।

सागरोपमकोटीकोटचः परा स्थितिरित्यनुवर्तते। इयमपि परा संज्ञिनः, पर्याप्तकस्यैकेन्द्रियस्य एकसागरोपमस्य सप्तभागौ द्वौ, द्वीन्द्रियस्य पचविंशतेः सागरोपमाणां, त्रींद्रियस्य पचाशत., चतुरिन्द्रियस्य शतस्य, असंज्ञिनः पञ्चेन्द्रियस्य सहस्रस्य, संज्ञिनो पर्याप्तकस्यांतःसागरोपमकोटीकोटचः, एकेन्द्रियादे सैव स्थितिः पल्योपमासंख्येयभागोना।

पूर्वसूत्र के समान इस सूत्र मे भी "सागरोपमकोटीकोटचः" और "परास्थितिः" इन पदों की अनुवृत्ति कर ली जाती है "सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं" सूत्रो मे नही देखे गये पद अन्य सूत्रो से अनुवृत्ति द्वारा लगा दिये जाते हैं। यह नाम, गोत्र कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति भी मनवाले पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवके ही बंधती है। एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव के तो नामगोत्रो की उत्कृष्टस्थिति एक सागरोपम के दो सातवे भाग है। द्विइंद्रिय पर्याप्त जीव के बध रहे नाम गोत्र कर्मों की उत्कृष्टस्थिति पच्चीस सागरोपम के दो बटे सात भाग है, क्योंकि वीस और सत्तर मे दो बटे सात का अन्तर है। जैसे कि तीस और सत्तर मे तीन और सात का रूपक है। तीन इन्द्रियवाले पर्याप्त जीव के बंध रहे नाम, गोत्र कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति पचास सागरोपम के सात भागो मे से दो भाग प्रमाण १४$\frac{२}{७}$ पडेगी। चौइन्द्रिय पर्याप्त जीव के नामगोत्र कर्मों की स्थिति सौ सागर के सात भागों में दो भाग प्रमाण २८$\frac{४}{७}$ बंधेगी। असज्ञी पचेद्रिय पर्याप्त जीव के नामगोत्रो की उत्कृष्ट स्थिति हजार सागर के दो बटे (गुणित) सात भाग प्रमाण पडेगी। हाँ, संज्ञी अपर्याप्त

जीव के नामगोत्रों की उत्कृष्ट स्थिति अन्त कोटाकोटीसागरोपम बंधेगी। एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव के नाम-गोत्रो की जो उत्कृष्ट स्थिति है वही पल्योपम के असख्यात में भाग परिमाण न्यून हो रही सन्ती एकेद्रिय लब्धि अपर्याप्त के उत्कृष्ट रूप से पड जाती है। हाँ, द्विइन्द्रिय आदि पर्याप्त जीवो की जो उत्कृष्टस्थिति है वही पल्य के सख्यातवे भाग प्रमाण काल मे न्यून हो रही सन्ती अपर्याप्त द्विइन्द्रिय आदि जीवो के बध्यमान नाम, गोत्रो की उत्कृष्टस्थिति पड जाती है।

कथं बाधवर्जितमेतत्सूत्रद्वयमित्याह —

यहाँ कोई तर्कशील छात्र आक्षेप करता हैं कि "सप्ततिर्मोहनीयस्य" "विंशति-र्नामगोत्रयोः" ये दोनो सूत्र बाधाओ से रहित है यह किस प्रकार निर्णीत कर लिया जाय? आगमकथित अतीन्द्रिय सिद्धान्तो में बाधक प्रमाणो का असभव दिखलाये विना प्रामाणिकता नही आती है। इस प्रकार आक्षेप प्रवर्तते हो झट श्री विद्यानन्द स्वामी इस अगली वार्तिक को समाधानार्थ कह रहे है।

सप्ततिर्मोहनीयस्य विंशतिर्नामगोत्रयोः
इति सूत्रद्वयं बाधवर्जमेतेन वर्णितम् ॥ १ ॥

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तरकोटाकोटी सागर हैं। नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटी सागर है। इस प्रकार उक्त दोनो सूत्रो का वाच्यार्थ भला बाधक प्रमाणो से रहित है, इस बात का तो "आदितस्त्रिसृणा" इस दो वार्तिको के कथन करके ही वर्णन कर दिया गया है। अर्थात् उक्त नियत स्थितियो से दूसरे प्रकार स्थिति को सिद्ध करने वाले प्रमाण का अभाव है। "असभवद्बाधकत्वात्" अतीन्द्रियार्थसिद्धि कर ली जाती है।

ततोन्यथा स्थितेर्ग्राहकप्रमाणाभावेनैवेत्यर्थः।

इस वार्तिक मे पड़े हुये एतेन शब्द का अर्थ इस प्रकार हैं कि तिस सूत्रोक्त सिद्धान्त से अतिरिक्त अन्य प्रकारो से कमती, बढती, स्थिति के ग्राहकप्रमाणो का अभाव हैं, इस युक्ति करके उक्त दोनो सूत्रोका रहस्य उपपन्न हो जाता हैं।

अथायुषः कोत्कृष्टा स्थितिरित्याह —

इसके अनन्तर आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति क्या है? ऐसी जानने की इच्छा

प्रवर्तने पर सूत्रकार अब अग्रिम सूत्र को कह रहे है ।

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥

आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तो केवल तेंतीस सागर काल प्रमाण हैं ।

पुन: सागरोपमग्रहणात् कोटीकोटिनिवृत्तिः, परास्थितिरित्यनुवर्तते । इयमपि परास्थिति संज्ञिन. पर्याप्तकस्य । इतरेषां यथागम । तद्यथा असंज्ञिनः पचेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य पल्योपमासख्येयभागा, शेषाणामुक्ता पूर्वकोटी । इयमपि तथैव बाधवर्जितेत्याहः—

इस सूत्र मे सागरोपम शब्द का फिर दुबारा ग्रहण कर देने से अनुवृत्तिद्वारा चले आ रहे "कोटीकोटी" शब्द का निवारण हो जाता है, अतः केवल तेंतीस सागर की स्थिति समझी जाती है "परास्थिति" इस शब्द की भी यहा अनुवृत्ति हो रही है अत. नरकायुष्य या देवायुष्य कर्म में उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागर पडती है यह समझ लिया जाता है यह आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति भी सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्य या तिर्यञ्च जीव के ही बन्धेगी, जोकि सर्वार्थसिद्धि या सप्तम नरक को जाने वाले है । सर्वार्थसिद्धि को मुनि, मनुष्य ही जाते हैं और सप्तमनरक को मनुष्य और मत्स्य तिर्यञ्च जाते है । अन्य एकेन्द्रिय आदि के बध रहे आयुष्य कर्म की स्थितियो का परमागम अनुसार निर्णय कर लिया जाय उसी को कुछ स्पष्ट कर इस प्रकार दिखलाते है कि असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त हो रहे जीव करके बाधे जा रहे आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम काल के असख्यातवे भाग है । असंज्ञी जीव मर कर पहिले नरक तक जाता है शेष देव, नारकी, द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय आदि जीवो करके बाधे जा रहे आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति करोड पूर्व वर्षो की पडती हैं । कर्मभूमि के मनुष्य या तिर्यञ्चो की भुज्यमान आयु इससे अधिक नही होती है । चौरासी लाख वर्षो का एक पूर्वाङ्ग काल होता है और चौरासी लाख पूर्वाङ्गो का एक पूर्व नाम का काल होता है । "पुव्वस दु परिमाणं सदरिं खलु कोडि सद-सहस्साइम्, छप्पण्ण च सहस्सा बोद्धव्वा वास कोडीण" यह आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति भी उस ही प्रकार बाधाओ से रहित है जिस प्रकार कि उपरिकथित कर्मो की स्थिति निर्बाध है । इसी बात को ग्रन्थकार अगली वार्तिक मे कह रहे है ।

तथायुषस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमसंख्यया ।
परमस्थितिनिर्णीतिरिति साकल्यतः स्मृता ॥ १ ॥

जिस ही प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मो की स्थिति का बाधकाभावो अनुसार युक्तियो करके निर्णय कर दिया है उस ही प्रकार आयुष्य कर्म की उपमाप्रमाण मे कही गयी सागर नाम की सख्या करके तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति का निर्णय कर लिया जाय यो सम्पूर्ण रूप से आठो मूलकर्मो की सर्वज्ञभापित और गुरुपरिपाटी अनुसार चली आ रही अतीन्द्रिय स्थिति का निरूपण किया जा चुका हैं।

कर्मणामष्टानामपि परास्थितिरिति शेषः—

इस कारिका मे आठो भी कर्मो की उत्कृष्टस्थिति निर्णीत कर दी गयी है इस अर्थके वाचक पद शेष रह गये हैं। अतः इन पदो को जोडकर वार्तिक के पदो का अर्थसन्दर्भ लगा लेना चाहिये।

अथ वेदनीयस्य काऽपरास्थितिरित्याह।

कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति के बन्ध का निरूपण कर अब सूत्रकार जघन्य स्थिति का निरूपण करते हैं, प्रथम ही लाघव के लिये आनुपूर्वी का उल्लघन कर स्वसवेद्य फलवाले वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥

वेदनीय कर्म की जघन्यस्थिति तो बारह मुहूर्त है। दो घडी यानी अडतालीस मिनट काल को एक मुहूर्त कहते है।

सूक्ष्म सांपराये इति वाक्यशेष । एतदेवाह—

इस सूत्र मे "सूक्ष्मसापराय गुणस्थान मे यह स्थिति बध पडता है" इतना वाक्य शेष रह गया है अतः सूत्र और शेप वाक्य का मिलाकर यो अर्थ कर लिया जाय कि दशवे गुणस्थान में बध रहे वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की पडती है। इस ही वात को श्री विद्यानन्द आचार्य अगली वार्तिक द्वारा कह रहे हैं।

अधुना वेदनीयस्य मुहूर्ता द्वादश स्थितिः।
सामर्थ्यान्मध्यमा मध्येऽनेकधा संप्रतीयते ॥ १ ॥

कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण कर चुकनेपर अब इस समय वेदनीय

कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की कही जा रही है। अधुना के स्थानपर "अपरा" पाठ और भी अच्छा है। वेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागर कही गयी है, और जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की है। ऐसी दशा मे विना कहे ही मात्र उक्त पदो के सामर्थ्य से यह बात भले प्रकार प्रतीत कर ली जाती है कि मध्य मे पडे हुये बारह मुहूर्त से अधिक हो रहे एक, दो, तीन आदि समयो को आदि लेकर एक समय कम तीस कोटा कोटी सागर काल तक असख्याती अनेक प्रकार की मध्यम स्थितिया है वेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति के समान जघन्य, मध्यम, स्थितियो की भी युक्तियो से सिद्धि कर ली जाय, बाधक प्रमाणो का असंभव होना यह हेतु सुबोध्य है। अतीन्द्रिय या गुप्त पदार्थो को "असंभवद्बाधकत्वात्" इस ही एक हेतु से साध लिया जाता हैं।

अथायुषोनंतरयोः कर्मणोः का जघन्या स्थितिरित्याह —

अव इसके पश्चात् आयुष्य कर्म के अव्यवहित उत्तरवर्ती कहे गये नाम और गोत्र इन दो कर्मा की जघन्य स्थिति कितनी है? इस प्रकार बुभुत्सा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अगले सूत्र को कह रहे है।

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

नाम और गोत्र कर्मो की जघन्य स्थिति तो आठ मुहूर्त है "सव्वठिदीणमुक्कस्सओदु उक्कस्ससकिलेसेण, विवरीदेण जहण्णो आउगतिय वज्जियाणं तु" तीन आयुओ को छोडकर अन्य सभी कर्मो की जघन्य स्थिति तो सक्लेशरहित परिणामो से बधती है अत सबसे कमती मन्दकषाय को धार रहे दशवे गुणस्थान मे ही जघन्य स्थिति पडेगी।

मुहूर्ता इत्यनुवर्तते अपरा स्थितिरिति च। सा च सूक्ष्मसांपराये विभाव्यते। तथाहि—

अपरा, स्थिति ये पद और मुहूर्ता यो इन तीन पदो की अनुवृत्ति कर ली जाती है तब उक्त सूत्रार्थ सुघटित हो जाता है। हॉ, वह नाम गोत्र कर्मो की, जघन्य स्थिति सूक्ष्मसॉपराय नामक दशवे गुणस्थान मे है यह विचार लिया जाता है। ग्रन्थकार इस सूत्रोक्त रहस्य का ही व्याख्यान कर अग्रिम वार्तिक मे स्पष्टीकरण करते है।

सा नामगोत्रयोरष्टौ मुहूर्ता इति वर्तनात्।
यामादयो व्यवच्छिन्नाः कामं मध्येस्तु मध्यमा ॥ १ ॥

मुहूर्ता इस शब्द की अनुवृत्ति कर देनेसे नाम और गोत्र कर्म की वह जघन्य

स्थिति आठ मुहूर्त की है यह सूत्र में कहा गया प्रतीत हो जाता है। मुहूर्त कह देने से पहर, दिन, वर्ष, घडी आदि का व्यवच्छेद कर दिया गया है। हा, आठ मुहूर्त से एक आदि समय अधिक वीस कोटाकोटी सागर तक मध्य मे सभव रही प्रहर दिवस आदि असख्याती मध्यमस्थितिया भले ही वनी रही, वे हमें इष्ट है। जघन्य और उत्कृष्ट स्थितियो का निरूपण कर चुकने पर मध्यम स्थितिया तो यथेच्छ निरूपित हो ही जाती है।

अथोक्तेभ्योऽन्येषां कर्मणां का निकृष्टा स्थितिरित्याह:—

अव कहे जा चुके वेदनीय, नाम, गोत्र, कर्मो से अन्य शेप रहे पाच कर्मो की जघन्य स्थिति क्या है? इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

शेषाणामंतर्मुहूर्ता ॥ २० ॥

शेष मे बच रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय और आयुष्य इन पाच कर्मो की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। आवली से ऊपर और मुहूर्त से नीचे के काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं।

अपरा स्थितिरित्यनुवर्तते। शेषाणि ज्ञानदर्शनावरणान्तरायमोहनीयायूंषि। तत्र ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां सूक्ष्मसांपराये मोहनीयस्यानिवृत्तिबादरसांपराये, आयुषः संख्येयवर्षायुषतिर्यग्मनुष्येषु।

अपरा और स्थिति इन दो शब्दो की यहा अनुवृत्ति कर ली जाती है। उक्त तीन कर्मों से शेष बच रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय और आयु ये पाच कर्म हैं। तिनमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तराय कर्मो की तो जघन्य स्थिति सूक्ष्म-सापराय गुणस्थान में सम्भवती हैं और मोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तवाली नवमे अनिवृत्तिबादरसापराय नामक गुणस्थान मे पडती है। दशवें गुणस्थान मे मोहनीय का बंध ही नही हैं। हाँ, आयुकर्म को जघन्य स्थिति तो सख्यात वर्षो की आयुवाले तिर्यञ्च, मनुष्यो के पड सकती है। वे लब्ध्यपर्याप्तक जीव जन्म धारने की अवस्था मे श्वास के अठा-रहवें भाग कालतक जीवित रहते है।

सर्व कर्मणां स्थितिबंधमुपसंहरन्नाह।

स्थितिबंध की समाप्ति करते हुये अव सम्पूर्ण कम के स्थितिबन्ध का उप

सहार कर रहे ग्रन्थकार इन अग्रिम वार्तिकों को कहते है।

शेषाणां कर्मणामंतमुहूर्ता चेति कात्स्न्र्यतः।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टा स्थितिर्या प्रतिपादिता ॥ १ ॥
तया विशेषितर्बंधः कर्मभिः स्वयमाहृतैः।
स्थितिबंधोवबोद्धव्यस्तत्प्राधान्यविवक्षया ॥ २ ॥
स्थित्या केवलया बंधस्तद्वच्छून्यैर्न युज्यते।
तद्वदाश्रितया त्वस्ति भूमिभूधरयोरिव ॥ ३ ॥
स्थितिशून्यानि कर्माणि निरन्वयविनाशतः।
प्रदीपादिवदित्येतास्थितेः सिद्धानि धार्यते ॥ ४ ॥

शेप पाच कर्मो की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त है। यो उक्त सात सूत्रो द्वारा आठ कर्मो की परिपूर्णरूप से जो जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट स्थितियो का प्रतिपादन किया गया है उन स्थितियो से विशेषतया अनुरजित हो रहे और स्वय योगो द्वारा आहार प्राप्त हो रहे कर्मो के साथ आत्मा का स्थितिबध हो रहा है। यहा प्रकरण मे उस स्थिति के प्रधानपन की विवक्षा करके स्थितिबध समझ लेना चाहिये। यो तो आस्रव और चारो बन्ध होने का एक ही समय हैं किन्तु कषायो के स्थितिबंधाध्यवसायस्थानो अनुसार कर्मो मे स्थिति पड जाना समझा दिया गया है। जीव के योगो और कषायो अनुसार प्रकृतिबध तथा स्थितिबध साथ ही होते है केवल स्थिति के साथ ही बध नही होता है और उसीके समान स्थिति से शून्य हो रहे कर्मों के साथ भी बध होना युक्त नही हैं। हा, उस स्थिति वाले कर्मो के आश्रित हो रही स्थिति के साथ बध तो है जैसे कि भूमि यानी पृथ्वी और भूमिधर पर्वत का आश्रयआश्रयीभाव है, भावार्थ—भूमि आश्रित है और पर्वत आधार है। यहां देखी जा रही भूमि के नीचे बहुत स्थानोपर ककड, पत्थर के पहाड मिलते है। भूमि को पहाड डाटे भी रहते है जिससे कि गाय भूकम्प नही हो पाता हैं। अथवा "न केवला प्रकृति प्रयोक्तव्या न केवल प्रत्ययः" प्रकृतिरहित न केवल प्रत्यय बोला जाता हैं और प्रत्यय से रहित कोरी प्रकृति भी नही बोली जा सकती है। उपचार से भले ही ट, पट, सु, औ, जस्, भ्, पच्, तिप्, तस् आदि को बोल लो उसका कोई अर्थ नही समझा जाता है। उसी प्रकार कर्मो से रहित केवल स्थिति का या स्थिति से रीते केवल कर्मो का बध होना उचित

नही है। ग्यारहवे, बारहवे और तेरहवे गुणस्थानो में जो सातावेदनीय का बंध होता है उसे बंध ही नही समझा जाय अथवा उसमे भी पड गयी एक समय की स्थिति को स्थितिबध माना जाय, द्वितीय क्षण मे उसकी निर्जरा हो जाती है। स्थिति पूरी हो जाने पर कर्म उदय को प्राप्त हो जाते है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सामग्री नही मिलने से कतिपय कर्मों का प्रदेश उदय हो जाता है शेष का फलोदय यानी रसोदय हो जाता है। पुनः वे स्थितिशून्य कर्म स्वकीय कर्मत्वपर्याय का विनाश हो जाने से प्रदीप आदि के समान दूसरी पुद्गल पर्यायो को धार लेते हैं अर्थात् धोबी वस्त्र से मैल अलग कर देता है, यहा वही मल वस्त्र से हटकर दूसरी पर्याय को धार लेता हैं। किसी भी उपाय से मल पुद्गलद्रव्य का समूलचूल नाश नही हो सकता है, प्रदीपकलिका नष्ट होकर काजल अवस्था को धार लेती है प्रत्येक पदार्थ मे उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य सुघटित हो रहे हैं जीवो के परिणामो को निमित्त पाकर कार्मणवर्गणारूप पुद्गल ही ज्ञानावरणादि स्वरूप कर्म हो कर के उपजते हैं कुछ काल तक वे कर्म होकर ठहरते हैं स्थिति पूरी हो जानेपर कर्मत्व परिणामो का विनाश हो जाता है। इस प्रकार ये कर्म भी उत्पाद और व्यय के समान स्थिति से भी प्रसिद्ध हो रहे है यह सिद्धान्त चित्त में धारण कर लिया जाता है।

निर्णीता हि स्थितिः सर्वपदार्थानां क्षणादूर्ध्वमपि प्रत्यभिज्ञानादबाधितस्वरूपाद्भेदप्रत्ययादुत्पादविनाशवत्। ततः स्थितिमद्भिः कर्मभिरात्मनः स्थितिबन्धोऽनेकधा सूत्रितोऽनवद्यो बोद्धव्य प्रकृतिबन्धवत्।

बौद्ध पण्डित प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक मानते है क्षण के ऊपर दूसरे क्षणमें वे उसका नाश हो जाना अभीष्ट करते है। इस बौद्धमन्तव्य का निराकरण कर हम पहले प्रकरणो में सम्पूर्ण पदार्थो की एक क्षण से ऊपर भी अनेक क्षणो तक स्थिति रहती हैं इसका निर्णय कर चुके हैं जब कि बाधाओ से रहित स्वरूप को धारनेवाले "स एव अय" इस प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से पदार्थों का ध्रौव्य सिद्ध हो रहा है। जैसे कि "यह अमुक से भिन्न है" पहिली अवस्था से यह अवस्था न्यारी उपजी है, इस भेदज्ञान से उत्पाद और विनाश सिद्ध हो रहे बौद्धो को मानने पडते है। उसी प्रकार एकत्वप्रत्यभिज्ञान से पदार्थो का कालान्तरस्थायित्व भी सिद्ध है तिसकारण से यह समझ लिया जाय कि—स्थिति को धार रहे कर्मों के साथ आत्मा का जो अनेक प्रकारो से स्थितिबंध हो रहा उक्त सात सूत्रो मे कहा गया है वह निर्दोष है। जैसे कि ज्ञानावरणादि प्रकृतियो के बध का सूत्रकार ने दोषरहित निरूपण किया है उसी प्रकार स्थितिबंध भी प्रमाणसिद्ध हुआ निर्दोष है।

अथानुभवबंधं व्याचष्टे —

प्रकृतिबध और स्थितिबंध की निरूपणा के अनन्तर सूत्रकार अब क्रमप्राप्त अनुभव बध का अग्रिम सूत्र द्वारा व्याख्यान करते हैं--

विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

आये हुये कर्मो मे तीव्र, मन्द, भावों अनुसार नानाप्रकार अनुग्रह या उपघात रूप विपाक पड जाना अनुभवबध है। अर्थात् खाये हुये रोटी, दाल, दूध, भुसा, घास, आदि मे शरीरप्रकृति अनुसार जैसे रस देने की शक्ति पड जाती है उसी प्रकार कर्मों मे भी आत्मा को फल देने की सामर्थ्य पड जाती है। वस्तुतः इस अनुभव बध द्वारा ही आत्मा अनेक आकुलताओ को प्राप्त हो रहा है।

विशिष्टः पाको नानाविधो वा विपाक पूर्वास्रवतीव्रादिभावनिमित्तविशेषाश्रयत्वात् द्रव्यादिनिमित्तभेदेन विश्वरूपत्वाच्च सोनुभव. कथ्यते। शुभपरिणामानां प्रकर्षाच्छुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोनुभवः, अशुभपरिणामानां प्रकर्षात्तद्विपर्ययः।

विपाक शब्द मे वि उपसर्ग का अर्थ विशिष्ट या विविध प्रकार है। कर्मो मे विशिष्ट हो रहा अथवा नाना प्रकार पड रहा जो पाक है वह विपाक हैं। पहले छठे अध्याय मे कहे गये आस्रव के तीव्र भाव, मन्दभाव आदि विशेष निमित्तो का आश्रय पाने से कर्मों मे विशिष्ट पाक हो जाता बताया है अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि भिन्न भिन्न निमित्तों करके सम्पूर्ण जगद्वर्त्ती अनेक रूप हो जाने से वह नाना प्रकार विपाक हो रहा अनुभव बन्ध कहा जाता है। जगत् मे पण्डिताई, मूर्खता, निर्धनता, सुन्दरता, नीरोगजीवन, यशस्वी होना, स्त्री हो जाना, घोडा बन जाना आदि सभी विश्वरूप चमत्कार जो दीख रहा हैं वह सब कर्मों का विपाक है। दानकरना, पूजनकरना, दया करना, आदि शुभपरिणामो की प्रकर्षता से शुभ-पुण्य प्रकृतियो का प्रकृष्ट अनुभवबध पडती है, और झूंठ बोलना, हिंसा करना, धोखा देना, परनिन्दा करना आदि अशुभ कर्मो की बढवारी से उसका विपर्यय यानी अशुभपापप्रकृतियो का अनुभवबध प्रकर्ष को लिये हुये पडता है। गोम्मटसार मे भी " सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण सकिलेसेण। विवरीदेण जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं " यही समझाया गया है।

स किंमुखेनात्मनः स्यादित्याहः—

उदय काल में अनेक पाक दे रहा वह अनुभागबंध भला किस मुख करके आत्मा को फल उपजावेगा? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार अगली वार्तिक को कह रहे हैं।

विपाकोनुभवो ज्ञेयः पुद्गलादिमुखेन तु।
कर्मणां फलनिष्पत्तौ सामर्थ्यायोगतोन्यथा ॥ १ ॥

पुद्गल, क्षेत्र, आदि की मुख्यता करके जीव मे कर्मो का विपाक हो रहा तो अनुभवबंध समझना चाहिये, अन्य प्रकारो से जीव को फल की उत्पत्ति कराने मे कर्मो का सामर्थ्य नही है। भावार्थ—जैसे कि कोई मायाचारी दुष्ट पुरुष किसी सज्जन को अनेक द्वारो से दुःख पहुचाता रहता है उसी प्रकार कर्म भी पुद्गल, भव आदि द्वारो करके जीव को आकुलताये उपजाते रहते हैं। अन्य शुद्ध, विशुद्ध ढगो से उनकी फलदानसामर्थ्य का अयोग है।

पुद्गलविपाकिनां कर्मणामगोपागादीना पुद्गलद्वारेणानुभवोऽन्यथात्मनि फलदाने सामर्थ्याभावात्। क्षेत्रविपाकिनां तु नरकादिगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यादीना क्षेत्रद्वारेण, जीवविपाकिनां पुनर्ज्ञानावरणसद्वेद्यादीनामात्मभावप्रतिषेधाविधानविधानाना जीवमुख्येनैव, भवविपाकिनां तु नारकाद्यायुषां भवद्वारेण तत एव।

शरीर, मन आदि पुद्गलो मे विपाक करना जिनकी टेव है ऐसे शरीर अगोपाग, निर्माण, स्थिर आदि कर्मप्रकृतियो का पुद्गल द्वारा ही जीव को अनुभाग प्राप्त होता है अन्य प्रकारो से आत्मा को (के लिये) फल देने मे कर्मों के सामर्थ्य का अभाव है। परभव के लिये जा रहे जीव को क्षेत्र मे विपाक देने की टेववाले नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, तिर्यञ्चगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य आदिक क्षेत्रविपाकी कर्मो का तो गमन क्षेत्र द्वार करके आत्मा मे अनुभव प्राप्त होगा। साक्षात् जीव मे अनुभाग देने की प्रकृति को धार रहे ज्ञानावरण, सातावेदनीय, मोहनीय, गति, गोत्र, आदि कर्मो का फिर विपाक तो जीव की सन्मुखता करके ही होता है। जीव म विपाक करने वाली कुछ कर्मप्रकृतिया तो ऐसी है जो आत्मीय भाव का निषेध नही करती है। मतिज्ञानावरण आदि देशघाती प्रकृतिया तो प्रतिपक्षी गुण को तारतम्यरूप से न्यून कर देती है। गति, जाति, आदिक अघाति कर्म प्रकृतिया तो आत्मीय स्वभावो का प्रतिषेध नही करती है सूक्ष्मत्व आदिक प्रतिजीवीगुणो को प्रकट नही होने देती है। हाँ, केवलज्ञानावरण, मिथ्यात्व आदि सर्वघाती कर्म तो आत्मीय अनुजीवी भावो का प्रतिषेध कर रहे है। एकसौ अडतालीस प्रकृतियो मे से अठत्तर प्रकृतियो का जीव

से ही विपाक होता है। ससरण हो रहे भव मे अनुभव कराने के स्वभाव को धार रही नरक आयु, तिर्यगायु, आदि चार प्रकृतियो का भव द्वार करके अनुभव होता है। "तत , एव" इस हेतु को बासठ पुद्गल विपाकी प्रकृतियो के समान चार क्षेत्र विपाकी, अठत्तर जीवविपाकी, और भवविपाकी, कर्मों के साथ भी लगा लेना। अर्थात् तिस ही कारण से यानी उक्त तीन प्रकार की प्रकृतियो का क्षेत्र, जीव, भव, इनके द्वारा ही आत्मा मे अनुभव होता है अन्य प्रकारो से फल देने में इनकी सामर्थ्य नही है।

तेन मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवो, अतुल्यजातीयानामुत्तरप्रकृतीनां च निवेदितः। तुल्यजातीयानां तूत्तरप्रकृतीनां परमुखेनापीति प्रतिपत्तव्यमन्यत्रायुर्दर्शनचारित्रमोहेभ्यः, तेषां परमुखेन स्वफलदाने सामर्थ्याभावात्।

तिस निरूपण करके इस रहस्य का भी निवेदन कर दिया गया है कि ज्ञानावरण आदि आठ मूल प्रकृतियो का अपनी-अपनी ही मुख्यता करके आत्मा मे विपाक होता है। ज्ञानावरण प्रकति कभी दर्शनावरण रूप संक्रमण नही करती है उच्च गोत्र भले ही नीच गोत्र कर्मरूप परिणमन कर अनुभव देने लग जाय किन्तु नीच गोत्र कर्म कभी नामकर्म बनकर अनुभव नही करा सकेगा, तथा जो तुल्यजातिवाली नही है ऐसी उत्तर प्रकृतियो का भी स्वकीय मुख करके ही अनुभव होगा। अप्रत्याख्यानावरणक्रोध प्रत्याख्यानावरण रूप से फल दे सकता है किन्तु अप्रत्याख्यानावरण क्रोध का हास्य ता रति रूप करके विपाक नही होता है। गतिकर्म का स्पर्श कर्मफल रूप से आत्मा मे विपाक नही होता है। हाँ, तुल्य जातिवाली उत्तर प्रकृतियो का तो अन्य प्रकृतिरूप करके भी अनुभव हो जाता समझ लेना चाहिये। जैसे कि मतिज्ञानावरण का श्रुतज्ञानावरण के फलरूप मे विपाक हो सकते है। हाँ, इन तुल्यजातिवाली उत्तरप्रकृतियोमे चारो आयुये तथा दर्शनमोहनीय ओर चारित्रमोहनीय को छोड देना चाहिये। उन आयुः आदिक कर्मो की परप्रकृतिजन्य फल की मुख्यता करके अपने फल को देने मे सामर्थ्य नही है। नरकआयु कर्म का तिर्यचआयु या मनुष्य आयु रूप से विपाक नही होता है इसी प्रकार दर्शन मोहनीय कर्म का विपरिणाम होकर चारित्र मोहनीय कर्म के मुख करके फल प्राप्त नही होता है।

कुतः पुनर्ज्ञानावरणादिकर्मप्रकृतीनां प्रतिनियतफलदानसामर्थ्यं निश्चीयते इत्याह--

अग्रिम सूत्र के अवतरण की अनुसार प्रतिपत्ति कराते है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मप्रकृतियो की प्रत्येक कर्म के लिये नियत हो रहे फल को देने

सामर्थ्य है इस रहस्य का निर्णय किस प्रकार से किया जाय ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अगले सूत्र को कह रहे हैं।

स यथानाम ॥ २२ ॥

वह कर्मों का विपाक तो कर्मों की अन्वर्थसज्ञा अनुसार जान लिया जाय। ज्ञानावरण कर्म का सामर्थ्य ज्ञान को आवरण करने का है, और दर्शनावरण का अनुभव दर्शनशक्ति का घात करना है आदि। बहुत अच्छा प्रमोद का अवसर है कि सर्वज्ञआम्नाय अनुसार कर्मों के नाम वही प्रसिद्ध चले आ रहे हैं जो कि उनका शब्दार्थ निकालता है यो सभी मूल प्रकृतियोका वाचकनामके वाच्यार्थ अनुसार विपाक हो रहा समझ लिया जाय।

यस्मादिति शेषस्तेन ज्ञानावरणादीनां सविकल्पानां प्रत्येकमन्वर्थसंज्ञानिर्देशात् तदनुभवसंप्रत्ययः। ज्ञानावरणादिकमेव हि तेषा प्रयोजनं नान्यदिति कथमन्वर्थसज्ञा न स्यात् ? तत —

उक्त सूत्र का वाक्यार्थ करते हुये यस्मात् इस शेष रहे पद के अर्थ को जोड लेना चाहिये, तिस कारण सूत्र का अर्थ यो हो जाता है कि भेद–प्रभेदो से सहित हो रहे ज्ञानावरण आदि कर्मो के प्रत्येक की स्वकीय यौगिक अर्थ को ले रही सज्ञा का निर्देश कर देने से उन कर्मों के फल देने की सामर्थ्य का समीचीन ज्ञान हो जाता है। छोटा नाम नही रख इतनी लम्बी, चौडी, संज्ञा धरने का यही प्रयोजन है कि पुनः उन कर्मो के पारिभाषिक या रूढि अर्थ नही करने पडे। उन ज्ञानावरण आदि कर्मो का ज्ञान का आवरण कर देना आदिक ही प्रयोजन है अन्य कोई इतने बडे शब्दप्रयोग का फल नही है। हाँ, कर्मों का नाम वाच्यार्थ अनुसार घटित हो जाने से इनकी अन्वर्थ संज्ञा क्यो नही समझी जावेगी ? अर्थात् अवश्य इन कर्मो का जो नाम हैं वही इनका कार्य है यह निर्णीत हो जाता है। और तिस निरूपण से क्या सिद्धान्त पुष्ट हुआ ? उसको अगली दो वार्तिको द्वारा समझियेगा।

सामर्थ्यान्नामभेदेन ज्ञायेतान्वर्थनामता,
नुर्ज्ञानावरणादीनां कर्मणामन्यथाऽस्मृतेः ॥ १ ॥
तथा चानुभवप्राप्तैरात्मनः कर्मभिर्भवेत्।
एषोनुभवबन्धोस्यान्यास्रवस्य विशेषतः ॥ २ ॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मो के भिन्न भिन्न नामो अनुसार आत्मा को

फल देने की सामर्थ्य है इससे उन कर्मो की अन्वर्थ संज्ञा को जान लिया जाता हैं अन्य प्रकारों से उन कर्मो के नामो की स्मृति नही हो रहो है। गुरुवर्गक्रम अनुसार आचार्य परम्परा मे जो वात जैसी स्मृत हो रही चली आ रही हैं ग्रन्थकारो को उसी प्रकार उसका निरूपण करना पडता है। यहा प्रकरण मे कर्मो के नाम उसी प्रकृति गत्ययार्थ को लेकर प्रसिद्ध चले आ रहे है और तिस प्रकार अनुभव देते हुये प्राप्त हो रहे कर्मो के साथ ससारी आत्मा का यह तीसरा अनुभवबध हो जाता है। इस अनुभव बध की अन्य आस्रव की अपेक्षा विशेषतया है, अर्थात् यदि कर्मो में अनुभवबध नही पडे तो अन्य कोरे आस्रवो या प्रकृति, प्रदेश बन्धों से आत्मा की कोई क्षति नही हो सकती हैं। छोटे से एकेन्द्रिय जीव मे स्थितिबध और प्रदेशबध भले ही स्वल्प है किन्तु अनुभवबध प्रकृष्ट है। अतः अनुभवबंध अन्य बन्धो की अपेक्षा विशिष्ट हो रहा चमत्कारक है।

किं पुनरस्मादनुभवाद्दत्तफलानि कर्माण्यात्मन्यवतिष्ठंते किं वा निर्जीर्यत इत्याह —

यहा सूत्रकार महोदय के प्रति किसी जिज्ञासु का प्रश्न है कि फिर इस अनुभव करने से फल को दे चुके वे कर्म क्या आत्मा में वही ठहरे रहते हैं? अथवा क्या वे कर्म निर्जरा को प्राप्त हो जाते है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर महामना सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कह रहे है।

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

और उन कर्मो के अनुभव हो जाने के पश्चात् उन कर्मो की निर्जरा हो जाती है। अर्थात् खाया हुआ भात जैसे आत्मा के लिये सुख या दुःख देकर मलाशय द्वारा निकल जाता है वही पेट मे नही ठहरा रहता है उसी प्रकार कर्म भी अपनी स्थिति की पूर्णता हो जाने से फल देकर निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं।

पूर्वोपार्जितकर्म परित्यागो निर्जरा। सा द्विप्रकारा विपाकजेतरा च। निमित्तांतरस्य समुच्चयार्थश्चशब्दः। तच्च निमित्तांतरं तपो विज्ञेय तपसा निर्जरा चेति वक्ष्यमाणत्वात्।

पहिले समयो मे उपार्जन कर लिये गये कर्मो का स्थिति अनुसार परित्याग हो जाना निर्जरा है और वह निर्जरा कर्मो के यथाकाल विपाक से उपजी विपाकजा और इससे न्यारी कर्मो के विपाककाल से प्रथम ही पुरुषार्थ द्वारा बलात्कार से उदय मे ले आये गये कर्मो के फल से उपजी अविपाकजा यो दो प्रकार की है। इस सूत्र में च शब्द का ग्रहण

तो निर्जरा के अन्य निमित्तकारण का समुच्चय करने के लिये है और वह इससे न्यारा निमित्त तो तप समझना चाहिये कारण कि आगे नववे अध्याय में तप से निर्जरा भी होती हैं यो सूत्रकार महाराज स्वय निरूपण करेगे ।

संवरात्परत्र पाठ इति चेन्न, अनुभवानुवाद परिहारार्थत्वात् । पृथग्निर्जरावचनमनर्थकं बन्धेंतर्भावादिति चेन्न अर्थापरिज्ञानात् । फलदानसामर्थ्यं हि अनुभवबंधस्ततोनुभूतानां गृहीतवीर्याणां पुद्गलानां निवृत्तिनिर्जरा सा कथ तत्रांतर्भवेत्? तस्य तद्धेतुत्वनिर्देशात्तद्भेदोपपत्तेः ।

यहाँ कोई शका उठाता है कि आठवे अध्याय मे बधतत्त्व का निरूपण है, अभी सवरतत्त्व का भी निरूपण नही हुआ हैं संवर से परली और निर्जरा का पाठ होना चाहिये जैसे तत्त्वो का कथन किया गया है उसी क्रम से उनके व्याख्यान का निर्देश होना न्याय उचित है । ग्रन्थकार समाधान करते है कि यह तो न कहना । क्योकि अनुभव (अनुभागबध) के पुन अनुवाद करने का परिहार करने के लिये यहा लाघवप्रयुक्त निर्जरा को कह दिया हैं । तत्त्वो के उद्देश अनुसार सामान्य रूप से निर्जरा को जान ही लिया है । यदि वहा नवमे अध्याय मे ही निर्जरा कही जाती तो कर्मो का विपाक होना अनुभव बध हैं इसका पुन अनुवाद करना पडेगा, क्योकि अनुभव के पश्चात् निर्जरा हो जाती हैं इस अभीष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति तभी हो सकती है । अत सूत्रकार का यह प्रयत्न स्तुत्य है । यहाँ कोई शका करता है कि निर्जरा का पृथक् निरूपण करना व्यर्थ है कारण कि अनुभव बध मे निर्जरा का अन्तर्भाव हो जायगा । ग्रन्थकार कहते हैं कि यो नही कहो, तुमको प्रकरणप्राप्त अर्थ का परिज्ञान नही हुआ है । जब कि फल देने की सामर्थ्य को अनुभवबध कह दिया गया है उससे अनुभव कर लिये गये उन पुद्गलो की निवत्ति हो जाना निर्जरा है । जो कि कपायो द्वारा आत्मा के अनुग्रह तथा उपघात करने की शक्ति को ग्रहण कर चुके थे, स्थिति पूर्ण हो चुके कर्म आत्मा को फल देकर हट जाते हैं । कर्मत्व पर्याय से च्युत होकर अन्य पुद्गल अवस्थाओ मे प्राप्त हो जाते है । भला इतने प्रयोजन को कह रही यह प्रसिद्ध निर्जरा उस बध मे किस प्रकार गर्भित हो सकती थी ? । सूत्रोक्त "तत" यह हेतु मे पचमी है, अनुभवबध हेतु है और निर्जरा उसका फल है । यो उस अनुभव बंध को उस निर्जरा का हेतु हो जाने का कथन कर देने से उन हेतु और हेतुमान् मे भेद की सिद्धि हो जाती है यदि अनुभव बध म निर्जरा गर्भित हो जाती तो " स निर्जरा " यो सूत्रपाठ हो जाना चाहिये था ।

लघ्वर्थमिहैव तपसा चेति वक्तव्यमिति चेन्न सवरानुग्रहतंत्रत्वात् । तपसा निर्जरा

भवति संवरश्चेति । धर्मेन्तर्भावात्सवरहेतुत्वमिति चेन्न,पृथग्ग्रहणस्य प्राधान्यख्यापनार्थत्वात् । एतदेवाह —

पुनः शंकाकार कहता है कि यदि यहाँ सूत्रकार को विपाक के पश्चात् निर्जरा हो जाने का निरूपण करना आवश्यक प्रतीत हुआ तो फिर यहाँ ही सूत्रलाघव के लिये "तपसा च" तप से भी निर्जरा हो जाती है यो कह देना चाहिये। नवमे अध्याय में "तपसा निर्जरा च" यो नही कहना पडेगा, "निर्जराच" इतने अक्षरो का लाघव क्या थोडा है ? ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना। कारण कि सवर का अनुग्रह करने की अधीनता है तप से निर्जरा होती हैं और संवर भी होता है यो इस अर्थ के लिये "संवरश्च" यो भी कहना पडेगा, फिर लाघव कहा रहा ? और अच्छा भी नही जंचा, "ततो निर्जरा तपसा च" यो कहकर "संवरश्च" कथन करना उचित नही दीखता है। पुन शकाकार अपने आग्रह को पुष्ट कर रहा है कि उत्तमक्षमा आदि दशधर्मो मे उत्तम तप को सवर का हेतु कहा जायेगा यो धर्म मे अन्तर्भाव हो जाने से तप में सवर का हेतुपना सिद्ध है और यहाँ तप का कथन कर देने से तप को निर्जरा का कारण जान लिया जायगा। पुनः नवमे अध्याय में तप का ग्रहण करना व्यर्थ पडेगा, अतः लाघव हुआ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना। क्योकि सवर और निर्जरा इन दोनो के हेतुओ में तप प्रधानभूत हैं इस प्रधानता का बखान करने के लिये तप का यहा और वहा पृथक् ग्रहण करना आवश्यक हैं। इस ही रहस्य को ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिको मे कह रहे हैं।

> ततश्च निर्जरेत्येतत्संक्षेपार्थमिहोदितं ।
> निर्जरा प्रस्तुतेरग्रेप्येतद्भेदप्रसिद्धये ॥ १ ॥
> यथाकालं विपाकेन निर्जरा कर्मणामियं ।
> वक्ष्यमाणा पुनर्जीवस्योपक्रमनिबन्धना ॥ २ ॥

सूत्रकार महाराज ने यहां संक्षेपपूर्वक अर्थप्रतिपत्ति कराने के लिये "ततश्च निर्जरा" यह सूत्र कह दिया है। कर्मो का विपाक होने के पश्चात् उनकी निर्जरा होती है। यो निर्जरा यहां प्रस्ताव प्राप्त है। नौवे अध्याय मे कहते तो अनुभव का पुनः निरूपण करने से गौरव हो जाता। एक प्रयोजन यह भी है कि "ततश्च" कह देने से इस अनुभव-बध से निर्जरा के भेद की प्रसिद्धि हो जाती हैं हेतु से हेतुमान् न्यारा होता है। अपनी-अपनी स्थिति अनुसार योग्य काल मे कर्मो के विपाक करके यह विपाकजन्य निर्जरा होती रहती

है। दूसरी निर्जरा फिर जीव के उपक्रमक्रियाविशेष को कारण मानकर होती हैं। वह अविपाक निर्जरा भविष्य मे कही जायगी। पाल मे देकर आम्रफल, पनस आदि का जैसे योग्य काल से पूर्व मे ही परिपाक कर दिया जाता है उसी प्रकार आत्मीय पुरुषार्थ करके भविष्य मे उदय आने वाले कर्मों का भी विपाक वर्तमान मे कर दिया जाता है। फल देकर इन कर्मो का निकल जाना औपक्रमिक निर्जरा है। क्वचित् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावो को निमित्त नही पाकर स्थितिपूर्ण हो चुके कर्मो का आत्मा को फल दिये विना खिर जाना अविपाकनिर्जरा ली गयी है। तपः से भी अविपाकनिर्जरा होती है।

प्रागनुक्ता समुच्चार्या चशब्देनात्र सा पुनः
तपसा निर्जरा चेति नियमो न निरुच्यते ॥ ३ ॥
फलं दत्वा निवर्तते द्रव्यकर्माणि देहिनः।
तेनाहृतत्वतः स्वाद्याद्याहारद्रव्यवत्स्वयं ॥ ४ ॥
भावकर्माणि नश्यंति तन्निवृत्त्यविशेषतः।
तत्कार्यत्वाद्यथाग्न्यादिनाशे धूमादिवृत्तयः ॥ ५ ॥

इस सूत्र मे च शब्द पडा हुआ है यहां च शब्द करके पहिले नही कही गयी निर्जरा का समुच्चय हो जाता है। समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार इन च के चार अर्थो में से यहा समुच्चय अर्थ लिया जाय, वह निर्जरा तप से ही होती है यो नियम करना यहा अभीष्ट नही किया गया है, तप से सवर भी हो जाता है। शरीरधारी आत्मा को फल देकर पौद्गलिक द्रव्यकर्म निवृत्त हो जाते हैं (प्रतिज्ञा) कारण कि उस आत्मा करके द्रव्यकर्म होने के योग्य कार्मणवर्गणाओ का स्वय आहार किया जा चुका है (हेतु) जैसे कि स्वाद लेने योग्य या खाने योग्य आहार द्रव्य फल देकर स्वयं निकल जाता है (दृष्टान्त)। इस अनुमान द्वारा सूत्रोक्त रहस्य को युक्तिसिद्ध कर दिया हैं। सामान्यरूप से उन द्रव्य कर्मो की निवृत्ति हो जाने के कारण भावकर्म भी नष्ट हो जाते है (प्रतिज्ञा) क्योकि उन द्रव्य कर्मो के कार्य भाव कर्म है (हेतु) जिस प्रकार कि अग्नि आदि के नाश हो जाने पर धूम आदि की प्रवृत्तिया नष्ट हो जाती है। अर्थात् द्रव्यक्रोध कर्म का उदय आने पर आत्मा मे क्रोध उपजा, उधर कर्म बिचारा फल देकर खिर गया, इधर क्रोधफल भी क्षणमात्र स्थिर रहकर विघट गया, अग्रिम समयवर्ती भले ही वासना को उपजा जाय। पुनः अग्रिमसमयवर्ती दूसरे द्रव्यक्रोधकर्म का उदय आया तदनुसार अन्य भावक्रोध फल

उपजा। इस प्रकार द्रव्यकर्म और भाव कर्म के उपजने और बिगडने की धारा चलती रहती है। थोडीसी गीले ईंधन की आग ने धुआं उपजाया वह धुआ कुछ देर ठहर कर नष्ट हो गया, पुनः दूसरी आग ने अन्य धुये को उपजाया, यो प्रवाह चलता रहता हैं, धूम उत्पादक ईंधन की आग का सर्वथा नाश हो जाने पर धूम उपजता ही नही हैं। अकृत्रिम चैत्यालयो के धूपघटो मे उपादान कारणो के मिलते रहने से सर्वदा अग्नि और धुऐ का कार्यकारणप्रवाह चलता रहता है जैसे कि कुलाचलो के ह्रदो मे उपादानों की प्राप्ति होते रहने से जलप्रवाह सतत चलता हैं। अग्नि का जो अवयव धुआ अवयव को उपजा चुका वह अग्नि मर गयी कुछ क्षणो के बाद उससे उत्पन्न धुआ भी नष्ट हो गया, इसी प्रकार द्रव्य कर्म और भाव कर्म के उत्पाद, विनाशप्रक्रिया की परपरा प्रवृत्त रही है।

ततः फलोपभोगेपि कर्मणां न क्षयो नृणां ।
पादपादिवदित्येतद्वचोपास्तं कुनीतिकं ॥ ६ ॥
पारतंत्र्यमकुर्वाणाः पुंसो ये कर्मपुद्गलाः ।
कर्मत्वेन विशिष्टास्ते संतोप्यत्रांबरादिवत् ॥ ७ ॥

द्रव्य कर्मो के नाश हो जाने से पुनः भाव कर्म भी नष्ट हो जाते हैं तिस कारण किसी के इस आग्रहपूर्ण वचन का खडन किया जा चुका है कि जैसे कि आम, अमरूद, शयन आदि फलो का उपयोग करने पर भी, उनके कारणभूत, वृक्ष, पलग आदि का नाश नही होता है, उसी प्रकार कर्मो के द्वारा जीवो को फल का उपभोग करा देनेपर भी कर्मों का क्षय नही होता है। ग्रन्थकार कह रहे हैं कि यह वचन खोटी नीति या युक्ति को धार रहा है, सूक्ष्म दृष्टि से विचारा जायगा तो जितने फल का हम उपभोग कर चुके हैं उतने कारण अशो का पहिले ही विनाश हो चुका है। ऊन या सूत के वस्त्रो से जो गर्मी प्रतिदिन भोग ली जाती है उतना वस्त्र का अश उसी दिन नष्ट हो जाता है भले ही वह वस्त्र पूर्णरूप से पाच वर्ष में नष्ट हो किन्तु उसके सूक्ष्म अवयव फल देकर क्षण क्षण मे नष्ट हो रहे है, गहना भी घिसता है। वृक्ष, पलग, खाद्य, पेय, आदि सभी पदार्थो मे फल देकर विनश जाने की यही प्रक्रिया ठीक बैठती है। जीव को फल देकर कर्म भी नष्ट हो ही जाते है। पहिले कर्मपन पर्याय से विशिष्ट हो रहे पुन. फल देकर कर्मत्वपर्याय से छूट गये कर्मपुद्गल जो आत्मा की परतन्त्रता को नही कर रहे है वे विद्यमान हो रहे सन्ते भी वस्त्र या आकाश आदि के समान आत्मा मे कुछ भी आकुलता पैदा नही कर सकते हैं। अर्थात् एकवार

वस्त्र, मणि, या सुवर्ण से जो मल अलग हो जाता है वह दूर पडा रहकर मणि आदि की क्षति नही करता है, हाँ, पुनः भले ही कारण पाकर वह उनका मल वन जाय। यो तो कर्म भी कर्मत्वपर्याय से छूट गये पुनः कालान्तर मे कारण पाकर कार्मणवर्गणारूप होकर आत्मा करके आकर्पित हो जाते है। किन्तु फल देकर एक वार कर्मत्वपर्याय का नाश हो जाना अवश्यभावी है। यो सिद्धालय मे जहाँ सिद्ध भगवान् विराजमान हैं वहा अनन्तानन्त कार्मणवर्गणायें ठसाठस भरी हुयी हैं। वे सिद्धो को परतत्र नही कर सकती हैं। हाँ, एकेन्द्रिय जीवो करके आकर्षित होकर उन्हे परतन्त्र करती हैं। अन्यत्र के जीव भी उनको खीच सकते हैं। अतः एक वार फल का उपभोग करा चुकने पर पुनः परतन्त्रता को नही कर रहे कर्मो का विनाश हो जाना यह सिद्धान्त युक्तिसगत हैं। फल देकर भी कर्मो का विनाश नही होता है यह पक्ष अयुक्त है।

तदेवमनुभववंधं प्रतिपाद्याधुना प्रदेशबधमवगमयितुमनाः प्राह—

तिस कारण इस प्रकार तीसरे अनुभव बंध की प्रतिपत्ति कराकर अव सूत्रकार महाराज चौथे प्रदेशबंध को समझाने के लिये मन मे विचार करते हुये इस अग्रिम सूत्र को बढिया कह रहे हैं।

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनंतानंतप्रदेशाः ॥ २४॥

ज्ञानावरण आदि सम्पूर्ण प्रकृतियो की संज्ञा के कारण हो रहे और सम्पूर्ण भवो मे मन, वचन, काय सम्वन्धी योगविशेष से आकर सूक्ष्म होकर जीव के साथ एक क्षेत्र में अवगाह कर ठहर गये वे कर्मपुद्गल इन आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशो मे अनन्तानन्त प्रदेशपरमाणुए स्वरूप गणनीय हो रहे बन्ध जाते हैं। अर्थात् जैसे विशेषजाति के मीठेपन की हीनता, अधिकता से गुड, शक्कर, मिस्री, आदि पदार्थ बन बैठते हैं। सूत की न्यून ऐंठन, अधिक ऐंठन, पतलापन, मोटापन, कडापन, ढीलापन, नीचे-ऊपर चढने की रचना, रग आदि अनुसार अनेक जाति के वस्त्र बन जाते हैं। वर्गणाओ मे परमाणुओ की हीनता, अधिकता, अनुसार कार्मणवर्गणा, ध्रुववर्गणा, सान्तरनिरन्तरवर्गणा, आदि स्कन्ध वन बैठते है, उसी प्रकार परमाणुओ की हीनता, अधिकता से न्यारे-न्यारे ज्ञानावरण आदि कर्म बंध जाते है, अत कर्मों के ये प्रदेश न्यारे-न्यारे नामो के कारण हो रहे हैं। ये कर्मो के प्रदेश संसारी आत्मा के सम्पूर्ण भूत, वर्तमान, भविष्य, भवो में बध चुके, बध रहे और

वधेगें। एक एक जीव के अनन्तानन्त भव हो चुके है। एक भव वर्तमान मे हो रहा है मोक्ष जाने वाले जीव के यथायोग्य सख्यात, असख्यात, अनन्त भव भविष्य मे होने वाले है। अभव्य या दूरभव्य के अनन्तानन्त भव होगे। गुजर गये भूतकाल से आगे आने वाला भविष्यकाल अनन्तानन्त गुणा वडा है। वह प्रदेशबन्ध आत्मा के प्रदेश परिस्पन्द हो जाना रूप पन्द्रह योगो से होता है। कर्मपुद्गलो के आ जाने से आत्मा बढ नही जाती है। किन्तु वे प्रदेश सूक्ष्म हो रहे सन्ते उसी आत्मीय क्षेत्र मे समा जाते है और स्थिति पूरी होने तक वही ठहरे रहते हैं। वे कर्मप्रदेश आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशो मे बंधते है जैसे संतप्त लोहे के गोले मे ऊपर, नीचे, भीतर सर्वत्र पानी खिच जाता है उसी प्रकार एक, दो, तीन, आदि प्रदेशो मे ही नही किन्तु ऊपर, नीचे, तिरछे सब ओर आत्मा में व्याप्त होकर कर्म वर्गणायें बधती है, गिनती में ये कर्मपरमाणुयें अनन्तानन्त है। संख्यात, असख्यात, परीतानन्त, युक्तानन्त मात्र इतनो ही नही है। एक एक कार्मणवर्गणा मे अनन्तानन्त परमाणुये हैं। जघ य युक्तानन्तप्रमाण अभव्य राशि से अनन्तगुणे और सिद्धराशि के अनन्तवे भाग प्रमाण ऐसे वर्गणास्कन्ध अनन्तानन्त प्रतिक्षण वन्धते रहते हैं। भूतकाल के अनन्तानन्त समयो से असख्यातवे भाग प्रमाण सिद्धराशि है। पौने नो वर्ष कम अनादिकाल से सिद्धराशि एकत्रित हो रही है। जगत् मे पौद्गलिक असख्य पदार्थों की रचनाये परमाणुओ की न्यूनता, अधिकता से वन बैठती है। यदि कर्मबध में प्रदेशो की गणना नही होती तो ज्ञानावरण आदि अनेक कार्यो को कर रहे अन्वर्थ संज्ञावाले भिन्न भिन्न कर्म नही वन पाते। अतः सूत्रकार ने चौथा प्रदेशवन्ध इस सूत्र मे कह दिया हैं।

नाम्न प्रत्यया नामप्रत्ययाः इत्युत्तरपदप्रधाना वृत्तिः। नामासां प्रत्यय इति चेन्न, समयविरोधात्। अन्यपदार्थायां हि वृत्तौ नामप्रत्ययो यासां प्रकृतीनामिति सर्व कर्मप्रकृतीना नामहेतुकत्व प्रसक्तं, तच्च समयेन विरुद्धचते। तत्र तासा तद्धेतुकत्वेनानभिधानात् प्रतिनियतप्रदोषाद्यास्रवनिमित्तत्वप्रकाशनात्।

"नामप्रत्ययाः" इस पद मे नाम के जो कारण हैं सो नामप्रत्यय है, इस प्रकार उत्तर पद के अर्थ को प्रधान रखने वाली तत्पुरुषसमास नाम की वृत्ति है। यदि यहा कोई यो कहे कि जिन प्रकृतियो का कारण नाम कर्म है इस प्रकार "नामप्रत्यया" की अन्य पदार्थ को प्रधान रखनेवाली वहुव्रीहि समास नाम की वृत्ति कर ली जाय, वहुव्रीहि और तत्पुरुष का प्रकरण मिलने पर प्रथम वहुव्रीहि को स्थान मिलता है। वहुत धान्य रखनेवाले सेठ की उस पुरुष से अधिक प्रतिष्ठा है जो कि चाहे जिसका सेवक बन जाता

है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योकि बहुव्रीहि समास करने पर अर्थ मे जैनसिद्धान्त से विरोध आवेगा, जब कि अन्य पदार्थ को प्रधान रखनेवाली समासवृत्ति की जायगी तो जिन प्रकृतियो का कारण नाम है यो अर्थ करने पर नाम को सम्पूर्ण कर्म प्रकृतियो का हेतुपना प्रसंग प्राप्त हुआ, किन्तु वह तो सिद्धान्त से विरुद्ध पडता है, क्योकि वहा जैनसिद्धान्त मे नाम को उन प्रकृतियो का निमित्तकारणपने करके कथन नही किया गया है। ज्ञानावरण आदि प्रत्येक कर्मो के नियत हो रहे प्रदोष, निन्हव, दु ख, शोक आदि को कर्मास्रव का निमित्तकारणपना प्रकाशित किया गया है। अतः तत्पुरुष समास करना ही श्रेष्ठ है। अधिक धान्य रखनेवाले प्रत्यारम्भी व्यापारी (वहुव्रीहि) से वह परोपकारी पुरुष (तत्पुरुष) ही श्रेष्ठ है।

के पुनस्ते नाम्न प्रत्ययाः कुतो वेत्यावेदयन्नाहः—

यहाँ कोई शकाशील तर्क करता है कि वे प्रदेश बन्ध भला नाम के कारण हो रहे फिर कौन से हैं? अथवा किस प्रमाण से वे वैसे सिद्ध हो रहे हैं? अब ग्रन्थकार इस तर्क के ऊपर आवेदन करते हुये समाधान वचन कहते हैं।

नामान्वर्थं पदं ख्यातं प्रत्ययास्तस्य हेतवः
प्रदेशाः कर्मणोऽनंतानंतमानविशेषिताः ॥ १ ॥
स्कंधात्मना विरुध्यन्ते न प्रमाणेन तत्त्वतः।
स्कंधा भावेऽक्षविज्ञानाभावात् सर्वाग्रहागतेः ॥ २ ॥

"नामप्रत्यया" इसका अर्थ यो है कि प्रकृति, प्रत्यय, अनुसार यौगिक अर्थ को कह रहा जो अन्वर्थ पद है वह नाम बखाना गया है उस नाम के प्रत्यय यानी कारण वे कर्म के प्रदेश हैं। जो कि अनन्तानन्त नामक विशेष सख्या के परिमाण से विशिष्ट हो रहे हैं। वे परमाणुये स्कन्धस्वरूप करके बध रही हैं। बध रहे प्रदेश किसी प्रमाण करके विरोध को प्राप्त नही होते हैं कारण कि वास्तविक रूप से यदि स्कन्ध को नही माना जायगा तो इन्द्रिय जन्य ज्ञानो का अभाव हो जायगा और इन्द्रियजन्य ज्ञानो का अभाव हो जाने से अन्य, अनुमान, आगम, प्रमाणो करके भी जो सम्पूर्ण पदार्थों का ग्रहण होता है उन सब का ग्रहण नही हो सकने का प्रसग आ जावेगा, जो कि इष्ट नही है। अर्थात् प्रदेशो का स्कन्ध रूप से बंध होना प्रमाणसिद्ध है। जो बौद्धपण्डित स्कन्धपर्याय को नही

मानेंगे उनके यहाँ इन्द्रियो, हेतुओं और शब्दो से होने वाले प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम प्रमाण नही उपजेगें, क्योकि ये इन्द्रिय आदिक सब स्कन्ध ही है, इन्द्रिया स्कन्धो को ही जानती हैं, यो प्रमाणो के विना किसी भी पदार्थ का ग्रहण नही हो सकेगा। ज्ञानो के विना ज्ञेय की सिद्धि का कोई उपाय नही।

अनन्तानन्तप्रदेशवचनं प्रमाणान्तरव्यपोहार्थं। कर्मणोनन्तानन्ताः प्रदेशाः परमाणुरूपा कथं स्कंधात्मना परिणमन्ते पर्वतात्मना सूक्ष्मसलिलकणवद्विरोधात्। ततो न ते नाम्नो ज्ञानाभावादेरनुभवफलस्य हेतव इति न शकनीय स्कन्धाभावेक्षविज्ञानाभावात्। सर्वपदार्थग्रहणस्यानुपपत्ते. सकलानुमेयार्थानामपि लिगार्थग्रहणासभवात्। तृतीयस्थानसंक्रान्तानामपि शब्दगम्यानां प्रकाशकशब्दग्रहणविरोधात्। स्वसवेदनादात्मग्रहणान्न सर्वाग्रहणमिति चेन्न शरीरादिस्कंधाभावे मनोनिमित्तकस्य स्वसंवेदनस्यानुपपत्तेः।

सूत्र मे प्रदेश परमाणुओ की अनन्तानंतनामक सख्या का जो कथन किया गया हैं वह अन्य सख्यात, असख्यात नामक सख्याप्रमाणो का व्यवच्छेद करने के लिये है। यहाँ कोई पुनः शका उठाता है कि कर्मो के परमाणुस्वरूप हो रहे अनन्तानन्त प्रदेश भला किस ढंग से स्कंध स्वरूप होकर के परिणमन करते हैं? बताओ। जल के सूक्ष्म कण जैसे मोटे पर्वत स्वरूप होकर के परिणत नही हो जाते है, उसी प्रकार छोटे छोटे अतीद्रिय परमाणुओं का मोटा मोटा स्कन्ध नही बन सकता है। अतीन्द्रिय से इन्द्रियग्राह्य या छोटे से मोटा हो जाने में विरोध दोष आता है। तिस कारण वे प्रदेश ज्ञानाभाव, दर्शनाभाव, दुःखवेदना आदि फलानुभव स्वरूप नाम के कारण नही हो सकते है। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि यह शका नही करनी चाहिये। क्योकि स्कन्ध को नही मानने पर इन्द्रियजन्य विज्ञान नही हो सकता है और ऐसा होने से सभी पदार्थो का ग्रहण नही हो सकने का प्रसग प्राप्त होगा कारण कि अनुमान प्रमाण से जाननेयोग्य अर्थो का भी ग्रहण नही हो सकता है। अनुमान का उत्थापक व्याप्तिविशिष्ट लिंग है जो कि स्कन्ध स्वरूप है स्कन्ध को माने विना लिंगस्वरूप स्कन्धार्थ के ग्रहण होने का असभव है। आगमप्रमाण से अर्थो को जान लो सो भी ठीक नही पडेगा। क्योकि प्रमाणो की गणना प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम इस ढंग से चली आ रही है। जगत् के अनेक अर्थ प्रत्यक्षप्रमाण से जानने योग्य है और कतिपय अर्थ दूसरे अनुमान प्रमाण से जाने जाते है, बहुत से अर्थो को हम आगमप्रमाण से जानते है यो तीसरे स्थान मे आगम प्रमाण द्वारा सक्रमण प्राप्त हो रहे वाच्यार्थ भी शब्दो करके जाननेयोग्य है। स्कन्ध को माने विना उन वाच्यार्थो के प्रकाशक हो रहे स्कन्धस्वरूप पौद्गलिक शब्दो

के ग्रहण हो जाने का विरोध है। यों स्कन्ध के विना अस्मदादिको को किसी भी प्रमाण की उत्पत्ति नही होने से किसी भी अर्थ का ग्रहण नही हो सकता है। यदि यहाँ कोई छोटी सी शका उठावे कि स्वसवेदनप्रत्यक्ष से आत्मा का ग्रहण तो हो जायगा। अतः सब का ग्रहण नही हो सकेगा, यह जैनो का कथन उचित नही है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कोई स्कन्ध नही है, ज्ञानमात्र है, अतः स्कन्ध को माने विना भले ही इन्द्रियजन्य ज्ञान नही होय, धूम से अग्नि का ज्ञान न होय, शब्दो द्वारा वाच्यार्थ की प्रतिपत्ति नही होय, किन्तु अमूर्त स्वसवेदन से आत्मा का प्रत्यक्ष हो ही जाता हैं। कारिका मे सब का ग्रहण नही होना क्यो लिखा ?। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योकि स्वसंवेदनप्रत्यक्ष भी मन इन्द्रिय से होता है। शरीर-स्कन्ध के वक्षस्थल मे मनोवर्गणाओ करके आठ पत्तेवाले खिले हुये कमल समान पौद्गलिक-मन बनता है। अत शरीर, वक्षस्थल, आदि स्कन्धो का अभाव मानने पर मन इन्द्रिय को निमित्त पाकर होनेवाले स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की उत्पत्ति सिद्ध नही हो सकती हैं।

मुक्तस्वसविदितविज्ञानात् सर्वार्थग्रहणसिद्धेर्न सर्वार्थाग्रहण इति चेन्न, लिंगां शब्दाद्यग्रहणे तद्व्यवस्थानुपपत्तेः। न हि परमाणव एव लिंगशब्दात्मनामात्मसात्कुर्वंते, तेषां सर्वथा बुध्द्यगोचरत्वात्। नापि परमाणव एवेंद्रियभाविना लिंगादिग्रहणकरणादिना नियुज्यते न च शरीरा भावेनानुभवाख्यभोगायतनत्वं प्रतिपद्यते अतिप्रसंगात्।

पुनः शंकाकार कटाक्ष करता है कि मोक्ष को प्राप्त हो चुके जीव के स्वसविदित हो रहे विज्ञान से सम्पूर्ण अर्थो का ग्रहण हो जाना सिद्ध है मुक्त सर्वज्ञ को सम्पूर्ण पदार्थों के जानने मे किसी स्कन्ध की आवश्यकता नही पडती है, अत स्कन्ध को माने विना सम्पूर्ण अर्थो का ग्रहण नही हो सकने का प्रसंग नही आता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नही मान बैठना चाहिये, क्योकि मुक्त जीवो का इस समय प्रत्यक्ष तो है नही। हाँ, अविनाभावी लिंग या शब्दस्वरूप आगम से ही मोक्षप्राप्त जीवो की प्रसिद्धि की जायगी, ज्ञापकलिंग या वाचकशब्द आदि का ग्रहण नही करने पर उन मुक्तजीवो की और मुक्त जीवो के अतीन्द्रिय ज्ञान की व्यवस्था नही बन सकती हैं। परमाणुये ही तो लिंग, शब्दस्वरूपो को अपने अधीन नही कर लेती हैं। क्योकि परमाणुये सभी प्रकारो से बुद्धि के गोचर नही हैं अर्थात् बौद्ध यदि यो कहे कि परमाणुये ही संवृति अनुसार लिंग या शब्दस्वरूप करके भास जाती हैं, कोई स्कन्ध पदार्थ नहीं है। इसपर ग्रन्थकार ने यह कहा है कि अत्यन्तसूक्ष्म, अतीन्द्रिय परमाणुयें जानी नही जा सकती हैं। दूसरी बात यह भी है कि स्कन्ध परिणति के विना केवल परमाणुये ही तो इन्द्रियो कर होने वाले लिंगग्रहण करना, शब्द ग्रहण करन

आदि परिणामों करके नियुक्त नहीं हो जाती हैं। तीसरी बात यह भी है कि शरीर स्कन्ध को माने विना अनुभव नाम के भोग का स्थापने को कोरी परमाणुये प्राप्त नही कर सकती हैं। यो परमाणुओ को भोगो का अधिष्ठान माननेपर अतिप्रसंग हो जावेगा। अर्थात् "भोगायतन शरीर" शरीर नामक विशिष्ट स्कन्ध ही भोगो का अधिकरण है। शरीर अधिष्ठान को पाकर आत्मा भोगो को भोगता हैं शरीर के विना चाहे जो परमाणुयें ढ़ेल, भस्म, आदि भी भोग के अधिष्ठान बन बैठेंगे जो कि तुम बौद्धो को भी अभीष्ट नही पडेगा।

परमाणूनामपि स्वकारणविशेषात्तथोत्पत्तेस्तद्भावाविरोध इति चेन्न, अत्यासन्नासंसृष्टरूपतयोत्पत्तेरेव स्कंधतयोत्पत्तेः, अन्यथैकत्वपरिणामविरोधादुक्तदोषस्य निवारयितुमशक्तेरिति विचारित प्राक्।

यदि बौद्ध फिर यो कहे कि अपने अपने नियत हो रहे कारण विशेषो से परमाणुयें भी तिस प्रकार इन्द्रिय, लिंग आदि स्वरूप करके उपज जाती है, अत. उन लिंग, इन्द्रिय, शरीर, मन, आदि परिणतियो का कोई विरोध नही है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना, क्योकि आप बौद्धो ने अवयवी स्कन्धपरिणति को स्वीकार नही किया हैं। अनेक परमाणुयें ही एक दूसरे के अत्यन्त निकट होकर उपज जाती है किन्तु वे परस्पर मे ससर्ग को प्राप्त (सम्बद्ध) नही होती हैं, इस ढंग की उत्पत्ति को ही स्कन्ध रूप की उत्पत्ति मानी है। जैनसिद्धान्त मे परमाणुओ से न्यारी स्कन्ध पर्याय मानी गयी है, जो कि अनेक परमाणुओ का बन्ध होकर एकत्व परणति हुई है। अन्यथा यानी वस्तुभूत स्कन्ध पर्याय को माने विना एकत्व बुद्धि को पैदा करने वाले एकत्व परिणाम हो जाने का विरोध हैं, अतः अनेक परमाणुओ का नया बनकर स्कन्ध हुआ है ऐसे स्कन्ध को स्वीकार किये विना उक्त दोषो का निवारण नही किया जा सकता हैं। इस बात का हम पहिले प्रकरणो मे भी विचार कर चुके हैं। "प्रमाणनयैरधिगमः" इस सूत्र की आठवी वार्तिक "कल्पनारोपितोशी चेत् स न स्यात् कल्पनातरे, तस्य नार्थक्रियाशक्तिर्न स्पष्टज्ञानवेद्यता" मे अंशी स्कन्ध को विचारणापूर्वक सिद्ध कर दिया हैं। "निर्देशस्वामित्व" आदि सूत्रो के व्याख्यान मे भी अनेको की एकत्वपरिणति को न्यारा साधा गया है।

ततः सूक्तं कर्मण प्रदेशाः स्कन्धत्वेन परिणामविशेषान्नाम्नः प्रत्यया न विरुध्यन्ते तत्त्वतः प्रमाणेनाधिगतेरिति। सर्वात्मप्रदेशेष्विति किमर्थमिति चेदुच्यते—

तिस कारण से सूत्र अनुसार ग्रन्थकार ने इस सूत्र की दूसरी वार्तिक में बहुत

अच्छा कहा था कि कर्म के प्रदेश परमाणुयें स्कन्धपने करके परणतिविशेष से नियत कहे गये नाम के कारण हो रहे कोई विरोध को प्राप्त नही होते हैं, कारण कि वास्तविक रूप से प्रमाणो करके स्कन्ध मानने पर ही सम्पूर्ण पदार्थो का ज्ञान हो सकता है। यहाँ तक इस व्याख्या को समाप्त कर दिया गया है। अब किसी जिज्ञासु का प्रश्न है कि आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशो मे वे प्रदेश बध जाते हैं, सूत्र मे इस प्रकार किस लिये कहा गया है ? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर तो ग्रन्थकार महाराज करके उत्तर कहा जाता है।

सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु न कियत्सुचिदेव ते।
तत्फलस्य तथा वित्तेर्नीरे क्षीरप्रदेशवत् ॥ १ ॥

आत्मा के सम्पूर्ण असंख्यातासंख्यातप्रदेशो में वे कर्मप्रदेश बधते हैं कितने ही एक कुछ थोडे से दो, चार, दश, वीस प्रदेशो मे ही प्रदेशबध नही होता है (प्रतिज्ञा) क्योकि उन कर्मों के फल का तिस प्रकार सम्पूर्ण आत्मा में परिज्ञान हो रहा है (हेतु) जैसे कि जल मे दूध मिला देने से जल में सर्वाङ्ग दूध का प्रवेश हो जाता है (दृष्टान्त) अथवा जल में दूध के प्रदेश सर्वात्मना प्रविष्ट हो जाते हैं।

यथैव हि सर्वत्र कलशोदके क्षीरमिश्रे क्षीररसविशेषस्य फलस्योपलब्धेः सर्वेषु तदुदकप्रदेशेषु क्षीरसंश्लेषः सिद्धस्तथा सर्वेषात्मप्रदेशेषु कर्मफलस्याज्ञानादेरुपलंभात् कर्मप्रदेश संश्लेषः सिद्ध्यतीति सूक्तमिदं सर्वात्मप्रदेशेष्विति वचनमेकप्रदेशाद्यपोहार्थमिति।

जिस ही प्रकार कलश के दूध मिले हुये जल मे सर्वत्र दूध के रस विशेष हो रहे फल की उपलब्धि होती हैं। अतः जल के उन सम्पूर्ण प्रदेशो मे दूध का ससर्ग हो जाना सिद्ध है, तिस ही प्रकार आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशो मे कर्म के फल हो रहे अज्ञान, दु ख आदि का अनुभव होने से कर्मों का प्रदेशबध हो जाना सिद्ध हो जाता है। इस कारण सूत्रकार ने एक, दो, प्रदेश आदि में ही बन्ध हो जाने के निवारणार्थ आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशो मे बन्ध होना यह कथन बहुत अच्छा युक्तिपूर्ण कह दिया है। यहां यत्किचित् यह भी कहना है कि चालीस तोला जल भर जाने वाले पात्र मे वीस तोला जल है, ऐसी दशा में पात्र आधा भरा है, आधा खाली है। यदि उसी पात्र म वीस तोला दूध डाल दिया जाय तो पात्र भर जाता हैं, जब कि जल देशान्तर में चला गया तो ऐसी दशा में जल में सर्वांग दूध नही मिल सका जैसे कि वीस तोला दूध मे दो तोला बूरा सर्वाङ्ग मिल जाता है फिर भी न्याय के पद्धति अनुसार यह दृष्टान्त ठीक है। पानी मे दूध डाल देने से विलोडे विना ही वह दूध

पानो मे सर्वत्र फैल जाता है अथवा दूध स्वयं जल और मावा का विचित्र प्रकार का संमिश्रण है। गाय के थन मे अलौकिक रासायनिक प्रक्रिया द्वारा उन का एकम एक सर्वांग सश्लेष हो रहा है। कर्म और आत्मा का एक क्षेत्र मे ही सश्लेष है। बंध के लिये क्षीर नीर का दृष्टान्त बहुत अच्छा है। अरण्यगोमय की राख में पानी घुस जाता है। उटनी के दूध मे उतना ही मधु सर्वाङ्ग अनुप्रविष्ट हो जाता है।

सूक्ष्मेत्यादि निर्देशेन किं कृतमित्याह—

उक्त सूत्र में सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाह इत्यादि पदों के कथन करके क्या फल किया गया है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रंथकार इन अग्रिम वार्तिको को कह रहे है।

सूक्ष्मशब्देन च योग्यस्वभावग्रहणाय ते।
पुद्गलाः प्रतिपाद्यन्ते स्थूलानां तदसंभवात् ॥ ४ ॥

सूत्रोक्त सूक्ष्म शब्द का उपादान करना तो ग्रहणयोग्य पुद्गलों के स्वभाव का प्रतिपादन करने के लिये है। यो सूक्ष्म शब्द करके ग्रहणयोग्य स्वभाव के लिये वे पुद्गल कहकर समझाये जाते है। स्थूल पुद्गलो की उस योग द्वारा ग्रहण हो जाने की योग्यता का असभव है। अतः आत्मा करके ग्रहण करने योग्य पुद्गल सूक्ष्म हैं, स्थूल नही हैं।

सूक्ष्मग्रहणं ग्रहणयोग्यस्वभावप्रतिपादनार्थमिति वचनात्।

इस सूत्र मे सूक्ष्मपद का ग्रहण करना तो ग्रहणयोग्य पुद्गलों के स्वभाव का प्रतिपादन करने के लिये है, इस प्रकार राजवार्तिक ग्रन्थ मे वचन मिलता है। अतः योग द्वारा सूक्ष्मवर्गणाओ का आकर्षण होना समझ लिया जाय। यद्यपि धुआं, पानी, वायु आदि स्थूल पदार्थो को भी कुछ दूर से जीव खीच लेता है। मोटे, मोटे कौरो का आहार करता है, फिर भी यह नोकर्म का ग्रहण है, कौर आदि पदार्थो में आहारवर्गणायें छिपी हुई हैं। कर्म वनने योग्य कार्मण वर्गणायें या उनकी परमाणुयें तो सूक्ष्म है। स्थूल स्कन्धो से सूक्ष्म-कर्म वनना असंभव है।

एकक्षेत्रावगाहाभिधानं क्षेत्रांतरस्य तत्।
निवृत्यर्थं स्थिताः स्यात्तु क्रियांतरनिवृत्तये ॥ ५ ॥

उक्त सूत्र में उस "एकक्षेत्रावगाह" वाक्य का निरूपण करना तो अन्य क्षेत्र

की निवृत्ति के लिये है। अर्थात् आत्मसवंधी उसी क्षेत्र में कर्मपुद्गल समा जाता है। कर्म पुद्गलो के आ जाने से दोनो की क्षेत्रातर मे प्राप्ति नही हो जाती है। "स्थिता" यह पद तो गमन, भ्रमण, आदि अन्य क्रियाओ की निवृत्ति के लिये कहा गया समझो।

एकक्षेत्रावगाहवचनं क्षेत्रांतरनिवृत्त्यर्थं, स्थिता इति वचनं क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थमिति प्रतिपादनात्। एकक्षेत्रावगाहः कोसाविति धोच्यते।

उन कर्मों का आत्मा के साथ एकक्षेत्र मे अवगाह हो जाता है यह सूत्रकार का कथन करना तो अन्य क्षेत्रो की निवृत्ति करने के लिये है, जो ही क्षेत्र आत्मा के ठहरने का है उन्ही प्रदेशो में कर्मों का अवगाह है, कर्मो का कोई दूसरा आधारक्षेत्र नही है और "स्थिताः" वचन तो अन्य क्रियाओ की निवृत्ति के लिये हैं। जब कि इस प्रकार अन्य ग्रन्थो में भी प्रतिपादन किया गया है। यहाँ कोई प्रश्न उठाता हैं कि वह एक क्षेत्र में दोनो का अवगाह हो जाना भला क्या हैं? बताइये। यो जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार करके और भी उत्तर कहा जा रहा है।

अत्यन्तनिबिडावस्थावगाहोर्थात् प्रतीयते।
तेन तेऽवस्थितास्तत्र गोमयो धूमराशिवत् ॥ ६ ॥

उस एक क्षेत्रावगाह कह देने से इतनी बात विना कहे ही तात्पर्य अर्थ से प्रतोत हो जातो है कि अन्यत्र सघन, निबिड, संश्लेषण, अवस्था प्राप्त होकर दोनो का अवगाह हो रहा है, तिस कारण सिद्ध हो जाता है कि वे कर्मप्रदेश उस आत्मा में गोवर में धूमराशि के समान स्थित हो रहे है। अर्थात् जिस प्रकार गोबर के छोटे से एक इच लंबे, चौडे टुकडे से दशगज लम्बे, चौडे, घर को ठसा ठस भर देने वाला धुआ स्थित हो रहा है, उस विशाल स्थल में भर गये धूआं के प्रत्येक अवयव के नियत उपादानकारण प्रथम से ही छोटी कन्सी में विद्यमान थे। उसी प्रकार आत्मा के क्षेत्र में ही अनन्तानन्त कर्म स्कन्ध ठहरे हुये हैं।

ततः सूक्ष्माश्च ते एकक्षेत्रावगाहस्थिताश्चेति स्वपदार्थवृत्तिः प्रत्येया, ते च कर्मणः प्रदेशाः।

तिस कारण से यहा सूक्ष्म हो रहे सन्ते वे पुद्गल एक क्षेत्र में अवगाह कर स्थित हो रहे हैं यो अपने ही समासघटित पदो के अर्थ को प्रधान रखने वाला कर्मधारय समास नामक वृत्ति समझ ली जाय। और कर्मधारय समास में विग्रह के लिये कहे गये

"ते" पद से कर्मो के प्रदेश ग्रहण करने चाहिये। उक्त कारिका में बोले गये ते पद का अर्थ भी वे कर्मप्रदेश हैं।

भूयः प्रदेशं नैकत्र प्रदेशे द्रव्यमीक्ष्यते।
परमाणौ यथाद्माभृत्कुलं नैवेति केचन ॥ ७ ॥
तेषामल्पप्रदेशस्थैर्घनैः कार्पासपिण्डकैः।
अनैकान्तिकता हेतोर्भूयो देशैरसंशयम् ॥ ८ ॥

यहाँ किन्ही का आक्षेप है कि एक प्रदेश मे बहुत से प्रदेशवाला द्रव्य समा जाय ऐसा देखने मे नही आता है जैसे कि एक परमाणु मे पर्वतो का समुदाय नही आधार पा सकता है तो असख्यात प्रदेशी आत्मा मे अनन्तानन्त कर्म कैसे ठहर सकते हैं ? इस प्रकार कोई पण्डित कह रहे है। अब आचार्य कहते है कि उन पण्डितो के यहा कहा गया हेतु तो सशयरहित व्यभिचार दोषवाला है। बहुत से प्रदेशो मे फैले हुये कपासनिर्मित रुई के पिण्ड को दबाकर घना करके अल्पप्रदेशो मं स्थित कर दिया जाता है अर्थात् फूली हुयी बहुत रुई की काटनप्रश मे दबाकर छोटी सी गाठ बना ली जाती है। अतः उतने ही प्रदेशवाले द्रव्य की उतने ही प्रदेशवाले आधार पर स्थिति होतो है इस व्याप्ति मे पडे हुये हेतु का घनी रुई से व्यभिचार आता हैं। प्रयोगो द्वारा बडे बडे पदार्थो को छोटे आधारो मे धर दिया जाता हैं। पदार्थो मे अवगाहशक्ति विद्यमान है। दूध मे बूरा समा जाता हैं जब स्थूल पदार्थो की यह व्यवस्था है तो सूक्ष्मपदार्थ तो निराबाध होकर एक दूसरे मे ठहर जाय या स्वल्पप्रदेश मे स्थित हो जाय इस में कोई आश्चर्य नही है।

योगविशेषादिति वचन निमित्तनिर्देशार्थं। कथमित्याहः—

सूत्र मे योगविशेष से प्रदेशबन्ध होना जो कहा गया हैं इसका प्रयोजन तो निमित्त कारण का नाम मात्र कथन करना है। मन वचन, काय, को अवलम्ब पाकर हुये आत्मप्रदेशपरिस्पन्द स्वरूप योगविशेषसे पुद्गल खिचे हुये आ जाते है। वह योग प्रदेशबंध का किस प्रकार निमित्त है ऐसी जिज्ञासा उपजने पर ग्रन्थकार यो अगली आधी वार्तिक द्वारा उत्तर कह रहे हैं।

योगः पूर्वोदितस्तस्य विशेषात् कारणात्तथा।
स्थिता तेत्र विना हेतोर्नियतावस्थितिक्षतेः ॥ ९ ॥

पूर्व के छठे अध्याय मे "कायवाङमन कर्म योग:" इस सूत्र करके योग कह दिया गया है। उस योग के विशेष से अर्थात् विशेषजाति के योग अथवा मिथ्यात्व आदिके साहित्य को धार रहे योगविशेष नामक कारण से तिस प्रकार पुद्गलो का आस्रव होकर बध हो जाता हैं। इस सूत्र में "स्थिता." इस शब्द से नियत क्षेत्र में अवस्थिति हो जाना कहा गया है। वे पुद्गल यहा आत्मा मे आकर ठहर जाते हैं चलते, घूमते नही रहते हैं। यदि "स्थिता:" नही कहते तो हेतु के विना नियत क्षेत्र में अवस्थान हा जाने की क्षति पड जाती, अत "स्थिता" कहना आवश्यक है।

सर्वेषु भवेषु सर्वत इत्यनेन कालोपादान कृतम्।

इस सूत्र में सर्वत पद का अर्थ "सम्पूर्ण भवो में" यह है। पंचमी विभक्ति के अतिरिक्त अन्य सप्तमी आदि विभक्तियो से भी तस् प्रत्यय हो जाता है, अत सम्पूर्ण भवो में कर्मबन्ध होता रहना है इस कथन करके सूत्रकार महाराज ने काल का ग्रहण किया है। संसारी जीवो के भूत, वर्तमान और यथायोग्य भविष्य यो सम्पूर्ण भवो में प्रदेश-बन्ध होता रहता है। इसी रहस्य को अगली वार्तिक में ग्रन्थकार कह रहे हैं।

सर्वेष्वपि भवेष्वेते क्वचिदेव भवे न तु।
सर्वतो वचनादेव प्रतिपत्तव्यमंजसा ॥ १० ॥

ये कर्मो के प्रदेशबंध तो सम्पूर्ण भवो में भी होते रहेगे किसी एक, दो भव में ही नही होगे। इस रहस्य की "सर्वत:" इस कथन से ही निर्दोषप्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये।

इति प्रदेशैर्यो बंधः कर्मस्कंधादिभिर्मतः।
स तु प्रदेशबंधः स्यादेष बधो विलक्षणः ॥ ११ ॥

इस पूर्वोक्त प्रकार सूत्रोक्त सम्पूर्ण विशेषणो को सार्थक कहते हुये सूत्रकार ने जो आत्मा का कर्म स्कध, नोकर्म वर्गणा आदि प्रदेश समुदायो के साथ जो बंध माना है वह प्रदेशबध समझा जायगा, यह प्रदेशबध उन प्रकृतिबध, स्थितिबध और अनुभागबध से सर्वथा भिन्नलक्षणवाला निराला ही है।

सोयं कारणभेदेन कार्यभेदेन चास्थितः।
स्वभावस्य च भेदेन कर्मबन्धश्चतुर्विधः ॥ १२ ॥

बद्धस्पृष्टादिभेदेनावस्थितादि भिदापि च ।
द्रव्यादिभेदतो नामादिप्रभेदेन वा तथा ॥ १३ ॥

वह यह युक्तियो से प्रसिद्ध हो रहा कर्मबध न्यारा न्यारा चार प्रकार है कारणो के भेद करके और कार्यो के भेद करके तथा स्वभाव के भेद करके चार प्रकार व्यवस्थित होता है अर्थात् चारो के कारण न्यारे न्यारे हैं मिथ्यात्व आदि से विशिष्ट हो रहा योग तो प्रकृतिबंध का कारण है। स्थितिबधाध्यवसायस्थानो से सहित कषायो की विशेष जाति से स्थितिबध पड जाता है, अनुभागबंधाध्यवसायस्थानपूर्ण रसप्रद कषायविशेष जाति से अनुभागबंध हो जाता है। और अविभाग प्रतिच्छेदो की न्यून, अधिक सख्या को ले रहे योगविशेषो से प्रदेशबध बन बैठता है। इसी प्रकार इन चारो के कार्य भी न्यारे न्यारे है, इन चारो में स्वभाव भी न्यारे न्यारे पडे हुये हैं। को ई कोई इस कारिका का अर्थ यो भी कर सकते है कि कारणबंध, कार्यबध, और स्वभावबध यो तीन प्रकार का बध है। द्रव्यबंध कारणबंध है, और भावबध कार्यबध है, स्वभावबध उभयबध कहा जा सकता है यह भी तात्पर्य निकाल लो। बद्ध यानी एकरस होकर बाध लिये गये और स्पृष्ट यानी छू लिये गये विस्रसोपचय या फल दिये विना खिर जानेवाले पुद्गल तथा बद्धाबद्ध आदि भेद करके एवं अवस्थित, भुजाकार, अल्पतर आदि भेदो करके भी कर्मबन्ध कई प्रकार का है। एव द्रव्यबध, भावबध, उभयबध या द्रव्य क्षेत्र, काल आदि भेदों से भी अथवा नाम, स्थापना, आदि भेदो से भी बन्ध के कई भेद हो सकते हैं। चौथे सूत्र की व्याख्या मे कतिपय भेदो का निरूपण किया भी है।

विना प्रकृतिबंधान्न स्युर्ज्ञानावरणादयः ।
कार्यभेदाः स्वयं सिद्धाः स्थितिबंधाद्विना स्थिराः ॥ १४ ॥
न चानुभवबंधेन विनानुभवनं नृणां ।
प्रदेशबंधतः कृत्स्नैनैकैर्न व्याप्यवृत्तये ॥ १५ ॥

अव ग्रन्थकार चारो बन्धो की आवश्यकता को वताते है कि पिण्डस्वरूप प्रकृतियो के वन्ध विना ज्ञान का आवरण, दर्शन का आवरण, आदिक भिन्न भिन्न कार्य नही हो सकेगे। यो विना प्रयत्न के स्वयं सिद्ध हो रहे भिन्न भिन्न अज्ञान आदि कार्य सब प्रकृति बंध से होते हैं। और स्थितिबध को माने विना वे कर्मबध स्थिर नही रह सकेगे, झट आते

हो खिर जावेगे, उसी क्षण आकर झट जाने वाला कर्म आत्मा को कुछ भी फल नही दे सकता है। ऐसी दशा मे कर्मों के द्वारा बहुत देर तक हो रहे अज्ञान, सरोगता, यशोगायन, शोक आदि कार्य नही देखे जा सकेंगे। तथा अनुभव बंध को माने बिना जीवो को फल अनुभवन नही हो सकेगा जो कि दिनरात भोगा जा रहा है। एवं प्रदेशबंध के विना न तो सम्पूर्ण और न एक एक कर्मपरमाणुओ के साथ आत्मा व्याप्त होकर बंध सकेगा, जो कि प्रदेशबंध आत्मा को व्यापकर वृत्ति करने के लिये अत्यावश्यक है। यो चारो बन्ध सूत्रकार द्वारा कहे गये युक्तिसिद्ध हैं।

एवं कार्यविशेषेभ्यो विशेषो बंधनिष्ठितः।
प्रत्ययोनेकधा युक्तेरागमाच्च तथाविधात् ॥ १६ ॥

इस प्रकार विशेष विशेष कार्यों से बंधो में प्रतिष्ठित अनेक प्रकार का विशेष समझ लेना चाहिये। युक्तियोसे और तिसप्रकार के युक्तिपूर्ण आगम से यह सिद्धात विश्वास कर लेने योग्य है। अर्थात् कारणो के विशेष से अनेक प्रकार बन्धो की उत्पत्ति होती है यो कारण हेतु से साध्य रूप कार्य का अनुमान द्वारा निर्णय कर लो। बन्धो के अनेक कार्य भी देखे जा रहे हैं। अब कार्यहेतुओ से कारण साध्यो को युक्तियो द्वारा साध लिया जाय इस कर्मबन्धसिद्धान्त को साधने के लिये अनेक युक्तियाँ और आप्तोक्त आगमप्रमाण विद्यमान हैं।

पुण्यास्रवोक्तिसामर्थ्यात् पुण्यबंधोऽवगम्यते।
सद्वेद्यादीनि चत्वारि तत्पुण्यमिह सूत्रितम् ॥ १७ ॥

"शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य" इस सूत्र मे पुण्य का आस्रव होना भी कहा गया है और भी उच्च गोत्र, यशस्कीर्ति, तीर्थकरत्व, प्रकृतियो का भी आस्रव निरूपा गया है। सातवे अध्याय मे भी पुण्यास्रव का कुछ वर्णन है। यो पुण्यास्रव के कथन की सामर्थ्य से जाना जाता है कि जीवो में पुण्य कर्मो का भी बंध होता है। वे पुण्य कर्म कौन हैं? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सद्वेद्य, शुभ आयु आदिक चार कर्म पुण्य हैं। यो इस अगले सूत्रमें श्री उमास्वामी महाराज द्वारा सूचन किया गया है वह सूत्र यो वक्ष्यमाण आकृति का है।

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

सातवेदनीय कर्म और तीन शुभ आयुये, तथा नामकर्म की सैतीस शुभ प्रकृतिया और शुभ गोत्रकर्म ये पुण्य प्रकृतिया हैं। इनका अनुकूल पड रहा अनुभवन जीवों को लौकिक सुख को करने वाला परिज्ञात हो रहा है।

शुभग्रहणमायुरादीनां विशेषणं। शुभायुस्त्रिविधं, शुभं नामसप्तत्रिंशद्विकल्पं, उच्चैर्गोत्रं च शुभं। कुतः सद्वेद्यादिप्रसिद्धमित्युच्यते।

इस सूत्र मे शुभ पद का ग्रहण करना तो आयुः आदि तीन कर्मो का विशेषण हो रहा है। वेद्य के साथ सत् पूर्व मे जुड रहा है यों सद्वेद्य, शुभ आयुः, शुभ नाम, और शुभ गोत्र ये पुण्यप्रकृतियां हैं। यह वाक्यार्थ प्रकट हो जाता है। अर्थात् तिर्यञ्च आयुः, मनुष्य आयु, और देव आयु यो आयुः पुण्यकर्म तीन प्रकार है। जीव को नारकी शरीर मे ठूसे रहना नरक आयु का कार्य है जो कि किसी भी नारकी को अभीष्ट नही है। अतः नरक आयुः को पुण्य प्रकृतियो मे नही गिनाया हैं, हाँ तिर्यञ्च के शरीर में घुसा रहना स्वयं जीवो को इष्ट है कोई भी तिर्यञ्च मरने के लिये उद्युक्त नही रहता है। जैसे कि दु.ख सहने मे असमर्थ हो रहे नारकी अपना अकाल में ही मरण हो जाना चाहते रहते हैं। शुभ नाम कर्म के सैतीस भेद हैं, मनुष्यगति और देवगति ये दो गतिया पुण्य हैं। गति कर्म जीव को अग्रिम शरीर का ग्रहण करने के लिये ले जाता है। तिर्यञ्च शरीर मे जीव को रुका रहने के लिये ले जाना वाञ्छनीय नही है, अतः तिर्यग्गति को पुण्यप्रकृतियो मे नही गिनाया गया है। पांच जातियों मे एक पञ्चेन्द्रियजाति पुण्य कर्म है। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण इन बहिरंग पाचो शरीरो को बनाने वाले पाचो अन्तरग नामकर्म पुण्य हैं। जो कि अतीन्द्रिय हैं। आठो कर्मों का समुदाय कार्मणशरीर है, इसको बनाने वाला कार्मणशरीर एक न्यारा नामकर्म का भेद है। यो पाचो शरीर कर्म अनुकूल वेदने योग्य होने से पुण्य हैं, औदारिक अंगोपाग, वैक्रियिक अगोपांग, आहारक अंगोपाग ये तीनो अंगोपांग कर्म शुभ हैं। छह संस्थानों मे पहिला समचतुरस्रसंस्थान पुण्य है। छह सहननो मे एक पहिला वज्रऋषभनाराचसंहनन पुण्य है। वर्ण, रस, गध, स्पर्श सभी प्रकार के किन्ही किन्ही जीवो को अच्छे लगते हैं अत. प्रशंसनीय ये चारो ही पुण्य हैं। मनुष्यगत्यानुपूर्व्य और देवगत्यानुपूर्व्य ये दो आनुपूर्व्य कर्म पुण्य हैं। अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति यो पच्चीस प्रकृतियाँ हुयी तथा त्रस, बादर पर्याप्ति, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, शुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण, और तीर्थकरत्व, ये बारह यो नाम कर्म मे सम्पूर्ण सैतीस प्रकृतिया पुण्य हैं, तथा दो गोत्र कर्मों मे एक उच्चगोत्र शुभ है। इन

व्यालीस प्रकृतियो की पुण्य सज्ञा हैं । यहाँ कोई जिज्ञासु पूंछता है कि किन प्रमाणो या युक्तियो से ये सद्वेद्य आदिक पुण्यकर्म सिद्ध किये जाते हैं ? बताओ । ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर ग्रन्थकार उत्तरवार्तिको द्वारा समाधान करते है ।

यस्योदयात्सुखं तत्स्यात्सद्वेद्यं देहिनां तथा ।
शुभमायुस्त्रिधा यस्य फलं शुभभवत्रयम् ॥ १ ॥
सप्तत्रिंशद्विकल्पं तु शुभं नाम तथा फलं ।
उच्चर्गोत्रं शुभं प्राहुः शुभसंशब्दनार्थकम् ॥ २ ॥
इति कार्यानुमेयं तद्विचत्वारिंशदात्मनि ।
पापास्रवोक्तिसामर्थ्यात्पापवंधो व्यवस्थितः ॥ ३ ॥

जिस कर्म के उदय से शरीरधारी जीवो को लौकिक सुख उपजता है वह सद्वेद्य कर्म समझा जायगा तथा तीन प्रकार आयुये भी शुभ है । जिन पुण्य आयुओ का फल शुभ हो रहे तिर्यञ्च, मनुष्य, और देव इन तीन भवो की रोचनविपाकप्रद प्राप्ति हो जाना है । तथा नाम कर्म तो सैंतीस प्रकार का पुण्यरूप शुभ है जिसका कि फल वैसा ही अच्छी गति, जाति आदि रूप करके अनुभवा जा रहा हैं । लोक मे पूजित हो रहे कुलो में जन्म होना अथवा सन्तानक्रम प्राप्त शुभ आचरणो द्वारा श्रेष्ठ बखाना जाना इस प्रयोजन को धार रहे उच्चगोत्र को आचार्य महाराज शुभकर्म कहते हैं । यो सासारिक सुखी आत्मा मे हो रहे कार्यो द्वारा अनुमान कर लेने योग्य व्यालीस प्रकार का वह पुण्यकर्म प्रतीत कर लिया जाता है । दृश्यमान कार्यो से अदृष्ट पुण्य कर्मों का अनुमान कर लेना सुलभ हैं । परिशेष में पाप कर्मो के आस्रव का कथन करने की सामर्थ्य से पापप्रकृतियो का बन्ध हो जाना भी युक्तियो करके व्यवस्थित हो रहा है । यहा भी कार्यों से कारण का अनुमान कर लेना सुसाध्य हैं ।

पापं पुनस्ततः पुण्यादन्यदित्यत्र सूत्र्यतेः—

फिर पापकर्म तो उस पुण्य कर्म से न्यारा है ऐसी देशना का यहा सूत्र द्वारा निरूपण किया जाता हैं ।

अतोन्यत् पापम् ॥ २६ ॥

इन उपर्युक्त पुण्यप्रकृतियो से अन्य शेष बच रही सम्पूर्ण प्रकृतियां पाप हैं। अर्थात् ब्यालीस प्रकृतियां पुण्य हैं और ब्यासी प्रकृतियां पाप हैं। बन्ध की अपेक्षा एकसौ बीस प्रकृतिया है। मिश्र और सम्यक्त्व के बढ जाने से उदय को अपेक्षा एकसौ बाईस प्रकृतिया समभी जाती हैं। उत्तर भेद कर देने से सत्त्व की अपेक्षा एकसौ अडतालीस प्रकृतियां हैं। बन्ध की अपेक्षा एकसौ बीस प्रकृतियो मे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, ये चारों प्रकृतिया पुण्य और पाप दोनो में गिनी गयी हैं। अच्छे से अच्छे और बुरे से बुरे स्पर्श आदिक चार किन्ही किन्ही जीवो को प्रतिकूल और अनुकूल होकर अनुभूत हा रहे हैं। यो दोनों पुण्य, पाप प्रकृतियो का जोड एकसौ चौबीस हो जाता है।

असद्वेद्याशुभायुर्नामगोत्राणीत्यर्थः। कुतस्तदवसीयत इत्याहः—

सूत्र में पडे हुये "अन्यत्" पद का यह अर्थ है कि असद्वेद्य, अशुभ आयु, अशुभ नाम प्रकृतिया और नीच गोत्र, ये परिशेष में पापप्रकृतिया गिनी जाती है अर्थात् ज्ञानावरण कर्म की पाच, दर्शनावरण की नव, मोहनीय की छब्बीस, अन्तराय की पाच, यो घाति कर्मों की पैतालीस प्रकृतिया हुयी, यद्यपि निद्रा और प्रचला का कार्य भी सुख नीद लेना अनुकूल अच्छा लग रहा है तथापि वह सातवेदनीय का कार्य है, निद्राओ के साथ सात वेदनीय कर्म का अविनाभाव लग रहा हैं वस्तुत. मूल में निद्रा अच्छी नही है जैसे कि शोक या पोडा से मूर्च्छित हो जाना शोभन नही लगता है। वेदनीय कर्म की एक असाता वेदनीय प्रकृति और आयुष्य कर्म में एक नरक आयु पाप है। कारण कि जीव को नारकी शरीर मे ठूसे रहना इसका कार्य प्रतिकूल वेदनीय हो रहा है। नाम कर्म की नरक गति तिर्यक्गति, पहिली चार जातियां, पिछले पाच सस्थान, आदिम को छोडकर पांच संहनन, प्रशसनीय नही ऐसे वर्ण, गध, रस, स्पर्श और नरक गत्यानुपूर्व्य, तिर्यक्गत्यानुपूर्व्य, उपघात, अप्रशस्त-विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, ये चौतीस प्रकृतिया है। गोत्र कर्म मे नीचगोत्र पापप्रकृति है यों ब्यासी प्रकृतिया पाप है। यहाँ कोई तर्क उठाता है कि उन प्रकृतियो का पापपना किस प्रमाण से निर्णीत किया जाता है? बताओ। ऐसो जिज्ञासा उपस्थित होने पर ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा समाधान कहते है।

दुःखादिभ्योऽशुभेभ्यस्तत्फलेभ्यस्त्वनुमीयते,
हेतुभ्यो दृश्यमानेभ्यस्तज्जन्मव्यभिचारतः ॥ १ ॥

उनके दुःख प्राप्त होना, ज्ञान न होना, प्रतिकूल नीद आना, रोगी रहना बुरी आकृति बन जाना, हड्डियो का जोड निकृष्ट लगना, खोटा स्वर, अपयश, नीचकुली बखाना जाना, आदिक अनुभवे जा रहे अशुभ फलो से पापकर्मो का अनुमान कर लिया जाता है। कर्मो से अतिरिक्त अन्य देखे जा रहे कारणो से उन दुःख आदिको की उत्पत्ति मानने से व्यभिचार दोष आता है। थप्पड लगा देने से बालक सो जाता है, कोई बालक रो जाता हैं, घोडा सुखिया जाता है कोई उत्साहित हो जाता हैं, लज्जाशील मनुष्य अत्यधिक दुःख मानता है। इसी प्रकार एक ही कार्य से किसी को यश अन्य को महायश तीसरे को अपयश प्राप्त हो जाता है। एक ही मातापिता के कोई लडका, लडकी सुन्दर, विनीत सदाचारी होते है, अन्य असुन्दर, अविनीत पापाचारी, होते हैं। आहार, पान, समान होने पर भी शरीर के अवयव, स्वर, आकृतिया अनेक प्रकार बुरी, भली बन जाती है। इत्यादि रूप से दृष्ट हेतुओ का व्यभिचार आता है। हाँ अदृष्ट अतीन्द्रिय कर्मों को इन दुःखादिकका अतरंग कारण मान लेने से कोई दोष नही प्राप्त होता है।

एवं संक्षेपतः कर्मबन्धो द्वेधावतिष्ठते।
पुण्यपापातिरिक्तस्य तस्यात्यंतमसंभवात् ॥ २ ॥

इस प्रकार सक्षेप से दो प्रकार का कर्मबंध युक्ति और आगम से व्यवस्थित हो रहा है। कारण कि मूलरूप से पुण्य और पाप के अतिरिक्त उसके अन्य भेदो का अत्यन्त रूप करके असंभव है। यो उक्त दोनो सूत्रो को इस वार्तिक द्वारा परार्थानुमान बनाकर साध दिया है। जैनो का कर्मसिद्धान्त अकाट्य है, सभी विद्वानो को स्वीकार कर लेने योग्य है, आगम और युक्ति तथा अनुभव जिस विषय को पुष्ट कर रहे है उस रहस्य को नतमस्तक होकर स्वीकार कर लेना विद्वानो का कर्तव्य होना चाहिये।

पुण्यं पुण्यानुबंधीष्टं पापं पापानुबंधि च।
किंचित्पापानुबंधि स्यात्किंचित् पुण्यानुबन्धि च ॥ ३ ॥

जैन सिद्धान्त में पदार्थो के अनेक विचित्र स्वभाव इष्ट किये गये है। कोई पुण्यकर्म इस प्रकार का है, जो कि वर्तमान मे पुण्यस्वरूप होता हुआ भविष्य मे भी पुण्य को अनुकूल बाधने वाला है। जैसे कि शुद्धभावो से पूजन करना, तीर्थक्षेत्रो की यात्रा करना, पात्रदान करना, निःस्वार्थ भावो से परोपकार करना, इन पुण्यजन्य क्रियाओ से वर्तमान

मे तो पुण्य बंधता ही हैं साथ ही भविष्य में पुण्यवन्ध हो जाने की वासनायें आत्मा में जम जाती हैं जो कि सतानप्रतिसंतान रूप से पुण्यसपादिका है। नीरोग अवस्था में उत्साह पूर्वक किया गया व्यायाम (कसरत) वर्तमान मे शरीरस्फूर्ति को उपजाता हैं किन्तु भविष्य के लिये भो उमगो का उत्पादक बन जाता हैं। इसी प्रकार कतिपय पाप भी पिछले कालो मे पाप को बाधने वाले माने गये हैं। मायाचार, धोकेबाजी, परस्त्रीलम्पटता, जुआ खेलना, आदि पापजन्य क्रियाओ से वर्तमान में तो पाप बधता है साथ ही भविष्य मे पापवन्ध की सन्तान का बीज उपज बैठता है। भूषणो के लोभ में आकर बच्चो की हत्या कर देने वाले हिंसक ठग भविष्य में भी अनेक पापो को करते रहते हैं। ये सब न्यारी-न्यारी जाति के पुण्यपाप है, कोई कोई पुण्य ऐसे होते है जो वर्तमान में पुण्य है किन्तु भविष्य मे पाप के अनुकूल चलने वाले है जैसे कि किसी को धोका देकर उससे धन प्राप्त करने के लिये पूजन या दान करना अथवा मत्रसंस्कार आदि विधियो को नही कराकर यश हडपने के लिये मेला, प्रतिष्ठा, आदि उत्सव कराना, व्यसनी पुरुषो को रुपये, पैसे का दान करना, पूजन करते हुये जाप देते हुये इधर उधर आख मारना ऐसी क्रियायें कुछ पुण्यबन्ध कराती है किन्तु भविष्य मे पापबध कराने के लिये भी अनुकूल पड जाती हैं। एव कोई कोई पाप ऐसे है जो कि पुण्यबंध के अनुकूल बध बैठते है। मुनिमहाराज या जैनधर्म की रक्षा के लिये मर जाना, मार देना, भविष्य मे बिम्बप्रतिष्ठा, विद्यालय आदि मे द्रव्य लगा देने का अभिप्राय रखकर पापमय आजीविका कर बैठना, किसी की वस्तु को चुराकर परोपकारी कार्य में लगा देना, अन्य जीवो के उपकार का लक्ष्य कर प्रकृत जीवो को क्लेश पहुचाना इत्यादिक क्रियायें पापसपादक हो रही भी भविष्य मे पुण्यबध की ओर ले जाती है। जगत् मे सम्पूर्ण पदार्थ अनेक धर्मात्मक है "पूज्यं जिन त्वार्चयतो जनस्य, सावद्य लेशो बहु पुण्यराशौ। दोषाय नाल कणिका विषस्य, न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ" (श्रीसमन्तभद्राचार्य) जिन पूजक के महान् पुण्यबन्ध मे अत्यल्प पापलेश मिला हुआ है। पापपूर्ण कमाई करके धन को धार्मिक कार्य मे लगा देने वाले, अभिमानी पुरुप के पापपुञ्ज में पुण्य अंश भी मिल गया है। किसी किसी पुण्य में आधा पाप घुस बैठता है, किसी पाप में भी आधा पुण्य चिपक जाता है। ऐसे ही पहिले पुण्य पीछे भी पुण्य, और पहिले पाप पीछे भी पाप तथा पहिले पुण्य पीछे पाप, एव पहिले पाप पीछे पुण्य इन चारो भगो को भी दृष्टान्तपूर्वक समझ लेना चाहिये। एक सम्राट (बादशाह) ने चार प्रश्न किये कि यहा भी पुण्य वहां भी पुण्य, १, यहा पुण्य वहा (मरकर पीछे परलोकमे) पाप, २, यहा पाप वहा पुण्य, ३, यहा पाप वहा भी पाप ४, होय, इन चार प्रश्नों के उत्तर में चतुर मत्री ने चार दृष्टान्त उपस्थित

कर दिये । पहिला दानी सेठ, दूसरा अभिमानी यशोवाच्छक धर्मरहित लौकिक कार्यो मे द्रव्य व्यय करने वाला सेठ, तीसरा निर्धन, रोगी, धार्मिक आचरण करनेवाला मनुष्य, चौथा कुष्ठ रोगी भिकारी या दृष्टान्तो द्वारा युक्तियो से पुण्य और पाप की अनेक धर्मविशिष्ट जातियो का परिज्ञान हो सकता है ।

यथार्थोऽर्थानुबंधी स्यान्न्यायाचरणपूर्वकः ।
तथानर्थोपि चांभोधि समुत्तारादिरर्थकृत् ॥ ४ ॥

ग्रन्थकार इस ऊपरली कारिका को पुष्ट करने के लिये दृष्टान्त कहते हैं कि जिस प्रकार अर्थ यानी धन का उपार्जन करना कोई कोई भविष्य मे अगले धन उपार्जन का अनुकूल होता है, न्यायपूर्वक आचरणो के साथ कमाया गया धन वर्तमान मे आजीविका कराता ही है, साथ ही भविष्य में भी उस न्यायोचित व्यवहार करने वाले व्यापारी की बाजार मे प्रतिष्ठा (धाक) जम जाती है जो कि आगे भी धनोपार्जन का बीज है । तिसी प्रकार कोई कोई अनर्थ भी यानी अन्यायोपार्जित द्रव्य भी भविष्य में धन उपार्जन करा देता है जैसे कि समुद्र में उतर जाना, वन की आजीविका करना, लोहे का कार्य करना इत्यादिक जघन्य व्यवसायो में भी धन कमा लिया जाता है । मोती निकालनेके लिये समुद्र में घुसते है, द्वीन्द्रिय जीव माने गये हजारो सीपो की हत्या होती है, धर्मकर्म सब छूट जाता है । अनेक धनिक व्यापारी कितने ही दिनो तक जहाज द्वारा समुद्र मे प्रवास कर दूर देशान्तर मे माल खरीदते हैं बेचते हैं बहुत से देशान्तरो मे मासभक्षण का प्रचार है, धार्मिक आयतन नही हैं, श्रावक के षट्कर्म पल नही सकते है अत एव कही–कही समुद्रयात्रा का निषेध भी लिखा हुआ पाया जाता है । समुद्र में इस पार से उस पार और उस पार से इस पार उतार देने की आजीविका भी प्रशस्त नही हैं । इसमें अनेक दोष छिपे हुये हैं, किन्तु इससे आर्थिकलाभ अधिक होता है । कितने ही पुरुष छिरिया भेड आदि को पालने, बेचने द्वारा आजीविका करते हैं उनको धनलाभ भी हो जाता है । उत्तम कुलवाले ऐसे निंद्य व्यापारो को करे तो उन्हे धनप्राप्ति नही होती है, कतिपय विपत्तिया लग जाती हैं "जाको कारु ताही छाजे, गदहा पीठ मोगरा बाजे" यह किंवदन्ती बहुत दिनो से चरितार्थ हो रही है । इस वार्तिक मे अर्थ को अर्थानुबन्धी और अनर्थ को भी अर्थानुबधी साध दिया है । युक्तिपूर्वक अपेक्षाओ से दो भग बन जाते है ।

अन्यायाचरणायातस्तद्वदर्थोऽप्यनर्थकृत् ।
अनर्थोपीति निर्णीतमुदाहरणमञ्जसा ॥ ५ ॥

जैसे कि अर्थ और अनर्थ दोनो मे भी अर्थानुबन्धीपना विवक्षापूर्वक साध दिया है उसी के समान तीसरा और चौथा भग यो है कि चोरी, धोका देना, असत्यभाषण, हत्या करना, जुआ खेलना, आदिक अन्यायपूर्वक आचरणो से आ गया अर्थ (धन) पीछे भविष्य में अनर्थो का करनेवाला हो जाता है व्यापारी जेलखाने मे दे दिया जाता है, राजा उसका धन लूट लेता है, बीमारी मे खर्च हो जाता है, चोर चुरा ले जाते है, आग लग जाती हैं, यों निर्धन बनाकर अनेक अनर्थो का वह धन उसको अनेक अनर्थ उत्पन्न कर देता हैं। तथा कतिपय अनर्थ भी अनर्थो के करने वाले हो रहे है। अनेक पुण्यहीन पुरुप दरिद्र कुलो मे उपजे है धन कमाने के उनके भाव ही नही होते है, सहायक कारण ही नही मिलते है। अन्यायपूर्वक कोई कार्य कर बैठें तो निर्धन के निर्धन रह जाते है। उनकी आत्मा इतनी पददलित, पतित हो जाती है कि उसमें उन्नतभाव कई पीढियो तक जन्मित नही होतें है। खटीक, भकरा, सिंगी लगानेवाले, कजरा, कुचमदा, खुरपल्टा, ये सब आजीविकायें वर्तमान में अनर्थ है और भविष्य मे भी अनर्थो की जड है यो ग्रन्थकार ने निर्दोष रूप से उदाहरणो का निर्णय कर दिया है। भावार्थ–दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक समरूप से घटित हो रहे है। पुण्यानुबन्धी पुण्य का दृष्टान्त अर्थानुबन्धी अर्थ है। और पापानुबन्धी पाप का उदाहरण तो अनर्थों को करनेवाला अनर्थ है, तथा पापानुबन्धी पुण्य का दृष्टान्त अनर्थकारी अर्थ है एवं पुण्यानुबंधी पाप का दृष्टान्त अर्थ को करने वाला अनर्थ है। स्याद्वादसिद्धान्त समुद्र महान् गहन है, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पाचो पापो के सेवनेवाले पुरुष के प्रत्येक पापक्रियाओ मे न्यारे–न्यारे अतिशय है। कोई मनुष्य केवल हिंसा करता है, अन्य चार पापों को नही करता है उसकी हिंसा पहिले की व्रतरहित अवस्था की हिंसा से अन्य स्वभाव को लिये हुये है, दूसरा गृहस्थ दो पापो का त्यागी है, तीन पापो को सेवता है तीसरा मनुष्य चार पापो का त्यागी है एक को सेवता है। चौथा पाचो पापो का त्यागी है; छठा मनुष्य पहिले त्यागी था, अब पापो को सेवने लग गया है, सातवा पापो को सेव रहा है भविष्य मे त्याग कर देगा इन सबके पुण्यबन्ध या पापबन्धो में अनेक विलक्षणतायें माननी चाहिये। जिस नाव (बजडा) में हजार बोरा चना लद रहा है उसमें से एक सेर चना उतार लिया जाय या अधिक रख दिया जाय तो नाव पानी में ऊची, नीची अवश्य हो जायगी, भले ही उस सूक्ष्म अन्तर को स्थूलबुद्धिवाले विद्यार्थी नही समझ सकें, एक सेर तो वहुत होता है एक तोला या एक चना भी रख दिया जाय या निकाल लिया जाय तो नाव के धँस जाने और ऊथलेपन में अन्तर पड जायगा। देखिये, यदि एक तोले मे अस्सी

चना चढ जाते मान लिये जाय तो एक सेर भर में ६४०० चना हुये ढाई मन की बोरी मे ६४००००– छः लाख चालीस हजार चने भर गये, हजार बोरी वाली नाव में ६४००००००– चौंसठ करोड चने हुये। हजार बोरी लाद देनेपर नाव पानी मे पन्द्रह अंगुल घस जाती है पन्द्रह अंगुलो मे असख्यातासंख्यात प्रदेश हैं, असख्याते उत्सर्पिणी अवसर्पिणीकाल के समयो से भी असख्यात गुणे एक अगुल मे प्रदेश होते हैं। तब तो एक चना निकालने पर भी नाव पानी मे असख्यात प्रदेश ऊपर उठ आवेगी और एक चने को पीस कर पैनी चोमटी से उठाकर उसका एक कण भी अधिक लाद देने पर उसी समय असख्यात प्रदेश नीचे पानी में घुस जावेगी। इसी प्रकार पुण्यबंध और पापबन्ध मे अनेक कारणो से विशिष्टताये उपज जाती हैं। विचक्षण प्रतिभाशाली इस तत्त्व का गम्भीर अध्ययन कर सकते हैं। अनेकान्त सागर मे जितना गहर घुसोगे उतने ही अधिक तत्त्वरत्नो की प्राप्ति कर लोगे।

तत्र पापानुबंधिनः पुण्यस्य, पुण्यानुबंधिनश्च पापस्य कार्यं दर्शयति यत्प्रदर्शन-सामर्थ्यात् पुण्यानुबंधिन. पुण्यस्य पापानुबंधिनश्च पापस्य फलमवसीयते।

उस पुण्य, पापो के सहस्रो भगो से परिपूर्ण हो रहे अनेकान्त रहस्य मे अब ग्रन्थकार पाप को अनुबन्ध करने वाले पुण्य का और पुण्य को अनुकूल बाधने वाले पाप का कार्य दिखलाये देते हैं, जिसको कि दृष्टान्त द्वारा बढिया दिखला देने की सामर्थ्य से ही बिना कहे पुण्यानुबन्धी पुण्य का और पाप को अनुकूल बाधनेवाले पाप का फल निर्णीत कर लिया जाता है इसी बात को अग्रिम दो छन्दो मे सुनिये।

प्रथमकमुत संपदां पदं विटगुरवोऽनुभवंति वंद्यपादाः।
तदनु च विपदं गरीयसीं दधाति परामपि निंद्यवृत्तितां॥ ६॥
यदिहतदिद मुत्तमैनसो निजसुकृतस्य फलं वदंति तज्ज्ञाः।
तदपरमपि चादिमैनसः सुकृतपरस्य विपर्ययेण वृत्तेः॥ ७॥

व्यभिचारी, धनी, गुरुजन, पण्डा, महन्त, आदि पहिले तो सम्पत्तियो के स्थान का उपभोग करते है। असंख्य मनुष्य (स्त्री पुरुष) उनके चरणो की वन्दना करते है यह वर्तमान मे पुण्यफल है किन्तु उसके पीछे बडी भारी विपत्तियो को वे प्राप्त करते है। साथ ही सबसे बड़े निन्दा करने योग्य वृत्तिपने को प्राप्त हो जाते है, यो पीछे पापफल

की प्राप्ति होती है। यहां इस लोक मे या वर्तमानकाल में सुखसामग्री भोगते हुये पीछे बडी भारी विपत्ति और निन्दनीय प्रवृत्तियो का जो झेलना है सो यह उत्तरकालीन पाप का और वर्तमानकालीन अपने उपार्जित पुण्य का फल है, यो उस पुण्यपाप को जाननेवाले अतीन्द्रियदर्शी आचार्य महाराज कहते हैं। तथा उससे न्यारा भी एक फल है जो कि इस पूर्वोक्त के विपर्यय करके यानी उल्टी प्रवृत्ति करने से प्राप्त होता हैं। वह आदि अवस्था में पाप का और भविष्य के पुण्य को उपार्जन मे तत्पर हो रहे कर्मबन्ध का फल है। भावार्थ— जगत् मे कितने ही महन्त, भट्टारक, गोस्वामी, साधू बाबा पुज रहे हैं। हजारो भोले भगत उनको धन देते है उनका चरणामृत लेते हैं। वे लोग भी अभिमान में और धार्मिक अधिकारो मे चूर होकर अनेक पापो को करते हुये इह लोक, परलोक में भारी आपत्तियों को प्राप्त करते हैं। विवेकशील मनुष्य उनके पीछे भारी निन्दा करते है। कोई कोई जातिनेता, देशनेता भी अतरग में कपट धार कर नि.स्वार्थ सेवा करना दिखाते हुये पुज जाते हैं, मौज मारते है, किन्तु पीछे वे दु.खो को झेलते है छोटे छोटे बच्चे उनकी निन्दा करते हैं। बहुत से राजा, महाराजा या अधिकारी भी इस पापानुवन्धी पुण्य का अनुभव करते है। यह उत्तरकालीन पाप और वर्तमानकालीन पुण्य का फल दीख रहा हैं। तथा इससे उल्टे फल को भोगने वाले जीव भी दृष्टिगोचर हो रहे है। कोई मुनि बीमार है या कोई विद्वान् अच्छा कार्य कर रहा भी निन्दा का पात्र बन रहा है। सज्जनो के ऊपर अनेक उपसर्ग आ पडते हे कठिन ब्रह्मचर्य को पाल रही कतिपय कुलागनाये दुःख झेल रही हैं। व्रती या दम्भरहित भोले पुरुषो की लोग निन्दा करते हैं यह सब पूर्वोपार्जित पाप का वर्तमान में फल हो रहा हैं किन्तु भविष्य मे पुण्यसामग्री का सपादक पुरुषार्थ भी साथ लग रहा है। इन दो भङ्गों को दृष्टान्तपूर्वक साध देने से पुण्यानुवधी पुण्य और पापानुबधी पाप के दृष्टान्त सुलभतया ज्ञात हो जाते हैं। अनेक नीरोग शरीर, धनाढ्य, प्रतिष्ठित, पुत्र पौत्र वाले, वे सज्जन पुरुष मन, वचन, काय से रात दिन न्यायपूर्वक आचरण करते हैं। इसके विपरीत जगत् म ऐसे भी जीव हे जो वर्तमान में पापफल भोग रहे है और भविष्य के लिये भी पापबंध कर रहे है। मुडचिरे, क्रोधी, दरिद्र, अपथ्यसेवी, रोगी द्वीन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय आदि क्षुद्रजीव वहुभाग इसी कोटी में ही गिन लेने योग्य है।

इति अष्टमाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम् ।

इस प्रकार आठवें अध्याय का दूसरा आन्हिक समाप्त किया गया है।

आठवें अध्याय का सारांश

बन्धतत्त्व का निरूपण करनेवाले इस आठवें अध्याय के प्रकरणो की सक्षेप से सूचनिका यो है कि प्रथम ही मिथ्यादर्शन के दो भेद कर परोपदेशजन्य मिथ्यादर्शन वे तीनसौ त्रेसठि भेद किये हैं। जिनोक्त परमागम को अनेक सिद्धान्तरत्नो का समुद्र वताया है। नित्यपक्ष या सर्वथा क्षणिकपक्ष मे बन्ध मोक्षव्यवस्था नही वन सकती है, इसको युक्तियें से सिद्ध किया है, कर्मों का पौद्गलिकपना साधते हुये वन्ध के चार प्रकारो का व्याख्यान किया है। ज्ञानावरण आदि आठ मूलप्रकृतियो को अनुमान से साधकर उनके क्रमानुसार निरूपण का बीज समझा दिया है। किसी अपेक्षा से सत् हो रहे और कथचित् असत् हो रहे मतिज्ञान आदि के ऊपर आवरण आ जाना बताया है। अभव्य के भी पिछले दो आवरणो की सिद्धि की है। आगमोक्त सभी उत्तर प्रकृतियो को युक्तियो से दृष्टान्तपूर्वक सिद्ध कर दिया है। दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु कर्मो की उत्तरप्रकृतियो का व्याख्यान किया है जो कि राजवार्तिक महान् ग्रन्थ की वार्तिको से प्रायः मिल जाता है। इसी प्रकार नाम, गोत्र, और अन्तराय की उत्तर प्रकृतियो का व्याख्यान है। दूसरे आन्हिक में स्थितिबन्ध को कहते हुये द्वीन्द्रिय आदिक जीवो के बंध रहे कर्मों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिया समझाई है। अतीन्द्रिय स्थितिबंध और अनुभागबन्ध को साधने में अच्छी से अच्छी जो युक्तिया दी जा सकती हैं वे बताई है। फल का उपभोग हो चुकने पर भी कर्मो का क्षय हो नही पाता है इस मन्तव्य का निराकरण कर दिया है। प्रदेशबंध को कहते हुये स्कन्ध की सिद्धि कर दी है, कर्मबन्ध के अन्य भी भेद बतलाये हैं। पुण्यबन्ध और पापबध को युक्तियो से पुष्ट किया है। आठवें अध्याय के अन्त मे स्याद्वाद और अनेकान्त का अच्छे ढग से प्रतिपादन किया हैं। वर्तमान में अनेक जीव पुण्य का सम्पादन कर रहे हैं किसी किसी पुण्य में पाप का अनुबंध लगा रहता है एवं कतिपय पापो में भी पुण्य की गध अनुप्रविष्ट हो रही है। यो देश की या पूर्वापर कालो की विवक्षा कर एव आत्मीय भावो अनुसार पुण्य पापो मे अनेक धर्मो को बताया हैं। सातवें अध्याय के अन्त में भी दान का व्याख्यान करते हुये ग्रन्थकार ने अनेकान्त की विलक्षण छटाओ का प्रदर्शन किया था। प्रकाण्ड न्यायशास्त्र के उद्‌भट पारदर्शी विद्वान् यदि ऐसा प्रयत्न न करे तो आधुनिक हठी दार्शनिको का मद कैसे गलित होवे, किसी नीतिज्ञ ने ठीक कहा है कि:—
"नीरक्षीरविवेके हसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत्, विश्वस्मिन्नधुनान्य कुलव्रतं पालयिष्यति क ?"
अतः ग्रन्थकार का यह प्रयास अतीव प्रशसास्पद है, सबको नतमस्तक होकर स्वीकार करना

पडता है। आठवें अध्याय के प्रकरणों को दो आन्हिकों में परिपूर्ण कर दिया है। यों इस आठवे अध्याय का सक्षिप्त व्याख्यान है।

इति श्री विद्यानन्द आचार्यविरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे
अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार यहा तक अनेक अतरग, बहिरंग लक्ष्मियो के आश्रय हो रहे श्री विद्यानन्द आचार्य महाराज करके विशेषरूपेण विद्वत्तापूर्ण रचे गये इस तत्वार्थसूत्र की श्लोको मे वार्तिक और अलंकारस्वरूप विवरण करनेवाले तत्वार्थश्लोकवार्तिकालकार नामक महान् ग्रन्थ मे आठवा अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

इति श्री तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थराज की आगरामण्डलान्तर्गत चावलीग्राम निवासि माणिक्यचन्द्रकृत देशभाषामय "तत्वार्थचिन्तामणि" नामक टीका में आठवां अध्याय पूर्ण हुआ।

पुण्यानुबंधि पापानि पुण्यान्येनःपराणि च।
समूलचूलं घ्नन् पुण्य पापानि स्ताच्छ्रियै जिनः ॥ १ ॥

——*—*—*

अथ नवमोऽध्यायः ।

संख्यातीतसहस्रयोजनमितस्वर्णादिरत्नस्फुरद्- ।
भण्डाराधिपतिः शचीपतिजगाद्यत्प्रातिहार्यं समुद् ।।
मिथ्यात्वादिनिदानपञ्चकभवान् बन्धान्धकारात् क्षिपन् ।
सद्दृग्ज्ञानचरित्ररत्नमहसा वीरः स नोव्यात्सदा ।। १ ।।

अब बधपदार्थ का निरूपण कर चुकने पर सूत्रकार महाराज सम्वर और निर्जरातत्व की प्ररूपणा करने के लिये नौमे अध्याय का प्रारम्भ करते है। प्रथम ही संवरतत्व का लक्षण करते हुये सूत्र कह रहे हैं।

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

ज्ञानावरण आदि कर्मों के आगमन का हेतु हो रहे आत्मीयप्रदेशपरिस्पन्दस्वरूप योग को आस्रव कहा गया है उस आस्रवका अथवा उस योग में विशिष्टताओ का सम्पादन करनेवाले प्रदोष, निन्हव, आदि का निरोध हो जाना सवर तत्व है।

कर्मागमननिमित्ताप्रादुर्भूतिरास्रवनिरोधः, तन्निरोधे सति तत्पूर्वकर्मादानाभावः संवरः। तथा निर्देशः कर्तव्य इति चेन्न, कार्ये कारणोपचारात्। निरुध्यतेऽनेन निरोध इति वा निरोधशब्दस्य करणसाधनत्वात् आस्रवनिरोधः संवर इत्युच्यते न पुनः कर्मादानाभावः स इति। योगविभागो वा आस्रवस्य निरोधः तत संवर इति। एतदेवाह—

कर्मों के आगमन मे निमित्तकारण हो रहे योगविशेप, इन्द्रिय, कषाय, दु ख, शोक आदि का प्रादुर्भाव नही होना आस्रवनिरोध है। उस आस्रवनिरोध के हो जाने पर उस आस्रव को पूर्ववर्ती कारण मानकर हो रहे कर्मो के ग्रहण का अभाव हो जाना सवर पदार्थ है। यहाँ कोई शिष्य शका उठाता है कि मूल सूत्र मे आस्रवनिरोध को सवर कहा गया है अब टीका मे आस्रवनिरोध हो जाने पर कर्मग्रहण के अभाव को संवर बखाना गया है, प्रतीत होता है कि "आस्रवनिरोधात् सवरः" या "आस्रवनिरोधे सवरः" यो सूत्र समझ लिया गया है। जब कि आस्रव का निरोध होनेपर संवर होना अभोष्ट है तो सूत्रकार को तिसी प्रकार आस्रवनिरोधे सति सवर अथवा आस्रवनिरोधात्सवरः यों सूत्र पढना चाहिये जिससे कि अभिमत अर्थ की सिद्धि हो जाय, भ्रम के उत्पादक पदो का उच्चारण क्यो किया जा रहा है ? ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना। क्योकि अनादि आम्नाय अनुसार सवर का निर्देश इसी प्रकार होता चला आ रहा है यहा कार्य में कारणपने का उपचार किया गया है जैसे कि "अन्न वं प्राणाः" यहाँ अन्न के कार्य हो रहे प्राणो में उद्देश्य रूप करके अन्नपन का उपचार है, तिसी प्रकार आस्रवनिरोध का कार्य हो रहे सवर मे आस्रवनिरोध का व्यवहार कर लिया गया है अथवा एक बात यो है कि यहा सूत्र में निरोध शब्द को नि उपसर्ग पूर्वक "रुधिर आवरणे" धातु से कारण में घञ् प्रत्यय कर साधा जाय, इस आत्मीय भाव करके कर्म रोके जाते हैं यो आस्रव निरोध करनेवाला कारण सवर है यह सूत्र द्वारा कहा जाता है किन्तु फिर वह कर्मों के ग्रहण करने का अभाव हो जाना संवर नही है जो कि भाव में घञ् प्रत्यय करने पर अर्थ निकलता था यो सवर शब्द का भी कारण मे अप् प्रत्यय कर साधन किया जाय, जिससे कि सामानाधिकरण्य बन जाय, जैसे कि "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं" यहां बन जाता है। अथवा दूसरे ढंग से यो भी आम्नाय के उक्त लक्षणवाक्य को घटित कर लिया जाय कि "आस्रवनिरोध" यह स्वतन्त्र वाक्य रक्खा जाय और "सवर" यह दूसरा सूत्र स्वतन्त्र समझा जाय। यो दोनो जुडे हुये पदो के योग का विभाग कर दो टुकडे कर लिये जाय तब तो बडा अच्छा अर्थ यह हो गया कि हित को चाहनेवाले जीव करके आस्रव का निरोध करना चाहिये, यह पहिले वाक्य का अर्थ हुआ। सूत्र अपने अर्थ को रचने के लिये यहा-वहा से उचित पदो को खीच लेते है। अत्यन्त संक्षेप से सूत्रो की रचना करनेवाले गम्भीर विद्वान् सभी, क्रिया, कारक, पदो को कहां तक बोलते रहे। अत "हितार्थिना कर्तव्य" यह पद सूत्र से शेष बच गया समझ लेना चाहिये। उस आस्रवनिरोध से क्या प्रयोजन सधेगा ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर झट सूत्रकार दूसरा वाक्य यो बोल देते हैं कि "संवर" कर्मों का

संवर हो जाना हो इस निरोध का प्रयोजन है। यो निरोध और संवर शब्दो को भाव में घञ् और अच् प्रत्यय कर ही साध लिया जाय। यहातक सूत्रोक्त रहस्य का व्याख्यान कर दिया है, इस हो निरूपण को ग्रन्यकार अग्रिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट कह रहे है।

अथास्रवनिरोधः स्यात्संवरोऽपूर्वकर्मणां।
कारणस्य निरोधे हि वंधकार्यस्य नोदयः ॥ १ ॥

अव सूत्रकार नौमे अध्याय के प्रारम्भ मे सवरतत्व को कहते हैं। भविष्य काल मे आने वाले अपूर्व कर्मो के आस्रव का निरोध हो जाना सवर समझा जायगा, कारण का निरोध हो जाने पर बन्धस्वरूप कार्य की उत्पत्ति नियम से नही होती है। अर्थात् आस्रव और बध का समय यद्यपि एक है तथापि आस्रव पूर्ववर्ती है और वंध उत्तरक्षणाशवर्ती है। लोक के नीचे भाग से ऊपरले भाग तक एक परमाणु एक समय मे चौदह राजू चली जाती हैं परमाणु का पकप्रभा, रत्नप्रभा, ब्रह्मलोक, सर्वार्थसिद्धि इन स्थानो मे क्रम से पहुचना मानना पडेगा यो एक समय के कार्यो में भी क्रम वन जाना सम्भव हो जाता है। अतः बन्ध और आस्रव मे कार्यकारणभाव है समान समयवालो में भी दीप और प्रकाश के समान कारणकार्यभाव हो जाने मे कोई विरोध नही है। अतः कारण हो रहे आस्रव के रुक जाने पर बधना स्वरूप कार्य भी रुक जाता है।

आस्रवः कारणं बधस्य कुतः सिद्ध इति चेत्—

यहाँ कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि बंध का कारण आस्रव है यह सिद्धान्त किस प्रमाण से सिद्ध है? बताओ। यो जिज्ञासा प्रवर्तने पर तो ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को उपस्थित करते है।

आस्रवः कारणं बन्धे सिद्धस्तद्भावभावतः।
तन्निरोधे विरुध्येत नात्मा संवृतरूपभृत् ॥ २ ॥

वंधकार्य होने में कारण आस्रव है, कार्य कारणभाव तो अन्वय और व्यतिरेक से सिद्ध हैं, देखिये, उस आस्रव का सद्भाव होने पर बध की उत्पत्ति का सद्भाव है, आस्रव के नही होने पर बंध उपजता नही है "यद्भावाभावयोर्यस्योत्पत्यनुत्पत्ती तयो कार्यकारण-भावः"। उस आस्रव का निरोध हो जाने पर यह आत्मा संवर प्राप्त हो रहे स्वरूप को धारण कर लेता है। इस सूत्रोक्त सिद्धान्त में कोई विरोध नही पडेगा।

नहि निरोधो निरूपितो अभावस्तस्य भावान्तरस्वभावत्वसमर्थनात्, तेनात्मैव निरुद्धास्रवः संवृतस्वभावभृत् संवर सिद्धः सर्वथाविरोधाद्भावाभावाभ्यां भवतोऽभवतश्च ।

जैनसिद्धान्त में निरोध पदार्थ कोई तुच्छ या निरुपाख्य पदार्थ नही कहा गया है जैसा कि कार्यता, कारणता, आधारता, आधेयता आदि धर्मों से रीते तुच्छ अभावपदार्थ को वैशेषिको ने इष्ट किया है जैन या मीमासक ऐसे तुच्छ अभाव को नही मानते हैं। हम जैनो के यहाँ अभाव को अन्य भावो स्वरूप हो जाने का दृढ समर्थन किया गया है, जैसे कि रीता भूतल ही घटाभाव है, घट का फूटकर ठीकरा हो जाना ही घटध्वस है उसी प्रकार करणसाधन व्युत्पत्ति अनुसार गुप्ति, समिति आदिक आत्मीय परिणाम ही आस्रवनिरोध कहे जाते हैं तिसकारण जिसके आस्रव रुक चुके हैं ऐसा गुप्ति, समितिवाला आत्मा ही संवर पा चुके स्वरूप को धार लेता है, यो युक्ति से संवर तत्त्व सिद्ध हो जाता है। भावस्वरूप आस्रवनिरोध का सद्भाव हो जाने से सवर के हो जाने का और आस्रवनिरोध का अभाव हो जाने से संवर के नही होने का सभी प्रकारो से कोई विरोध नही है।

बंधस्यास्रवकारणत्ववत् बंधस्यैव निरोधः सवर इति कश्चित्, तदयुक्तमित्याह —

यहाँ कोई पण्डित आक्षेप करता है कि जिस प्रकार "बन्ध आस्रवकारण" (बहुव्रीहि) बन्ध का आस्रव को कारणपना है, उसी प्रकार बध के ही निरोध को संवर कहना चाहिये "बन्धनिरोधः संवर" यो सूत्ररचना अच्छी जचती है। आचार्य कहते हैं कि वह किसी पण्डित का कहना युक्तिशून्य है, इसी बात को अगली वार्तिक मे कहे देते हैं।

संवरोऽपूर्वबंधस्य निरोध इति भाषितं,
न युक्तमास्रवे सत्यप्येतद्बाधानुषंगतः ॥ ३ ॥

"आस्रवनिरोध. सवरः" ऐसा नही कहकर "बंधनिरोधः संवरः" यो सूत्र बनाकर अपूर्व कर्मबन्ध का निरोध हो जाना सवर है। इस प्रकार किसी का भाषण करना युक्तिपूर्ण नही है क्योकि आस्रव के होने पर भी बारहमे, तेरहमे गुणस्थानो में इस बंध के हो जाने की बाधा का प्रसग आ रहा है। अर्थात् ग्यारहवे, बारहमें, तेरहमे गुणस्थानो मे केवल योग द्वारा सातावेदनीयकर्म का ईर्यापथ आस्रव हो रहा है किन्तु बन्ध नही है यो बन्ध का निरोध हो जाने से बारहमें गुणस्थान में सातावेदनीय का सवर समझा जायगा जो कि इष्ट नही है।, हां आस्रवनिरोध को सवर कह देने से वहां सातवेदनीय का

संवर नही कहा जा सकता है क्योकि सातवेदनीय का आस्रव हो रहा है। अतः उक्त सूत्रनिर्देश हो समुचित है ।

नहि सत्यप्यास्रवे संवरः संभवति सर्वस्य तत्प्रसंगात् । न चापूर्वकर्मबंधस्य निरोधे सत्यास्रवनिरोध एवेति नियमोस्ति क्षीणकषायसयोगकेवलिनोरपूर्वबंधनिरोधेपि कर्मास्रवसिद्धेः । प्रकृत्यादिसकलबंधनिरोधस्तु न नास्रवनिरोधमंतरेण भवतीति तन्निरोध एव बंधनिरोधस्ततो युक्तमेतदास्रवनिरोध कर्मणामात्मनः संवर इति ।

आस्रव होते सन्ते भी सवर संभव जाय यह बात सुसंगत नही है, अन्यथा सभी प्राणियो के उस सवर के हो जाने का प्रसग आ जायगा । मिथ्यादृष्टि जीव के भो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी आदि का संवर बन बैठेगा । एक बात यह भी है कि पहिले नही बाधे जा चुके कर्मो के बन्ध का निरोध हो जाने पर आस्रव का निरोध होय ही जाय ऐसा कोई नियम नही हैं । जब कि कषायो का सर्वथा क्षय कर चुके बारहमे गुणस्थानवाले जीव के और तेरहवें गुणस्थानवाले योगसहित केवलज्ञानी आत्मा के अपूर्वकर्मों के बध का निरोध होते हुये भी वेदनीय कर्म का आस्रव होना सिद्ध हैं । इस कारण बध का निरोध संवर नही कहा जा सकता है । प्रकृतिबंध, स्थितिबंध आदिक सम्पूर्ण बन्धो का निरोध हो जाना तो आस्रव का निरोध हुये विना नही हो पाता है । इस कारण उस आस्रव का निरोध हो जाना ही बन्ध का निरोध है । यो आस्रव के निरोध में बंध का निरोध गर्भित हो जाता है और व्याप्य हो रहे बन्धनिरोधमे व्यापक आस्रव निरोध नही समा पाता है तिस कारण से यह सिद्धान्त ही युक्तियो से पूर्ण है कि कर्मों के आस्रव का निरोध हो जाना आत्मा का सवर तत्व है । यहातक सूत्र का समर्थन समाप्त कर दिया है ।

मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययकर्मसवरणं संवरः । स द्वेधा, द्रव्यभावभेदात् । संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवर, तन्निरोधे तत्पूर्वककर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसवरः । तद्विभावनार्थं गुणस्थानविभागवचन ।

मिथ्यादर्शन, अविरति आदि को कारण मानकर ग्रहण किये जा रहे कर्मो का सम्यग्दर्शन, विरति आदिक परिणतियो के हो जाने पर सवरण हो जाना सवर है । द्रव्यसवर और भावसवर के भेद से वह सवर दो प्रकार का है । द्रव्य, क्षेत्र आदि निमित्तो से जीव को अन्यभव की प्राप्ति हो जाना ससार हैं । उस संसरण की निमित्तकारण हो रही इन्द्रियलोलुपता, कषायपरिणतिया, हिंसा, व्यभिचार, आदिक क्रियाओ की निवृत्ति हो

जाना भावसवर है और उस भाव संवरस्वरूप आस्रवनिरोध हो जाने पर उस आस्रवपूर्वक ग्रहण किये जा रहे कर्मपुद्गलो का निराकरण हो जाना द्रव्यसंवर कहा जाता है। उस सवर का परिपूर्ण विचार करने के लिये जैनसिद्धान्त मे चौदह गुणस्थानो के विभाग का निरूपण किया गया है।

मिथ्यादृष्टि,सासादनसम्यग्दृष्टि,सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टि,संयतासयत,प्रमत्तसयताप्रमत्तसंयतापूर्वाकरणानिवृत्तिबादरसांपराय,सूक्ष्मसांपरायोपशमक,क्षपकोपशांत,क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ,सयोगायोगिकेवलिभेदाद्गुणस्थानविकल्पः।

उन गुणस्थानो के नाम इस प्रकार हैं। १ मिथ्यादृष्टि, २ सासादनसम्यग्दृष्टि ३ सम्यङ्मिथ्यादृष्टि ४ असयतसम्यग्दृष्टि ५ संयतासयत ६ प्रमत्तसयत ७ अप्रमत्तसयत ८ अपूर्वकरणउपशमकक्षपक ९ अनिवृत्तिबादरसापरायउपशमकक्षपक १० सूक्ष्मसापरायउपशमकक्षपक ११ उपशातकषायवीतरागछद्मस्थ १२ क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ १३ सयोगकेवली १४ अयोगकेवली, इस प्रकार भेद कर देनेसे गुणस्थानो के चौदह विकल्प हो जाते हैं।

तत्र मिथ्यादर्शनोदयवशीकृतो मिथ्यादृष्टि, तदुदयाभावेऽनन्तानुबधिकषायोदयविधेयीकृतः सासादनसम्यग्दृष्टि.।

उन चौदह गुणस्थानो मे प्रत्येक का लक्षण यथाक्रम से इस प्रकार है कि दर्शनमोहनीय कर्म की पौद्गलिक उत्तरप्रकृति हो रहे मिथ्यादर्शन कर्म के उदय करके वश मे कर लिया गया जीव मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। उन उन गुणस्थानो में संभव रहे भावों को धार रहे जीव गुणस्थानी है और उन भावो को गुणस्थान कहते हैं। राजवार्तिक और गोम्मटसार में इन गुणस्थानो का बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया गया है यहाँ संक्षेप से लक्षणमात्र कह दिया है। उस मिथ्यात्वप्रकृति के उदय का अभाव हो जाने पर अनतानुबधी कषाय के उदय अनुसार कलुषित कर दिया गया पराधीन जीव सासादनसम्यग्दृष्टि है। उपशमसम्यक्त्व के पहिले करणत्रय पुरुषार्थ करके पाच या सात प्रकृतियो का यद्यपि अन्तरकरण नाम का उपशम कर दिया था, फिर भी उपशम के अन्तर्मुहूर्त काल में कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली काल शेष रह जाने पर अनन्तानुवन्धी की चार प्रकृतियो मे से किसी भी प्रकृति के उदय या उदीरणा अनुसार सम्यक्त्वपर्वत से गिर गया और मिथ्यात्व भूमि तक नही पहुचा जीव सासादनसम्यग्दृष्टि है। आसादन यानी विराधना से सहित हो रहा सम्यग्दर्शन ही सासादनगुणस्थान है। यह जीव नियम

से मिथ्यात्व भूमि पर गिर पडेगा।

सम्यङ्मिथ्यात्वोदयात् सम्यङ्मिथ्यादृष्टिः, सम्यक्त्वोपेतश्चारित्रमोहोदयापादिताविरतिरसंयतसम्यग्दृष्टिः द्विविषयविरत्यविरतिपरिणत संयतासयतः।

दर्शनमोहनीय की जात्यन्तर सर्वघाती हो रही सम्यङ्मिथ्यात्व नामक प्रकृति का उदय हो जाने से दही और गुड के मिले हुये खटमिट्ठे रस के समान तत्त्वार्थो के श्रद्धान, अश्रद्धान, रूप मिश्र परिणामो को धार रहा जीव सम्यङ्मिथ्यादृष्टि है और मिश्रित परिणाम हो जाना तीसरा गुणस्थान है। चौथा गुणस्थानी असयत सम्यग्दृष्टि हैं। औपशमिकसम्यग्दर्शन या क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन अथवा क्षायिकसम्यग्दर्शन से सहित हो रहा भी चारित्रमोहनीय माने गये अप्रत्याख्यानावरण के उदय से इन्द्रियसंयम और प्राणिसयमस्वरूप विरति की नही प्राप्ति कर रहा जीव असंयत सम्यग्दृष्टि है। इसके स्वल्प भी सयम नही हैं किन्तु सम्यग्दर्शन अवश्य हैं, चौथे से लेकर ऊपर के सभी गुणस्थानो मे सम्यग्दर्शन नियम से विद्यमान रहता है। पहिले चार गुणस्थान तो दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा से हैं। दर्शनमोहनीय के उदय, उपशम, क्षय, या क्षयोपशम अनुसार हो जाते हैं। दूसरे में पारिणामिक भाव इसी अपेक्षा सभव रहा है। हा, चौथे से ऊपर पाचवें आदिक गुणस्थान तो चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम या उपशम अथवा क्षय से हो जाते हैं। प्राणी और इन्द्रिय इन दोनो विषयो में कथचित् विरति और कथंचित् अविरति परिणामो से समाहित हो रहा जीव सयतासयत है। पाचवें गुणस्थान मे अप्रत्याख्यानावरणकषायो का उदय सर्वथा नही है। हा, प्रत्याख्यानावरणका पाक्षिक अवस्थामें या ग्यारह प्रतिमाओ में तारतम्य रूप से मन्द उदय हैं, सज्वलनकषाय और नोकषायो का उदय है ही, प्राणियो मे त्रस जीवो की सकल्पी हिंसा का परित्याग है और स्थावर जीवो की हिंसा का त्याग नही है। इन्द्रियसंयम भी एक देश पल रहा है बहुभाग नही पल रहा है। अत एक ही समय में कुछ सयत और कुछ असंयत होने से पाचवे गुणस्थान वाला जीव सयतासयत है।

परिप्राप्तसंयमः प्रमादवान् प्रमत्तसंयत प्रमादविरहितोऽप्रमत्तसयतः।

चारित्र मोहनीय की बारह सर्वघाती प्रकृतियो का उदय निवृत्त हो जाने से जिस जीव को सयम प्राप्त हो गया है फिर भी चारित्र से कुछ स्खलित करनेवाले पन्द्रह प्रमादो से युक्त हो रहा वह जीव प्रमत्तसयत कहा जाता है। संयम मे नहीं विचलित हो रहा और प्रमादो से भी विरहित हो रहा जीव अप्रमत्तसयत है। सातमे गुणस्थान के निर-

तिशय अप्रमत्त और सातिशयअप्रमत्त यों दो भेद हैं। छठे गुणस्थानका उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है और सातमे का काल भी इससे छोटा अन्तर्मुहूर्त है, जो छठे से सातवां और सातवें से छठा यो हजारो, लाखो परावृत्तियां होती रहती हैं। यह सातवा गुणस्थान निरतिशय अप्रमत्त है तथा द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन या क्षायिकसम्यग्दर्शन धारण कर दो श्रेणियों पर चढने के लिये उद्युक्त हो रहा है वह सातवां अधःकरण गुणस्थान सातिशय अप्रमत्त है। यहाँ से ऊपर आठवें, नौमे, दशमे, ग्यारहवे, इन चार गुणस्थानो में उपशमश्रेणी और आठवें, नौमे, दशमे, बारहवे इन चार गुणस्थानों मे क्षपक श्रेणी प्रारम्भ हो जाती है। जहा चारित्र मोहनीय की इकईस प्रकृतियो का उपशम करता हुआ चढता है वह उपशम श्रेणी है तथा चार अप्रत्याख्यानावरण, चार प्रत्याख्यानावरण, चार सज्वलन, नौ नोकषाय, इन इकईस प्रकृतियो का क्षय करता हुआ ऊपर चढता है, वह क्षपकश्रेणी है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि ही क्षपक श्रेणी पर चढता है।

अपूर्वकरणपरिणामः उपशमकः क्षपकश्चोपचारात् अनिवृत्तिपरिणामवशात् स्थूलभावेनोपशमकः क्षपकश्चानिवृत्तिबादरसांपरायः, सूक्ष्मभावेनोपशमात् क्षपणाच्च सूक्ष्मसांपराय ।

आठवाँ गुणस्थान अपूर्वकरण नामक परिणामो को धार रहा उपशमक भी है क्षपक भी है। यद्यपि आठवें गुणस्थान में उपशमश्रेणी को चढ रहा जीव किन्हो प्रकृतियो का उपशम या क्षपक श्रेणी को चढ रहा जीव किन्हो प्रकृतियो का क्षय नही कर रहा है, हाँ उत्सुक हो रहा है। तथापि द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव पूर्व मे उपशम या क्षय कर चुका है अथवा आगे नौमे गुणस्थान में उपशम या क्षय करेगा अतः उपचार से मध्य में भी यह उपशम करने वाला उपशमक अथवा क्षय करने वाला क्षपक कहा जाता है। जो भूतकाल मे मन्त्री रह चुका है या भविष्य मे मन्त्री होने वाला है वह वर्तमान मे भी व्यवहारमुद्रासे मन्त्री कह दिया जाता है। हाँ, अपूर्वकरण परिणामों द्वारा स्थितिखण्डन, अनुभागखण्डन, गुणश्रेणीनिर्जरा, गुणसंक्रमण, ये चार अतिशय हो जाते हैं। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये परिणाम कतिपय स्थलो पर होते हैं। उपशम सम्यग्दर्शन के पहिले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे ये तीन करण होते हैं, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने या क्षायिक सम्यक्त्वग्रहण के पूर्व मे भी ये तीन करण होते हैं। सातवे, आठवें, नौमे गुणस्थानों में भी तीन करण होते हैं इनकी जातियां सर्वत्र न्यारी न्यारी है। अध.करण में पहिले पिछले समयो में परिणाम समान भी हैं विसदृश

भी हैं अनुकृष्टि रचना है अनन्तगुणी विशुद्धि और अप्रशस्तप्रकृतियो का अनुभागबन्ध अनन्तगुणा हीन पडना, तथा शुभ प्रकृतियो का अनन्तगुणी वृद्धि लिये हुये अनुभाग पडना, एव अशुभप्रकृतियो मे स्थिति भी न्यून पडना ये चमत्कार हो जाते हैं और अपूर्वकरणअनिवृत्ति करणो में तो अनेक अतिशय विद्यमान हैं। नौमे गुणस्थान का नाम अनिवृत्तिकरण है दशमे गुणस्थान की अपेक्षा नौमे मे स्थूलकषाय हैं अतः अनिवृत्तिकरण परिणामो के वश से अनिवृत्तिवादरसापराय गुणस्थानवाला जोव कर्म प्रकृतियो का स्थूलरूपेण उपशम कर रहा है और क्षपकश्रेणीवाला क्षय कर रहा है इस नौमे गुणस्थान में उपशम श्रेणी पर चढ रहा जीव हास्य आदि छ, नपुसकवेद, स्त्रीवेद, पुवेद, अप्रत्याख्यानावरण, आदिक प्रकृतियो का उपशम कर रहा उपशमक है अथवा वही क्षपकश्रेणी पर चढ रहा अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायो का क्षय कर रहा क्षपक है अन्य ग्रन्थो में उपशम विधि या क्षपक-प्रक्रिया का विशेष विस्तार है नौमे गुणस्थान मे की गई बादरकृष्टि, सूक्ष्मकृष्टि अनुसार सज्वलन क्रोध का उदय अतीव सूक्ष्म रह जाता है। सूक्ष्मभाव करके कषाय का उपशम या क्षय कर देने से सूक्ष्मसापरायउपशमक, और सूक्ष्मसापरायक्षपक जाना जाता है।

सर्वस्योपशमात्क्षपणाच्चोपशांतकषाय क्षीणकषायश्च, घातिकर्मक्षयादनिर्भूतज्ञानाद्यतिशयः केवली। स द्विविधो योगभावाभावभेदात्।

पहिले दश गुणस्थानो तक सम्पूर्ण मोहनोय कर्म का उपशम कर देने से उपशमश्रेणी चढ रहा जीव ग्यारहवें गुणस्थान मे कषायो का उपशम कर चुका उपशातकषाय हो जाता है तथा क्षपकश्रेणीवाला जीव पूर्ववर्ती गुणस्थानो में समस्त मोहनीयकर्म का क्षय कर चुका बारहमे गुणस्थान में क्षीण हो गयी हैं कषाय जिसकी ऐसा क्षीणकषाय या क्षीणमोह कहा जाता है। ज्ञानावरण आदि चार घातिकर्मों का अत्यन्त क्षय हो जाने से प्रकट हो चुके केवलज्ञान, केवलदर्शन प्रभृति अनेक अतिशयो को धार रहा केवली है, योग का सद्भाव और योग का अभाव इनमे दो से वे केवलज्ञानो दो प्रकार हैं। तेरहवें गुणस्थान मे केवलज्ञानी के सत्यमनोयोग, अनुभयमनोयोग, सत्यवचनयोग, अनुभयवचनयोग, औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, कार्मणकाययोग ये सात योग सभवते हैं। और चौदहवे गुणस्थान मे केवलज्ञानी के कोई योग नही है, यो चौदह गुणस्थानो का सामान्य कथन कर दिया गया है।

तत्र मिथ्यात्वप्रत्ययस्य कर्मणस्तदभावे सवरो ज्ञेयः। असंयमस्त्रिविधोऽनन्तानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानोदयविकल्पात् तत्प्रत्ययस्य तदभावे संवर, प्रमादोपनीतस्य तदभावे

निरोधः कषायास्रवस्य तन्निरोधे निरासः, केवलयोगनिमित्तं सद्वेद्यं तदभावे तस्य निरोध इति सकलसंवरो अयोगकेवलिनः। सयोगकेवल्यतेषु गुणस्थानेषु देशसवरः प्रतिपत्तव्यः।

अब उन गुणस्थानो में कर्मों का सवर यथाक्रम से कहा जाता है। मिथ्यात्व को प्रधान कारण मानकर पहिले गुणस्थान मे जो सोलह कर्म आ रहे हैं उस मिथ्यात्व के उदय का अभाव हो जाने पर दूसरे आदि सभी गुणस्थानो में उनका सवर हो रहा समझ लेना चाहिये वे सोलह प्रकृतिया ये हैं।

मिच्छहुडसंढाऽसंपत्तयक्कथावरादावं ।
सुहुमतिय वियलिंदी, णिरयदु णिरयाउग मिच्छे ।।

मिथ्यात्व, हुण्डकसस्थान, नपुसकवेद, असंप्राप्तासृपाटिकासहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिंद्रियजाति, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, नरक आयुष्य १६।

जैनसिद्धान्तमे अनन्तानुबन्धी कषायका उदय और अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय, इन भेदो से असंयम के तीन प्रकार माने गये हैं। दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुबधी की प्रधानता से अनन्तानुबधी क्रोध आदि पच्चीस प्रकृतियों का आस्रव हो रहा है उन अनन्तानुबन्धी के उदय का अभाव हो जाने पर तीसरे आदि सभी गुणस्थानो मे अनन्तानुबधी चार, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, चार बीचके सस्थान, चार बीचके सहनन, अप्रशस्तविहायोगति, स्त्रीवेद, नीचैर्गोत्र, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, तिर्यगायुष्य, और उद्योत, इन पच्चीस प्रकृतियो का संवर हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय की प्रधानता से चौथे गुणस्थान तक अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्य आयु, मनुष्यगति, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, औदारिक शरीर, औदारिक अगोपाग, वज्रऋषभनाराच सहनन, इन दश प्रकृतियो का आस्रव हो रहा है। उस प्रत्याख्यानावरण के उदय का अभाव हो जाने पर ऊपरले पाचवे आदि गुणस्थानो मे इनका सवर है। तीसरे गुणस्थान में किसी आयु का बन्ध नही है। तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय को प्रधानकारण मानकर प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया लोभ इन चार प्रकृतियो का आस्रव होता है। पाचवे गुणस्थान से ऊपर छठे आदि गुणस्थानो मे इनका सवर है। छठे प्रमत्तगुणस्थान में प्रमाद की प्रधानता से प्राप्त हो रही असद्वेद्य, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ, अयशस्कीर्ति इन छह प्रकृतियो का आस्रव हो रहा है उस प्रमाद के हट जाने पर सातवे आदि गुणस्थानो मे इनका आस्रव-निरोध हो जाता है। देव आयु का बंध सातवे गुणस्थान तक होता है। उसके ऊपर देव आयु का संवर है। केवल कषाय को ही कारण मानकर निद्रा, प्रचला, देवगति आदिक

प्रकृतियो का सातमे आदि गुणस्थानो तक आस्रव हो रहा है, उस कषाय का निरोध हो जाने पर ग्यारहमे आदि गुणस्थानो में उन प्रकृतियों के आस्रव का निरास हो जाता है आठवे गुणस्थान में छत्तीस प्रकृतियो की बधव्युच्छित्ति है, नौवें मे पाच की और दशमे में सोलह की व्युच्छित्ति है। ग्यारहमे, बारहमे, तेरहमे गुणस्थानो में मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषायो से सर्वथा रीते केवलयोग को निमित्त पाकर सद्वेद्य कर्म का आस्रव होता रहता है। चौदहवें गुणस्थान में उस योग का भी अभाव हो जाने पर उस सातावेदनीय का भी आस्रव होना रुक जाता है। इस प्रकार अयोगकेवली महाराज के, चौदहमे गुणस्थान मे एकसौ बीसौ कर्मप्रकृतियो और नोकर्मवर्गणाओ इन सब का पूर्णरूप से सवर है। हाँ, सयोगकेवली पर्यंत ऊपरले तेरह या बारह गुणस्थानो मे एकदेश रूप से सवर हुआ समझ लेना चाहिये। पहले गुणस्थान मे तीर्थंकर, आहारकद्विक, प्रकृतियो का बध भले ही नही होय किंतु सवर हुआ नही कहा जा सकता है। अत पहिले गुणस्थान मे किसी प्रकृति का भी सवर नही है। सातिशयमिथ्यादृष्टि के स्थितिखण्डन, अनुभागकाण्डकघात हुये तो क्या?

स कैः क्रियत इत्याहः—

वह सवर किन कारणो करके किया जाता है ? इस प्रकार जानने की इच्छा होने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

गुप्ति परिणतिया, समितिया, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षाये, बाईस परीषहो को जीतना और चारित्र इन आत्मीयपुरुषार्थ स्वरूप परिणामो करके वह सवर हो जाता हैं।

संसारकारणगोपनाद्गुप्तिः, सम्यगयन समितिः, इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्मः, स्वभावानुचिंतनमनुप्रेक्षा, परिषह्यते इति परीषहास्तेषां जयो न्यक्कारः, चारित्रशब्दो व्याख्यातार्थः। सवृण्वतो गुप्त्यादिभि गुप्त्यादय एव सवर इति चेन्नास्रवनिमित्तकर्मसंवरणात्। स इति वचन गुप्त्यादिभिः साक्षात्सबधनार्थं।

ससार के कारण हो रहे अशुभ परिणामो से आत्मा की रक्षा करती है अर्थात् आत्मा को अशुभ परिणतियो से बाल बाल बचाये रखती है इस कारण यह गुप्ति कही जाती है। दूसरे प्राणियो की पीडा का परिहार हो जाय इस इच्छा से भले प्रकार प्रवर्तना समिति है। आत्मा को अभीष्ट स्थान में धर देता है इस कारण यह धर्म कहा जाता है।

शरीर, जगत् आदि के स्वभावो का कई बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। सविदित या असंविदित क्षुधा, पिपासा, आदिक तीव्र वेदनाओ के उपजने पर कर्म की निर्जरा करने के लिये जो पूर्णरीत्या सही जाती हैं इस कारण वे परीषह है। उन परीषहो का जीतना यानो शान्तिपूर्वक तिरस्कार करना परीपहजय है "सम्यग्दर्शन,ज्ञान,चारित्राणि,मोक्षमार्गः" इस सूत्र की टीका मे चारित्र शब्द के अर्थ का व्याख्यान किया जा चुका हैं। यहा किसी का आक्षेप हैं कि "सव्रियते अनेन इति सवरः" यो करण मे प्रत्यय करने पर संवरण कर रहे आत्मा के गुप्ति, समिति, आदि परिणामो करके संवर होता है, इस कारण गुप्ति आदिक करण हो सवर हैं तब तो वह सवर इन गुप्ति आदि करके होता है। यह प्रथमान्त और तृतीयान्त का भेदनिर्देश करना उचित नही है। संवर ही गुप्ति आदिक है या गुप्ति आदिक ही सवर हैं यो कहना चाहिये। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना। क्योकि यहा करण मे अच् प्रत्यय नही है किन्तु सवरण हो जाना ही (भाव) यहा संवर माना गया है, आस्रव के निमित्त हो रहे कर्मों का संवरण कर देने से यह संवर होता है। उस सवरण क्रिया के गुप्ति आदिक करण इस सूत्र मे कह दिये है। इस सूत्र मे "स" यह जो कथन किया गया है वह गुप्ति आदि के साथ सवर का साक्षात् संबन्ध जोडने के लिये है अर्थात् गुप्ति आदिक से ही सवर होता है, अन्य तीर्थस्नान, शिरोमुण्डन, आदि से संवर नही हो पाता है।

कुतो गुप्त्यादिभिर्गुप्त्यादय एव वा संवरः स्यादित्याह —

यहाँ कोई तर्क उठाता है कि आपके पास क्या युक्ति है जिससे कि गुप्त्यादिको करके अथवा गुप्ति आदिक ही सवर सिद्ध हो सकें? बताओ। इस प्रकार कटाक्ष प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्त्तिक को कह रहे है।

स चास्रवनिरोधः स्याद्गुप्त्यादिभिरुदीरितैः।
तत्कारणविपक्षत्वात्तेषामिति विनिश्चयः॥ १॥

अभी कहे जा चुके गुप्त्यादिको करके ही आस्रव का निरोध हो रहा वह संवर हो सकेगा (प्रतिज्ञा) क्योकि उस आस्रव के कारणो का विपक्षपना उन गुप्ति आदिको के घटित हो रहा है (हेतु) इस प्रकार हेतु की साध्य के साथ बन रही व्याप्ति का विशेषतया निश्चय हैं, अविनाभावी हेतु से साध्य का बढिया निश्चय हो जाता है।

तत्र गुप्तीनां तत्कारणविपक्षत्वं न तावदसिद्धं, कर्मागमनकारणानां कायादियोगानां विरोधिन स्वरूपनिश्चयात्। तथा समित्यादीनां वाऽसमित्यादितत्कारणविरुद्धभावनया प्रतिपादनात्।

उन गुप्ति आदिको में पहिले कही गयी त न गुप्तियो को उस आस्रव के कारणो का प्रतिपक्षीपना तो असिद्ध नही है, जब कि कर्मों के आगमन का कारण हो रहे काययोग, वचनयोग आदि का विरोधी रूप से गुप्तियो के स्वरूप का निश्चय हो रहा है, तिसी प्रकार समिति, धर्म आदि को भी उस आस्रव के कारण हो रहे स्वच्छन्दप्रवर्तन स्वरूप असमिति, अधर्मव्यवहार आदि कारणोसे विरुद्धपनेकी भावना करके समझाया जाता है। यो तत्कारणविपक्षत्वहेतु को पुष्ट कर दिया है अनुप्रेक्षाये नही भावना या परीषहो को नही जीतना ऐसी कषायपरिणतिओ से आस्रव हो जाता है। इनके विरुद्ध अनुप्रेक्षाओ और परीषहजय से नियमेन सवरण होगा।

अथ धर्मेऽन्तर्भूतेन तपसा किं संवर एव क्रियते किं वान्यदपि किंचिदित्यारेकायामिदमाह:—

अव यहाँ कोई शंका उठाता हैं कि सचित कर्म जवतक नष्ट नही होय तब तक केवल सवर से तो मोक्ष नही हो सकती है। हाँ, उदय में आकर संचित कर्म भी नष्ट हो सकते हैं किन्तु उनके फलकाल मे राग, द्वेप, सभव जाने के कारण पुन. कर्मो का बध जाना अनिवार्य है। अविपाकनिर्जरा के विना निःश्रेयससिद्धि असभव है। अतः दश धर्मों मे अन्तर्भूत हो रहे सातवे धर्म माने गये तप करके क्या सवर ही किया जाता है? अथवा क्या तप करके अन्य भी कोई कार्य किया जा सकता है? बताओ। इस प्रकार सशय उपस्थित होने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

तप से सवर तो होता ही है यो पूर्वसूत्र में कहा जा चुका हैं तथा तप से निर्जरा भी बढिया होती है।

धर्मेऽन्तर्भावात् पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति चेन्न। निर्जराकरणत्वख्यापनार्थत्वात् तपसः। प्रधानप्रतिपत्त्यर्थं च। संवरनिमित्तत्वसमुच्चयार्थश्चशब्दः। तपसोऽभ्युदयहेतुत्वान्निर्जरांगत्वाभाव इति चेन्न, एकस्यानेककार्यारंभदर्शनात्। गुणप्रधानफलोपपत्तेर्वा कृषीवलवत्। केन हेतुना—

यहा कोई आक्षेप करता हैं कि उत्तमक्षमा आदि धर्म के भेदों में तप का अन्तर्भाव हो जाने से यहा पुन. पृथक् रूप से तप का ग्रहण करना व्यर्थ जचता हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना चाहिये। क्योंकि पूर्वसूत्र में उत्तमक्षमा, तप, आदि धर्मो को सवर का हेतु कहा गया है और इस सूत्र में तप को निर्जरा का कारणपना प्रसिद्ध करने के लिये तप का निरूपण है। दूसरी बात यह भी हैं कि सवर के सम्पूर्ण हेतुओ मे तप ही प्रधान है, इस रहस्य को समझाने के लिये ही तप का पृथक् ग्रहण किया गया है। इस सूत्र में पडे हुये च शब्द का अर्थ समुच्चय यानी दूसरे को इकट्ठा करना है। यो इस च शब्द के कथन का प्रयोजन संवर के निमित्त हो जाने का समुच्चय करना हुआ अर्थात् सवर का हेतु भी तप होता हैं। पुन कोई शका उठाता हैं कि तप तो देवेन्द्र,नागेन्द्र आदि अभ्युदय स्थानो की प्राप्ति का कारण माना गया हैं। अत पूर्वसचित कर्मो को निजरा का हेतुपना तप को घटित नही होता हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नही कहना। कारण कि एक कारण के द्वारा अनेक कार्यो का आरम्भ होना देखा जाता है जैसे कि एक ही आग जलाना पचाना, फफोला डाल देना, सुखाना आदि अनेक कार्यो को करती है, उसी प्रकार तप भी लौकिक अभ्युदय और एकदेश कर्मक्षय का हेतु हो जाता हैं कोई विरोध नही है। अथवा एक बात यह भी है कि जैसे किसान खेती करने में प्रवृत्त होता है, उसका प्रधान लक्ष्य अन्न की उत्पत्ति करना है और गौण रूप से पशुओ के लिये पराल, भुस, आदि का उपजाना भी है, इसी के समान मुनि के भी तपश्चरण का गौणफल स्वर्गाभ्युदय की प्राप्ति हो जाना है और तपस्या का प्रधानफल तो कर्मो का क्षय होकर मोक्षफल की प्राप्ति बन जाना हैं। कोई पण्डित यहाँ तर्क उठा रहा है कि किस हेतु यानी युक्ति करके यह सूत्रोक्त रहस्य सिद्ध कर दिया जाता है ? बताओ। इसका समाधान ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा करते है।

तपसा निर्जरा च स्यात् संवरश्चेति सूत्रितं।
संचितापूर्वकर्माप्तिविपक्षत्वेन तस्य नुः॥ १॥

तपश्चरण से जीव के कर्मों की निर्जरा होती है और संवर भी हो जायगा इस प्रकार सूत्र मे बहुत अच्छा निरूपण किया जा चुका है (प्रतिज्ञा) क्योकि उस तप का जीव के संचित कर्म और अपूर्व कर्मो की प्राप्ति का विरोधीपने करके निर्णीत कर लिया गया है अर्थात् जो संचित कर्मो का विरोधी होगा वह अवश्य जीव के संचित कर्मों का क्षय कर देगा। नवीन अपूर्व कर्मों का विरोधी पदार्थ भी नवीन कर्मो को आने नही देगा।

उदराग्नि द्वारा किया गया शरीर में निरामय सताप भी संचित दोपो का नाश करता हुआ आगमिष्यमाण दोषो को नही आने देता है। उष्णता जीवन है।

तपो ह्यपूर्वदोषनिरोधि संचितदोषविनाशि च लघनादिवत् प्रसिद्धं ततस्तेन सवर निर्जरयोः क्रिया न विरुध्यते।

तपश्चर्या तो सवर और निर्जरा दोनो को करती है जैसे कि रोगी को लघन करा देना या पाचन औषधि सेवन कराना आदिक प्रयोग जो हैं सो आने वाले नवीन दोषो को रोक रहे और सचित हो रहे वात, पित्त, कफ, के दोषो का विनाश कर रहे प्रसिद्ध है, उसी प्रकार तप भी नियमकरके भविष्य में आने के योग्य अपूर्व कर्मस्वरूप दोषो का निरोध (संवर) कर रहा है। और सचित द्रव्यकर्म दोषो का विनाश (निर्जरा) भी कर रहा है। तिस कारण उस एक तपश्चरण करके संवर और निर्जरा दोनो का किया जाना विरुद्ध नही पडता है।

अथ का गुप्तिरित्याह —

अब कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि ऊपरले सूत्र में कही गई गुप्ति का लक्षण क्या है ? बताओ। ऐसी बुभुत्सा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

मन, वचन, काय, सम्बन्धी योगो का भले प्रकार निग्रह करना यानी विषय कषायो में स्वच्छन्द प्रवृत्ति का रोके रखना गुप्ति है। अर्थात् शुद्ध आत्मा का सचेतन करते हुये पुरुषार्थ द्वारा मन, वचन कायो को उसी में लगाये रखना, निरर्गल नही प्रवर्तने देना गुप्ति है जो कि आत्मा का किसी कर्म के उदयादिक की नही अपेक्षा रखता हुआ यत्न-साध्य शुभ परिणाम है।

योगशब्दो व्याख्यातार्थ, प्राकाम्याभावो निग्रहः, सम्यगिति विशेषणं, सत्कार-लोकपरिपंदत्याद्याकांक्षानिवृत्यर्थं। तस्मात्कायादिनिरोधात्तन्निमित्तकर्मागास्रवणात् सवर प्रसिद्धिः। कीदृक् सवरस्तया (पा) विधीयत इत्याह—

"कायवाड्मनःकर्म योग" इस सूत्र में योग शब्द के अर्थ का व्याख्यान किया जा चुका है। यथेष्ट स्वच्छन्द चर्या करना प्राकाम्य है। प्राकाम्य का अभाव कर देना निग्रह कहा जाता है। इस सूत्र में "सम्यक्" यह विशेषण तो सत्कार, लोकपरिपक्ति,

लाभ, पुरस्कार, यश आदि को आकाक्षाओ के निवारणार्थ कहा है अर्थात् कतिपय जीव मायाचार, लोभकषाय, भय आदि के अधीन होकर लोक मे सत्कार, पूजा, यशः, धन आदि की प्राप्ति के लिये भी तीनो योगो का गोपन करते है, वह समीचीन गोपन नही है। पूजा, मान, गौरव आदि क्रियाओ का होना सत्कार है। यह मुनि महान् है, गुप्तियो को अच्छा पालता है, देश का हित है इत्यादि लोक मे चारो ओर से प्रसिद्धि हो जाना लोक परिपंक्ति है। अतरंग मे यश की वाच्छा रखना यशोलाभ है, धन की लिप्सा प्रसिद्ध है इन आकांक्षाओ अनुसार की गई गुप्ति समीचीन गुप्ति नही है। काय आदि के उस समीचीन निरोध से उस योग को निमित्त पाकर आने वाले कर्मो का आस्रव नही होने के कारण संवर हो जाना प्रसिद्ध है। यहाँ कोई तर्क उठाता है कि उस गुप्ति करके किस प्रकार (क्यो) सवर कर दिया जाता है? ऐसी तर्क उठने पर ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा इस उत्तर को कहते हैं।

योगानां निग्रहः सम्यग्गुप्तिस्त्रेधा तयोत्तमः।
संवरो बंधहेतूनां प्रतिपक्षस्वभावया ॥ १ ॥

मन, वचन, काय का अवलम्ब पाकर हुये आत्मप्रदेशपरिस्पन्द स्वरूप योगों का भले प्रकार निग्रह करना गुप्ति हैं। वह गुप्ति मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति यो तीन प्रकार है। उस गुप्ति करके उत्तम (बढिया) सवर होता है (प्रतिज्ञा) क्योकि बध के कारण हो रहे मिथ्यादर्शन, अविरति आदि के प्रतिपक्ष स्वरूप (घातक शत्रु) ये गुप्तिया है (हेतु) बधकारणो के शत्रुभूत इन गुप्तियों करके सवर हो जाना अविनाभावी है।

कः पुन. सकल संवरं समासादयतीत्याह—

यहाँ कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि फिर यह बताओ कौन जीव सम्पूर्ण संवर हो जाने की निष्पन्नता को प्राप्त करता है? ऐसी निर्णिनीषा उपजने पर ग्रन्थकार अगिली वार्तिक द्वारा समाधान कहते है।

अयोगः केवली सर्व संवरं प्रतिपद्यते।
द्रव्यतो भावतश्चेति परं श्रेयः समश्नुते ॥ २ ॥

श्रेणी के असख्यातमे भागप्रमाण सम्पूर्ण असंख्यात योगो से रहित हो रहा चौदहवे गुणस्थानवर्ती केवलज्ञानी जिनेंद्र महाराज सर्व संवर को प्राप्त करता है। द्रव्य रूप से और भावरूप से चौदहमे गुणस्थान में परिपूर्ण संवर है किसी भी कर्म नोकर्म का

आगमन नहीं है। निर्जरा भी अ, इ, उ, ऋ, लृ इन ह्रस्व पाच अक्षरो के उच्चारण में जितना काल लगता है उतने समय मे परिपूर्ण बन बैठती है, इस कारण उत्तरक्षण में ही यह जीव सर्वोत्कृष्ट मोक्ष को भले प्रकार प्राप्त कर लेता है। अर्थात् अपरनिश्रेयस तो तेरहवे गुणस्थान की आदि मे हो जाती है। इससे भी छोटी श्रेणी की मोक्ष चौथे गुणस्थान के पूर्व मे सातिशयमिथ्यादृष्टि जीव के अपूर्वकरणदशा में प्रारम्भ हो गई कर्मों की असख्यात गुणी निर्जरा के अवसर से ही होने लगती है। अत सम्पूर्ण द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मो को अनन्तकाल तक के लिये हो गई मोक्ष को चौदहवें गुणस्थान का अन्तिम समय वीत जाने पर माना गया है। मोक्ष अवस्था गुणस्थानो से अतिक्रान्त है। गोम्मटसार मे कहा है कि— "गुणजीवठाणरहिया सण्णापज्जतियाणपरिहीणा,
सेस णवमग्गणूणा सिद्धा सुद्धा सदा होंति ॥"

का समितय इत्याह —

गुप्तियो का प्रतिपादन हो चुका अब समितिया कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा उपस्थित होने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

समीचीन ईर्या, समीचीन भाषा, समीचीनएषणा, समीचीन आदाननिक्षेपण और सम्यक् उत्सर्ग ये पाच समितियाँ है। जीवो की रक्षा का उद्देश्य कर भूमि को निरखते हुये चलना ईर्या समिति है, हितस्वरूप, परिमित, बोलना भाषासमिति है, दोष और अन्तरायो को टाल कर शुद्ध आहार लेना एषणा समिति है। धर्मप्राप्ति या ज्ञान के साधनो का यत्नाचार पूर्वक ग्रहण करना या निक्षेपण करना आदाननिक्षेपण समिति है, जीवो को दु ख न होय ऐसा लक्ष्य कर शरीरमल का त्याग करना या शरीर को किसी स्थान पर धर देना उत्सर्ग समिति है। मन, वचन, कायो, का गोपन करना अतीव कठिन है। ये कही न कही प्रवर्तने के लिये समुत्सुक रहते हैं। अत. सर्वदा गुप्ति पालने मे अशक्त हो रहे मुनिमहाराज की निर्दोष प्रवृत्ति कराने के लिये ईर्यासमिति आदिक समीचीन योगव्यापार इस सूत्र में कहे गये हैं।

सम्यग्ग्रहणेनानुवर्तमानेन प्रत्येकमभिसबंध, सम्यगीर्येत्यादि। समितिरित्यन्वर्थसज्ञा वा तांत्रिकी पचाना। तत्र चर्यायां जीवबाधापरिहार ईर्यासमिति., सूक्ष्मबादरैकद्वि,त्रि, चतुरिंद्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपंचेंद्रियपर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्दशजीवस्थानानि तद्विकल्प जीव-

बाधापरिहरणं समीर्यासमितिरित्यर्थः ।

इस सूत्र मे पूर्व सूत्र से सम्यक् पद की अनुवृत्ति हो रही है अनुवृत्ति किये जा रहे सम्यक् शब्द के ग्रहण के साथ ईर्या आदि प्रत्येक का पूर्व मे सबन्ध कर देना चाहिये यहा सम्यक् पद अधिकार में प्राप्त है तब तो सम्यक् ईर्या, सम्यक् भाषा, इत्यादि रूप से समितियो के पांच नाम हो जाते हैं, समिति शब्द का यौगिक अर्थ या रूढि अर्थ निराला हैं किन्तु यहां प्रकरण में सम् + इण् + क्तिन् इन प्रकृति प्रत्ययों के अर्थ को भी ले रहा अन्वर्थसंज्ञावाला समितिशब्द तो मात्र जैन सिद्धान्त मे अर्हन्ततन्त्रानुसार इन्ही ईर्या आदि पाचों को कह रहा परिभाषित हो रहा है। उन पांच समितियो मे पहली ईर्यासमिति तो चर्या करने में जीवो की बाधा का परिहार रखना है। जीवस्थानो को जो जान चुकेगा वह ही जीवो की रक्षा कर सकता है जो मूढ पुरुष मात्र मनुष्य को ही जीव मानता है अन्य मूर्ख केवल मनुष्य, पशु, पक्षियो में ही जीव मानते हैं कोई कोई कीट पतङ्गो को भी जीव मानने लगे हैं, कतिपय वैज्ञानिक पण्डित वृक्ष, वेलो में भी चैतन्य को स्वीकार करने लगे हैं किन्तु उनके जीभ, नाक, आख, कान, का मानना सिद्धान्त विरुद्ध है। अग्नि के निकट आ जाने पर कोई वृक्ष कपने लग जाय या कोई वृक्ष किसी कीट, पतङ्ग, को पकड ले, एतावता वृक्ष के आखे नही कही जा सकती हैं यह तो पदार्थो के निमित्त से उनका परिणमन है। छुई मुई यदि हाथ छुआ देने से सकुच जाती है इतने मात्र से उसके लज्जा का सद्भाव नही माना जा सकता है। अनेक जड पदार्थ भी दूसरे द्रव्यो के निमित्त से आश्चर्यजनक परिणतियो को धार लेते है क्या वे विचारशाली जीव कहे जा सकते हैं? कभी नही। प्राय सम्पूर्ण वनस्पतिया अपने अपने नियत समयो में पुष्पो को, फलो को धारती हैं मात्र इतनी क्रिया से वे काल विधि को समझने वाली नही मान लेनी चाहिये न्यारी न्यारी ऋतुओ में पृथ्वी, जल, वायु आदि के भिन्न भिन्न परिणामो अनुसार उन वनस्पतिओ को नियत काल मे हो फूलना, फलना पडता है।

"दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो"

निकट भविष्य में मेघ आने वाला है आधी आवेगी ऐसे परिज्ञान चीटियां; मक्खियां, आदि जीवो के हो जाते हैं, शूकर को चार छः घन्टे प्रथम ही आधी का-आना सूझ जाता है। कई पक्षियो को भूकम्प आने का पहिले से ही लक्ष्य हो जाता है इतने से ही इनको ज्योतिषाचार्य नही कह देना चाहिये। अनेक उत्पातों या शुभ कार्यो के पूर्व में नाना प्रकार अविनाभावी परिणमन होते रहते हैं कीट पतङ्गो को उन सव का यथायोग्य ज्ञान

होता है ज्ञान से हित प्राप्ति और अहित परिहार का हो जाना सुलभ है मनुष्यो की अपेक्षा कीट, पतङ्ग आदिक क्षुद्रजीव उस अविनाभावी परिणमन द्वारा अधिक लाभ उठा लेते है कोई कोई पोगाजन्तु चूक भी जाते हैं। फल, फूलो से रस का ग्रहण कर मधुमक्खी मधु को बना लेती है जिसको कि मनुष्य बना नही सकता है, क्या मधुमक्षिका को रसायन शास्त्री कह दिया जाय ? बिल्ली, बन्दर, नौला जिस चचलता से ठीक साप के मुह को पकड लेते है पचास वर्ष सिखाने पर भी कोई वैयाकरण पण्डित उक्त जन्मसिद्ध क्रिया को नही कर सकता। गेंडुआ, ततइया, बर्रैया, मकडो, वया, अपने बढिया सुरक्षित गृहो को बनाते हैं जिसको कि शिल्प शास्त्री, वास्तुज्ञानी नही बना सकता है। कोई भी पण्डित या घसखोदा खाये हुये अन्न का रस, रुधिर, मास, हड्डी आदिक धातुओ को बनाता हैं यह कोई घट, पट को बनाने के समान सर्वांग बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ नही है। आखो में आसू कोई दो, चार तोले भर रक्खे हुये नही हैं किन्तु शोक, पीडा, करुणा, हर्ष, अपमान का विशेप प्रकरण उपस्थित हो जाने पर आसू तत्काल बन जाते हैं। न जाने किस निमित्त से क्या क्या कार्य जीवो के बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक तथा पुद्गलो के सामग्री द्वारा बन बैठते हैं। सक्षेप से केवल इतना ही कहना है कि वृक्ष या बल्लियो के आखो, कानो से सम्भवने योग्य हो रहे कार्य जो दीखते है वे सब बाह्य, अंतरग, परिणतियो द्वारा हुये है, वृक्षो के आख, कान, सर्वथा नही है। वृक्षो में आख आदि इन्द्रियो के निवृत्ति, या उपकरण, सर्वथा नही है। पानी नीचे की ओर बहता है, अग्नि ऊपर को जलती है, वायु तिरछी चलती है, पेट मे से मस्तिष्क के उपयोगी द्रव्य माथे मे चला जाता है। पतला मल मूत्राशयमें पहुच जाता है इन कृत्यो के लिये पानी आदि को आखकी आवश्यकता नही है। अतः जैन सिद्धान्त अनुसार वृक्ष, जल आदि में केवल स्पर्शन इन्द्रिय को धार रहा जीव विद्यमान है। एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म और बादर दो प्रकार के है। दो इन्द्रियवाले, तीन इन्द्रियो को धार रहे, चार इन्द्रियो से शोभित हो रहे, मनरहित केवल पाच इन्द्रियो से सहित हो रहे, असज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव, और मन सहित पाच इन्द्रियोवाले संज्ञीजीव इन सातो प्रकार के जीवो के पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेदो से चौदह जीवस्थान (जीवसमास) हो जाते है। अपर्याप्ति नामकर्म के उदय अनुसार जिन जीवो का श्वास के अठारहवें भाग काल तक जीवित रहकर ही मरण हो जाता है वे जीव अपर्याप्त है। क्वचित् शरीर पर्याप्ति जबतक पूर्ण नही हुई होय तबतक की निवृत्यपर्याप्ति दशा को धार रहे जीव को भी अपर्याप्त कह दिया है। इसके पर्याप्ति नामकर्म का उदय है। शरीर पर्याप्ति को पूर्ण कर चुके जीव पर्याप्त है। उन जीवोके अन्य भी उनईस, सत्तावन, अठानवे, आदि विकल्प आगम अनुसार करलिये जाते हैं।

इन जीवो की बाधा का परिहार करना यही समीचीन ईर्या समिति का अर्थ है।

हितमितासंदिग्धाभिधानं भाषासमितिः। अन्नादावुद्गमादिदोषवर्जनमेषणासमितिः, उद्गमादयो हि दोषाः-उद्गमोत्पादनैषणसंयोजनप्रमाणागारकारणधूमप्रत्ययास्तेषां नवभिरपि कोटिभिर्वर्जनमेषणासमितिरित्यर्थः। धर्मोपकरणाना ग्रहणविसर्जनं प्रति यतनमादाननिक्षेपणासमितिः। जीवाविरोधेनांगमलनिर्हरणं समुत्सर्गसमितिः।

स्व और पर का हित करनेवाले तथा परिमित एवं सन्देहरहित ऐसे वचन बोलना भाषासमिति है। अन्न, जल, आदि में उद्गम, उत्पादन, आदि दोषो का वर्जना एषणासमिति है। उद्गम आदि दोप तो उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजन, प्रमाण, अगार, कारण, धूमप्रत्यय ये है। उन उद्गम आदि दोषो का मन, वचन, काय सम्बन्धी कृतकारित, अनुमोदना स्वरूप, नव भी कोटियो (भगो) करके त्याग करना एषणा समिति का अर्थ है। धर्म पालने में उपयोगी हो रहे पिच्छ, कमण्डलु पुस्तक, आदि उपकरणों के ग्रहण करने और परित्याग (धरने) के प्रति यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करना आदाननिक्षेपण समिति है। त्रस, स्थावर जीवो को बाधा नही होने करके शारीरिक मल और शरीर का स्थापन करना भली उत्सर्गसमिति समझनी चाहिये।

वाक्कायगुप्तिरियमपीति चेन्न, तत्र कालविशेषे सर्वनिग्रहोपपत्तेः। ननु च पात्राभावात् पाणिपुटाहाराणां संवराभाव इति चेन्न पात्रग्रहणात्परिग्रहदोषात् दैन्यप्रसगाच्च। अन्नवत्तत्प्रसग इति चेन्न, तेन विनाभावात् चिरकालं तपश्चरणस्य। नैवं तस्य पात्रादि विनाभाव इति न परमर्षिभिः पात्रादि ग्राह्यं प्रासुकान्नग्रहणवत्। कुतः समितीनां संवरत्वमित्याह-

यहाँ कोई आक्षेप करता हैं कि यह समिति भी वचनगुप्ति और कायगुप्ति है भाषासमिति वचनगुप्ति हो सकती है और ईर्या, एषणा ये सब कायगुप्ति है।—आचार्य महाराज कहते है कि यह आक्षेप तो ठीक नही है। क्योकि उस गुप्तिका पालन करने पर विशेष काल मे सम्पूर्ण योगो का निग्रह करना सिद्ध हो रहा है। गुप्तिपालन करना अतीव कठिन पुरुषार्थसाध्य कार्य हैं। अतः थोडे से काल तक सम्पूर्ण योगो का निग्रह करते हुये गुप्ति पल सकती है। हा, उस गुप्ति को पालने मे असमर्थ हो रहे संयमी की चलने, बोलने आदि मे आचारशास्त्र अनुसार प्रवृत्ति होना समिति है। यहां और भी एक शका उठाई जा रही है कि आप जैनो के यहा मुनिमहाराज को पात्र रखना निषिद्ध कहा है संयमी हाथरूप दोनेमें ही आहार करते हैं। ऐसी दशामे हाथसे गिर गये आहार को निमित्त पाकर प्राणियों

की हिंसा हो जाना सम्भवता है। अत. एषणासमिति नही पलने से सवर नही होवेगा। आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो ठीक नही है। पात्र का ग्रहण करने से मुनि को परिग्रह रखने का दोष लगता है। बर्तन के धोने, रखने, माजने आदि द्वारा अनेक दोष लगेंगे अतः हाथ में ही परीक्षा कर स्वतन्त्र आहार करने से मुनि को दोष नही लगता है। एक बात यह भी है कि कमण्डलु, कटोरदान या अन्य कोई पात्र को ग्रहण कर चर्या कर रहे मुनि के दीनता का प्रसग आता है। सिंहवृत्ति को धारने वाले मुनि पात्र लेकर दीनवृत्ति कभी नही करते हैं। भाजन लेकर भोजन के लिये गृहस्थो के घर जाने में आशानुबन्ध विशेष समझा जायगा। यदि यहा शंकाकार यो कहे कि जैसे प्राप्त होने योग्य बढिया बने हुये अन्न आदि खाद्य पदार्थों को छोडकर मुनि दूसरे घर जाकर जो कुछ नही छोके गये या नीरस पदार्थ का भोजन कर लेते है, तिसी प्रकार रागद्वेष नहीं बढाने वाले सुलभ, कटोरा, कटोरदान आदि पात्रो का प्रसंग बना रह सकता है। आचार्य कहते है कि वह प्रसग तो ठीक नही है। क्योंकि, उदरगर्त को पूरण करनेवाले उस स्वादरहित अन्न के विना चिरकाल तक तपश्चरण नही हो सकता है। तपश्चरण शरीर करके होता है और शरीर की स्थिति आहार विना नही सम्भवती है। अत मुनिमहाराज प्रासुक अन्न को स्वीकार करते है। किन्तु इस प्रकार उस तपस्या का पात्र आदिके विना अभाव नही है। इस कारण परम ऋषियो करके पात्र, लठिया आदि परिग्रह ग्रहण करनेयोग्य नही है। जैसे कि प्राणियो के ससर्ग से रहित हो रहे प्रासुक अन्न का ग्रहण समुचित है वैसा पात्र, बसन, दण्ड आदि का ग्रहण सयम का साधन नही है। सावधानीपूर्वक हाथ में लेकर आहार ले रहे मुनि के हाथ से कुछ गिरता नही है। अत जीवो की हिंसा होने की कथमपि सभावना नही है। कदाचित् प्रमादवश अन्न गिर पडे तो प्रायश्चित्तविधान द्वारा शुद्धि कर ली जाती है। अब यहां कोई तर्क उठाता है कि समितियो को सवरपना या सवर का कारणपना भला किस प्रमाण से सिद्ध है? बताओ। अपने अपने आगम से कोई भी बात बताई जा सकती है। विना समुचित युक्ति के किसी अत्यन्त अतीन्द्रिय सिद्धान्त को हम मानने के लिये तैयार नही। इस प्रकार किसी तार्किक विद्वान् की जिज्ञासा उपजने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को कह रहे है।

सम्यक्प्रवृत्तयः पंचेर्याद्याः समितयः स्मृताः।
असंयमभवस्याभिरास्रवस्य निरोधनं ॥ १ ॥
तद्विपक्षत्वतस्तासामिति देशेन संवरः।
समितौ वर्तमानानां संयतानां यथायथं ॥ २ ॥

तीनो गुप्तिया तो निवृत्तिरूप हैं भले ही शुद्ध आत्मा का अनुभव कर रहे गुप्तिधारी संयमी को अभ्यंतर पुरुषार्थ द्वारा अन्तरात्मा मे अनेक प्रवृत्तियां करनी पडें जो कि अत्यावश्यक हैं। किन्तु गुप्तियो को पाल रहे मुनि के बहिरग में मन, वचन, काय, की कोई प्रवृत्ति नही होती है। जैसी कि समितिधारी की शुभ कार्योमे प्रवृत्ति हो रही है समिति वाले की अपेक्षा गुप्तिवाले सयमी की अन्तरात्मा में प्रवृत्तिया अधिक है, जो कि स्वसवेद्य हैं। तभी तो बहिरग कार्यो में योगों की परिपूर्ण निवृत्ति हो रही है। बात यह है कि सुख निद्रा ले रहे जीव की वहिरंग प्रवृत्तिया बहुभाग रुक गयो हैं। किन्तु अन्तरग में पाचन, नीरोग होना धातु, उपधातु, मल, मूत्र बनाना आदि क्रियायें जागृत दशा से अत्यधिक हो रही हैं। महारोगी जीव बहिरग में मूर्छित (बेहोश) हो जाता है, कोई क्रिया नही करता दीखता है। किन्तु अंतरग में शरोरप्रकृति अनुसार बडी क्रियाये कर रहा है, तभी तो शरीर-रक्तशोषण, कफवृद्धि, आदि कार्य हो जाते हैं, क्षयरोगवाले की हड्डिया पीली पड जाती हैं, घुन जाती हैं, यह क्या छोटा कार्य है? संग्रहणीवाले को शरीर की धातुओ, उपधातुओं, को मल बनाना पडता है यह थोडा कार्य नही हैं। कोई नीरोग देखें घोर प्रयत्न से भी अपनी हड्डियो मे हजारो लाखो छेद कर ले, तब तो यह सुलभ कार्य माना जाय। आचार्य कहते हैं कि ये पाच ईर्या,भाषा आदिक समितिया तो समीचीन प्रवृत्तियां मानी गयी है। गुरुपरंपरा से ऐसा ही स्मरण किया जा रहा चला आ रहा हैं। असंयम परिणामों से उत्पन्न हो रहे आस्रव का इन पाच समितियो करके निरोध हो जाता है (प्रतिज्ञा) क्योकि उन समितियों को उस आस्रव का विपक्षपना निर्णीत है (हेतु) इस कारण समिति पालने मे समीचीन प्रवृत्ति कर रहे सयमी यतियो के यथायोग्य एकदेश करके सवर हो जाता है (निगमन)। अर्थात् व्यवहार मे भी देखा गया है कि जो विद्यार्थी या भला पुरुष दूसरे व्यापार, कृषि, आदि कार्यों से व्युपरत रहते है वे अध्ययन, पूजन, ध्यान आदि शुभ प्रवृत्तियों को करते हुये उन व्यापार आदि से उपजनेवाली आकुलताओ का सवरण कर लेते है।

अथ धर्मप्रतिपादनार्थमाहः —

अब सूत्रकार महाराज समितियों का निरूपण कर चुकने पर विनोत शिष्यों को संवर के तीसरे हेतु माने गये धर्म की प्रतिपत्ति कराने के लिये अगिले सूत्र को स्पष्ट कह रहे है।

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥

उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तमशौच, उत्तमसत्य, उत्तमसंयम, उत्तम तप., उत्तमत्याग, उत्तम आकिंचिन्य, उत्तमब्रह्मचर्य, यो दश प्रकार धर्म है । भावार्थ– "वत्थुसहावो धम्मो" धर्म का प्रसिद्धलक्षण वस्तु का स्वभाव है। अतः ये उत्तम क्षमा आदिक सभी आत्मा के तदात्मक स्वभाव हैं। सिद्ध अवस्था मे भी ये पाये जाते हैं तभी तो "ॐ ह्रीं परमब्रह्मणे उत्तमक्षमाधर्माङ्गाय नमः" "ॐ ह्रीं परमब्रह्मणे उत्तममार्दवधर्माङ्गाय नमः" "ॐ ह्रीं परमब्रह्मणे उत्तम आर्जवधर्माङ्गाय नमः" इत्यादि मन्त्र सुघटित होते हैं। शुद्ध आत्मा ही सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म है । जैसे सुखप्राप्ति चरमफल है, उसी प्रकार परिपूर्ण उत्तमक्षमा आदिक भी चरम फल हैं। जबतक ये परिपूर्ण नही होय तबतक इनके प्रतिपक्षी माने गये क्रोध आदि विभावो मे दोषो की विचारणा करते हुये जीव के उत्तम क्षमा आदि की तत्परतारूप तादात्म्य परिणति हो जाने से कर्मों का संवर हो जाता है। द्वंद्वसमास के आदि में पडा हुआ उत्तमपद दशों शब्दो मे अन्वित कर लिया जाता है।

प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं धर्मवचन, क्रोधोत्पत्तिनिमित्ताविषह्याक्रोशादिसंभवे कालुष्याभावः क्षमा। जात्यादिमदावेशाद्यभिमानाभावो मार्दवं, योगस्यावक्रतार्जवं, प्रकर्षप्राप्तलोभनिवृत्ति. शौच, गुप्तावन्तर्भाव इति चेन्न, तत्र मानसपरिस्पन्दप्रतिषेधात्। आकिंचन्येऽवरोध इति चेन्न तस्य नैर्मम्यप्रधानत्वात्। तच्चतुर्विधं शौचं ततोऽन्यदेव। कुत इति चेत्, जीवितारोग्येन्द्रियोपभोगभेदात् तद्विषयप्राप्तप्रकर्षलोभनिवृत्तेः शौचलक्षणत्वात्।

केवल आत्मीय भावो मे रमण करते हुये मुनि के बहिरंग मे सर्वथा प्रवृत्तियो का निग्रह करने के लिये गुप्तिया है। उन परमोत्कृष्ट गुप्तियो की प्रयतना करने मे असमर्थ हो रहे व्रतियो को प्रवृत्ति का उपाय दिखलाने के लिये समितियो का उपदेश है। यह फिर दश प्रकार के धर्मों का निरूपण करना तो प्रवृत्ति कर रहे संयमी के प्रमाद का परिहार करने के लिये है। क्रोध की उत्पत्ति के निमित्तकारण हो रहे दुष्ट जनो के विशेषतया नही सहन करने योग्य गाली देना, उपहास करना, निन्दा करना, ताडना, शरीर विघात कर देना आदि कार्यों का प्रकरण सम्भव हो जाने पर कलुषता नही करना क्षमा है। प्रकृष्ट जाति, कुल, विज्ञान, ऐश्वर्य, के होते हुये भी उनके द्वारा किये गये मद के आवेश, प्रभुता, आदि अभिमानो का पुरुषार्थ द्वारा अभाव कर डालना मार्दव है। मन, वचन, काय सम्बन्धी योग की वक्रता नही रखना आर्जव है। लोभ की प्रकर्षता को प्राप्त हो रही निवृत्ति का करना या वृद्धि को प्राप्त हो रहे लोभ का त्याग कर देना शौच धर्म है। यहाँ कोई शंका करता है कि निवृत्ति स्वरूप मनोगुप्ति में लोभनिवृत्ति स्वरूप शौच का

अन्तर्भाव हो जायगा। शौच का पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है ग्रथकार कहते है कि यह तो न कहना। कारण कि उस मनोगुप्ति मे मन से हुये सपूर्ण परिस्पन्द का प्रतिषेध किया जाता हैं। जो मनोगुप्ति को नही कर सकते है वे अन्य वस्तुओ में मन को न लगावें, शुद्ध रक्खे, इसलिये यह शौचधर्म कहा गया है। पुन कोई कहे कि शौच का आकिचन्य धर्म मे गर्भ हो जायगा लोभ का त्यागी हो आकिंचन्य को पालता है, वही शौच धर्म को धारेगा। ग्रन्थकार कहते है यह कथन भी ठीक नही है। क्योकि उस आकिञ्चन्य धर्म में ममत्वरहित परिणामो की प्रधानता हैं। अपने शरीर इन्द्रिय आदि मे ममत्वपूर्वक संस्कार, प्रमोद आदि का निवारण करने के लिये आकिंचन्य माना गया हैं। शौच मे मानसिक पवित्रता अभीष्ट है। वह चारो प्रकार का शौच उस आकिंचन्य धर्म से न्यारा ही है। किस प्रकार से वह विभिन्नता है ? ऐसी जिज्ञासा उपजने पर तो आचार्य कहते हैं कि देखिये, जीवित रहने का लोभ, रोगरहित बने रहने का लोभ, इन्द्रियो का लोभ और उपभोग करते रहने का लोभ, इन भेदो से लोभ चार प्रकार का है। उन जीवित आदि के विषयरूप से प्राप्त हो रहे पदार्थो मे वढे हुये लोभ की निवृत्ति कर देना यह शौच का सिद्धान्तलक्षण आम्नाय-प्राप्त हैं, यो स्पष्ट अन्तर है।

सत्सु साधुवचनं सत्य। भाषासमितावन्तर्भाव इति चेन्न, तत्र साध्वसाधुभाषा व्यवहारे हितमितार्थत्वात्, अन्यथानर्थप्रसंगात्। अत्र बव्हपि वक्तव्यं। न भाषादिनिवृत्तिः सयमो गुप्त्यन्तर्भात्। नापि कायादिप्रवृत्तिर्विशिष्टासयम, समितिप्रसंगात्। त्रसस्थावरःवधात् प्रतिषेध आत्यंतिक सयम इति चेन्न, परिहारविशुद्धिचारित्रेंतर्भावात्। कस्तर्हि संयमः? समितिषु वर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहार. सयम, 'अतोपहृतसंयमभेदसिद्धिः। सयमो हि द्विविधः, उपेक्षासंयमो अपहृतसंयमश्चेति। देशकालविधानस्य परानुरोधनोत्सृष्ट-कायस्य त्रिधागुप्तस्य रागद्वेशानभिषंगलक्षण उपेक्षासंयमः। अपहृतसयमस्त्रिविध उत्कृष्टो मध्यमो, जघन्यश्चेति। तत्र प्रासुकवसत्याहारमात्रबाह्यसाधनस्य स्वाधीनेतरज्ञानचरणकर-णस्य बाह्यजन्तूपनिपाते सत्यप्यात्मानं ततोपहृत्य जीवान् परिपालयत उत्कृष्टः, मृदुना प्रमृज्य जन्तूनपहरतो मध्यम., उपकरणान्तरेच्छया जघन्यः।

सज्जनपुरुषो में निर्दोष साधुवचन बोलना सत्य धर्म है। यहाँ कोई शंका उठाता है कि भाषासमिति मे हित, मित, सत्य वचन बोलने का अन्तर्भाव हो जाता है पुनः यहा धर्मों मे सत्य का ग्रहण व्यर्थ है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना। कारण कि वहां भाषासमिति में तो साधु या असाधु पुरुषो मे भाषा का व्यवहार करने

पर हित और मित बोलना प्रयोजन है भाषासमितिवाला मुनि सज्जन, दुर्जनो के साथ बोल सकता है किन्तु उनके हितस्वरूप परिमित बात कहेगा अन्यथा अधिक बोलने पर अनर्थदण्ड दोष का प्रसग लग जायगा, परन्तु यहाँ सत्यधर्म में केवल सज्जन अथवा उनके भक्तो के साथ वचनव्यवहार रखना अभीष्ट है ज्ञान अथवा चारित्र की शिक्षा देने मे बहुत भी बोल सकता है अतः भाषासमिति से सत्य धर्म न्यारा ही है। अब सत्यधर्म के पश्चात् संयम का निरूपण करना न्याय प्राप्त है कोई पण्डित सयम का लक्षण यदि यों करे कि बोलने, व्यर्थ विचारने आदि की निवृत्ति हो जाना संयम है ग्रन्थकार कहते हैं कि यह लक्षण ठीक नही पडेगा कारण कि निवृत्ति करने में तत्पर तो गुप्तियां हैं अत गुप्तियो में अन्तर्भाव हो-जाने से सयम कोई गुप्ति से न्यारा नही ठहर सकता है। यदि कोई यो कहे कि काय, वचन, आदि की विशिष्ट यानी शुभ प्रवृत्ति करना संयम है सो भी ठीक नही जचेगा। क्योंकि यो तो सयम को समिति हो जाने का प्रसग आ जानेगा समिति से भिन्न कोई संयम नही सिद्ध हो पायेगा। पुनरपि कोई संयम का लक्षण यो करता है कि त्रस जीवो और स्थावर जीवो की हिंसा का अत्यन्त अवस्था को प्राप्त हुआ परित्याग कर देना ही सयम है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी तो ठीक नही है क्योंकि जीवो की हिंसा का निषेध तो परिहार विशुद्धि नाम के चारित्र में गर्भित हो जाता है अत ऐसे संयम का ग्रहण करना व्यर्थ पड जायगा, तब तो फिर संयम का लक्षण महाराज तुम्ही बताओ, क्या है ? ग्रन्थकार उत्तर करते हैं कि ईर्यासमिति आदि मे प्रवर्त रहे मुनि के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि प्राणियो की पीडा का परिहार करना प्राणिसंयम है, और इन्द्रियो के शब्द आदि विषयो मे रागभाव नही करना इन्द्रिय सयम है ऐसा कर देने से अपहृत नामक संयम के भेद की सिद्धि हो जाती है। बात यह है कि उपेक्षासयम और अपहृतसयम इस प्रकार सयम के दो भेद ही हैं। देश, काल की विधि को जानने वाले और जिन्होने दूसरो के उपरोध करने में सर्वथा शरीर का व्यापार छोड रक्खा है तथा मन, वचन, काय तीनो रूपो से गुप्तियो को धारण कर रहा है ऐसे मुनि का किसी भी विषय में राग, द्वेष का प्रसग नही लगना यह तो पहिले उपेक्षासंयम का लक्षण है। यह सयम सर्वोत्कृष्ट है। दूसरा अपहृत सयम तो उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य यो तीन प्रकार है। उन मे उत्कृष्ट तो उस मुनि के संभवता है जो जीव रहित प्रासुक वसतिका (निवासस्थान) और शुद्ध आहार लेना केवल इतने ही बाह्य साधन को रखते है और ज्ञान आराधना करना, चारित्र पालना, इन्द्रियो को वश में रखना ये सब जिनके स्वाधीन है बहिरग में प्राणियो का प्रसंग प्राप्त हो जाने पर भी अपने को उन जीवो से सर्वथा बचाकर जीवो की रक्षा कर रहे मुनिमहा-

राज हैं यो इन्द्रियसंयम प्राणिसंयम को पाल रहे मुनि के उत्कृष्ट अपहृत संयम हैं। दूसरा मध्यम अपहृतसयम उस मुनि के होता है जो कोमल उपकरण (पिच्छिका) से शुद्धकर जीवो का परिहार कर रहे हैं, तीसरा जघन्य अपहृत सयम तो अन्य प्रमार्जक वस्त्र, तृण, आदि उपकरणो की इच्छा करके जीवो को रक्षापूर्वक हटाकर स्थानशुद्धि करने वाले सयमी के होता है।

तत्प्रतिपादनार्थः शुद्धयष्टकोपदेशः। भावशुद्धयादयोऽष्टौ शुद्धयः। तत्र भावशुद्धिः कर्मक्षयोपशमजनिता मोक्षमार्गरुच्याहितप्रसादा रागाद्युपद्रवरहिता, तस्यां सत्यामाचारः प्रकाशते परिशुद्धभित्तिगतचित्रकर्मवत्। कायशुद्धिः निरावरणाभरणा निरस्तसंस्कारा यथाजातमलधारिणी निराकृतांगविकारा सर्वत्र प्रयतवृत्ति प्रशमसुख मूर्तिमतमिव प्रदर्शयन्ती, तस्यां सत्यां न स्वतोस्य भयं उपजायते नाप्यन्यतस्तस्य कारणाभावात्।

उस अपहृत संयम की प्रतिपत्ति कराने के लिये आठ शुद्धियों का उपदेश समझ लेना चाहिये। भावशुद्धि, कायशुद्धि, आदिक आठ शुद्धिया हैं उन आठ शुद्धियो मे पहिली भावशुद्धि तो कर्मों के क्षयोपशम से उपजी और मोक्षमार्ग के उपयोगी श्रद्धान द्वारा हुई प्रसन्नता को धारण कर रही तथा रागद्वेष आदि उपद्रवो की आकुलता से रहित हो रही है। उस भावशुद्धि के हो जाने पर आचरण का अच्छा प्रकाश हो जाता है जैसे कि बढिया शुद्ध कर ली गई भीत पर प्राप्त हुई चित्रणक्रिया (चित्रलिखना) अच्छी प्रकाशित हो जाती है। दूसरी कायशुद्धि तो मुनिराज की वह है जो कि मुनिमहाराज की काय सभी वस्त्र, छाल आदि आवरणो और कटक, केयूर, कुण्डल आदि भूषणो से रहित हैं, मुनि के काय में न्हाना, धोना, बाल काढना, मंजन, तेल, उवटन लगाना आदि शारीरिक सस्कारो का आजन्म त्याग कर दिया गया है। उत्पन्न हुये छोटे बच्चो का शरीर जैसे मलो को धारण कर लेता है कोई रागद्वेष विकार नही होता हैं, उसी प्रकार मुनि का शरीर भी बच्चे के समान मलो को ग्लानिरहित धारे रहता है। अगो का मटकना, ऐंडना, उत्थान हो जाना आदि विकारो का निराकरण कर चुका मुनिशरोर है। सभी स्थानो पर सोने, बैठने, खडे होने आदि में मुनिशरीर को वृत्ति बढिया यत्नाचार पूर्वक रहती हैं। मूर्ति के समान प्रशान्ति सुख को अच्छा दिखला रही मुनि की काय है अर्थात् मुनि महाराज के शरीर को देखकर ऐसा भान होता है कि अतीन्द्रिय प्रशम सुख ही मानू मूर्ति को धारण कर विराज गया है। मुनि की यह उपर्युक्त शरीरावस्था ही कायशुद्धि है। उस कायशुद्धि के हो जाने पर इस मुनि के न तो अपने से भय उपजता हैं और अन्य शस्त्र, शत्रु, घातकपशु

आदि से भी उस मुनि के भय नही उपजता है। क्योकि उस भय का कारण ही नही रहा है। ससार में भय के कारण भूषण, वस्त्र, सपत्ति, कुटुम्ब, शरीर इनमे व्यामोह आदिक हैं, जिनका कि सयमो साधु सर्वथा त्याग कर चुका है। सम्यग्दृष्टि जीव ही भयो से रहित है फिर सकलसयमी की तो बात ही क्या है।

विनयशुद्धिः अर्हदादिषु परमगुरुषु यथार्हपूजाप्रवणाज्ज्ञानादिषु च यथाविधि-भक्तियुक्ता गुरोः सर्वत्रानुकूलवृत्तिः प्रश्नस्वाध्यायवाचनाकथाविज्ञापनादिषु प्रतिपत्तिकुशला देशकालभावावबोधनिपुणा सदाचार्यमतानुचारिणी, तन्मूलाः सर्वसंपदः। ईर्यापथशुद्धिः नानाविधजीवस्थानयोन्याश्रयावबोधजनितप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीडा ज्ञानादित्यस्वेंद्रियप्रकाश-निरीक्षितदेशगामिनी द्रुतविलंबितसभ्रान्तविस्मितलीलाविकारदिगंतरावलोकनादिदोष-विरहितगमना तस्यां सत्यां संयमः प्रतिष्ठितो भवति विभव इति सुनीतौ।

सयमी की विनयशुद्धि तो इस प्रकार है कि अर्हन्परमेष्ठी, सिद्धपरमेष्ठी आदि परमोत्कृष्ट गुरुओ में यथायोग्य भावपूजा करने की तत्परता बनी रहना तथा ज्ञान आदि अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, उपचार इनमे शास्त्रोक्त विधिअनुसार भक्तियुक्त रहना और गुरु के साथ सभी स्थानो पर अनुकूल प्रवृत्ति रखना विनयशुद्धि है, तथैव प्रश्न करना, स्वाध्याय करना, वाचना, कथाओ को समझाना, तीन लोक का स्वरूप समझना, नौ पदार्थो की प्रतीति करना इत्यादिक में श्रद्धापूर्वक कुशल बने रहना विनयशुद्धि है। देश काल और भावो का ज्ञान कराने मे निपुण हो रही तथा श्रेष्ठ आचार्यों के मत के अनुकूल चलनेवाली विनयशुद्धि है। उस विनयशुद्धि को मूल कारण मान कर ही सम्पूर्ण ज्ञान आदि सम्पत्तिया उपज जाती हैं। चौथी ईर्यापथ शुद्धि का विवरण यो है कि चौदह, उनईस, सत्तावन, अट्ठानवे आदि अनेक प्रकार के जीवस्थानो तथा नौ, चौरासी लाख, आदि योनिस्थानो के परिज्ञानो से उत्पन्न हुये दयापूर्ण प्रयत्न करके जिसमें जन्तुपीडा का परिहार किया जा चुका है ऐसी ईर्यापथशुद्धि है। भूमिका निरीक्षणकर चलना ईर्या है। ईर्याके मार्ग में जीवो को बाधा न पहुचे ऐसे अनेक ज्ञान या प्रयत्नो द्वारा ईर्यापथ शुद्धि की जाती हैं। जैन सिद्धान्त मे ज्ञान का प्रकाश सर्व प्रकाशो में प्रधान माना गया है। अतः ज्ञान और सूय तथा स्वकीय इन्द्रियो के प्रकाश द्वारा वढिया देख लिये गये देश में गमन कर रही ईर्यापथ-शुद्धि है। ईर्यापथ शुद्धि अनुसार अतिशीघ्र चलना, अतिविलम्ब से चलना संभ्रान्त (डमाडोल विचार से या प्रमत्त होकर) गमन, आश्चर्य चकित होते जाना, खेलते कूदते चलना, अगविकार करते हुये चलना, चलते समय सन्मुख दिशा से अन्य दिशाओ का अवलोकन

करना, अकडते, मटकते, घूमते, नाचते हुये चलना आदि दोषो से रहित गमन किया जाता है। उस ईर्यापथशुद्धि के होते सन्ते सयम उसी प्रकार प्रतिष्ठित हो जाता है जैसे कि बढिया नीति को पालते हुये प्रभु के विभूति या धन की प्रतिष्ठा बढ जाती है।

भिक्षाशुद्धिः परीक्षितोभयप्रचाराप्रमृष्टपूर्वापरस्वांगदेशविधाना आचारसूत्रोक्तकालदेशप्रवृत्तिप्रतिपत्तिकुशला लाभालाभमानापमानसमानमनोवृत्तिः लोकगर्हितकुलपरिवर्जनपरा चंद्रगतिरिव हीनाधिकगृहा विशिष्टोपस्थाना, दीनानाथदानशालाविवाहयजनगेहादिपरिवर्जनोपलक्षित.दीनवृत्तिविगमा प्रासुकाहारगवेषणप्रणिधाना आगमविधिना निरवद्याशनपरिप्राप्तप्राणयात्राफला, तत्प्रतिबद्धा हि चरणसंपत् गुणसंपदिव साधुजनसेवानिबन्धना।

पाचमी भिक्षाशुद्धि यो बन सकती हैं कि भले प्रकार परीक्षा कर देख लिया गया है जाने, आने दोनो मार्गो का प्रचार जिसमे अथवा बढिया देखकर मुनि दोनो पाओ से प्रचार करें या दोनो नेत्रो से दोनो ओर देखते हुये सयमी चले। और अपने अङ्गो के धरने योग्य पहिले पिछले देशो को भले प्रकार शुद्ध कर लेने की विधि मे दत्तावधान रहे तब भिक्षाशुद्धि होगी। आचारशास्त्र मे कहे गये उचित काल और समुचित देश की प्रवृत्तियो का परिज्ञान करने में कुशल बने रहना भिक्षाशुद्धि है। भोजन का लाभ हो जाने पर या अलाभ हो जाने पर राग, द्वेष, नही करते हुये मनोवृत्ति को समान बनाये रखना और किसी प्रकार कोई सम्मान करे या अपमान करे दोनो अवस्थाओ में एकसी मानसिक प्रवृत्ति रखना भिक्षाशुद्धि है। लोक मे निन्दित माने गये कुलो का परित्याग करने मे तत्पर हो रहा मुनि भिक्षा की शुद्धि पाल सकेगा। चन्द्रमा की गति जिस प्रकार कभी हीन ग्रहो पर होती है और कभी अधिक ग्रहो पर प्रवर्तती है अथवा उसकी छाया घरो पर जैसे न्यून अधिक पडती है उसी प्रकार मुनिमहाराज भिक्षा के लिये कभी थोडे घरो मे जाते है कभी अधिक घरो तक भी पर्यटन करते हुये, किसी एक घर मे भिक्षा पा लेते है। निर्धन, अप्रतिष्ठित या सधन प्रतिष्ठित दोनो के घर समान वृत्ति से जाते हैं। गरीब, अमीर के घर पर विशेपता को नही मानकर उपस्थित होते हैं। दातार गृहस्थ के घर जाकर अधिक देर तक भी नही ठहर सकते है जिससे कि दीनता या याचकत्व प्रकट होय और अत्यल्प भी नही ठहरे जिससे कि दानी को पात्र के आने का पता भी न चले। अतः भिक्षाके लिये दानी के घर पर विशिष्ट काल तक ही मुनी का ठहरना अभीष्ट है। इसी प्रकार रसोईघर या आगन प्रदेशोमे ही मुनि ठहर सकते हैं। भण्डारगृह, शयनगृहमें मुनि का ठहर जाना अनुचित है। भिक्षा की शुद्धि रखनेवाले मुनि को दीन (नदीदा) और अनाथ के घर भिक्षा नही

लेनी चाहिये। मुनि को दानशाला, विवाहस्थान, पूजाघर और क्रीडास्थान, कारागृह, आदि स्थलो पर भिक्षा के परित्याग रखने का पूरा लक्ष्य रखना पडता है। नारीदेपन को प्रवृत्ति से रहित भिक्षा होनी चाहिये। त्रस स्थावर जीवो से रहित प्रासुक आहार "प्रगता असवो यस्मात्" के ढूढने मे ही चित्त का ध्यान रक्खा जाय। बढिया पुष्ट, गरिष्ठ, स्वादु भोजन की प्राप्ति का लक्ष्य नही रक्खा जाय। शास्त्रविहित मार्ग से निर्दोष हो रहे भोजन की परिप्राप्ति हो जाने से शरीर या प्राणो की यात्रा बनी रहे मात्र इतना ही भोजन का फल समझा जाय ये सब भिक्षाशुद्धि के लिये करने पडते हैं। उस भिक्षाशुद्धि के साथ ही अविनाभाव रख रही चारित्रसम्पत्ति है, जैसे कि साधुजनो की सेवा को कारण मानकर सेवक जनो को गुणो की सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार भिक्षाशुद्धि और चरित्रशुद्धि की व्याप्ति बन रही हैं "यत्र यत्र भिक्षाशुद्धिस्तत्रतत्र चरणसम्पत्तिः"।

लाभालाभयो. सुरसविरसयोश्च समसंतोषा भिक्षेति भाष्यते, यथा सलीलसालंकारवरयुवतिभिरुपनीयमानघासो गौर्न तदगगतसौंदर्यनिरीक्षणपरः तृणमेवात्ति यथा वा तृणलव नानादेशस्थं यथालाभमभ्यवहरति न योजनासपदमवेक्षते, यथा भिक्षुरपि भिक्षापरिवेषकजनमृदुललितरूपवेषविलासविलोकननिरुत्सुक शुष्कद्रवाहारयोजनाविशेष वानपेक्षमाण यथागतमश्नातीति गौरिव गोर्वाचारो गोचर इति च व्यपदिश्यते तथा गवेषणेति च।

भिक्षा का लाभ हो जाने में और भिक्षा का लाभ नही होने में समान संतोष रखने वाली तथा सुन्दर रस वाले व्यञ्जनो के खाने मे और रसरहित पदार्थों के भक्षण में समान सतोष धार रही वह भिक्षा यो बखानी गई है अथवा लाभ, अलाभ, में नीरस, सरस, में समान संतोष को धारने वाले मुनीन्द्रो ने वह भिक्षा यो बखानी है। ऐसी भिक्षा के गोचार, अक्षम्रक्षण, उदराग्निप्रशमन, भ्रामरी, श्वभ्रपूरण ये पाँच भेद हैं। पहिली गोचरी वृत्ति इस प्रकार है कि जैसे यौवनलीलाओ और श्रेष्ठ भूषणो से सहित हो रही सुन्दरी युवतियो करके लाया गया है घास जिसके लिये ऐसी गाय उस नवोढा के अङ्गो मे प्राप्त हुये सौन्दर्य का निरीक्षण करने मे तत्पर नही होती हुई केवल तृणो को ही खाने लग जाती है अथवा जिस प्रकार गाय (गोवलीवर्द न्यायेन बैल भी) नाना देशो में स्थित हो रहे तृणो के टुकडो को जैसा तैसा तृणलाभ होता जाता है तदनुसार गोचर भूमि मे भ्रमण कर केवल खा ही लेती हैं कोई घास की योजना यानी रचनाविन्यास आदि शोभा को नही नीचे देखती फिरती है उसी प्रकार संयमी भिक्षु भी भिक्षा को परोसने वाले स्त्री, पुरुषो के कोमल श्रृंगारोचितचेष्टाओ सुन्दररूप, वेष, (पहनावा) विलास (श्रृंगारोचित चेष्टायें)

भूषण शब्द आदि के देखने, निरखने, सुनने, में उत्सुक नही हो रहा सन्ता तथा सूखे, गीले, आहार की विशेष रचनाओ की नही अपेक्षा करता हुआ केवल यथायोग्य प्राप्त हुये जैसे भी शुद्ध भोजन को खा लेता है, यो खाने मे गाय का सादृश्य हो जाने से गाय के समान मुनि हैं अथवा गौ के समान चार यानी भोजन या भोजन के लिये गमन हैं " चर गतिभक्षणयो "। इस कारण इस भोजन वृत्ति का नाम " गोचार " इस प्रकार व्यवहार में बखाना गया है और तिसी प्रकार गौ के समान भक्ष्य पदार्थ का शोधना, ढूढना होने से " गवेषणा " यो भी कहा दिया जाता है।

यथा शकट रत्नभारपरिपूर्णं येन केनचित् स्नेहेनाक्षलेपनं कृत्वाभिलषितं देशान्तरं वणिग्जनो नयति तथा मुनिर्गुणरत्नभरितां तनुशकटीमनवद्यभिक्षयायुरक्षम्रक्षणेनाभिप्रेतसमाधिपत्तनं प्रापयतीति अक्षम्रक्षणमिति च नाम निरूढं।

मुनि की दूसरी अक्षम्रक्षण भोजनवृत्ति ऐसी है कि जिस प्रकार रत्न के बोझ से भरपूर हो रहे छकडा गाडी को व्यापारी वैश्य मनुष्य जिस किसी भी ऐरे गैरे तेल से धुरा आमन का लेप कर अभीष्ट देशान्तरो को ले जाता है तिसी प्रकार मुनि भी गुणस्वरूप रत्नो से भरी हुई शरीरस्वरूप गाडी को निर्दोष हो रही सरस या नीरस भिक्षा द्वारा आयु.-स्वरूप रथाग का तैललेपन करके अभीष्ट हो रहे समाधि नामक नगर (रत्नो के क्रय विक्रय का शहर) को प्राप्त करा देता है। इस उपमानोपमेय या रूप्यरूपक अनुसार इस भिक्षा का नाम अक्षम्रक्षण इस प्रकार नियम से रूढ हो रहा हैं। अक्षस्य रथाङ्गस्य म्रक्षणं स्नेहलेपनमिव अक्षम्रक्षण।

यथा भांडागारे समुत्थितमनलमशुचिना शुचिना वा वारिणा शमयति गृही तथा यतिरपीति उदराग्निप्रशमनमिति च निरुच्यते, दातृजनबाधया विना कुशलो मुनिः भ्रमरवदाहरतीति भ्रमराहार इत्यपि परिभाष्यते, येन केनचित्प्रकारेण श्वभ्रपूरणवदुदरगर्तमनगारः पूरयति स्वादुनेतरेण वाहारेणेति श्वभ्रपूरणमिति च निरुच्यते।

मुनिमहाराज की तीसरी उदराग्निप्रशमन नाम की भिक्षावृत्ति यो हैं कि जिस प्रकार सोना, रुपया, रत्न, अन्न के कोठार या भण्डारे मे खूब लग उठी आग को शुद्ध अथवा अशुद्ध जल करके गृहस्थ शात कर लेता है, इसी प्रकार संयमी भी शुद्ध खाद्य पेय द्वारा पेट की आग को प्रशान्त कर लेता है चाहे वह खाद्य पदार्थ नीरस, सरस, रूखा, चिकना, कैसा भी हो इस कारण इस भोजनवृत्ति का नाम उदराग्निप्रशमन इस प्रकार शब्दनिरुक्ति

पूर्वक कहा जा रहा चला आया है। सयमो की चौथी भोजन वृत्ति का नाम भ्रामरी यों पडा है कि भौंरा जैसे पुष्पकलिकाओ को कुछ भी वाधा नही देकर उनमें से मकरंद ले लेता हैं उसी प्रकार दाता जनो को वाधा नही पहुचा कर चतुर मुनि भौंरे के समान आहार करता है इस कारण इस भिक्षावृत्ति की भ्रमरआहार या भ्रामरी ऐसी भी जैनसिद्धान्त में परिभाषा की गई हैं। भ्रमर किसी भी मञ्जरी को यत्किञ्चित् क्लेश नही पहुचाता है और अनेक पुष्पो से पराग या रस को यथोचित स्वल्प ले लेता हैं। मुनि का भी यही रूपक हैं। पाचवे भिक्षाभोजन श्वभ्रपूरण का तात्पर्य यह है कि जिस किसी भी कूडा, कचरा, मिट्टी, ककढ, पत्थर आदि प्रकार करके जैसे गड्ढे को पूर दिया जाता है, उसी प्रकार अनगार मुनि भी अपने पेटरूप गड्ढे को स्वादसहित या स्वादरहित कैसे भी आहार करके भरपूर कर लेता हैं। इस कारण प्रकृतिप्रत्ययो के अर्थ अनुसार श्वभ्रपूरण इस प्रकार संज्ञा कही जा रही है। शब्द की निरुक्ति कर यही अर्थ निकाला गया है।

प्रतिष्ठापनशुद्धिपर. संयतः नखरोमसिंघाणकनिष्ठीवनशुक्रोच्चारप्रस्रवणशोधने देहपरित्यागे च विदितदेशकालो जन्तूपरोधमन्तरेण प्रयतते ।

भिक्षाशुद्धि का विवरण कर अब ग्रन्थकार छठी प्रतिष्ठापना शुद्धि को कहते हैं कि प्रतिष्ठापना समिति को शुद्ध वनाने में तत्पर हो रहा सयमी मुनि देश काल को व्यवस्था को जानता हुआ अपने, नख, केश, नासिकामल, थूक, वीर्य, मल, मूत्र, पसीना आदि को शुद्ध स्थल पर क्षेपने मे और जीवित या मृत, देह के, धरने या परित्यागने में प्राणियो को बाधा या उनके स्वतन्त्र विचरण मे विघ्न नही होय इस ढग से प्रयत्न करता हैं। राजकीय नियम अनुसार जहाँ मल, मूत्र, क्षेपण का निषेध है लौकिक स्त्री, बालक, अथवा पशुपक्षियो के जो बैठने, सोने, आने, जाने के स्थान हैं वहा मुनि को मल, मूत्र, नही क्षेपना चाहिये। अपनी देह को भी योग्य स्थान पर धरे। सब से बडी वात यह है कि जीवो को बाधा नही पहुचे, किस देश में, किस काल में कहा कहा जीव उपजते हैं कहा विचरते हैं यह मुनि को परिज्ञान रहना चाहिये, तभी प्रतिष्ठापना में शुद्धि आ सकेगी।

संयतेन शयनासनशुद्धिपरेण स्त्रीवधिकचौरपानशौंडशाकुनिकादिपापजनवासाः वाद्याः (वर्ज्या.) श्रृंगारविकारभूषणोज्वलवेशवेश्याक्रीड़ाभिरामगीतनृत्यवादित्राकुलशालादयः परिहर्तव्या। अकृत्रिमा गिरिगुहातरुकोटरादयः कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासा अनात्मोद्देशनिर्वर्तिताः निरारम्भाः सेव्या ।

सातवी सोने और बैठने की. शयनासनशुद्धि मे तत्पर हो रहे संयमी करके

ऐसे स्थान छोड देने चाहिये जहाँ कि स्त्रीजन और हत्यारे, चोरो, मदिरा पीने वाले, जुआरी तथा पक्षियो को मारने वाले, मांसविक्रेता, व्यभिचारी, आदिक पापीजनों का आवास होय तथा श्रृंगार को बढानेवाली शालायें, इन्द्रियो में विकारो को उपजाने वाले घर, भूषणों के स्थान, उज्वल पहनावे के स्थल, वेश्याओं के अड्डे, खेलने के क्षेत्र, सुन्दर गायनप्रदेश, नृत्य, वादित्र (बाजे) आदि से आकुलित हो रही शालायें भी मुनि को छोड देनी चाहिये ऐसे स्थलो पर आत्मीय ध्यान करने में चित्त नही लग सकता है। हाँ, किसी जीव के नही बनाये हुये अकृत्रिम हो रहे ये पर्वतो की गुफाये, वृक्षो के कोटर (खोखले) शिलातल आदिक स्थान सेवने योग्य हैं, तथा मनुष्यो के बनाये हुये कृत्रिमस्थान तो सूने घर, झोपडी, कोठी आदिक, और जो छोड दिये गये या छुडा दिये गये आवास (स्थल) अथवा जो अपने उद्देश से नही बनाये गये ऐसे वसतिका धर्मशाला आदिक प्रदेश तथा जिनमें कोई कृषी, वाणिज्य, विवाहविधि नही होती हो अधिक आरम्भ, प्रारम्भ नही रचा गया होय ऐसे स्थान मुनि को सेवने योग्य हैं। ऐसा लक्ष्य रखने से शयनासन मे शुद्धि हो जाती है।

वाक्यशुद्धिः पृथिवीकायिकारभादिप्रेरणरहिता परुषनिष्ठुरादिपरपीडाकरणप्रयोगनिरुत्सुका व्रतशीलदेशनादिप्रधानफला हितमितमधुरमनोहरा संयतयोग्या तदधिष्ठाना हि सर्वसंयत इति शुद्धचष्टकमुपदिष्ट भगवद्भि संयमप्रतिपादनार्थं। ततो निरवद्यसंयमः स्यात्।

मुनिमहाराज के वाक्यशुद्धि तो यों पलती है कि पृथिवीकायिक जीव, जलकायिक जीव आदि का आरम्भ करना, समारम्भ करना, आदि की प्रेरणा से रहित वचनप्रवृत्ति होनी चाहिये अर्थात् मट्टी को खोदो, यहाँ मट्टी भरो, इस सरोवर के पानी को सुखाओ, यहाँ नहर चलाओ, वन मे आग लगाओ, ऐसे आरम्भ और हिंसा को बढाने वाले वचनो को मुनि नही बोलें, तथा दूसरो की पीड़ा को करने वाले कठोर, रूखे, निन्दाकारक, तिरस्कारक, आदिक वचनो का प्रयोग करने में उत्सुकता रहित मुनि होय। सयमी के उच्चारण का व्रतों का उपदेश, शीलो के धारने का आदेश, पापों के परित्याग का शिक्षण देना आदिक ही प्रधान फल होना चाहिये। सम्पूर्ण प्राणियों को हितस्वरूप, परिमित, मीठे, मनोहर वचन कहना ही सयमी के योग्य हैं। उस वाक्यशुद्धि का आधार पाकर ही लौकिक, पारलौकिक, सम्पूर्ण सम्पत्तियें प्राप्त हो जाती हैं। यो उस अपहृत सयम को समझाने के लिये भगवान् जिनेन्द्रदेव और आरातीय आचार्यो ने इस प्रकार आठ शुद्धियों का उपदेश किया है, उस से निर्दोष संयम पल जायगा।

तपो वक्ष्यमाणभेदं । परिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः । अभ्यंतरतपोविशेषोत्सर्गग्रहणात् सिद्धिरिति चेन्न, तस्यान्यार्थत्वात् । शौचवचनात्सिद्धिरिति चेन्न, तत्रासत्यपि गर्धोत्पत्ते. दानं वा स्वयोग्य त्यागः ।

कर्मों का क्षय करने के लिये जो तपा जाय वह तप है, निकट भविष्य में तप के बारह भेद कहे जाने वाले हैं । चेतन और अचेतन परिग्रहो की निवृत्ति कर देना त्यागधर्म है । यहाँ कोई शका करता है कि छ प्रकार का अभ्यन्तर तप कहा जायगा उसमें उत्सर्ग एक तप का विशेष भेद हैं । उत्सर्ग या व्युत्सर्ग का अर्थ त्याग हो है । अत. उस उत्सर्ग का ग्रहण कर देने से ही इस त्यागधर्म का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है यहा धर्मो में त्याग नाम का प्रकार रखना व्यर्थ है । आचार्य महाराज कहते हैं कि यह तो नही कहना । क्योंकि तप में पडे हुये उस उत्सर्ग का अन्य प्रयोजन है कुछ नियत काल तक सम्पूर्ण पदार्थों का त्याग कर देना उत्सर्ग का लक्षण है और काल का नियम नही कर शक्ति अनुसार जो दान किया जाय वह त्याग धर्म है । पुन शंका उठाई जाती है कि शौचधर्म का कथन हो चुका है अतः शौच में अन्तर्भाव हो जाने से पुनः त्याग का प्रतिपादन व्यर्थ है । त्यागने में भी लोभ का त्याग है । शौच धर्म मे भी लोभ का परित्याग किया जाता है । अत शौचधर्म के कथन से ही त्याग के प्रयोजन की सिद्धि हो गयी ग्रन्थकार कहते हैं । कि यह भी कहना प्रशस्त नही हैं । कारण कि उस शौचधर्म में तो परिग्रहके नही होने पर भी लोलुपता उपज बैठती है । उस लोलुपता की निवृत्ति के लिये शौच कहा गया है । और यह त्याग तो फिर अपने निकट वर्त रहे पदार्थ का थोडा बहुत यथायोग्य परित्याग करना है अथवा सयमी को अपने योग्य ज्ञान, दीक्षा, धर्म वृद्धि, प्रायश्चित्त आदि का दान कर देना त्यागधर्म कहा जाता है ।

ममेदमित्यभिसंधिनिवृत्तिराकिंचन्य । अनुभूतांगनास्मरणकथाश्रवणस्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनात् ब्रह्मचर्यं, स्वातंत्र्यार्थं गुरौ ब्रह्मणि चर्यमिति वा । अन्वर्थसंज्ञाप्रतिपादनार्थत्वाद्वाऽपौनरुक्त्यं । गुप्त्याद्यन्तर्भूतानामपि संवरधारणसामर्थ्याद्धर्म इति संज्ञाया अन्वर्थताप्रतिपत्तेरन्यथानुपपत्तेरित्यर्थगते । तद्भावनाप्रवणत्वाद्वा सप्तप्रकार प्रतिक्रमणवत्, सप्तप्रकार हि प्रतिक्रमणमीर्यापथिकरात्रिदिवीयपाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकोत्तमस्थानलक्षणत्वात् । तच्च गुप्त्यादिप्रतिष्ठापनार्थं यथा भाव्यते तथोत्तमक्षमादिदशविधधर्मोपि । ततस्तत्रांतर्भूतस्यापि पृथग्वचन न्याय्यं । उत्तमविशेषणं दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थं । सर्वेषां स्वगुणप्रतिपक्षदोषभावनात्संवरहेतुत्वं । कथमित्याह—

ग्रहण कर लिये गये शरीरादि में "यह मेरा है" इस प्रकार के अभिप्रायो का निवारण कर देना आकिञ्चन्य धर्म है। अनुभव कर ली जा चुकी स्त्री का स्मरण करना कि वह अनेक कला और गुणो से परिपूर्ण थी अथवा स्त्रियों की कथा को सुनना, वाचना, रतिप्रिय स्त्रियो के संग मे रहकर सोना, बैठना, स्त्रियो के सुन्दर अगो का देखना, पौष्टिक पदार्थ खाना, शारीरिकसंस्कार आदि का परित्याग करने से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य धर्म होता है अथवा धर्म को स्वतन्त्रतया पालने के लिये आप ही गुरु हो रहे परम ब्रह्म शुद्ध आत्मा में चर्या रखना यह भी ब्रह्मचर्य है। ऊपर किसी में किसी का अन्तर्भाव हो जाने की जो शकायें की गयी हैं उन सभी का परिहार यो कर दिया जाय कि यद्यपि गुप्ति, समिति, तप, आदि में अन्तर्भूत हो चुके भी कतिपय धर्मो का यहा उपदेश कर दिया है तो भी अन्वर्थसंज्ञापने की प्रतिपत्ति हो जाना अन्यथा अनुपपन्न है ऐसी अर्थ की गति हो जाने से पुनरुक्तपना नही है। भावार्थ—धारणा सामर्थ्यात् धर्म यह धर्मशब्द का प्रकृति और प्रत्यय से अर्थ निकल आता है। उन धर्मो की संवर के धारने में सामर्थ्य है अत धर्म सज्ञा अन्वर्थ हैं। दूसरी बात यह भी है कि सात प्रकार प्रतिक्रमणो के समान उन दश प्रकार के धर्मो की भावना भी गुप्ति आदि के पालने मे तत्पर हैं, अत उनमें अन्तर्भूत हो चुकों का भी प्रयोजनवश पृथक् उपदेश किया जाता है। सात प्रकार का प्रतिक्रमण तो यो हैं कि १ ईर्यापथ संबन्धी २ रात सम्बन्धी ३ दिनसम्बन्धी ४ पखवाडा सम्बन्धी ५ चातुर्मासि में होनेवाला ६ वार्षिक ७ उत्तमस्थान सम्बन्धी या उत्तम अर्थ सम्बन्धी, यो सात प्रकार का वह प्रतिक्रमण अर्थात् मेरे खोटे दोष मिथ्या हो जाय ऐसा अतरंग से अभिप्राय प्रकट करना लक्षित किया जाता है। यह जैसे गुप्ति, समिति, आदि को प्रतिष्ठित करने के लिये भावित किया जाता है उसी प्रकार उत्तमक्षमा आदिक दश प्रकार के धर्म भी गुप्ति आदि में प्रतिष्ठित बने रहने के लिये भावे जाते हैं। तिस कारण से उन गुप्ति आदिको में गर्भित हो चुके भी कतिचित् धर्मो का यहा पृथक् निरूपण करना न्यायोचित है।

दशों धर्मो में उत्तम विशेषण तो देखे जा रहे लौकिक प्रयोजनो का सर्वथा परिहार करने के लिये है अर्थात् लौकिक प्रयोजन को साधने के लिये यदि क्षमा या मार्दव आदि धारे जायेंगे तो वे उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि नही होंगे, उनसे कर्मो का संवर नही हो सकेगा। सभी धर्मो को पालते हुये स्व में गुण और अपने प्रतिपक्ष मे दोष की भावना भाई जाय जैसे कि ब्रह्मचर्य का पालन करना इह लोक और परलोक मे सुखसंपादक है। ब्रह्मचारी की सभी लोग प्रतिष्ठा करते हैं। उसका प्रतिपक्ष हो रहा व्यभिचार करना

बडा भारी दोष है चारो पुरुपार्थों का नाश करने वाला है लोक में व्यभिचारी की निन्दा होती है। इसी प्रकार क्षमा क्रोध, मार्दवमान, आर्जव माया, आदि में गुण दोषो की भावना करने से कर्मो के संवर का हेतुपना परिपुष्ट होता है। वह उपरिम वक्तव्य किस प्रकार सिद्ध हो जाता है ? ऐसी जिज्ञासा उत्थित होने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक को स्पष्ट कह रहे हैं।

दृष्टकार्यानपेक्षाणि क्षमादीन्युत्तमानि तु।
स्याद्धर्मः समितिभ्योन्यः क्रोधादिप्रतिपक्षतः ॥ १ ॥

लोक मे देखे जा रहे अभिप्रेत कार्यो की नही अपेक्षा कर किये गये क्षमा, मार्दव, आर्जव, आदिक धर्म तो उत्तम कहे जावेंगे और जो किसी लौकिकप्रयोजनवश क्षमा आदि पाले गये हैं वे क्षमा, मार्दव, आर्जव, आदि भले ही समझे जाय। किन्तु उत्तमक्षमा, उत्तममार्दवादि नही कहे जा सकते हैं। क्रोध, मान, आदि के प्रतिपक्षी हो जाने से ये धर्म उन समितियो से न्यारे हैं।

क्रोधादिप्रतिपक्षत्वमित्येव धर्मः, उत्तमायाः क्षमायाः क्रोधप्रतिपक्षत्वात् मार्दवार्जवशौचानां मानमायालोभविपक्षत्वात् सत्यादीनामनृतासयमातपोऽत्यागममत्वाब्रह्मप्रतिकूलत्वाच्च। स हि धर्म उत्तमक्षमादीन्येव समितिभ्योन्यः सूत्रित। नन्वत्र व्यक्तिवचनभेदाद्वैलक्षण्यमिति चेन्न, सर्वेषां धर्मभावाव्यतिरेकस्यैकत्वावाविष्टलिंगत्वाच्च। कस्य पुनः संवरस्य हेतुर्धर्म इत्याह —

क्रोध आदि से प्रतिपक्षपने की भावना करना इस ही कारण ये धर्म हैं। क्योंकि उत्तमक्षमा को क्रोध का प्रतिपक्षपना प्रसिद्ध है। मार्दव, आर्जव और शौच धर्मों को मान, माया और लोभ का विपक्षपना सिद्ध है तथा सत्य, सयम, तपः, त्याग आदि धर्मों को झूठ, असयम, अतपस्या, अत्याग, ममत्वभाव, अब्रह्म, इन दोषो का प्रतिकूलपना होने से विपक्षपना निर्णीत है। अतः वह धर्म नियम से उत्तम क्षमा आदि स्वरूप ही हो रहा सता पूर्वोक्त समितियो से न्यारा इस सूत्र द्वारा कहा गया है।

यहाँ कोई शका करता है कि उद्देश्यदल और विधेयदल में समान विभक्ति और समान वचन होना चाहिये। किन्तु यहाँ दश उद्देश्य व्यक्तियों का एक धर्म व्यक्ति के साथ वचनभेद हो रहा देखा जाता है। ब्रह्मचर्याणि बहुवचन है और धर्म एकवचन है। नपुंसक लिंग और पुल्लिगका भी भेद है। अत. यह सूत्र का कथन विलक्षण है। शब्द के लक्षण

शास्त्र से विरुद्ध पड़ता है। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना। शब्दशास्त्र को अर्थतात्पर्य अनुसार चलना चाहिये। उत्तमक्षमा आदि सबके धर्मपने का अभेद हो जाना एक है अतः दशो उद्देश्यों मे एक धर्मपने का विधान कर दिया है। एक बात यह भी है कि ब्रह्मचर्य शब्द अपने नपुंसक लिंग को पकडे हुये है और धर्म शब्द अपने पुल्लिग के आवेश में जकडा हुआ है। बहुव्रीहि समास के सिवाय ये अजहल्लिग माने गये शब्द अपने लिंग को कभी नही छोडते हैं। अतः वचन और लिंग का इस सूत्र में सामानाधिकरण्य नही हैं। शब्दो के नियत लिंग भी किसी अर्थ की भित्ति पर अवलम्बित हैं। सिद्धान्तित अर्थ से शून्य हो रहे कोरे व्याकरण का कोई मूल्य नही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि ये धर्म फिर किस किस सवर के कारण हो रहे हैं? बताओ। ऐसी बुभुत्सा उपजने पर श्री विद्यानन्द आचार्य इस अगली वार्तिक को कह रहे हैं।

तन्निमित्तास्रवध्वंसी यथायोगं स देशतः।
संवरस्य भवेद्धेतुरसंयतदृगादिषु ॥ २ ॥

उन क्रोध, मान, आदि निमित्तो द्वारा परिस्पन्द आत्मक योग अनुसार जो कर्म आने वाले थे, चौथे असयत सम्यग्दृष्टि, पाचमे सयतासंयत, आदि गुणस्थानो में यथायोग्य पाले जा रहे वे धर्म उन कर्मों का एकदेश रूप से सवर कर देने के हेतु हो जाते हैं। सम्पूर्ण कर्मों का सवर तो चौदहवे गुणस्थान मे हैं, वह सर्वदेश से सवर है। हाँ, चौथे आदि गुणस्थानो में कतिपय कर्मो का ही संवर हो रहा है अतः यह एकदेश सवर समझा जायगा।

क्रोधादिनिमित्तकास्रवध्वंसीन्युत्तमक्षमादीनि निश्चितानीति तत्स्वभावो धर्मस्तन्निमित्तास्रवप्रध्वन्सी कथ्यते। स यथायोगं देशतः संवरस्य हेतुर्भवेदसंशयमेव असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु तत्संभवात्। तथाहि असंयतसम्यग्दृष्टौ तावदनंतानुबंधिक्रोधादिप्रतिपक्षभूताः क्षमादयः संभवंत्येव। संयतासयते वानंतानुबंध्यप्रत्याख्यानावरणक्रोधादिविपक्षाः, प्रमत्तसयतादिषु सूक्ष्मसापरायांतेषु पुनरनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणप्रतिबंधिनः, उपशांतकषायादिषु समस्तक्रोधादिसपत्नाः संगच्छते विरोधाभावात्। एवं संयमादयोपि प्रमत्तसंयतादिषु यथायोगं सभवंतः प्रतिपत्तव्याः। ते च स्वप्रतिपक्षहेतुकास्रवनिरोधनिबंधनत्वाद्देश सवरस्य हेतव. स्युः।

जिनके निमित्तकारण क्रोध, मान, आदि है उन आस्रवो का ध्वस करने वाले उत्तमक्षमा, मार्दव, आदि धर्म हैं यह निर्णीत कर दिया गया है (व्याप्ति) इस कारण उन क्षमादि स्वरूप हो रहा धर्म उन क्रोध आदि को निमित्त पाकर आने वाले आस्रव का प्रध्वस करने वाला कहा जाता है। वह धर्म अनुकूल योग्यता अनुसार एकदेश से सवर करने का हेतु हो जायगा। यह सिद्धान्त भी सशयरहित ही हैं। सयम से रहित और सम्यग्दर्शन से सहित ऐसे असयतसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान तथा पाचवें आदिक गुणस्थानो में वह सवर भले प्रकार सभवता है।

उसी को स्पष्ट कर ग्रंथकार यो दिखलाते है कि मोक्षोपयोगी सब से प्रथम चौथे गुणस्थान में अनतानुबधी क्रोध आदि का उदय नही है। अत असयत सम्यग्दृष्टि अवस्था में अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि के प्रतिपक्षभूत क्षमा, मार्दव, आदिक तो भले प्रकार हो ही रहे हैं। तथा त्रसवध का त्यागी होने से सयत, और स्थावर वध का त्यागी न होने से असंयत, ऐसे सयतासंयत नामक पाचवे गुणस्थान में अनन्तानुबधी चौकडी और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि चौकडी के विपक्ष हो रहे उत्तम क्षमादिक विद्यमान है। प्रमत्तसयत नामक छठे गुणस्थान को आदि लेकर सूक्ष्मसापराय नामक दशमे पर्यन्त पाच गुणस्थानो मे फिर अनन्तानुवधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण इन वारहो कषायो के शत्रुभूत प्रतिबधी क्षमादिक भाव जग रहे हैं।

ग्यारहवे उपशातकषाय आदि गुणस्थानो मे अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, सज्वलन इन सब के क्रोध आदि के सपत्न यानी शत्रुभूत- क्षमादि गुण भले प्रकार सगत हो रहे हैं। कोई विरोध करने वाला नही है। जिस प्रकार क्रोध, मान, माया लोभ के प्रतिपक्ष हो रहे क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच धर्मो का गुणस्थानो में सद्भाव है, उसी प्रकार असयम, अतप, आदि के प्रतिपक्षी हो रहे सयम, तप, आदि धर्म भी छठे प्रमत्तसयत सातमे अप्रमत्तसयत आदि गुणस्थानो में यथायोग्य संभव रहे समझ लेने चाहिये तथा वे उत्तमक्षमा आदिक और सयम आदिक दशो धर्म अपने अपने प्रतिपक्ष हो रहे क्रोध आदि को हेतु मान कर होने वाले आस्रव के निरोध का कारण हो जाने से देशसवर के हेतु हो जायेंगे, यही कारिका में कहा गया हैं।

अथानुप्रेक्षाप्रतिपादनार्थमाह—

धर्मो का निरूपण करने के अनन्तर सूत्रकार महाराज अव अनुक्रमप्राप्त अनुप्रेक्षाओ की प्रतिपत्ति कराने के लिये अग्रिमसूत्र का उच्चारण कर रहे हैं।

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्यातत्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥

अनित्यपन का विचार करना, कोई के नही शरण होनेपन का चिन्तन करना, ससार का विचार करना, अकेलेपन का चिन्तन करना, शरीरादि से आत्मा के भिन्नपने का विचार करना, शरीरादि के अशुद्धपन का चिन्तन करना, आस्रव की चिन्ता करना, सवर की भावना भाना, निर्जरा तत्त्व की अनुप्रेक्षा करना, लोकरचना का चिन्तन करना, सम्यग्ज्ञान का दुर्लभपना भावना, श्रेष्ठधर्म के बढिया व्याख्यान हो चुकने की पुनः पुन भावना करना कि श्री जिनेन्द्र भगवान् ने बहुत अच्छा कार्य किया, जो धर्म का व्याख्यान कर दिया, गुणस्थान, मार्गणाओ का निरूपण किया, यदि वे अन्तकृत्केवली के समान उपदेश दिये विना ही मोक्ष चले जाते तो हम क्या कर लेते, श्री अरहंत के उस बढिया धर्म-व्याख्यान से अनन्तानन्त जीव मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ऐसा धर्म + सु + आङ् + ख्या + क्त + त्व, धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा इस बारहमीं अनुप्रेक्षा का विशाल अर्थ हैं। एक अच्छी वैद्य-विद्या का उपदेश देनेवाला पण्डित कुछ काल के लिये कतिपय जीवो का उपकार कर देता हैं, उसकी प्रशसा की जाती है तो फिर अनेक जन्म, जरा, मृत्यु, महारोगों से पीडित हो रहे अनन्तानन्त प्राणियो को अक्षयअनन्तकाल तक नीरोग वना देने वाले जिनेन्द्र के निर्दोष धर्मोपदेश की महिमा का निरूपण करना तो अशक्यानुष्ठान ही हैं ।

इस प्रकार उक्त बारहो चिन्तन के पीछे चिन्तन पुन. चिन्तन यों भावनायें करना बारह अनुप्रेक्षाये हैं। एक बार हुये ज्ञान को चिन्तन या ध्यान नही कहते है। किन्तु वीसो, सैकडो ज्ञानो की उसी विषय मे अंश तदंशो या तत्सम्बन्धी अन्य भी पदार्थों को ग्रहण कर रही लडी को भावना या ध्यान कहा जाता है। विशेष प्रकार के ज्ञानो को ही भावना मानना चाहिये ।

उपात्तानुपात्तद्रव्यसंयोगव्यभिचारस्वभावोऽनित्यत्वं, क्षुभितव्याघ्राभिद्रुतमृगशावकवज्जन्तोर्जरामृत्युरुजांतके परित्राणाभावोऽशरणत्वं, द्रव्यादिनिमित्तादात्मनो भवांतरावाप्तिः ससारः, जन्मजरामरणावृत्तिमहादुःखानुभवनं प्रतिसहायानपेक्षत्वमेकत्व, शरीरव्यतिरेको लक्षणभेदोन्यत्व, अशुभकारणत्वादिभिरशुचित्व, आस्रवसंवरनिर्जराग्रहणमनर्थकमुक्तत्वादिति चेन्न, तद्गुणदोषान्वेषणपरत्वादिह तद्ग्रहणस्य। लोकसंस्थानादिविधिर्व्याख्यातः, रत्नत्रय(स्व)भावादिलाभस्य कृच्छ्रप्रतिपत्तिर्बोधिदुर्लभत्वं, जीवस्थानगुणस्थानानां गत्यादिषु

मार्गणालक्षणो धर्म स्वाख्यातः, गतींद्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्व सञ्ज्ञाहारकेषु मार्गणा । स्वाख्यात इति युच् प्रसंग इति, प्राविघृत्ते. शोभनमाख्यात इति ।

आत्मा करके ग्रहण कर लिये गये कर्म नोकर्म पुद्गल द्रव्य उत्पाद हैं और परमाणुयें, अग्राह्यवर्गणायें, नभोवर्गणायें, आदिक तो नही ग्रहण किये गये अनुपात्त पुद्गल द्रव्य है। अर्थात् वर्तमान या कुछ आगे पीछे के भूतभविष्य काल में ग्रहण अग्रहण हो जाने की अपेक्षा से उपात्त, अनुपात्त व्यवस्था है। नही तो प्राय सभी पुद्गलों को जीव ग्रहण कर चुका है। यो सभी उपात्त हुये। पदार्थों के भक्ष्यपन या अभक्ष्यपनका नियम भी वर्तमान पर्याय अनुसार है। अन्यथा अन्न, शाक, आदि की पूर्व अवस्थाये खात, मल, मूत्र, हड्डियें, अनछना पानी आदि महान् अशुद्ध पदार्थ हैं। पीछे भी अन्न के रक्त, मास, मल, आदि बनेंगे जो कि कालान्तर में पुनः अन्न, घास, आदि बन सकेगे। चोर ने कोई वस्तु चुराई है यदि वस्तु या चोर की पूर्वपर्यायो को विचारा जाय तो कदाचित् वह चीज चोर की हो चुकी है उल्टा साहूकार ने चोर की वस्तु को चुरा रखा है। स्वस्त्री परस्त्री का नियम भी वर्तमान काल की अपेक्षा से ही हैं। पूर्वजन्मो में अनेक परस्त्रिया किसी विवक्षित जीव की स्वस्त्रिया हो चुकी है। ऐसी दशा में भक्ष्यपदार्थ, अचौर्य, परस्त्रीत्यागव्रत, इन सब मे वर्तमान पर्यायो के लक्ष्य की ही प्रधानता हैं।

ग्रन्थकार कह रहे हैं कि इन उपात्त या अनुपात्त हो रहे शरीर, इन्द्रिय, उपभोग्य विषय, स्वजन आदि द्रव्यो के संयोग का व्यभिचारस्वभाव चिन्तन करना अनित्यत्व अनुप्रेक्षा है। अर्थात् ससारमें कोई भी पदार्थ पर्यायरूपसे स्थिर नही। है जिसका सयोग होता हैं उसीका कुछ काल में वियोग हो जाता हैं। यह जीव मोहसे धन, कुटुम्ब, आदिको नियमसे संयुक्त मान बैठा है। किन्तु ये सब नियमित मान लिये गये सयोग से विपरीत होकर व्यभिचारस्वरूप हो रहे है। अर्थात् स्थायीपनसे अतिरिक्त होकर भगुर हैं (साध्याभाववद्वृत्तित्व)।

भूख से विकल हो रहे वाघ से दवा लिये गये मृग छोने का जैसे कोई शरण नही है, उसी प्रकार बुढापा, मृत्यु, रोग, यमराज के उपस्थित हो जाने पर जीवका पूर्णतया रक्षण करने वाला कोई नही है ऐसा विचार करना अशरणपना है। यम एक व्यन्तर देव है। इन्द्र का लोकपाल हो रहा वैमानिक देव भी है। किन्तु रूपक प्रकरण अनुसार उदय या उदीरणाप्राप्त आयुष्य कर्म के उस भवसंवन्धी अन्तिम निषेको को जैनसिद्धान्त में यमराज माना गया है। लोकव्यवहार मे मरण आया तो यमदेव ले जाता है ऐसी धारणा है, परंतु आयुकर्म के क्षीण होने पर मरण समय पर आता है। इस में यम का कोई सबध नही है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, आदि निमित्तो से आत्मा को अनेक अन्य भवों की प्राप्ति होते रहना इसका विस्तृत वितर्कण करना ससार अनुप्रेक्षा है।

जन्म लेना, बुढापा प्राप्त करना, मर जाना, पुनः जन्म लेना, बूढा हो जाना, मर जाना, ऐसी अनेक आवृत्तियो में यह जीव अकेला महान् दुःखों का अनुभव करता रहता है उस दुःखानुभव मे कोई भी अपेक्षणीय स्वजन, परजन सहायक नही होता है अकेला ही जीव पुण्यपाप फलो को भोगता है अकेला हो मोक्ष को भी प्राप्त करता है किसी सहायक की अपेक्षा करना व्यर्थ है कोई सहायक हो भी नही सकता है ऐसो तर्कणा एकत्व अनुप्रेक्षा है।

आत्मा और शरीर के भिन्न भिन्न लक्षण होने के कारण शरीर से आत्मा का भेद विचारना और लक्षणो के भेद का परामर्श करना अन्यपन की अनुप्रेक्षा है।

शरीर के कारण हो रहे रज, वीर्य आदि अशुभ है, शरीर के कार्य मल, मूत्रादि भी अशुद्ध है इत्यादि प्रकारो करके अशुद्धपनेका विचार रखना अशुचित्व अनुप्रेक्षा है।

कर्मो के आस्रव होते रहने की चिन्ता करना आस्रवानुप्रेक्षा है, कर्मों के रुक जाने का सद्विचार करना संवरभावना है, कर्मो की निर्जरा का स्वरूप चिन्तन करना निर्जरानुप्रेक्षा हैं।

कोई पण्डित यहा शका करता है कि आस्रव, संवर और निर्जरा का स्वरूप कह दिया गया है अत उनका यहाँ पुन. ग्रहण करना व्यर्थ है। आचार्य कहते हैं यह शका तो ठीक नही हैं। कारण कि यहा उन तीनो का ग्रहण करना तो उनके गुण और दोषों के ढूंढने में तत्पर हो रहा हैं। आस्रव के दोषो का विचार करना चाहिये, सवर के गुणो की सद्भावना करनी चाहिये, निर्जरा के गुण ओर दोषो की विवेचना करनी चाहिये।

लोक की रचना लम्बाई, चौडाई आदि विधानों का तीसरे, चौथे अध्यायों में व्याख्यान किया जा चुका है।

रत्नत्रय स्वरूप सद्धर्मलाभ भेदविज्ञान, स्वानुभूति आदि के लाभ की बड़े कष्ट से प्राप्ति होतो है यों विश्वास रखते हुये भेदज्ञान का दुर्लभपना चीतना बोधि दुर्लभपन अनुप्रेक्षा है।

जिनेन्द्र भगवान् के सिद्धान्त अनुसार जीवस्थान, गुणस्थानो का गति, इन्द्रिय, आदि मे ढूंढना स्वरूप धर्म बहुत अच्छा बखान दिया गया है, ऐसा श्रेष्ठ विचार करते रहना धर्मस्वाख्यातत्व अनुप्रेक्षा है।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम दर्शन लेश्या, भव्यत्व सम्यक्त्व; सज्ञा और आहार इन चौदह परिणतियो में जीवो की मार्गणा की जाती है।

यहाँ कोई वैयाकरण शंका उठाता है कि "स्वाख्यातः" इस पद में "युच्" प्रत्यय हो जाने का प्रसंग है "यु" को अन होकर "स्वाख्यानम्" बनना चाहिये। ग्रन्थ कार कहते हैं यह तो नही कहना। क्योकि यहा "कुगति प्रादयः" इस समास विधायक लक्षण सूत्र अनुसार समास वृत्ति हो जाने से सु यानी सुन्दर होकर आख्यान कर दिया गया यो "स्वाख्यात" पद बना दिया है।

अनुप्रेक्षा इति भावसाधनत्वे बहुवचनविरोधः, कर्मसाधनत्वे सामानाधिकरण्याभाव इति चेन्न वा कृदभिहितस्य भावस्य द्रव्यवद्भावात्, सामानाधिकरण्यसिद्धेश्चोभयोः कर्मसाधनत्वात्। मध्येनुप्रेक्षावचनमुभयनिमित्तत्वात्। धर्मपरीषहजययोर्निमित्तभूता ह्यनुप्रेक्षास्तन्मध्येऽभिधीयंते। कुतस्ताः कथ्यत इत्याहः—

चिन्तन करना ऐसी भावपरिणति अनुप्रेक्षा है और भाव मे शयनं, पचन, गमनं, आदि के समान एक वचन होता है। यहा अनुप्रेक्षा इस शब्द को भाव में प्रत्यय कर यदि साधा जायेगा तो अनुप्रेक्षाः इस बहुवचन पद के बहुवचन होने का विरोध पडेगा "भावे एकत्व नपुंसकत्वं च"। हाँ, यदि अनुप्रेक्षा शब्द को कर्म मे प्रत्यय कर साधा जाय तो बहुवचन घटित हो जायगा। किन्तु अनित्यत्व, एकत्व, आस्रव, संवर आदिक भाववाची पदो के साथ अनुप्रेक्षणीय द्रव्य को कह रहे अनुप्रेक्षा शब्द के साथ समानअधिकरणपने का अभाव हो जायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योकि कृदन्त प्रत्यय से कह दिया गया भाव तो द्रव्य के समान हो जाता है। जैसे कि "पच्" धातु से भाव में घञ् प्रत्यय करने पर भी पाकौ, पाका, ये द्विवचन, बहुवचन के रूप चल जाते हैं। क्योकि न्यारे न्यारे पचने योग्य पदार्थो का पाक भाव भी न्यारा न्यारा है। तिसी प्रकार अनुप्रेक्षा करने योग्य अनेक पदार्थो के भेद से अनुप्रेक्षा भाव भी भिन्न भिन्न है। अतः अनुप्रेक्षा यह बहुवचन कहना न्याय से प्राप्त है।

एक बात यह भी है कि उद्देश दल के अनुचिन्तन पद को और विधेयदल के अनुप्रेक्षा पद को कर्म में प्रत्यय कर साध लियो जाय जो पुन पुनः चिन्ता जाय वह अनुप्रेक्षा करने योग्य हैं यो समान अधिकरणपने की सिद्धि हो जाती है। जब कि दोनो पदो को कर्म मे प्रत्यय कर कृदन्त पद बना लिया गया है।

कर्म और परीषहजय के मध्य में अनुप्रेक्षाओं का निरूपण तो दोनो का निमित्त-कारणपना होने से कर दिया है। देहलीदीपकन्याय से कारणभूत अनुप्रेक्षाओका बीच मे प्रतिपादन है अनुप्रेक्षाओ की भावना करता हुआ पहिले उत्तम क्षमा आदि धर्मों का पालन करता है और पिछली परीषहो को भो जीतने का उत्साह रखता है। अत. धर्म और परीषहजय के निमित्त हो रही अनुप्रेक्षाओ को उन दोनो के मध्य मे कह दिया गया है।

यहाँ कोई तर्क उठाता है कि वे बारह अनुप्रेक्षायें किस युक्ति करके प्रसिद्ध हो रही सती संवर के कारणपने से कह दी जा रही हैं ? बताओ। ऐसी तर्कणा उठने पर ग्रन्थकार इस अगली वार्तिक को कह रहे है।

अनुप्रेक्षाः प्रकीर्त्यंतेऽनित्यत्वाद्यनुचिन्तनं ।
द्वादशात्राननुप्रेक्षा विपक्षत्वान्मुनीश्वरैः ॥ १ ॥

मुनियो के ईश्वर हो रहे सर्वज्ञ, गणधर, आचार्य महाराजो या सूत्रकारों ने अनित्यपन, अशरणपन आदि का पुन. पुनः चिन्तन करना ये बारह अनुप्रेक्षायें इस सूत्र में बढिया प्ररूपणा कर दी है (प्रतिज्ञा) कारण कि शरीर आदि को नित्य मान बैठना चाहे जिसको शरण मान बैठना आदिक अनुप्रेक्षाविहीन परिणतियो की विपक्ष हो रहीं ये अनुप्रेक्षायें है (हेतु)। आस्रव के विरोधी कारणो से अवश्य सवर हो जाता है।

परिकल्पिता एवानित्यत्वादयो धर्मास्तेषामात्मनि शरीरादिषु च परमार्थतो ऽसत्वादित्यपरे तान् प्रत्याह —

यहाँ साख्यपण्डितो की ओर से कटाक्ष है कि अनित्यपन आदिक धर्म तो सब यहाँ वहाँ से कल्पना कर लिये गये ही है (प्रतिज्ञा) क्योकि आत्मा और शरीर धन आदि मे उन धर्मों का वास्तविक रूप से असद्भाव है (हेतु) इस प्रकार जो कोई दूसरे विद्वान् कह रहे हैं उनके प्रति आचार्य महाराज अगली वार्तिक मे समाधान वचन कहते हैं।

अनित्यत्वादयो धर्माः संत्यात्मादिषु तत्त्विकाः,
तथा साधनसद्भावात्सर्वेषां स्वेष्टतत्त्ववत् ॥ २ ॥
ततोनुचिन्तनं तेषां नासतां कल्पितात्मनां,
नाप्यनर्थकमिष्टस्य संवरस्य प्रसिद्धितः ॥ ३ ॥

आत्मा, शरीर आदि पदार्थो मे पर्यायदृष्टि से वास्तविक हो रहे अनित्यत्व आदिक धर्म विद्यमान है (प्रतिज्ञा) तिस प्रकार अनित्यत्व, अशरण, एकत्व, अशुचित्व, आदि को सिद्ध करने वाले साधनो का सद्भाव होने से (हेतु) जैसे कि सम्पूर्ण प्रवादो विद्वानो के यहा अपने इष्टतत्त्व वस्तुभूत माने गये है (दृष्टान्त) ।

भावार्थ-बौद्धो के यहाँ स्वलक्षण या ज्ञान को वस्तुभूत माना गया है, सांख्यो ने आत्मा और प्रकृति को परमार्थ तत्त्व माना है, नैयायिको ने आत्मा, रूप, रस, आदि को वास्तविक तत्त्व इष्ट किया है. चार्वाकने पृथिवी आदिको तत्त्व अभीष्ट किया है । इसी प्रकार अनित्यपन आदि भी वस्तुभित्ति पर अवलम्बित हो रहे धर्म है । बबूला, विजली, दीपशिखा ये सब क्षणभंगुर है । महान् कष्ट या मृत्यु में कोई शरण नही है, रजो वीर्य से उत्पन्न हुआ मल, मूत्र का अधिकरण यह शरीर महान् अपवित्र है, यह जीव दूसरे पदार्थों से भिन्न है, तत्वज्ञान बडा दुर्लभ है, इत्यादिक धर्म सभी वस्तु के स्वरूप में ओत प्रोत होकर अनु. प्रविष्ट हो रहे है । कोरे कल्पित नही है । शरीरपर पहन लिये गये वस्त्रमे प्रतिक्षण जीर्णता प्रविष्ट हो रही है, चटाई या दरी प्रतिसमय घिस रही है । बच्चे का शरीर अनुक्षण बढ रहा है । सर्पमें काटे जानेके और न्योले में काटने के अवयव वस्तुभूत है । अग्नि में दाहकत्व और रुई में दाह्यत्व परिणतिया वस्तुभूत दीख रही है । अष्टसहस्री ग्रन्थ में अनेक युक्तियो से वस्तुभूत धर्मों को साध दिया गया है । तिस कारण अनुप्रेक्षाओ म कोरे कल्पित स्वरूप हो रहे उन असद्भूत धर्मोका बार बार चिन्तन नही है । किन्तु वस्तुभूत धर्मों की भावनायें है । ये बारह भावनायें व्यर्थ भी नही है । क्योकि इष्ट हो रहे संवर की इन से भले प्रकार सिद्धि हो जाती है । वस्तुभूत धर्म अवश्य ही वास्तविक कार्य को कर डालते है ।

अथानुप्रेक्षानन्तरं परीषहजयं प्रस्तुवानः सर्वपरीषहाणां सहनं तत्र किमर्थं सोढव्या इत्याहः—

अब अनुप्रेक्षाओ के अनन्तर परीषहजय के कथन का प्रस्ताव रख रहे सूत्रकार महाराज सम्पूर्ण परीपहो के सहने को और वे यहाँ किसलिये सहन करने योग्य हैं, इस सिद्धान्त के प्रतिपादनार्थ अगले सूत्र को कह रहे हैं।

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥

श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट किये गये मार्ग से च्युत नही होने के लिये और निर्जरा के लिये चारो ओर से एक को आदि ले करके उनईस तक सहन करने योग्य जो क्षुधा आदि परिणतिया है वे परीषहे हैं।

परीषहा इति महत्त्वादन्वर्थसज्ञा। प्रकरणात् सवरमार्गप्रतिपत्तिः। तदच्यवनार्थो निर्जरार्थश्च परीपहजय। तत्र मार्गाच्यवनार्थत्वं कथमस्येत्याह।

संज्ञा वह होनी चाहिये जिससे कि कोई छोटा स्वरूप नही हो सके, जैसे कि जैनेन्द्र व्याकरण मे ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतो की प्र, दी, प संज्ञायें है बहुव्रीहिसमास की व, स, सज्ञा है, इकारान्त उकारान्त, शब्दो की सु सज्ञा है। इसी प्रकार परीषहो की छोटी सज्ञा होनी चाहिये थी। परन्तु सूत्रकार का परीषह इतनी बडी सज्ञा करने से यही प्रयोजन है कि इस सज्ञा का अर्थ प्रकृति प्रत्ययोसे ही निकल कर अन्वर्थ हो जाय। सब ओर से सहन करने योग्य परीषह है। संवर का प्रकरण चला आ रहा है इस से परीषहो को संवर के मार्ग होने की दृढ प्रतीति हो जाती है। उस मोक्षमार्ग हो रहे सवर के मार्ग से च्युत नही होने के लिये और निर्जरा के लिये परीपहजय किया जाता है। यदि यहाँ कोई प्रश्न करे कि उन दो प्रयोजनो मे इस परीषहजय का पहला प्रयोजन माना गया मार्ग से च्युत नही होना भला किस प्रकार युक्तिसिद्ध है? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

मार्गाच्यवनहेतुत्वं परीषहजयस्य सत्।
परीपहाजये मार्गच्यवनस्य प्रतीतितः ॥ १ ॥

परीपहजय को (पक्ष) जैनमार्ग से च्युत नही होने का कारणपना प्रशसनीय है (साध्य) कारण कि परीषहो के नही जीतने पर मार्ग से च्युत हो जाने की प्रतीति हो रही है (हेतु)। अर्थात् अध्ययन में या व्यापार करने मे अनेक परीपहे आती है उनको जीतने वाला पुरुष ही विद्वान् या धनाढ्य हो जाता हैं और परीपहो को नही जीतनेवाला

प्रत्युत परीषहो से विजित हो जाने वाला आलसी जीव मूर्ख, दरिद्र रह जाता है। यो अविनाभावी हेतु से साध्य की सिद्धि कर दी गई है।

निर्जरार्थत्व कथमित्याह ।

अब परीषहजय का दूसरा प्रयोजन कर्मों को निर्जरा होना वोलो किस प्रकार सिद्ध समझा जाय ? बताओ। ऐसी निर्णय करने की इच्छा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार वक्ष्यमाण वार्तिको को कहते हैं।

> निर्जराकारणत्वं च तपःसिद्धिपरत्वतः,
> तदभावे तपोलोपान्निर्जरा क्वातिपक्तितः ॥ २ ॥
> परिषोढव्यतां प्राप्तास्तस्मादेते परीषहाः,
> परीषहाजयोत्थानामास्रवाणां निरोधतः ॥ ३ ॥

परीषहजय मे (पक्ष) निर्जरा का कारणपना विद्यमान है (साध्य) तपस्या की सिद्धि मे तत्परता करने वाला होने से (हेतु) उन परीषहो का जीतना नही होने पर तप का लोप हो जाने से कहा निर्जरा हो सकती है ? विषयो में अत्यन्त आसक्ति के वश होकर परीषहो से आकुलित हो गये मनुष्य के निर्जरा नही होने पाती है (अन्यथानुपपत्ति)। यदि परीषहो से उद्विग्न हो रहे पुरुष के भी कर्मों की निर्जरा मानी जायगी तो अतिप्रसग दोष हो जायगा। भूखे, प्यासे, पीडित हो रहे व्याकुल तिर्यञ्च, मनुष्यो के भी कर्मों की निर्जरा हो जाना बन बैठेगा, जो कि इष्ट नही है। तिस कारण उक्त दो प्रयोजनो को साधने वाले होने से ये बाईस परीषहे सब ओर से सहन करने योग्यपने को प्राप्त हो रही हैं, जैसा कि सूत्रकार ने तव्य प्रत्ययान्त परिषोढव्य पद करके कहा है परीषहजयी पुरुष के सवर होता है। परीषहो के नही जीतने पर उठने वाले आस्रवो का विरोध करने वाला होने से परीषहजय सवर का कारण है।

के पुनस्ते परीषहा इत्याहः—

सूत्रकार महाराज के सन्मुख किसी विनीत शिष्य का प्रश्न है कि महाराज फिर यह बताओ कि वे वहुत सी परीषहें कौन है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिमसूत्र को कह रहे हैं।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवध-याचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥ ९ ॥

क्षुधा (भूँख) प्यास, शीतबाधा, उष्णबाधा, डास मच्छरों द्वारा पीडित किया जाना, नग्न रहना, अरति, स्त्रियो की बाधा, चलते रहना, नियमित बैठना, कठोरस्थान पर सोना, गाली कुवचन सुनना, शारीरिक वध, माँगना, लाभ नही होना, रोग हो जाना, तिनकाकाँटा लग जाना, मलविकार होना, सत्कार पुरस्कार परीषह, विशेष ज्ञानका अभिमान करने की उत्सुकता, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषहें हैं। अर्थात् भूँख की वेदना को सहकर क्षुधाजन्य बाधा की ओर सर्वथा चिन्ता न करना क्षुत्परीषहजय है । सम्यग्दृष्टि मुनि के भूख, प्यास आदि की ओर चित्तवृत्ति नही जाती है। युधिष्ठर, भीम, अर्जुन, सुकोशल, सुकुमाल मुनीश्वरो को अनेक उपसर्गो या परीषहो का संवेदन ही नही हो पाया था। वे केवल आत्मध्यान मे लवलीन रहे थे। तभी तो क्षपक श्रेणी या उपशम श्रेणी का आरोहण सभवता है। अत सर्वोत्कृष्ट मार्ग तो यही है कि परीषहो का परिज्ञान ही नही होय, हाँ, मध्यममार्ग यह भी है कि परीषहो को जान कर समताभावो से सहते हुये स्वानुभव में लीन हो जाना। अत. पुरुषार्थी आत्माका कर्तव्य है कि वह क्षुधा आदि बाधाओ पर जय प्राप्त करे, यो परीषह का पूरा नाम क्षुत्परीषहजय, पिपासावेदनासहन, शीतवेदना-सहन, इत्यादि समझ लेना चाहिये अथवा उक्त बाईसो के साथ परीषहजय शब्द जोड़ कर पूरे बाईस नाम बना लिये जाय ।

परीषहा इति सामानाधिकरण्येनाभिसंबन्धो व्यक्तिभेदेऽपि सामान्यविशेषयोः कथंचिदभेदात् । तेन क्षुधादयो द्वाविंशतिः परीषहाः । तत्र प्रकृष्टक्षुदग्निप्रज्वलने धृत्यंभसोपशमः क्षुज्जयः ।

"क्षुधा, पिपासा" को आदि लेकर "अदर्शनानि" पर्यन्त परीषह है। यों बाईसो का परीषह इस शब्द के साथ समानअधिकरणपने करके परली ओर सबध जोड देना चाहिये, व्यक्तिअपेक्षा भेद होने पर भी सामान्य परीषह का और क्षुधा आदि बाईस विशेषो का कथंचित् अभेद हो जाने से समान अधिकरणपना घटित हो जाता हैं। जैसे कि "आर्या म्लेच्छाश्च मनुष्याः" यहाँ हो रहा है। तिस कारण क्षुधा आदिक बाईसो परीषह है ऐसे उद्देश्य, विधेय दल सुचारु हैं। विधेय अंश पूर्व सूत्र मे पडा है और उद्देश्य दल इस सूत्र मे उपात्त है। उन बाईसो में पहिला परीषहजय यो है कि खूब बढ

रही क्षुधास्वरूप उदराग्नि के जाज्वल्यमान होने पर धैर्य स्वरूप जल से उस अग्नि का उपशम करना क्षुधाविजय है।

उदन्योदीरणहेतूपनिपाते तद्वशाप्राप्ति पिपासासहनं। पृथगवचनमैकार्थ्यादिति चेन्न, सामर्थ्यभेदात्। अभ्यवहारसामान्यादैकार्थ्यमिति चेन्न अधिकरणभेदात्।

जलपिपासा वेदनीय कर्म की उदीरणा के हेतुओ का प्रसग प्राप्त हो जाने पर उस प्यास के वश में प्राप्त नही हो जाना पिपासापरीषह का सहना है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि क्षुधा और प्यास परीषह का पृथक् निरूपण करना व्यर्थ है कारण कि दोनो का एक ही अर्थ है। जठराग्नि के कुपित होने पर ही भूँख, प्यास, दोनो लगती हैं। आचार्य कहते हैं यह तो नही कहना। कारण कि भूँख और प्यास दोनो की सामर्थ्य भिन्न भिन्न हैं। ज्वरी पुरुष को भूँख नही लगती है प्यास लगती है। भूख से दूसरी धातुओ की क्षतिया हैं और प्यास से अन्य धातुओ की हानिया हैं। पुनः किसी का आक्षेप है कि मुख द्वारा दुग्धपान आदि कर लेने से भूँख, प्यास, दोनो न्यून हो जाती हैं, यो खाने पीने की प्रवृत्ति का समानपना होनेसे इन दोनो का एक अर्थपना है। न्यारा न्यारा निरूपण नही करना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि अधिकरणो का भेद है। भूँख को दूर करने के रोटी, दाल, भात, लड्डू, आदि न्यारे अधिकरण हैं और प्यास का प्रतीकार करने वाले-जल, ठडाई, इक्षुरस, अनाररस आदि दूसरे ही आलम्बन हैं अतः सयमी को न्यारे न्यारे पुरुषार्थो द्वारा भूँख, प्यास, दोनो को जीतना पडता है।

शीतहेतुसन्निपाते तत्प्रतीकारानभिलाषात् संयमपरिपालन शीतक्षमा। दाहप्रतीकारकांक्षाभावाच्चारित्ररक्षणमुष्णसहन, दंशमशकादीनां सहन। दंशमशकमात्र प्रसग इति चेन्न, उपलक्षणत्वात् मशकशब्दस्य दंशजातीयानामादिशब्दार्थप्रतिपत्तेः।

शीतबाधा के हेतुओ का खूब उपद्रव होने पर उनके विनाशक प्रतीकारो की अभिलाषा नही करने से सयम को सब ओर से पालते रहना तीसरी शीतक्षमा है। तीव्र उष्णता प्रयुक्त दाह के उपस्थित होने पर उसके निराकरण की आकाक्षा का अभाव हो जाने से चारित्र को बाल बाल रक्षित रखना उष्णपरीषहसहन है। डास, मच्छर, वैमते, दुकचोटी, बर्र, ततैया आदि की बाधाओ को समतापूर्वक सहना स्वल्प भी प्रतीकार करने में मन न लगाना दशमशकजय है। यहाँ कोई पल्लवग्राही पण्डित आक्षेप उठाता है कि दशमशक परीपह में डास, मच्छरो का ही ग्रहण होगा। क्योकि ये ही सूत्रकार द्वारा कंठोक्त

किये है ततैया, विच्छू, कानखजूरा आदि का ग्रहण नही हो सकेगा। आचार्य कहते हैं यह तो न कहना। क्योकि दंशमशक का उपलक्षण रूप से कथन किया गया है। डसने वाले डास जाति के सभी जीवो का ग्रहण हो जाता हैं। उपलक्षण से आदि शब्द के अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाती हैं दश, मशक, आदि यह अर्थ निकल पडता हैं।

जातरूपधारणं नाग्न्यसहनं संयमे रतिभावादरतिपरीषहजयः। सर्वेषामरतिकारणत्वात् पृथगरतिग्रहणानर्थक्यमिति चेन्न, क्षुदाद्यभावेपि मोहोदयात्तत्प्रवृत्तेः।

उत्पन्न हुये बच्चे के समान वस्त्र, भूषणरहित निर्गन्थ स्वरूप को निर्द्वन्द्व धारे रहना नाग्न्यपरीषहजय हैं। जो पहिले बडे बडे सुन्दर वस्त्रो को धार चुके है अपने सुन्दर गोप्य अंगो को कपडो से ढके रहने की टेव रख चुके हैं, उनको संयम अवस्था में बडे यत्न से नग्नतापरीषहजय करना पडता हैं। संयम में रतिपरिणाम यानो लगन लग जाने से इन में चित्त नही लगने देने वाले अरति के एकान्तवास, वननिवास आदि कारणो पर विजय प्राप्त करना अरतिपरीषहजय है। यहाँ कोई पण्डितमानी आक्षेप करता हैं कि भूँख, प्यास, आदि सभी परीषहे अरति के कारण हैं। अतः सभी अरति स्वरूप हैं। फिर अरति का पृथक् निरूपण करना व्यर्थ हैं। ग्रन्थकार कहते है यह तो न कहना। कारण कि क्षुधा, तृषा आदि के न होने पर भो अन्तरग में मोह का उदय हो जाने से उप अरति (अरुचि) की प्रवृत्ति हो जाती है। वर्तमान मे अनेक मनुष्यो के कोई भो आकुलता का कारण न होने पर कदाचित् चित्तमें अरतिया उपज जाती है। किसी मे भी मन नही लगता है। योही विनाकारण खेद आकर घेर लेता है। अतः अरतिका पृथक्ग्रहण करना आवश्यक हैं।

वरांगनारूपदर्शनस्पर्शनादिविनिवृत्ति स्त्रीपरीषहजय.। व्रज्यादोषनिग्रहश्चर्याविजय। संकल्पितासनादविचलनं निषद्यातितिक्षा। आगमोदितशयनादप्रच्यवनं शय्यासहन।

यौवनमत्त सुन्दरी स्त्रियो के रूप को देखने और उनका स्पर्श करने, गीत सुनने आदि की विशेषतया निवृत्ति करना स्त्रीपरीषहजय हैं। अधिक गमन करने से उत्पन्न हुये थक जाना, कांटा लग जाना, बिवाई फट जाना, भुक्तपूर्व यान, वाहनो का स्मरण करना आदि दोपों का आत्मीय पुरुषार्थ द्वारा निग्रह करना चर्यापरीषहविजय है। काल की मर्यादा बाध कर संकल्प कर लिये गये आसन (बैठे रहना) से विचलित नही होना निपद्यापरीषह की तितिक्षा यानी क्षमा (सहना) है। आप्तोक्त शास्त्र में कहे गये मुहूर्तमात्र होने वाले शयन से च्युत हो जाने के प्रज्वल हेतु मिलने पर भी निष्क्रिय बने रहना शय्यापरीषहसहन समझ लेना चाहिये।

अनिष्टवचनसहनमाक्रोशपरीषहजयः, मारकेष्वमर्षापोहनभावनं वधमर्ष प्राणात्ययेप्याहारादिषु दीनाभिधाननिवृत्तिर्याचनाविजयः। अलाभेपि लाभवत्सतुष्टस्याल विजयः। नानाव्याधिप्रतीकारानपेक्षत्वं रोगसहनं। तृणादिनिमित्तवेदनाया मनसोऽप्रणि तृणस्पर्शजय। स्वपरांगमलोपचयापचयसंकल्पाभावो मलधारणं। केशक्लेदसहनोपसंख्य मिति चेन्न, मलसहावरोधात्।

तीव्रमिथ्यादृष्टि म्लेच्छ पापी जनो के अनिष्टवचनो को सह लेना आक्रोशप षहजय है। मारनेवाले अधम जीवो में क्रोध करने की निवृत्ति भावते रहना वधम है। प्राणो के वियोग हो जाने का प्रकरण उपस्थित हो जाने पर भी आहार, वसति औषध, आदि में दीनता के वचन बोलने की निवृत्ति रखना याचनाविजय है। भि आदि का लाभ नही होने पर भी लाभ हुये के समान सतोष को प्राप्त हो रहे सयमी अलाभपरीषह विजय होता है। वात, पित्त कफो की प्रकृति को निमित्त पाकर उत्प हुई अनेक शारीरिक व्याधियो के निराकरणार्थ किसी भी औषधि, परिचर्या, आदि अपेक्षा नही रखना रोगसहननाम का परीषहजय है। सूखे तृण, कांटे, ककर, कत्त आदि के व्यथन को निमित्त पाकर हुई शारीरिक दु खवेदना में मन का एकाग्र नही लग रहना तृणस्पर्शपरीषहजय है। अपने शरीर और परकीय शरीर के मलो की वृद्धि हानि में ग्लानिवर्द्धक मानसिक विचार नही करना मलधारण कहा जाता है। यहाँ को शका करता है कि केशो का लोच करने में अथवा उनको नही सस्कार (संभाल) क रखने मे महान् खेद पैदा होता है अत "केशखेदसहन" नामक परीषह भी मलधार परीषह के निकट गिननी चाहिये। सूत्रकार की दृष्टि को वार्तिककार सभा लेते है। महान् पुरुषो की दृष्टि को महान् पुरुष ही समझते हैं उपसख्यान पद का यह तात्पर्य है। आचार्य कहते है कि यह त नही कहना। क्योकि मलधारण परीषह मे इस केशखेदसहन का अन्तर्भाव हो जाता है केश भी एक प्रकार का मल है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय या वैष्णवो के यहा जैसे केशो को य संख, सीप को पवित्र माना है, वैसा दिगम्बरो के यहा इनको शद्ध नही माना गया है, अनेक त्रस जीवो की इन में सतत उत्पत्ति होती रहती है। सूत्रकार महोदय निपुण प्रज्ञावान हैं। उनके ग्रन्थ में कोई त्रुटि नही है।

मानापमानयोस्तुल्यमनसः सत्कारपुरस्कारानभिलाप। प्रज्ञोत्कर्षावलेपनिरासः प्रज्ञाविजय। अज्ञानावमानज्ञानाभिलाषसहनमज्ञानपरीषहजयः।

मान, प्रतिष्ठा, बडाई या आत्मगौरव प्राप्त होने में अथवा अपमान याना तिरस्कार हो जाने में तुल्यमनोवृत्ति को रखने वाले संयमी के सत्कार पुरस्कार की अभिलाषा नही रखना स्वरूप सत्कारपुरस्कारपरीषहजय हैं। किसी श्रेष्ठ पुरुष का पूजा करना, प्रशसा करना सत्कार है प्रतिष्ठित क्रिया और आरम्भ, सभा, आदि मे उसको प्रधान बना कर आगे कर देना अथवा सब के पहले आमन्त्रित करना पुरस्कार हैं। प्रकृष्ट ज्ञान को अधिकता हो जाने पर उत्पन्न हुये मद का निराकरण करते रहना प्रज्ञाविजय है। तुच्छ प्रकृति के जीवो को यौवन, धन, ज्ञानोत्कर्ष, प्रभुता का अवसर उपस्थित हो जाने पर अवश्य मद आ जाता है। महान् पुरुष अपनी गम्भीरता द्वारा उस मद के अवलेप का समूलचूल प्रत्याख्यान कर देते हैं। यह मुनि अज्ञ है, कुछ नही जानता है, इत्यादिक अज्ञता अपमान के आक्षेप वचनो को जो मुनि सह रहा है। प्रयत्न करने पर भी ज्ञानातिशय की नहीं प्राप्ति होते सन्ते ज्ञान की अभिलाषाओ को जो सह रहा है, ज्ञानातिशय के नही उपजने को मन मे नही ला रहा है उसके अज्ञानपरीषहविजय हैं।

प्रवृज्याद्यनर्थकत्वासमाधानमदर्शनसहनं । श्रद्धानालोचनग्रहणमविशेषादिति चेन्न अव्यभिचारदर्शनार्थत्वात् । मनोरथपरिकल्पनामात्रमिति चेन्न, वक्ष्यमाणकारणसामर्थ्यात् । अवध्यादिदर्शनोपसख्यानमिति चेन्न, अवधिज्ञानाद्यभावे तत्सहचरितदर्शनाभावादज्ञानपरीषहावरोधात् । ननु क्षुदादीनां परिसोढव्यत्वसिद्धिः कथमित्याह—

बडे बडे दुःखकर तप मैने किये, पञ्चपरमेष्ठियो की बहुत दिनो तक आराधना भी की, बडे बडे ग्रन्थो का अध्ययन करते हुये बूढा हो गया, फिर भी मुझे स्वात्मोपलब्धि नामक ज्ञान का अतिशय प्राप्त नही हुआ। महान् उपवास आदि को करनेवालो के पचाश्चर्य या प्रातिहार्य होते है, यह व्यर्थ बकवाद हैं, झूठी बात है, दीक्षा लेने का कोई प्रयोजन नही निकला, व्रतो का पालन निष्फल हैं अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन कोरी धूर्त विडम्बना है, जैनधर्म से स्वाधीनता प्राप्त नही हो सकती है, दर्शन, पूजन, ध्यान, कोरे ढोग हैं इत्यादिक रूप से निकृष्ट विचारो में चित्त को नही समाहित करना अदर्शनसहन है। मुनि के निर्मल सम्यग्दर्शन नही होनेपर यह परीषह सताती है जिसका कि मुनि को विजय करना पडता है।

यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि दर्शन शब्द का पारिभाषिक अर्थ श्रद्धान करना है और यौगिक अर्थ आलोचन करना है। चक्षुर्दर्शन आदि मे भी सत्ता का आलोचन होना माना गया है। अतः यहा कोई विशेषता का सूचक न होने से श्रद्धान और आलोचन दोनो का ग्रहण हो जावेगा, तब तो अश्रद्धान के समान अनालोचन परीषहजय भी आवश्यक

पडा। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना। क्योकि व्यभिचार दोषरहित हो रहे श्रद्धानस्वरूप दर्शन का ही ग्रहण किया जाना अदर्शन मे पडे हुये दर्शन का प्रयोजन है मति आदिक पाचो ज्ञानो के साथ व्यभिचाररहित होकर श्रद्धान नाम का दर्शन लग रहा है किन्तु आलोचन नाम का दर्शन तो श्रुतज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान के पूर्व में नही है। ये दोनो ज्ञान मतिज्ञानपूर्वक हैं। अत यहा अव्यभिचारी श्रद्धानका ग्रहण किया जाय, आलोचन का नही। आलोचन का अभाव कोई सहन करने योग्य परीषह नही है। फिर कोई आक्षेप करता है कि आपने श्रद्धान अर्थ का मनमानी पकड लिया है। मनोरथो की केवल चारो ओरसे यह कल्पना है। अत दर्शन का अर्थ श्रद्धान लेना प्रामाणिक नही है। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना। क्योकि भविष्य में कहे जाने वाले कारणो की सामर्थ्य से दर्शन का अर्थ श्रद्धान ही ठीक है। "दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ" इस सूत्र द्वारा अदर्शन परीषह का कारण दर्शनमोहनीय कर्म कहा गया है। तब तो श्रद्धान का अभाव ही अदर्शन हुआ।

पुन कोई अर्धपण्डित अपना पाण्डित्य दिखलाता है कि अज्ञान, अदर्शन परीषहो के समान अवधिदर्शन न होने, केवलदर्शन न होने, परिहारविशुद्धि न होने आदि सहन करने योग्य अवधिदर्शन नही होना आदि परीषहो का भी पृथक् निरूपण करना चाहिये। बाईस के स्थान पर यदि तीस, चालीस, परीषह गिना दी जाय तो छात्रो की व्युत्पत्ति बढेगी। कोई टोटा नही पड जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं, यह तो नही कहना। क्योकि अवधिज्ञान, केवलज्ञान आदि के नही होने पर उनके साथी हो रहे अवधिदर्शन आदि का भी अभाव हो जाता है। अत इन सब का अज्ञानपरीषह में ही घेर कर अंतर्भाव कर दिया जाता है। इस प्रकार सहन करने योग्य बाईस परीषहो के जय से मुनि के महान् संवर होता रहता है।

यहाँ कोई जिज्ञासु पुरुष प्रश्न करता है कि क्षुधादिक परीषहो को सब ओर से सहन करने योग्यपने की सिद्धि किस प्रकार हो जाती है? बताओ। ऐसी दशा में ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक को कह रहे है।

ते च क्षुदादयः प्रोक्ता द्वाविंशतिरसंशयं।
परिषह्यतया तेषां तत्त्वसिद्धिविशुद्धये ॥ १ ॥

इस उक्त सूत्र मे वे क्षुधा आदिक परीषहें (पक्ष) बहुत अच्छी युक्तियो से निःसंशय होकर बाईस कह दी गई हैं (साध्य) कारण कि तत्त्वसिद्धि की विशुद्धि के लिये

वे क्षुधा आदिक परीषहे सहन करने योग्य हैं (हेतु) अर्थात् संवर तत्त्व और आत्मतत्त्व की विशुद्धि के लिये सहन करने योग्य बाईस परीषहो का सूत्रकार ने बहुत बढिया निर्णय कर दिया है।

ते क्षुदादयो हि द्वाविंशतिपरीषहाः परिषोढव्याः प्रोक्ताः सूत्रकारैरसंशयं तेषां विशुद्धयर्थं परिषह्यत्वात् तत एवान्वर्था सज्ञा महती कृता परीषहा इत्युक्तम् ।

वे क्षुधा आदिक बाईस परीषहे निश्चय से सहन करने योग्य है यो सूत्रकार उमास्वामी महाराज करके इस सूत्र और पूर्व सूत्र मे नि.संशय होकर बहुत अच्छा निरूपण किया जा चुका है, जब कि उन क्षुधा आदिको को विशुद्धि के लिये परितः सह्यपना नियत है, तिस ही कारण अपने वाच्यार्थ को घटित कर रही "परीषह" इतनी बडी सज्ञा की गई हैं। यह रहस्य ग्रन्थकार द्वारा खोलकर कहा जा चुका हैं।

अथ कस्मिन् गुणस्थाने कियन्तः सभवन्तीत्याहः—

अब इसके अनन्तर कोई जिज्ञासु विनीत शिष्य उन करुणासागर सूत्रकार महाराज के सन्मुख प्रश्न करता है कि किस किस गुणस्थान मे कितनी कितनी परीषहे सभवती हैं? बताओ। ऐसा विनम्र जिज्ञासु का उपरोध उपस्थित हो जाने पर श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

अत्यन्त सूक्ष्म हो चुके सज्वलन लोभ के उदय को धार रहे सूक्ष्मसांपराय नामक दशमे गुणस्थान मे क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा, और अज्ञान ये चौदह परीषहे सम्भव जाती है। तथा छद्म संसार में ठहर रहे किन्तु सर्वथा रागरहित हो रहे ग्यारहमे और बारहमे गुणस्थान में भी उक्त चौदह परीषहे सम्भव रही हैं, जिनका कि विजय दशमे, ग्यारहमे, बारहवें गुणस्थान वालो को यत्न द्वारा करना पडता है।

चतुर्दशवचनादन्यस्याभावः। सूक्ष्मसाम्पराये *नियमानुपपत्तिर्मोहोदयादिति चेन्न, सन्मात्रत्वात् तत्र तस्य। अत एव परीषहाभाव इति चेन्न, बाधाविशेषोपरमे तद्भावस्याविरध्यासितत्वात् सर्वार्थसिद्धस्य सप्तमनरकपर्यन्तगमनसामर्थ्यवत् ।

इस सूत्र में चौदह ऐसी विशेष सख्या का निरूपण कर देने से इनके अतिरिक्त अन्य आठ परीषहो का अभाव समझा जाता है। यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि ग्यारहवें गुणस्थान में सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का उपशम हो जाने से और बारहवे में मोहनीय का क्षय हो जाने से भले ही मोहनीय को उदय मान कर हो जानेवाली नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कारपुरस्कार, अदर्शन ये आठ परीषहे नही होय, किन्तु सूक्ष्म-सांपराय नाम के दशमे गुणस्थान में सूक्ष्मलोभ नामक मोह का उदय बना रहने से क्षुधा आदि चौदह ही परीषहो का नियम नही बन सकता है। ग्रन्थकार कहते है यह तो नही कहना। क्योकि वहा दशमे गुणस्थान मे उस लोभसंज्वलन की केवल सत्ता है। कोई कार्य-कारी नही है। अत दशमा गुणस्थान भी ग्यारहवे, बारहवें गुणस्थानो के समान ही हैं।

पुनः किसी का आक्षेप है कि इस ही कारण से यानी दशमे मे मोहका मन्द उदय होने से और ग्यारहमे, बारहवे, में मन्द उदय का भी अभाव हो जाने से क्षुधा आदिक चौदह परीषहो का भी अभाव हो जावेगा। मोहनीय का बल नही पाकर वेदनीय कर्म भी कोरा सत्ता मात्र है, कुछ फल नही दे सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना। क्योकि दशमे, ग्यारहमे, बारहवें गुणस्थानों में क्षुधा आदि की विशेष बाधाओ का विराम होने पर भी उन बाधाओ का सद्भाव शक्तिरूप से प्रकट होकर आक्रमण कर रहा है जैसे कि सर्वार्थसिद्धि विमान में निवास कर रहे एक भवतारी अहमिन्द्र भले ही सातमी माघवीनरक पृथ्वी में गमन नही करते हैं, किन्तु सातमे नरकतक गमन करने की उनकी सामर्थ्य है, कार्यरूप मे वहा नही जाने से कोई उनकी सामर्थ्य नष्ट नही हो जाती है। इसी प्रकार उक्त तीन गुणस्थानो मे ज्ञानावरण, अन्तराय और असातावेदनीय कर्मो का उदय विद्यमान हैं। अतः परीषहो का नाममात्र कथन करना युक्तिसगत है। आत्मीय शुद्धावस्था में संलग्न बने रहने के कारण प्राय परीषहो का वेदन नही होने पाता है।

कथं पुनः सूक्ष्मसांपराये गुणे तद्वति वा छद्मस्थवीतरागे चानुत्पन्नकेवलज्ञाने क्षीणोपशान्तमोहे चतुर्दशैव परीषहाः क्षुदादय इति प्रतिपादयन्नाह —

यहा कोई पुन' तर्क उठाता है कि सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान में अथवा उस दशमे गुणस्थान वाले मुनि मे तथा जिनको केवलज्ञान तो उत्पन्न नही हुआ किन्तु मोहनीय कर्म क्षय और उपशान्ति को प्राप्त हो चुका है ऐसे छद्मस्थ वीतराग नामक बारहमे, ग्यारहमे गुणस्थानवर्ती मुनि मे भला क्षुधा आदिक चौदह ही परीषहे किस प्रकार युक्तिघटित

हो रही है ? बताओ। इस तर्क के समाधान की प्रतिपत्ति को कराते हुये ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिको को स्पष्ट रीत्या कह रहे हैं।

स्युः सूक्ष्मसांपराये च चतुर्दशपरीषहाः।
छद्मस्थवीतरागे च ततोऽन्येषामसंभवात् ॥ १ ॥
छद्मस्थवीतरागे हि मोहाभावान्न तत्कृताः।
अष्टौ परीषहाः संति तथातोन्ये चतुर्दश ॥ २ ॥
ते सूक्ष्मसांपरायेपि तस्याकिंचित्करत्वतः।
सतोपि मोहनीयस्य सूक्ष्मस्येति प्रतीयते ॥ ३ ॥
वेदनीयनिमित्तास्ते मा भूवंस्तत एव चेत्।
व्यक्तिरूपा न सन्त्येव शक्तिरूपेण तत्र ते ॥ ४ ॥
मोहनीयसहायस्य वेदनीयस्य तत्फलं।
केवलस्यापि तद्भावेतिप्रसंगो हि दुस्त्यजः ॥ ५ ॥

उक्त सूत्र अनुसार सूक्ष्मसापराय नामक दशमे गुणस्थान मे और वीतराग-छद्मस्थ नामक ग्यारहमे, बारहवे गुणस्थानो मे क्षुधा, पिपासा, आदिक चौदह परीषहे ही होगी। उन चौदहो से अन्य नग्नता आदिक आठ परीषहो का असभव हो जाने से चौदह का ही नियम है। छद्मस्थ वीतराग गुणस्थानो में मोह का उदय नही होने से उस मोहोदय करके की गई आठ परीषहे नही हैं।

यहाँ कोई पूर्वोक्त शका को ही उठाता है कि जिस प्रकार सूक्ष्म सापराय मे सूक्ष्म मोहनीय के उदय का सद्भाव होने पर भी उस मोह के अकिंचित्कर हो जाने के कारण नग्नता आदि आठ परीषहे जैसे नही प्रतीत हो रही हैं उस ही प्रकार उनसे न्यारी वेदनीय को निमित्त पाकर होनेवाली वे क्षुधा आदि चौदह परीषहे भी तिस ही कारण यानी मोहनीय का बलाधान नही होने से नही होओ ? ऐसा कटाक्ष प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधान करते है कि भले ही व्यक्तिरूप से यानी प्रकट मे वे चौदह परीषहे नही हैं तथापि उन तीन गुणस्थानो में वे चौदह परीषहे कर्मप्रयुक्त शक्ति-रूप करके विद्यमान ही हैं, मोहनीय कर्म की सहायता को प्राप्त हो रहे वेदनीय कर्म का

जो फल होता है वह केवल असहाय रह गये वेदनीय का भी फल नही है। यदि वेदनीय के सद्भाव मात्र से उस फल का होना माना जायगा तो अतिप्रसग दोप कठिनता से त्यागने योग्य लग बैठेगा। निर्विकल्पक शुद्धोपयोग अवस्था मे भी अनेक प्रकार की बाधाओ के अनुभव होने लगेंगे, आठवे, नौमे, गुणस्थानो में स्त्रीवेद, पुंवेद, व नपुसकवेद का उदय अपने लटके दिखलावेगा। भय कर्म का उदय भी मुनि को भीत कर देगा, क्षपक श्रेणी में शीत, उष्ण वेदनाये खूब सतायेंगी। ऐसी दशा मे क्षपक श्रेणी कैसे टिक सकती है ? अतः सूत्रोक्त रहस्य ही पुष्ट समझा जाय।

न हि सार्द्रेंधनादिसहायस्याग्नेर्धूमः कार्यमिति केवलस्यापि स्यात् तथा मोहसहायस्य वेदनीयस्य यत्फलं क्षुधादि तदेकाकिनोपि न युज्यते एव तस्य सर्वदा मोहानपेक्षत्वप्रसंगात्। तथा च समाध्यवस्थायामपि कस्यचिदुद्भूतिप्रसंग। तस्मान्न क्षुदादयः सूक्ष्मसांपराये व्यक्तिरूपा सन्ति मोहादिसहायासंभवात् छद्मस्थवीतरागवदिति,शक्तिरूपा एव ते तत्रावगतव्याः।

गीला ईंधन, वायु आदि से सहायता प्राप्त हो रहे अग्निका कार्य धूम हैं। एतावता वह धूम क्या अगार, तप्त अयोगोलक आदि अवस्था की केवल अग्नि का भी कार्य हो जायगा ? कभी नहो। तिसी प्रकार मोहनीय कर्म को सहायक पा रहे वेदनीय कर्म का जो फल भूंख, प्यास, लगना आदि है वह फल केवल एकाकी रह गये वेदनीय का भी कहना युक्तिपूर्ण नही है। यदि अकेला वेदनीय भी कार्यकारी बन बैठे तो उसको सदा मोहनीय की अपेक्षा रखने के अभाव का प्रसग हो जायगा और तैसा अनर्थ हो जाने से समाधि अवस्था में भी किसो एक भूख, प्यास आदि की कटु वेदना फल के प्रकट हो जाने का प्रसग बन बैठेगा जो कि किसी भी श्वेताम्बर या वैष्णव आदि के यहा अभीष्ट नही किया गया है।

तिस कारणसे सिद्ध हो जाता है कि सूक्ष्मसापरायमे (पक्ष) क्षुधा आदिक परीपहें व्यक्तिरूप प्रकट नही हैं (साध्यदल) मोहनीय, ज्ञानावरण, अंतराय आदि की सहायता का असभव हो जाने से (हेतु) छद्मस्थवीतराग के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार वे परीषहे शक्तिरूप ही वहा उक्त तीन गुणस्थानो मे समझ लेनी चाहिये।

अथ भगवति केवलिनि कियन्त परीषहा इत्याहः—

अब कोई जिज्ञासु पूंछता है कि शरीरधारी आत्मा मे आप शक्तिरूप से या व्यक्तिरूप से परीषहो का सद्भाव स्वीकार करते हैं तो तेरहवें, चौदहवें, गुणस्थानवर्ती केवलज्ञानी महाराज में कितनी परीषहे सम्भवती है ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा उपस्थित होने पर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे है।

एकादश जिने ॥ ११ ॥

केवलज्ञानी जिनेन्द्र भगवान् में वेदनीय कर्म का सद्भाव होने के कारण क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण, डास मच्छर, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल ये ग्यारह परीषहे हो जाना सभवता हैं। अथवा इस सूत्र का दूसरा अर्थ यो है कि "एकेन अधिका न दश" एक से अधिक दश यानी ग्यारह परीषहे भगवान् के नही हैं। एकादश शब्द के पेट में से न का अर्थ निषेध काढ लिया है।

तत्र केचित् संन्तीति व्याचक्षते, परे तु न सन्तीति। तदुभयव्याख्यानाविरोधमुपदर्शयन्नाह.—

केवली भगवान् में परीषहो के विचार का वह प्रकरण उपस्थित होने पर इस सूत्र का अर्थ कोई विद्वान् यो बखानते हैं कि केवलज्ञानी में ग्यारह परीषहे हैं, इस व्याख्यान से श्वेताम्बर लोग प्रसन्न होते हैं। अन्य विद्वान् तो जिनेन्द्र में ग्यारह परीषहे नही हैं ऐसा सूत्रार्थ करते है। अब ग्रन्थकार महाराज उन दोनो ही व्याख्यानो के विरोधरहितपन को युक्तिपूर्वक दिखलाते हुये इस अगली वार्तिक को कह रहे हैं।

एकादश जिने सन्ति शक्तितस्ते परीषहाः।
व्यक्तितो नेति सामर्थ्यात् व्याख्यानद्वयमिष्यते ॥ १ ॥

जिनेन्द्र भगवान् मे वे क्षुधादि ग्यारह परीषहे शक्तिरूप से है, व्यक्तिरूप से प्रकट नही है। इस प्रकार अर्थ सम्बधी और शब्दसबन्धी न्याय की सामर्थ्य से दोनो ही व्याख्यान अभीष्ट किये गये है। अर्थात् श्वेताम्बरो के यहा माने गये केवली के कवलाहारग्रहण करनेका "प्रमेयकमलमार्तण्ड" में बहुत बढिया निराकरण कर दिया गया है जैसे कि—

णट्ठपमाये पढमा सण्णा ण हि तत्थ कारणाभात्रा।
सेसा कम्मत्थित्ते उवयारे णत्थि णहि कज्जे ॥

सातमे, आठवें, नौमे गुणस्थानो में कार्यरूप आहार, भय, मथुन, परिग्रह, संज्ञाये नही है। क्योकि अन्तरंग कारण मानी गयी असाता की उदीरणा का अभाव है। साता, असाता की उदीरणा, छठे गुणस्थान तक ही हो जाती है। अत कर्मो का मात्र अस्तित्व रहने से तीन संज्ञाओ का व्यवहारमात्र हैं। आहारसंज्ञा तो कथमपि नही हैं। उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के कोई भी परीषह व्यक्तिरूप से नही पाई जाती है।

वेदनीयोदयभावात् क्षुदादिप्रसंग इति चेन्न, घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् । तत्सद्भावोपचाराद्ध्यानकल्पनवच्छक्तित एव केवलिन्येकादशपरीषहाः सन्ति न पुनर्व्यक्तितः, केवलाद्वेदनीयाद्युक्तक्षुदाद्यसंभवादित्युपचारतस्ते तत्र परिज्ञातव्या । कुतस्ते तत्रोपचर्यंत इत्याह—

यहाँ कोई प्रश्न उठा रहा है कि जिनेन्द्र भगवान् मे वेदनीय कर्म के उदय का सद्भाव हो जाने से क्षुधा, पिपासा, आदि परीषहो द्वारा सताये जाने का प्रसग आवेगा कर्मों का उदय अपना कार्य करेगा ही। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि परीषहो द्वारा सताये जाने में घातिकर्मो का उदय सहायक है। माया, लोभ, रति, अन्तराय, आदि घातिकर्मों के उदय की सहायता का अभाव हो जाने से उस वेदनीय कर्म की भूँख, प्यास, आदि द्वारा सताने की शक्ति का वियोग हो गया हैं। अतः केवली भगवान् के क्षुधा आदि परीषहो का प्रसंग नही आता है।

अथवा एक बात यह भी है कि उस पौद्गलिक वेदनीय द्रव्यकर्म का सद्भाव होने से जिनेन्द्र में ग्यारह परीषहो का केवल उपचार है। अतः सूत्र में "उपचारात्" पद जोड कर अर्थ कर लिया जाय। जैसे कि परिपूर्ण क्षायिक ज्ञानवाले केवलज्ञानी के ध्यान की कल्पना कर ली जाती है। भावार्थ-एक अर्थ में मनोयोग लगा कर प्रवर्त रही अनेक अपूर्वार्थग्राहिणी ज्ञानधारा को ध्यान कहते हैं। जिनेन्द्र को जब सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान है तो उनके ध्यान हो जाना कथमपि नही सम्भवता है, अत ध्यानका उपचारमात्र है। उसी प्रकार शक्ति से ही केवलज्ञानी महोदय में ग्यारह परीषहे हैं किन्तु फिर व्यक्तिरूप से एक भी सहन करने योग्य परीषह नही है। सहायरहित केवल वेदनीय कर्म से व्यक्त क्षुधा आदि परीषह हो जाने का असम्भव है। इस कारण उपचार से वे ग्यारह परीषहे उन जिनेन्द्र में युक्तिपूर्वक समझ लेनी चाहिये।

यदि यहा कोई यो प्रश्न करे कि किस युक्ति से उन परीषहो का उस भगवान् में उपचार किया गया है, यो सूत्रार्थ जान लिया जाय ? ऐसी निर्णय की इच्छा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इन अगली वार्तिको को कह रहे हैं।

लेश्यैकदेशयोगस्य सद्भावादुपचर्यते ।
यथा लेश्या जिने तद्वद्वेदनीयस्य तत्वतः ॥ २ ॥

घातिहत्युपचर्यन्ते सत्तामात्रात्परीषहाः ।
छद्मस्थवीतरागस्य यथेति परिनिश्चितं ॥३॥
न क्षुदादेरभिव्यक्तिस्तत्र तद्धेतुभावतः ।
योगशून्ये जिने यद्वदन्यथातिप्रसंगतः ॥४॥

"कषायोदयानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या" कषाय के उदय से अनुरञ्जित हो रही योगो की प्रवृत्ति लेश्या हैं। केवली भगवान् के कषायें नही है, यो लेश्या का एकदेश हो रहे मात्र योग का सद्भाव हो जाने से जैसे जिनेन्द्र भगवान् में लेश्या का उपचार हैं उसी के समान घातियो का संहार कर चुके भगवान् मे वेदनीय कर्म की वस्तुतः सत्ता होने से परीषहो का उपचार किया गया है। भूँख, प्यास आदि लगने में मोह की आवश्यकता है। पिपासा शब्द मे तो "पातुमिच्छा" यो इच्छा कण्ठोक्त प्रविष्ट हो रही हैं। ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानो में मोह का उदय सर्वथा नही है। अतः जिस प्रकार छद्मस्थ वीतराग मुनि के भूँख, प्यास, आदि की अभिव्यक्ति, वहा उसके हेतु वेदनीय के सद्भावमात्र से नही होने पाती हैं अथवा जैसे चौंदहमें गुणस्थानवर्ती योगरहित अयोग जिनेन्द्र में वेदनीय का केवल सद्भाव हो जाने से कोई भूँख, प्यास, नही लगती हैं, उसी प्रकार तेरहवें गुणस्थान मे भी कोई परीषह नही सताती हैं अन्यथा अतिप्रसंग हो जावेगा। अर्थात्—जिनेन्द्र के लग रही पिचासी प्रकृतियो मे देवगति, दुर्भग, अयशस्कीर्ति, अपर्याप्त, दुःस्वर, नीच गोत्र आदि प्रकृतिया भी स्वकीय फल को कर बैठेंगी, जो कि इष्ट नही है। इस तरह सिद्धान्त का हम पूर्ण रूप से निश्चय कर चुके है कि अनन्त सुखी भगवान् के व्यक्तिरूप से परीषहें नही है। और न उनके द्वारा उत्पन्न दुःख की ही वहां संभावना है।

नैकं हेतुः क्षुदादीनां व्यक्तौ चेदं प्रतीयते ।
तस्य (तेषां) मोहोदयाद्व्यक्तेरसद्वेद्योदयेपि च ॥५॥
क्षामोदरत्वसंपत्तौ मोहापाये न सेद्यते ।
सत्याहाराभिलापेपि नासद्वेद्योदयाहते ॥६॥
न भोजनोपयोगस्यासत्वेनाप्यनुदीरणा ।
असातावेदनीयस्य न चाहारेक्षणाद्विना ॥७॥

चद्दित्यशेषसामग्रीजन्याभिव्यज्यते कथं ।
तद्वैकल्ये सयोगस्य पिपासादेरयोगतः ॥८॥

भूख, प्यास, आदि बाधाओ के प्रकट होने मे केवल यह एक वेदनीय का उदय ही कारण नही प्रतीत हो रहा है। किन्तु असातवेदनीय का उदय होने पर भी मोह का उदय हो जाने से उन क्षुदा आदि की प्रकटता होती है। भूंख की पीडा से पेट के पतलापन या खाली हो जाने की प्राप्ति हो जाने पर भूंख, प्यास, लगती हैं, किन्तु तेरहवें गुणस्थानमें मोह का क्षय हो जाने पर वह रिक्तोदरपने की प्राप्ति नही देखो जाती है। एक बात यह है कि भोज्य पदार्थ के आहार करने की अभिलाषा हो जाने पर भूख लगती हैं। आहार की अभिलाषा होने पर भी असातवेदनीय के उदय विना क्षुदा नही लगती है। किन्तु भगवान् के मोह का अभाव हो जाने से आहार की अभिलाषा (इच्छा) भी नही है।

दूसरी बात यह हैं कि सामने धरे हुये भोजन का उपयोग प्रारम्भ कर देने से भूंख के अतरंग कारण क्षुधावेदनीय की उदीरणा हो जाती हैं, जो कि छठे गुणस्थान तक सम्भवती हैं। भोजनके उपयोग का असद्भाव हो जाने पर असातावेदनीय कर्मको अनुदीरणा भी न होय यह भी ठीक नही है अर्थात् भगवान् के असातवेदनीय कर्म की उदीरणा नहीं हैं। आहार के देखने से भी असातावेदनीय कर्म की उदीरणा द्वारा भूंख लगती है। आहार को देखे विना असातवेदनीय की उदीरणा नहीं है यो पूर्वोक्त सपूर्ण सामग्री से भूंख उपजती है। उस मोहोदय, असद्वेद्यउदय, भूख के मारे पेट का पीठ में घुस जाना, आहार की अभिलाषा, भोजन का उपयोग, आहार का लोलुपतापूर्ण देखना यो सामग्री की विकलता हो जाने पर योगसहित केवलज्ञानी के किस प्रकार भूंख लगने की बाधा प्रकट हो सकती है? अर्थात् नही। इसी प्रकार सयोगकेवली के पिपासा, दशमशक, आदि परीषहे भी युक्ति से घटित नही होती हैं। भावार्थ—सामग्री नही मिलने से भगवान् के कोई भी परीषह युक्त नही है। क्षुधा के विषय में गोम्मटसार की गाथा यो है—

आहारदसणेण य तस्सुवजोगेण ओमकोठाये,
सादिदरुदीरणाये हवदि हु आहारसण्णा हु।

आहार के देखने से, आहार खाना प्रारम्भ कर देने से, पेट खाली होने से और अंतरंग में असातवेदनीय की उदीरणा से आहारसज्ञा उपजती है।

क्षुदादिवेदनोद्भूतौ नार्हतोऽनतशर्मता ।
निराहारस्य चाशक्तौ स्थातुं नानंतशक्तिता ॥९॥
नित्योपयुक्तबोधस्य न च संज्ञास्ति भोजने ।
पाने चेति क्षुदादीनां नाभिव्यक्तिर्जिनाधिपे ॥१०॥

यह बात भी विचारणीय है कि अर्हन्तपरमेष्ठी के क्षुधा आदि वेदनाओ के प्रकट हो जाने पर अनन्तसुखीपना नही रक्षित रह सकता हैं। बिचारे भूंखे, प्यासे को सुख कहा, धरा है ? तथा भूंखे भगवान् को आहार नही मिलने पर चलने, फिरने, बैठे रहने की शक्ति नही रहेगी। बैठे रहने की सामर्थ्य नही रहने पर केवली के अनन्तशक्तिपना नही बन सकता है, जैसे कि हम लोग भूंखे रहने की दशा मे न सुखी हैं और बलशाली भी नही हैं। अनन्तसुख और अनन्तबल के ठहरे रहने की तो फिर बात ही क्या है ?। जब भगवान सर्वदा केवलज्ञान उपयोग में उपयुक्त बने रहते है ऐसे भगवान् को खाने, पीने, में संज्ञा (मतिज्ञान) ही नही बन पाती है, इस कारण जिनेन्द्र अधिपति मे क्षुधा आदिक परीषह की अभिव्यक्ति नही है, शक्ति भले ही कह लो, यो तो धर्मात्मा सज्जन पुरुषों में भी हिंसा करने, कुशील सेवने, मासभक्षण की शक्तिया विद्यमान है। प्रचण्ड मनुष्य भी क्षमा ब्रह्मचर्य को धारण कर सकते है, ऐसी मात्र शक्ति का कानी कौडी भी मूल्य नही उठता है।

अथ बादरसांपराये कियन्तः परीषहा इत्याह—

अब सूत्रकार महाराज के सन्मुख किसी विनयशील शिष्य का प्रश्न है कि सूक्ष्मसांपराय आदि गुणस्थानो में आपने कतिपय परीषहे बताई, किन्तु सम्पूर्ण परीषहे भला कहा सम्भवती है ? स्थूलकषायवाले छठे आदि गुणस्थानो में भला कितनी परीषहे है ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रकट करनेपर सूत्रकारमहाराज इस अगिले सूत्र को कह रहे है।

बादरसांपराये सर्वे ॥१२॥

स्थूल कषाय को धारनेवाले छठे, सातवें, आठवें, नौमे, गुणस्थानवाले मुनियो के सभी बाईसो परीषहे सम्भव जाती है।

बादरसांपरायग्रहणात् प्रमत्तादिनिर्देशः निमित्तविशेषस्याक्षीणत्वात् सर्वेषु सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसंयमेषु सर्वसंभवः। केन रूपेण ते तत्र सन्तीत्याह—

वादर सांपराय शब्द के ग्रहणसे प्रमत्त आदि चार गुण स्थानोका यहा स्वरूप कथन किया गया है। वादर गुणस्थान पदसे नोवां गुणस्थान ही नही पकडा जाय, किन्तु सयमीके जिन गुणस्थानोमें मोटी कषाय है यो अर्थकर छठे, सातवे, आठवे नौमें गुणस्थान-वर्ती साधुओका ग्रहण हैं परीषहोके विशेष रूपसे निमित्तकारण ज्ञानावरण आदिक हे छठे से नौवें गुणस्थानतक उन असाधारण निमित्तोका प्रक्षय नही होने के कारण सभी सामायिक, छेदोपस्थाना, और परिहारविशुद्धि सयमके धारी यतियोमे सम्पूर्ण वाईसो परीष हो जाने की सम्भावना हैं, सामायिक और छेदोपस्थापना सयम छठे, सातवे, आठवे, नौमे, इन चारो गुणस्थानोमे पाया जाता है, परिहारविशुद्धि संयम तो छठे और सातवें दो ही गुणस्थानो में मिल सकता है।

यहा कोई जिज्ञासु पूछता है कि किस रूपसे यानी व्यक्ति रूपसे या शक्ति रूपसे वे सभी परीषहें उन चार गुणस्थानोमे विद्यमान है ? बताओ। ऐसी ज्ञातु इच्छा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिकको कहता (कहते) है।

बादरः सांपरायोस्ति येषां सर्वे परीषहाः।
सन्ति तेषां निमित्तस्य साकल्याद्व्यक्तिरूपतः ॥१॥

जिनके स्थूल कषाय है उन मुनियोके सभी परीष हे व्यक्ति (प्रकट) रूपसे हो सकतो है (प्रतिज्ञावाक्य) क्योकि ज्ञानाधरण, अन्तराय आदि निमित्त कारणोकी सकलता (पूर्णसामग्री) व्यक्तिरूपेण विद्यमान है (हेतुदल) ॥

अथ कस्मिन्निमित्ते कः परीषहः ?।

यहा कोई प्रश्न उठाता है कि किस किस पौद्गलिक कर्मप्रकृति के निमित्त कारण पाजानेपर कौन कौन सी परीषहका हो जाना बन बैठता हैं ? बताओ। इसके उत्तर में श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को बोलते हैं।

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥१३॥

ज्ञानावरण कर्म का उदय होने पर प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीपहे सभव जाती हैं।

ज्ञानावरणे अज्ञान न प्रज्ञेति चेन्न, ज्ञानावरण सद्भावे तद्भावात्। मोहादिति चेन्न, तद्भेदाना परिगणितत्वात्। सावलेपाया प्रज्ञाया अपि ज्ञानावरण निमित्तत्वोपपत्तेः मिथ्याज्ञानवत्। एतदेवाह—

यहाँ कोई आक्षेप करता है कि ज्ञानावरण का उदय होजाने पर अज्ञान परीषहका हो जाना समुचित, है, किन्तु प्रज्ञा तो ज्ञानस्वरूप हैं, ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे

प्रज्ञानामका मनोज्ञाकार्य सम्पन्न होगा ज्ञानावरणका उदय पाकर प्रज्ञा नहीं हो सकती है। आचार्य कहते है यह तो नही समझ बैठना क्योकि ज्ञानावरणके उदयका सद्भाव होने पर मद को उत्पन्न करनेवाली वह प्रज्ञा उपजती है जिनके ज्ञानावरणका विशुद्ध क्षयोपशम है उनका निरहकार ज्ञान है। ज्ञानावरणका उदय होने पर ही स्वल्प ज्ञान मे अभिमान उपज बैठता हैं, खाली घड़ा अधिक छलकता है, एक नीतिज्ञ ने कहा है कि--

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम् ।
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तमम मनः।
यदा किंचित्किंचिद्बुधजनसकाशादवगत,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः।

भावार्थ— थोडी सम्पत्ति के समान स्वल्प या सदोष ज्ञानसे गर्व (ऐंठ) उपजता है किन्तु परिपूर्ण धनी के समान वहु ज्ञानी के स्तोक भी मद नही पैदा होता है, अतः वह ज्ञान की ही कमी समझी जायगी, जो कि मदसंसक्त प्रज्ञाको पैदा करेगी।

यहाँ कोई अपना मन्तव्य यो प्रकट करता है कि मद उपजना तो मोहसे होता है मानकषायके उदयसे " मै बडा भारी प्रज्ञाशाली पण्डित हू " ऐसा गर्व कर बैठता है, अतः प्रज्ञाको मोहके उदयसे मानना चाहिये, ज्ञानावरणके उदयसे नही। आचार्य कहते हैं यह तो न कहना, क्योकि दर्शन और चारित्र के विघातक रूपसे उस मोहनीय कर्म के भेदों को आगमानुकूल गिनाया जा चुका है, उनमे प्रज्ञापरीषहका अन्तर्भाव नही हो सकता है, मोहनीयकेक्षयोपशम को धारण कर रहे चारित्रवान मुनि के भी प्रज्ञा परीषहका सद्भाव है, इस कारण मदके अवलेपसे सहित होरही प्रज्ञाका भी निमित्त कारण ज्ञानावरण कर्म ही वन सकता है. जैसे कि मिथ्याज्ञान परीषहका निमित्तकारण ज्ञानावरण कर्म हैं, इस ही सिद्धांत को परार्थानुमान प्रमाण द्वारा ग्रन्थकार अगली वार्तिक मे कह रहे हैं।

ज्ञानावरणनिष्पाद्ये प्रज्ञाज्ञाने परीषहौ।
प्रज्ञावलेपनिवृत्ते ज्ञानावरणतोन्यतः ॥१॥

प्रज्ञा और अज्ञान परीषहे (पक्ष) ज्ञानावरण कर्म करके उपजाई जाती है (साध्य) क्योकि ज्ञानावरण के अतिरिक्त अन्य किसी भी निमित्तसे प्रज्ञाप्रयुक्त मद हो जानेकी निवृत्ति है (हेतु)। अर्थात् ज्ञानावरणसे ही प्रज्ञासम्बधी मद हो जाना वन बैठता हैं। अथवा " निवृत्तेः " पाठ अच्छा है, अज्ञान यानी ज्ञानाभाव (नञ्का अर्थ प्रसज्य) के

उत्पादक ज्ञानावरणसे वह भिन्न प्रकारका ही ज्ञानावरण है जो कि साभिमान प्रज्ञा को बनाता है, ज्ञानावरण क्षयोपशम के साथ उसी विलक्षण ज्ञानावरण का उदय सम्मिलित हो रहा है।

अन्यद्धि ज्ञानावरणं प्रज्ञावलेपनिमित्तमज्ञाननिमित्तात् ज्ञानावरणात्। न चैव ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतिसंख्याक्षतिस्तस्य मतिज्ञानावरणमात्रोपरोधात्।

अज्ञान परीषह के निमित्त कारण होरहे ज्ञानावरण से यह ज्ञानावरणकी प्रकृति निश्चयत न्यारा ही है जोकि प्रज्ञा मे मद के अवलेप कर देने का निमित्त हो रहा है। यदि यहा कोई यह खटका रक्खे कि इस प्रकार भिन्न जातिका ज्ञानावरण माननेपर तो ज्ञानावरण कर्म के उत्तरप्रकृति भेदो की नियत हो रही पांच संख्याका बिगाड़ हो जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह शल्य तो नही रखना, क्योंकि उस जात्यन्तर ज्ञानावरण के सामान्य मतिज्ञानावरणमे अन्तर्भाव कर दिया जाता हैं अर्थात् जैसे आर्य और म्लेच्छ मनुष्यो से न्यारे पतित व्रात्य, (संस्कारवर्जित) मनुष्य मानने पड़ते है "निर्विशेष हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्" यह मन्तव्य भी रक्षित हो जाता हैं। जबकि सामान्य का विशेष एक सामान्य भी हैं, ज्ञानचेतना कर्मचेतना, और कर्मफलचेतना इन तीन चेतनाओसे एक न्यारी भी सामान्यचेतना है।

पाच प्रमाणो से न्यारा नयात्मक ज्ञान भी समीचीन ज्ञान विशेषो में नही गिनाये गये कतिपय विशेषो को सामान्य मे ही गर्भित करदिया जाता हैं। सख्याते शब्द द्वारा विचारे असख्याते, अनन्ते, कितने भेद गिनाये जा सकते है ? घोड़ो के कितने ही भेद करो, फिर भी टट्टुआ, लंगडा, काना कोई न कोई घोडा छूट ही जायगा, जोकि विशेषोमे गणना अशक्य होने के कारण सामान्य घोडो में गिना दिया जाता हैं। जीव के ससारी और मुक्त भेदो से न्यारे चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती मुनि हैं। अतः उस ज्ञानावरणका भी ज्ञानावरण सामान्य मे गर्भित कर लेना चाहिये। मिथ्या, असयम, और समीचीन संयमसे चौथे गुणस्थान का असयम न्यारा है। दूसरे गुणस्थान में सम्यक्त्व और मिथ्यात्वसे न्यारा परिणाम है, पञ्च-परमेष्ठियोसे अन्तकृत् केवली और सामान्यकेवली अतिरिक्त हैं, अत छूट गये विशेप सब सामान्य के पेटमे डाल दिये जाते है।

अब दर्शन और अलाभपरीपह के अन्तरंग कारण का निरूपण करने के लिये सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

दर्शनमोहान्तराययोर्दर्शनालाभौ ॥१४॥

दर्शन मोहनीय कर्मके उदय अनुसार अदर्शन परीषह होती हैं और लाभान्तराय कर्म का उदय हो जानेपर अलाभ परीषह सभवती है।

किं पुनरदर्शनमत्रेत्याह—

सूत्र में कहा गया अदर्शन फिर यहां क्या है? क्या ज्ञानसे पहिले होनेवाले महासत्ता का आलोचनस्वरूप दर्शन का अभाव है? अथवा क्या तत्त्वार्थश्रद्धानस्वरूप सम्यग्दर्शन का अभाव अदर्शन समझा जाय? बताओ! ऐसी जिज्ञासा उत्थित होने पर ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिक को कह रहे हैं।

अदर्शनमिहार्थानामश्रद्धानं हि तद्भवेत्।
सति दर्शनमोहेऽस्य न ज्ञानात् प्रागदर्शनं ॥१॥

यहा सूत्रमें वह अदर्शन तो तत्त्वोका अश्रद्धान स्वरूप ही हो सकेगा। कारण कि दर्शन मोहनीयका उदय होते सन्ते इस अश्रद्धान स्वरूप अदर्शनका ही संभव जाना सुघटित हं। ज्ञान से पूर्व में होनेवाले दर्शन का अभाव यहा अदर्शन नही लिया जावेगा। यदि ऐसा होता तो सूत्र मे कारण कहते समय दर्शनावरण कहा गया होता।

विशिष्टकारणनिर्देशादवध्यादिदर्शनसंदेहाभावः। अन्तराय इति सामान्य निर्देशेपि सामर्थ्याद्विशेषसप्रत्ययः। कः पुनरसौ विशेष इत्याह—

यहाँ दर्शन मोहनीय इस विशिष्ट कारण का कण्ठोक्त निर्देश है, इस कारण अवधि दर्शन, चक्षुर्दर्शन, आदि का सन्देह नही होने पाता है। अर्थात् यदि अवधिदर्शन या अचक्षुर्दर्शन का अभाव अभीष्ट होता तो कारणकोटि में दर्शनावरण का उदय कहा जाता, सूत्र मे जब कि दर्शनमोहको कारण बताया गया है तो उसका कार्य तत्त्वार्थों का अश्रद्धान नामक अदर्शन ही पकडा जा सकता है। इस सूत्र मे यद्यपि अन्तराय इस प्रकार सामान्य रूपसे कारण का निर्देश किया गया है। तथापि भविष्य मे होने योग्य कार्यकी सामर्थ्यसे सामान्यकर्म अन्तराय के विशेष हो रहे लाभान्तरायकी अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा समीचीन प्रतीति हो जाती हैं। जिस विशेष की प्रतीति हो जाती है वह विशेष फिर क्या है? ऐसी जिज्ञासा उपजनेपर ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिक को कह रहे हैं।

अन्तरायोत्र लाभस्य तद्योग्योर्थाद्विशेषतः।
कारणस्य विशेषाद्धि विशेषः कार्यगः स्थितः ॥२॥

यहाँ सूत्र मे पढा गया अन्तराय तो अर्थ तात्पर्य की सामर्थ्य अनुसार उस अलाभपरीषहके योग्य लाभका विशेष रूपसे अन्तराय कर रहा लाभान्तराय पकड़ा जायगा क्योंकि कारण की विशेषताओसे ही कार्य में प्राप्त हो रहा, विशेष व्यवस्थित है। लाल तन्तुओ या लाल रंगसे ही लाल कपडा बन सकता हैं " कर्यलिंग हि कारणं " कारण के ज्ञापक हेतु कार्य होता है, लाभातरायके द्वारा अलाभ परीषह का कथन किया गया हे

तेन दर्शनमोहोदये तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणप्रदर्शनं, लाभांतरायोदये चालाभ इति प्रकाशितं भवति।

तिस कारण उक्त सूत्रद्वारा यह तात्पर्य प्रकाश मे ला दिया गया समझा जाता है कि दर्शन मोहनीय कर्मका उदय होने पर तत्त्वार्थोका अश्रद्धान स्वरूप अदर्शन परीषह उपजती है और लाभान्तरायका उदय हो जाने पर अलाभपरीषह बन बैठता है।

अब जिज्ञासु पूछता होगा कि मोहनीय कर्म का प्रथम भेद होरहे दर्शन मोहनीयके उदय अनुसार एक अदर्शनपरीषह का होना कहा, अब मोहनीय का दूसरा भेद माने गये, चारित्रमोहनीयका उदय होते सन्ते कितनी परीषहे हैं ? बताओ। ऐसी जिज्ञासाकी सभावना होने पर सूत्रकार महाराज अगिले सूत्र को कह रहे हैं।

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः॥१५॥

पुवेद, अरति, आदिक चारित्रमोहनीय कर्म का उदय हो जाने पर नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कारपुरस्कार, ये सात परीषहे हो जाना संभवता है।

निषद्यापरीषहस्य मोहोदयनिमित्तत्वं प्राणिपीडार्थत्वात्, पुंवेदोदयादिनिमित्तत्वान्नग्न्यादीनामिति चारित्रमोहोदयनिबन्धना एते। तदेवाह--

चारित्र मोहनीय कर्म का उदय हो जानेपर प्राणियो को पीड़ा देने का परिणाम उपजता है, अतः प्राणियो की पीड़ा का निराकरण करने के लिये निषद्यापरीषह सही जाती है। यो निपद्या परीपह का निमित्तकारण चारित्रमोहनीय का उदय माना गया है और नग्नता आदि परीपहो का निमित्त कारण तो पुवेद का उदय, अरति का उदय आदि हैं। इस प्रकार ये नग्नता आदि परीषहें चारित्रमोह के उदयको कारण मानकर उपजरही इस सूत्रमे कही गयी हैं। उस ही सूत्रोक्तरहस्यको ग्रन्थकार अग्रिमवार्त्तिक द्वारा कह रहे है।

नाग्न्याद्याः सप्त चारित्रमोहे सति परीषहाः ।
सामान्यतो विशेषाच्च तद्विशेषेषु तेऽर्थतः ॥१॥
ज्ञानावरणमोहान्तरायसंभूतयो मताः ।
इत्येकादश ते तेषामभावे न क्वचित्सदा ॥२॥

सामान्य रूपसे चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होते सन्ते नग्नता आदिक परीषहें सहनी पडती है। उन चारित्र मोहनीय के विशेष प्रकारोका उदय होते सन्ते वे परीषहे अर्थ के अनुसार विशेष रूपसे हो जाती हैं, जैसे कि अरति का अर्थ रुचि नही लगना इस अर्थ से अरति नामक विशेष चारित्र मोहनीय कर्म का उदय तो अरति परीषहका कारण हैं। अर्थ अनुसार नग्नता और परीषह का कारण पुवेद का उदय हैं,यो विशेष कर्मोके कारण विशेष हैं। अबतक यो उक्त तीन सूत्रो मे ज्ञानावरण, मोहनीय, और अन्तराय कर्मोद्वारा अच्छी उपजायी जारही वे प्रज्ञा, अज्ञान,अदर्शन, अलाभ,नग्नता,अरति,स्त्री,निषद्या,आक्रोश, अयाचना,सत्कारपुरस्कार, यो ग्यारह परिषहे मानी गयी हैं। उन उक्त ज्ञानावरणादि कर्मोका अभाव हो जानेपर सर्वदा किसी भी आत्मा मे ये परिषहे नही उपज पाती हैं।

अवशेष बचरही ग्यारह परिषहो के निमित्त कारण हो रहे कर्मविशेष का प्रतिपादन करनें के लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहतें हैं।

वेदनीये शेषाः ॥१६॥

कही जा चुकी ग्यारह परिषहो से शेष बच गयी क्षुधा, पिपासा,शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल, ये ग्यारह परिषहे तो वेदनीय कर्म का उदय होने सन्ते सभव जाती है।

उक्तादन्यनिर्देश शेष इति। ते च क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलपरीषहाः। किमेकाकिन्येव वेदनीयेऽमी भवन्त्युत सहकार्यपेक्षे सतीत्याशंकायामिदमाह- ---

सूत्रमे कहा गया शेष यह शब्द कही जा चुकी प्रज्ञा,अज्ञान,आदि ग्यारह परीषहो मे भिन्न हो रही क्षुधा, पिपासा, आदि परिषहो का कथन करनेवाला है और वे शेष परीषहे तो क्षुधार्ति, प्यासदुःख, शीतबाधा, उष्णवेदना, दंशमशकव्याधि, चर्याकष्ट शय्यापीडा वधखेद,रोगव्यथा,तृणस्पर्शव्यथन,मलक्लेश ये ग्यारह है। यहा कोई शंका उपस्थित करता है कि वे क्षुधा आदिक ग्यारह परीषहे क्या अकेले वेदनीय कर्मों के उदयापन्न होने पर ही हो जाती है ? अथवा क्या अपने सहकारी कारण हो रहे मोहनीय या अन्य कर्म की अपेक्षा रख

रहे वेदनीय कर्मके उदय होनेपर बन बठती है ? बताओ । ऐसी आशंका का प्रकरण प्राप्त हो जाने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिकको समाधानार्थ कह रहे हैं ।

शेषाः स्युर्वेदनीये ते समग्रसहकारिणि ।
इति सर्वत्र विज्ञेयमसाधारणकारणं ।।१।।

सम्पूर्ण सहकारी कारण रूप सामग्रीसे सहित हो रहे वेदनीय कर्म के होनेपर वे शेष परीषहे हो जाती हैं अर्थात् अकेला वेदनीय ही कार्यकारी नही है । "सामग्रीकारण नत्वेकं" मोहनीय आदि कर्म द्रव्य,क्षेत्र,काल,भाव- संक्लेश परिणाम,निर्वलसंहनन,आकुलता कतिपय कर्मों की उदीरणा,इस यथोचित सामग्री से परिषहे सताती है,जिनका विजय मुनिको यत्न व्दारा करना पडता है । अथवा संयमी मुनि आत्मध्यान मे इतने निमग्न हो जाते हैं कि उनको परीषहोका परिज्ञान ही नही होने पाता हैं,परीषहोको परीषह समझकर सहना जघन्य पद है परीषहों को पदार्थपरिणत समझकर समता भावोसे सहना मध्यम मार्ग है । शुद्ध आत्म स्वरूप मे सुस्थिर होकर रता रही परीषहो का सवेदन ही नही हो पाना उत्तम चर्या है । यहां प्रकरण मे उक्त ग्यारह परिषहोका कारण वेदनीय कर्म कहा गया हैं । वह केवल असाधारण कारण हैं । साधारण कारण तो मोहनीय आदिक दुसरे भी सहकारी कारण है इसी असाधारण कारणवाली बातको प्रज्ञा, अज्ञान,अदर्शन आदिके कारण हो रहे ज्ञानावरण दर्शनमोहनीय आदिमे भी समझ लेना चाहिये अर्थात् प्रज्ञाका असाधारण कारण ज्ञानावरण कर्म हैं,अन्य मोहनीय आदि भी सहकारी कारण है प्रतिबन्धको का अभाव रहते हुये कारणान्तरो की पूर्णतारूप असाधारण कारण से उत्तर क्षणमे कार्य हो ही जाता है ।

ननु ज्ञानावरणे इत्यादि सूत्रेषु विभक्तिविशेषो निमित्तात् कर्मसयोग इति चेन्न तद्योगाभावात् । न हि यथा चर्मणि द्वीपिन हन्तीत्यत्र कर्मसंयोगस्तथात्रास्ति ततोयं सन्निर्देशस्तदुपक्षलक्षणत्वात् गोषु दुह्यमानासु गत इत्यादिवत् ।

यहा कोई वैयाकरण पण्डित शका उठाता है कि 'ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने' दर्शन मोहान्तराययोरदर्शनालाभौ' इत्यादि चार सूत्रोमे विशेष रूपसे सप्तमी विभक्ति तो निमित्तसे कर्मका संयोग हो जाने पर हुयी दिखती है अर्थात् ' निमित्तात् कर्मयोगे ' इस कारक प्रकरण के नियम अनुसार वेदनीये चारित्रमोहे, ज्ञानावरणे, दर्शन मोहान्तराययोः, यहा निमित्तोमें सप्तमी विभक्ति हुई ज्ञात होती है।आचार्य कहते हे यह तो न कहना,क्योकि यहां उन निमित्त और निमित्ती का योग (संयोग या समवाय) नही है-देखिये जिस प्रकार कि -

चर्मणि द्वीपिन हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरं
केशेषु चमरी हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ।।

चामके निमित्त (फल) वाघ को मार रहा हैं, यहाँ जिस प्रकार कर्मका संयोग है चाम और व्याघ्र का अवयव अवयवी होने से समवाय सम्बन्ध है, निमित्त यानी फल हो रहा चाम उस व्याघ्र नामक कर्मके साथ संबन्ध हो रहा है तिसप्रकार यहां ज्ञानावरण और अज्ञान का कोई सयोग या समवाय सबध अभीष्ट नही है। वेदनीय या ज्ञनावरण निमित्त यानी फल होय और क्षुधा आदिक या अज्ञान निमित्ती होय यह सिद्धान्त भी युक्त नही है, जिस से कि 'वेदनीये शेषाः' इस प्रकार शेष पद मे द्वितीया विभक्ति होने का प्रसंग प्राप्त होवे।

वस्तुत. यहा निमित्त निमित्तिभाव नही है तिस कारण यहा सति सप्तमी रखना यः स्वं च भावेन भावलक्षण, जिस क्रिया का काल जाना जा रहा प्रसिद्ध है उस क्रिया से दुसरी अज्ञात क्रिया के काल की ज्ञप्ति करना यहाँ लक्षण है, जिसकी क्रियासे क्रियान्तर लक्षित किया जाय उस ज्ञापक क्रिया के आश्रय को कह रहे पद मे सप्तमी विभक्ति हो जाती है अतः यह वेदनीय आदि पदोमे सप्तमी विभक्ति का निरूपण तो सत् अर्थ को कथन करने वाला है। क्योंकि एक ज्ञातसे दूसरे अज्ञात को दिखलाया गया है, जैसे कि कोई चाकर गोदहन के समय रोटी खाने गया था, स्वामी ने उससे पूछा कि तुम कब गये थे ? उत्तर देता है कि जब गाये दोही जा रही थी तब मैं गया था। वे दोही जा चुकी थी तब मै यहां आ गया था अथवा 'छात्रेषु अधीयमानेषु गतः' छात्र जब पढ रहे थे तब गया था, इत्यादिक प्रयोगो मे जैसे सन्ते अर्थ मे सप्तमी हो रहा है उसी प्रकार भावलक्षण हो जानेपर वेदनीय के होते सन्ते शष परीषहे होती है, नही होनेपर नही होती हैं यो सप्तमी विभक्ति को सुघटित करलेना चाहिये।

अत्रैकस्मिन्न त्मनि सकृत् कियंतः परीषहाः सभवन्तीत्याह :—

परीपहो के निमित्त कारण, लक्षण और भेदो को समझ लिया, अब यहा यह समझाओ कि एक आत्मा मे एक बार कितनी परीषहे संभव जाती है ? ऐसी विनीत भव्य की जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिमसूत्र का स्पष्ट उच्चारण कर रहे है।

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥१७॥

एक समय मे (एकदम) एक आत्मामे एक परीषह को आदि लेकर विकल्पना करने योग्य होरही सन्ती उन्नीस परीषहे तक सम्भव जाती हैं। अर्थात् कदाचित् एक कदाचित् दो कभी तीन ऐसी विकल्पना करते हुऐ एक बारमे उनईस परीषहे पर्यन्त हो सकती है। विरोध होने के कारण शीत और उष्ण इन दो मे से एक तथा शय्या, निषद्या, चर्या इन तीन मे से एक, यो पूरी बाईसो नही होकर एक समय मे उनईस ही सम्भवती है।

आङभिविध्यर्थः। शीतोष्णशय्यानिषद्याचर्याणामसहभावाच्चैकान्नविंशतिसंभवः। प्रज्ञाज्ञानयोर्विरोधादन्यतराभावे अष्टादशप्रसंग इति चेन्न, अपेक्षातो विरोधाभावात्।

श्रुतज्ञानापेक्षया हि प्रज्ञाप्रकर्षे सत्यवध्याद्यभावापेक्षया अज्ञानोत्पत्तेः। दशमशकस्य युगपत्प्रवृत्तेरेकोनविंशति विकल्प इति चेन्न, प्रकारार्थत्वात्। मशक एवेत्यय परीषहोऽन्यथातिप्रसंगात्। दंशग्रहणात् तुल्यजातीय इति चेन्न श्रुतिविरोधात्। न हि दंशशद्वः प्रकारमभिधत्त मशकशद्वोपि तत्तुल्यमिति चेन्न, अन्यतरेण परीषहस्य निरुपितत्वात्। न हि दंशशद्वेन निरूपिते परीषहे मशकशद्वग्रहण तदर्थमेव युक्तमतः प्रकारोऽर्थान्तर इति निश्चयः।

यहापर आङ् अभिविधि-मर्यादाके अर्थमे है। शीत-उष्ण, शय्या-निषद्या-चर्या इन परीषहोका एक साथ सद्भाव संभव न होनेके कारण उनईस परीषहोतक एकसाथ होना सम्भव है। यहा कोई शका करता है कि प्रज्ञा व अज्ञान परीषहमे विरोध है अर्थात् ये दोनो एकसाथ नहीं हो सकते हैं, इसलिए अठारह परीषहोका एकसाथ होनेका प्रसंग आवेगा, ऐसा न कहना, अपेक्षाकी दृष्टिसे अर्थ करनेपर दोनोमे विरोध नही आ सकता है। श्रुतज्ञानकी अपेक्षासे अधिक ज्ञान प्राप्त होनेपर अवधि आदि ज्ञानोके अभावमे खिन्न होकर अज्ञान परीषहकी उत्पत्ति होती है। (ज्ञानकी विशेषताको प्राप्त होनेपर अहंकार उत्पन्न होना प्रज्ञा परीषह है।) इसीप्रकार दंशमशक इन दोनो परीषहोंको दो करना चाहिये, एक करनेपर उनईस नही होते हैं। सो दो करनेपर उनईस होते है। क्योकि इन दोनो परीषहोका एकसाथ संभव हो सकता है,ऐसा भी नही कहना। दशमशक प्रकार अर्थमे प्रयोग किया गया है। मशक ही यह परीषह है, अन्यथा अतिपसंग हो जायगा। दंशपद ग्रहण करनेसे मशकका तुल्य जातीय परीषहका ग्रहण है, ऐसा भी नही कहना। आगम परपराका विरोध हैं। यहा कोई शका करता हैं कि दश शब्द मशकका प्रकारवाची नही हो सकता है। मशक शब्द भी उसके बराबर ही है। ऐसा तो नही कहना, क्योकि किसी एक पदसे ही परीषह का कथन किया गया है। दश शब्दसे परीषह का निरूपण करने पर मशक शब्द उसी अर्थमें प्रयोग नहीं किया गया हैं। अपितु प्रकारातरको सूचित करनेके लिए यह प्रयोग किया गया है, यह निश्चय हैं।

चर्यानिषद्याशय्यानामरतेरविशेषादेकान्नविंशतित्ववचनमिति चेन्न, अरतौ परीषहजयाभावात्. न हि चर्यानिषद्याशय्यानामरतेरेकत्वादेकत्वं युक्त, तत्र अरतौ परीषह जयायोगात्, तत्कृतपीडासहनात् परीषहजयेष्यत्वमेव तेषामिति द्वाविंशतिवचनमेव युक्तम्॥ तस्मात् :—

यहां कोई शंकाकार कहता है कि चर्या निषद्या शय्या परीषहोंमें और अरति परीषहमें कोई भेद नहीं हैं, इसलिए परीषह उन्नीस होते हैं, ऐसा कथन करना युक्त है, ऐसा तो नहीं कहना। क्योंकि अरतिमें उपर्युक्त परीषहोंका जय नहीं होता है। चर्या निषद्या शय्या और अरति के एकत्वपना युक्त नहीं है, क्योंकि अरतिमें उक्त परीषहों के जीतनेके योगका अभाव है, उन चर्यादिकोंके द्वारा उत्पन्नपीडा को वह अरति परीषह को जीतनेवाला सहन नहीं करता है, इसलिए उन चर्या निषद्या व शय्या परीषहोंको जीतनेमें भिन्नपना ही है, यों बाईस परीषहोंका कथन करना ही युक्तिपूर्ण जचता है। तिस सूत्रोक्तसिद्धांतसे क्या अभिप्राय निकला ? उसको अग्रिमवार्तिकों द्वारा ज्ञात कीजिये।

सकृदेकादयो भाज्याः क्वचिदेकान्नविंशतिः।
विंशत्यादेरसंभूतेर्विरोधादन्यथापि वा ॥१॥
इत्युक्तेर्नियमाभावः सिद्धस्तेषां समुद्भवे।
सहकारिविहीनत्वं प्रोक्तहेतोरशक्तितः ॥२॥

एक ही वार एक को आदि लेकर उन्नीस तक विकल्पना योग्य हो रही परीषहें किसी किसी आत्मामें उपज बैठती है। बीस, इकईस आदि परीषहोंका एकदम एक आत्मामें, उपज जाना संभव नहीं हैं, क्योंकि शीत, उष्ण और चर्या निषद्या शय्याओंका विरोध है तथा अन्य प्रकारोंसे भी विरोध दोष आ जावेगा, कभी एक हो जाय, कभी दो हो जाय कभी दस, कभी पन्द्रह यों भाज्या, इसप्रकार कथन कर देनेसे उस परीषहोंके डटकर उपजने में नियम का अभाव सिद्ध है, यानी परीषहे होवें ही ऐसा कोई नियम न रहा, मात्र कर्मका उदय हो जानेपर भी अन्य सहकारी कारणोंकी विशेष रूपेण हीनता हो जानेसे परीषहें नहीं उपज पावेंगी, जैसे कि जिनेन्द्र के असाता वेदनीय का उदय परीषहोंको नहीं उपजा पाता है। भले प्रकार कह दिये गये ज्ञानावरण, अन्तराय, वेदनीय हेतुओंकी अन्य सहकारी कारणोंसे रहितपनकी अवस्थामें परीषहोंके उपजानेकी शक्ति नहीं हैं, तभी तो मोहनीय कर्मका उदय नहीं होनेसे अनन्तसुखी जिनेन्द्रदेवके भूख, प्यास आदि परीषहे नहीं उपजती हैं।

किं पुनश्चारित्रमित्याह—

संवरके छः हेतुओं में से गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजय इन पांचका प्रतिपादन किया जा चुका है, अब बतलाओ कि फिर छठा हेतु चारित्र भला क्या पदार्थ है ? ऐसी विनीत शिष्यकी रुचि उपजने पर परमोपकारी सूत्रकार इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यात-मिति चारित्रम् ॥१८॥

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात यों पाच प्रकार चारित्र है। अर्थात् सम्पूर्ण जीवोंमे समता भाव रखकर संयम पालते हुए मुनिका, आर्त, रौद्र, ध्यानकी अवस्थासे रहित होकर तात्त्विक चिंतन करना सामायिक है। प्रमाद या अज्ञान द्वारा अतीन्द्रिय कर्मोदय अनुसार किसी निर्दोष क्रियाका विलोप हो जानेपर उससे ग्रहण किये जा चुके अशुभ कर्मोंका प्रतीकार करते हुए आत्माको वहाँका वही निर्दोष मार्गमे प्रतिष्ठित कर देना छेदोपस्थापना है।

जीवोंकी बाधाके परिहारके साथ आत्मविशुद्धिको बढा रहा संयम परिहार विशुद्धि है। परिहारविशुद्धि संयमीको चातुर्मासमे एक ही स्थलपर रहनेका नियम लागू नही होता है। चौमासेमे त्रस स्थावर जीवोंकी अधिक उत्पत्ति होनेके कारण दयालु मुनि एक ही स्थानपर विराजते है। परिहारविशुद्धि संयमको धार रहे मुनिके शरीरसे किसी भी जीवको बाधा नही पहुंचती है, प्रत्युत जीवोंको आनन्द प्राप्त होता है। मुनिशरीरसे रोगी का गात्र छू जाय तो रोग दूर हो जाय, जीवोंके ऊपर होकर भी मुनि चले जाय तो जीवोंके यह अभिलाषा बनी रहती है कि और भी दो चार बार परिहारविशुद्धिवाले मुनि हमारे ऊपर होकर चले जाय तो बहुत ही आनंद आवे।

अतीव सूक्ष्म हो रहे लोभका उदय होनेपर भी सातिशयविशुद्धिको कर रहा दशवें गुणस्थानवाले मुनिका संयम सूक्ष्मसांपराय है।

मोहनीय कर्मके उपशम या क्षयसे उपजा ग्यारहवे आदि चार गुणस्थानोमे वर्त रहा संयम यथाख्यात चारित्र है। चारित्र शब्दकी निरुक्ति पहिले कही जा चुकी है। तत्वज्ञानी जीवका संसारकी जननी हो रही अन्तरंग वहिरंग क्रियाओंका निरोध कर अन्तरात्मामें रमण करना चारित्र है।

सामायिकशब्दोतीतार्थः। सामायिकमिति वा समासविषयत्वात् अयतीत्यायाः तत्वघातहेतवोऽनर्था संगता आया समायाः सम्यग्वा आयाः समायास्तेषु भवं सामायिकं समाया प्रयोजनमस्येति च सामायिकमिति समास (य) विषयत्वं सामायिकस्यावस्थानस्य। नचव सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानपर। गुप्तिप्रसंग इति चेन्न इह मानसप्रवृत्तिभावात्। समिति प्रसंग इति चेन्न, तत्र यतस्य प्रवृत्युपदेशात्। धर्मप्रसंग इति चेन्न, अत्रेति वचनस्य कृत्स्न-कर्मक्षयहेतुत्वज्ञापनार्थत्वात्।

" दिग्देशानर्थदण्ड " आदि सूत्रमे सामायिक शद्बका अर्थ अतीत कालमे कहा जा चुका हैं। अथवा समासका विषय हो जानेसे सामायिक शद्बको यो बना लिया जाय कि " अपगतौ " धातुसे आप बनाया जाय, आ रहे हैं इस कारण प्राणियोके घातके कारण जो अनर्थ है वे आय है। सं उपसर्गका अर्थ संगत है अथवा सं का अर्थ समीचीन भी है। संगत जो आय अथवा समोचीन जो आय सो समाय है, उन समायोंमें उत्पन्न हुआ तथा जिसका प्रयोजन समाय है इस कारण वह सामायिक हैं। यो समासकर पुनः भव या प्रयोजन अर्थमें ठण् प्रत्यय कर समाय शद्बसे सामायिक शद्ब साधु बना लिया गया हैं, अर्थात् सामायिक मे प्राणिघातका अनर्थ सब दूर चले जाते हैं, अथवा प्राणिघातक अनर्थोंको दूर करनेके ए सामायिक किया जाता है।

यो आत्मीय अवस्थान स्वरूप हो रहा सामायिक समासका विषय कर वखान दिया गया है, और वह सामायिक तो हिंसा, झूंठ, चोरी आदिक सम्पूर्ण पापसहित योगोंका अभेद रूपसे प्रत्याख्यान करनेमे तत्पर है।

यहा कोई आशंका उठाता है कि यदि निवृत्तिमे तत्पर सामायिक है तव तो सामायिक को गुप्ति हो जानेका प्रसंग आजावेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि यहाँ सामायिकमे मानसिक प्रवृत्ति विद्यमान है और गुप्तिमे तो मनोयोग की भी निवृत्ति है।

पुनः किसीका आक्षेप है कि यदि सामायिक करते समय मानसिक प्रवृत्ति है तो सामायिक को समिति हो जानेकी आपत्ति आ जायगी, ऐसी दशामे सामायिक पुनरुक्त हुआ। आचार्य कहते हैं यह भी नहीं मान बैठना।क्योंकि उस सामायिक चारित्रमें जो प्रयत्न कर रहा है उस मुनिको समितियोमे प्रवृत्ति करनेका उपदेश हैं। अतः सामायिक कारण हैं और समिति कार्य है, यो कार्यकारण के भेदसे समिति और सामायिक में अन्तर है।

फिर भी किसी का कटाक्ष है कि समिति में प्रवृत्त हो रहे मुनिको दश प्रकार धर्म पालने का भी उपदेश है, ऐसी दशामें सामायिक को धर्म बन जानेका प्रसंग बन बैठेगा अथवा संयम नामके धर्ममें सामायिक गर्भित है, फिर यहां क्यो कहा जा रहा हैं ? आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना क्योकि इस सूत्रमें इति शब्दका कथन करना सम्पूर्ण कर्मो के क्षय हो जानेका कारणपना समझाने के लिये है, इति का अर्थपूर्णता यानी समाप्ति है, चारित्र द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय परिपूर्ण हो जाता है, अतः धर्ममें गर्भित हो रहा भी सामायिक आदि चारित्र अन्तमे कहा गया हैं। जो कि मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् कारण है,इति इसी बात को समझानेके लिए सूत्रोपात्त है।

प्रमादकृतानर्थप्रबंधविलोपे सम्यक्प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना विकल्पनिवृत्तिर्वा । परिहारेण विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिन् तत् परिहारविशुद्धिचारित्रम् । तत्पुनस्त्रिंशद्वर्षजातस्य संवत्सरपृथक्त्वतीर्थंकरपादमूलसेविनः प्रत्याख्याननामधेयपूर्वपारावारपारंगतस्य जन्तुविरोधप्रादुर्भावकालपरिमाणजन्मयोनिदेशद्रव्यस्वभावविधानज्ञस्य प्रमादरहितस्य महावीर्यस्य परमनिर्जरस्यातिदुष्करचर्यानुष्ठायिनः तिस्रः संध्या वर्जयित्वा द्विगव्यूतिगामिनः सपद्यते नान्यस्य मनागपि तद्विपरीतस्येति प्रतिपत्तव्यं ।

प्रमाद या अज्ञान से किये गये अनर्थोकी रचना द्वारा निर्दोष क्रियाओंका विलोप हो जाने पर झटिति समीचीन प्रतीकार कर स्वात्मामे व्यवस्थित हो जाना छेदोपस्थापना है अथवा पापपोषक विकल्पो की निवृत्ति हो जाना छेदोपस्थापना संयम हैं ।

प्राणियो की पीडाके परित्यागसे विशिष्ट हो रही आत्मशुद्धि जिस संयम मे है वह परिहारविशुद्धि नामका चारित्र है, यह संयम लाखो करोडो मुनियो मे किसी किसी को हो रहा अतीव विरल है, वह परिहारविशुद्धि फिर उस तपस्वीके होता है कि जो जन्मसे तीस वर्ष पर्यन्त सुखी रहता है, पुन. दीक्षा ग्रहण कर तीर्थंकर के पादमूल मे सात आठ वर्ष तक सेवा करते हुए पढ रहा सन्ता प्रत्याख्यान नामक पूर्वस्वरूप समुद्र के पार को प्राप्त हो चुका है, जन्तुओकी उत्पत्ति का रुक जाना, प्राणियोका उपजना किस कालमे कौनसे जीव पैदा होते हैं उनका परिणाम क्या हैं ? जीवोके जन्मस्थान, योनिया, देशव्यवस्था, द्रव्यो के स्वभाव इत्यादिक विधियो को जो भेदप्रभेद सहित जान रहा है, और जो प्रमाद से रहित है, जिसके महान् पराक्रम है, जिसके उत्तरोत्तर उत्कृष्ट निर्जरा हो रही हैं, अतीव कठिनतासे करने योग्य चर्याको अनुष्ठान करनेकी जिसका टेव है, तीनो सध्याकालोको छोडकर दो कोस पर्यन्त गमन करनेवाला होय, उस ही जीवके यह परिहारविशुद्धि सयम की सम्पत्ति प्राप्त होती है । इन उपर्युक्त लक्षणोसे विपरीत अवस्थाको प्राप्त हो रहे किसी अन्य मुनिको अल्प भी परिहारविशुद्धि सयम प्राप्त नहीं होता है, इस प्रकार प्रतीति कर लेनी चाहिये ।

अतिसूक्ष्मकषायत्वात् सूक्ष्मसापराय तस्य गुप्तिसमित्योरंतर्भाव इति चेन्न तद्भावेपि गुणनिमित्तविशेषाश्रयणात् । लोभसंज्वलनाख्यसापराय सूक्ष्मोऽस्मिन् भवतीति विशेष आश्रितः । निरवशेषदात्क्षीणमोहत्वात् यथाख्यातचारित्र, यथाख्यातमिति वा आत्मस्वभावाव्यतिक्रमेणाख्यातत्वात्, इतरेपादान ततः कर्मसमाप्तेर्ज्ञापनार्थत्वात् । यथाख्यात चारित्रसिद्धा सकलकर्मक्षयपरिसमाप्तिः ।

पूर्वस्पर्धक, अपूर्वस्पर्धक, बादरकर्षणविधि अनुसार अत्यन्त सूक्ष्म कषाय हो जाने से दशमे गुणस्थानमे जो चारित्र होता हैं, वह सूक्ष्मसापराय है ।

यहा कोई आशंका उठाता हैं कि उस सूक्ष्मसापराय का गुप्ति मे अन्तर्भाव कर लिया जाय, क्योकि इसमे प्रवृत्तियो का निरोध होता है, या समिति मे डाल दिया जाय, कारण कि समीचीन अयन यानी प्रवर्तन है। आचार्य कहते है कि यो तो नही कहना, इसका हेतु यह है कि उन प्रवृत्तिनिरोध या सम्यक् अयनके होते हुये भी सूक्ष्मसापराय चारित्र के विशषतया निमित्तकारण हो रहे गुणका यहा आश्रय लिया गया है, लोभसंज्वलन नाम का कषाय जिस गुणस्थानमे धुले हुये कुसूंभी (कसूमल) वस्त्रकी अत्यल्प लालिमा समान अत्यन्त सूक्ष्म हो गया है, इस विशेष का यहा अवलम्ब लिया गया है।

चारित्र मोहनीय कर्म का परिपूर्ण रूपसे उपशम या क्षय हो चुकनेसे जो ग्यार-हवे आदि गुणस्थानो मे सयम होता है वह यथाख्यात चरित्र है, अथवा यथाख्यात शब्दकी निरुक्ति द्वारा यो अर्थ भी निकला जाय कि जिसप्रकार आत्मा का स्वभाव अवस्थित है, उसी प्रकार आत्माके स्वभाव का उल्लघन नही करके बखान दिया गया होनेसे यह यथाख्यात चारित्र अन्वर्थ है। इस सूत्रमे समाप्ति अथ को कह रहे इति शब्दका ग्रहण किया गया, जोकि उस यथाख्यात चारित्र से कर्मो की क्षयद्वारा समाप्ति को ज्ञापन करनेके लिए है। सम्पूर्ण कर्मो की क्षयकी परिपूर्णता यथाख्यातचारित्र से ही सिद्ध होती है।

सामायिकादीनामुत्तरोत्तरगुणप्रकर्षख्यापनार्थमानुपूर्व्यवचनं, प्राच्यचारित्रद्वय-विशुद्धेरल्पत्वादुत्तरचारित्रापेक्षया परिहारविशुद्धिचारित्रस्य ततोनन्तगुणजघन्यशुद्धित्वात्। तस्यैव तदनन्तगुणोत्कृष्टविशुद्धित्वात् पूर्वचारित्रद्वयस्य तदनन्तगुणोत्कृष्टविशुद्धित्वात्। ततः सूक्ष्मसापरायस्यानतगुणजघन्यविशुद्धित्वात् तस्यैव तदनन्तगुणोत्कृष्टत्वात्, ततो यथा-ख्यातचारित्रस्य सम्पूर्णविशुद्धित्वात्। एतदेवाह—

द्वन्द्व समास कर देने पर घुसंज्ञक या अभ्यर्हित अथवा अल्पाच्तर पद पूर्वमे प्रयुक्त हो जाते हैं, यह शब्द संबंधी न्याय हैं, किन्तु अर्थसम्बधी न्यायमे उक्त नियम लागू नही होता, अतः वक्ता को जिस प्रकार अर्थ की प्रतिपत्ति करानेमे लघुमार्ग प्रतीत होता हैं, तदनुसार ही पद आगे पीछे धर दिये जाते है।

इस सूत्रमे सामायिक के पीछे छेदोपस्थापना और उसके पीछे परिहारविशुद्धि इत्यादि आनुपूर्वी अनुसार निरूपण करना तो सामायिक आदि चारित्रो मे से उत्तर उत्तर के (अगिले अगिले के) गुणो की प्रकर्षता को प्रसिद्ध कराने के लिए है। पहिले सामायिक छेदोपस्थापना इन दोनों चारित्रो की जघन्य अवस्था की विशुद्धि अगिले चारित्रो की अपेक्षा सबसे थोडी है, उस विशुद्धि से परिहारविशुद्धि चारित्र की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी है।

उस विशुद्धि से उस ही परिहारविशुद्धि संयम की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी है, उस परिहार विशुद्धि की उत्कृष्ट विशुद्धि से सामायिक, छेदोपस्थापना, इन पहिले दोनों चारित्रोंकी उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी है, उस सामायिक, छेदोपस्थापनाओंकी उत्कृष्ट विशुद्धि से सूक्ष्मसांपराय संयमकी जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है, उस सूक्ष्मसांपराय की जघन्य विशुद्धि से उसी सूक्ष्मसांपराय की उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है। तिस सूक्ष्मसांपराय की उत्कृष्ट विशुद्धि से यथाख्यात चारित्र की विशुद्धि अनन्तगुणी है, क्योंकि यह यथाख्यात चारित्र सम्पूर्णपनेसे विशुद्ध हो रहा है, कर्मों के क्षय से हुई और भविष्य मे कर्मोंका क्षय करानेवाली आत्माकी पुरुषार्थजन्य प्रसन्नता को यहां विशुद्धि समझा जाय, जैसे कि संचित हो चुके वात, पित्त, कफ, के कोपजन्य दोषों का या रोगों का अव्यर्थ औषधि द्वारा जितना जितना निराकरण होता जाता है, उतनी रोगी की प्रसन्नता या स्वस्थता बढती जाती है।

उसी प्रकार उक्त पांचों चारित्रों में विशुद्धि का तारतम्य बढ रहा तोल दिया गया है। इस ही सूत्रोक्त रहस्य को ग्रन्थकार अगिली दो वार्तिकों में स्पष्ट कह रहे है।

सामायिकादि चारित्रं सूत्रितं पंचधा ततः।
सम्वरः कर्मणां ज्ञेयोऽचारित्रापेक्षजन्मनां ॥१॥
धर्मान्तर्भूतमप्येतत्संयमग्रहणादिह।
पुनरुक्तं प्रधानत्वख्यातये निर्वृतिं प्रति ॥२॥

इस सूत्रसे सामायिकादि पाँच प्रकारके चारित्रका निरूपण किया जा चुका है। चारित्र नही पालना स्वरूप अचारित्र की अपेक्षा से जन्म ले रहे कर्मों का उन चारित्रों से संवर हो चुका समझ लेना चाहिये। उत्तमक्षमा आदि दशविध धर्मों मे संयम का ग्रहण है। अतः धर्मों में अन्तर्भूत हो रहा भी यह संयमस्वरूप चारित्र पुनः यहां इस बातको प्रसिद्ध करने के लिए कहा गया है कि मोक्ष की प्राप्ति के प्रति इस चारित्र की ही प्रधानता है, अव्यवहित रूपेण चारित्र ही मोक्ष का प्रधान कारण है।

अथ तपोवचनं धर्मान्तर्भूतं तद्द्विविधं बाह्यमाभ्यंतरं च, तत्र बाह्यभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह ——

चारित्र का निरूपण हो चुका, उसके बाद तपसे निर्जरा भी होती है। यों सूचित किया गया है, दशधर्मों में तपका निरूपण अन्तर्भूत हो रहा है, वह तप बाह्य और अभ्यन्तर भेदोंसे दो प्रकार है, उन दो भेदोंमे से बाह्य भेदों की प्रतिपत्ति कराने के लिए श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९॥

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं।

कषाय, विषय, आरम्भोका परित्याग करते हुये चार प्रकार आहार का त्याग करना वह अनशन है।

संयम की वृद्धि के लिए एक ग्रास, दो कौर आदि न्यून खाना अवमौदर्य हैं।

लालसा की निवृत्ति के लिए भोजन सम्बन्धी अटपटो आखडी कर लेना या प्रवृत्तिओकी परिसंख्या कर लेना वृत्तिपरिसंख्यान हैं।

इन्द्रियोपर विजय प्राप्त करनेके लिए घी, दही, दूध, मिष्टान्न, तेल, नोन रसोंका यथायोग्य त्याग करना रसपरित्याग हैं।

ध्यान की सिद्धि के लिए पशु, पक्षो, जन्तुओंसे रीते एकान्त स्थानोंमें सोना, बैठना, विविक्तशय्यासन है। परीषहजय की शक्ति बढाने के लिए प्रतिमायोग धारण करना, शरीर खेदावह आसन लगाना आदिक कायक्लेश है। बहिरंग द्रव्यको अपेक्षासे ये तप किये जाते हैं,या दूसरे जीवोको भी इनका प्रत्यक्ष हो जाता है,तिस कारण ये छह बाह्य तप कहे गये हैं।

दृष्टफलानपेक्षं संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनं। तत्‌द्विविधं अवधृतानवधृतकालभेदात्।

"सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः" इस सूत्रसे सम्यक्‌पदको अनुवृत्ति चली आ रही है, अत समीचीन अनशन वही हैं जो कि कुछ भी मन्त्रसिद्धि यशःप्राप्ति, शारीरिक स्वास्थ्य आदिक देखे जा रहे इहलोकसम्बन्धि फलोकी नही अपेक्षा कर किया जा रहा है, संयम की भले प्रकार सिद्धि होना, भोजन मे राग का उच्छेद हो जाना, कर्मोंका विनाश होना, ध्यान और शास्त्र रहस्य की प्राप्ति हो जाना, इन पार लौकिक श्रेष्ठ फलोकी प्राप्तिके लिए जो अन-शन किया जायगा वह तपश्चरण समझा जायगा, शेष तो लंघन मात्र है, जो कि अशुभ कर्मोके उदयसे हुआ और अशुभ कर्मों का ही बध करानेवाला है और यह शास्त्रोक्त अनशन तो कर्मों के क्षयका और निर्जराका सम्पादक हैं।

वह अनशन तप अवधृतकाल और अनवधृतकाल इन भेदोंसे दो प्रकार है। एक छाक, एक दिन, दो दिन आदि बीचमे देकर उपवास करना अवधृत काल हैं और समाधिमरण को कर रहे गृहस्थ या मुनिके मरणपर्यन्त आहार का परित्याग कर देना अन-

वधृतकाल अनशन होता है। पहिले में कालकी मर्यादा नियत कर दी जाती है। दूसरेमें काल को अवधि नियत नहीं की गयी हैं।

संयमप्रजागरदोषप्रशमनसन्तोषस्वाध्यायसुखसिद्धचर्थमवमौदर्य। एकागारसप्त-वेश्मैकरथ्यार्धग्रासादिविषयसंकल्पो वृत्तिपरिसंख्यान।

सयम का पालन, अच्छा जगते रहना, वात, पित्त, कफ, सम्बन्धी दोपोका बढिया शांत हो जाना, स्वल्प अन्न में सन्तोष हो जाना, सुखपूर्वक स्वाध्याय हो जाना इन सिद्धियोके लिये अवमौदर्य तप किया जाता है। भिक्षाको दुर्लभ बनानेके लिये मुनिका एक घर मे ही जाना, सात घर-उल्लघन करना, एक ही गली मे जाना, आधा कौर खाना अथवा ग्राम पाठ माननेपर आधे ही गाव में गोचरी के लिए गमन, सींगमे गुडकी भेली अटकाकर बैल का मिल जाना, आदि विषयोका संकल्प करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है।

दातेंद्रियत्वतेजोहानिसंयमोपरोधव्यावृत्याद्यर्थं घृतादिरसपरित्यजनं रसपरित्याग.। रसवत्परित्याग इति चेन्न, मतोर्लुप्तनिर्दिष्टत्वात् शुक्लपट इत्यादिवत्। अव्यतिरेकाद्वा तद्वरस-प्रत्ययः। सर्वत्यागप्रसंग इति चेन्न, प्रकर्षगतेः। प्रकृष्टरसस्यैव द्रव्यस्य त्यागसंप्रत्ययात्। प्रतिज्ञातगंधत्यागस्य प्रकृष्टगंधकस्तूरिकादि त्यागवत्।

इन्द्रियोका दमन हो जाना, प्रकृतिमे उत्तेजित होने की हानि हो जाना, सयम को रोकनेवाली लम्पटता की व्यावृत्ति हो जाना गरिष्ठता जन्य प्रमाद की हीनता इत्यादिक प्रयोजन को साधनेके लिये घी, दही, दूध, आदि रसोका कुछ दिनो तक या आजन्म परित्याग कर देना रसपरित्याग है।

यहा कोई शका उठाता है कि रसशब्द गुणको कह रहा है, गुणीको छोडकर अकेले गुणका ग्रहण या त्याग नही किया जा सकता है, अत रसवाले घृतादि पदार्थोका त्याग कर देना कथन समुचित हुआ तब तो रसवत्परित्याग ऐसा चौथे तप का नाम होना चाहिये, " रसपरित्याग " शब्द अशुद्ध जचता है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना, क्योकि तद्वान् अर्थ को कह रहे मतुप् प्रत्यय का लोप हो चुकनेपर यह रसपरित्याग कहा गया है, मतुप् प्रत्यय के अर्थ मे अच् प्रत्यय भी हो जाता है,जिसको कि मत्वर्थीय अच प्रत्यय कहते हैं, " गुणे शुक्लादय पुसि गुणिलिंगास्तु तद्वति " गुणवाचक शब्द कदाचित गुणीको भी कहने मे प्रवर्त जाते हैं, मतुप् का लोप कर अनेक शब्द प्रयुक्त किये जाते है, जैसे कि शुक्लवस्त्र, मधुर आम्र, शीतजल, आदि प्रयोग साधु हैं अथवा एक विचार यह भी हैं कि गुणको छोडकर गुणी नही वर्तता है, यो गुण और गुणीका अभेद हो जानेके कारण गुणसे उस गुणकी धारने वाले की समीचीन प्रतीति हो जाती है, रसवाले द्रव्यका त्याग करनेपर ही रसका त्याग घटित हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

यहां कोई आक्षेप उठाता है कि जगत् मे जितने भी पुद्गल द्रव्य हैं सब मे रस विद्यमान हैं, अतः रसका परित्याग करनेवाला व्रती किसी भी रसवाले मठा, पानी आदि पदार्थ को नही खा पी सकेगा, सभीके त्यागका प्रसग आजावेगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नही कहना, क्योकि रगवान, रूपवान, ज्ञानवान, धनवान आदि स्थलोमे प्रकर्ष अर्थकी ज्ञप्ति हो जाती है, अतः अधिक रसवाले या तीव्र रसवाले द्रव्यके ही परित्याग करने की भली प्रतीति हो जायगी, जैसे कि कोई मनुष्य गन्धको सूंघनेकी प्रतिज्ञा कर चुका है, वह प्रकृष्ट गन्धवाले,कस्तूरी, इत्र, पुष्प, धूप, पुष्प, आदि तीव्र रागोत्पादक पदार्थोंको ही प्रकर्षगंधका त्याग करता है। अल्प गन्धवाले पदार्थोंका त्यागी नही है। वैसे तो सभी पुद्गलो में गंध विद्यमान है, नासिका इन्द्रियवाला उनसे कथमपि नही बच सकता है, उसी प्रकार यहा रस का अर्थ प्रकृष्ट रसवाला पदार्थ ग्रहण करना।

कश्चिदाह – अनशनावमौदर्यरसपरित्यागानां वृत्तिपरिसंख्यानावरोधात् पृथगनिर्देशः। तद्विकल्पनिर्देश इति चेन्न, अनवस्थानात्। तं प्रत्याह, न वा कायचेष्टा विषयगणनार्थत्वाद्वृत्तिपरिसंख्यानस्य। अनशनस्याभ्यवहर्तव्यनिवृत्तिरूपत्वादवमौदर्यरस-परित्यागयोरभ्यवहर्तव्यैकदेशनिवृत्तिपरत्वात्ततो भेदप्रसिद्धेः।

यहा कोई पडित कह रहा है कि अनशन, अवमौदर्य और रसपरित्याग इन तीनो तपोका वृत्तिपरिसख्यान नामक तप मे अन्तर्भाव हो जायगा, क्योकि सब ये भिक्षा सम्बन्धी ही नियम हैं, अतः इनका पृथक् उपदेश नही करना चाहिये, ग्रन्थका बोझ बढता है, यदि इस आक्षेप का उत्तर पण्डित के प्रति कोई यो देना चाहे कि भले ही वे वृत्तिपरिसंख्यान मे गर्भित हो जाय, किन्तु शिष्यबुद्धि वैशद्यार्थ उस वृत्तिपरिसंख्यान तप के विकल्पो का पृथक् निर्देश कर दिया गया है, जैसे कि "दुःखशोकतापाक्रन्दन" इत्यादि सूत्रमें दुःखके प्रकारोका न्यारा निरूपण किया जाता है, इस पर पण्डित कहता है कि यह तो नही कह सकते हो, क्योकि वृत्तिपरिसंख्यान के प्रकारोंका यदि पृथक् निरूपण करने लगोगे तो अनवस्था हो जायगी, लाखो, करोडो अटपटी आखडियो के नाम गिनाने पर भी कही दूर जाकर नही ठहर सकोगे, अतः हमारा आक्षेप तदवस्थ हैं। अब उस पण्डित के प्रति आचार्य समाधान वचन कहते हैं कि यह दोष उठाना ठीक नही है, क्योकि वृत्तिपरिसंख्यान तप तो काय की चेष्टा आदि विषयोकी गिनती के लिए किया जाता है कि साधु भिक्षामे प्रवृत्ति कर रहा, इतने ही क्षेत्र तक अपने शरीर की चेष्टा करे, अथवा ऐसे ऐसे गिनती के विषयोका प्रसंग प्राप्त होय तभी भिक्षा लेवे, किन्तु यह अनशन तप तो खाने पीने व्यवहारमे आने योग्य पदार्थोकी निवृत्ति कर देना स्वरूप है और अवमौदर्य नाम का तप तो खाने पीने योग्य पदार्थो के एक देश रूपसे

निवृत्ति करनेमे तत्पर हो रहा हैं तथा रसपरित्याग तप भी खाद्य, पेय, द्रव्योको एकदेश रूपेण निवृत्ति करनेमे लग रहा है, तिस कारण इनमे महान् भेद प्रसिद्ध है। वृत्तियोकी मात्रगणना प्रसिद्ध कर देना और खाद्य पेयोको पूर्णत या एकदेशत निवृत्ति कर देना इनमे महान अतर है, अत चारो तप स्वतन्त्र हैं,कोई किसोमे गर्भित नही हो सकता है और न कोइ किसीका प्रकार है।

आबाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादिप्रसिद्ध्यर्थं विविक्तशय्यासनं। कायक्लेशःस्थानमौनातपनादिरनेकधा। देहदुःखतितिक्षा सुखानभिष्वंगप्रवचनप्रभावनाद्यर्थः। परीषहजातीयत्वात् पौनरुक्त्यमिति चेन्न, स्वकृतक्लेशापेक्षत्वात् कायक्लेशस्य। सम्यगित्यनुवृत्तेर्दृष्टफलनिवृत्तिः, सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिरित्यतः सम्यग्ग्रहणमनुवर्तते। बाह्यद्रव्यापेक्षत्वाद्बाह्यत्वं, परप्रत्यक्षत्वात् तीर्थ्यगृहस्थकार्यत्वाच्चानशनादेः। एतच्च कर्मनिर्दहनात्तपः, देहेंद्रियतापाद्वा। केषां पुनः कर्मणा संवरः स्यात्तपसोऽस्मादित्याह।

निकटवर्ती जीवोद्वारा कियी जाने योग्य आवाधाओका परिहार, ब्रम्हचर्य धारण, निराकुल स्वाध्याय करना, अच्छा ध्यान, व्यर्थ बोलने पडनेकी आपत्ति से बच जाना आदिकी अच्छी सिद्धि हो जानेके लिए विविक्तशय्यासन तप किया जाता हैं। जीव रहित एकान्त स्थलमे शयन करने या आसन जमाने से उक्त ब्रम्हचर्य आदि की निष्पत्ति सहजमे हो जाती है। छठा कायक्लेश नामका तप तो प्रतिमा योग धारण कर स्थित हो जाना, मौनव्रत रखना, मध्यान्ह मे सूर्य सम्मुख आतपन योग धारण करना, कठिन आसन लगाना, आदिक अनेक प्रकार हैं, जोकि शरीरके दुःख उपस्थित होने पर सहनशील बन जाना, वैषयिक सुखोके कारणो में आसक्ति नही कर बैठना, जिनशासन की प्रभावना, कर्मोकी निर्जरा आदिके लिये किया जाता हैं।

यहां कोई आक्षेप करता है कि यह आतपनयोग, मौनधारण आदि स्वरूप हो रहा कायक्लेश तो परीषहो को ही जातिका है, अतः पुन उपदेश करनेसे पुनरुक्तता दोप आया। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना, क्योकि अपने आप चलाकर बुद्धिपूर्वक कायक्लेश किया जाता है और इच्छाके बिना ही कारणवश परीषहें प्राप्त हो जाती है। यो अपने द्वारा किये गये क्लेश की अपेक्षा हो जाने से कायक्लेश का परीषहो से भेद है।

इस सूत्रमे " सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः " इस सूत्रसे सम्यक्पदकी अनुवृत्ति चली आ रही हैं, सम्यक् इसकी अनुवृत्ति हो जानेसे लोक में देखे जा रहे फलोकी निवृत्ति कर दी जाती है। जो लौकिक फलोकी अपेक्षा रखकर तप किये जायेंगे, वे

समीचीन अनशन आदि नही कहे जा सकते हैं। बाह्य द्रव्योंको अपेक्षा रखना होनेसे ये अनशन आदि किये जाते है, अतः इनको बाह्य तप माना गया हैं।

दूसरी बात यह भी है कि अन्य जनोको अनशन आदिका घट, पट, के समान प्रत्यक्ष भो हो जाता है, तिस कारण से भो इनको बाह्यपना है।

तीसरी बात यह भी है कि अन्यमतावलम्बी साधुओ करके और गृहस्थों करके भी अनशन आदि कतव्य कर लिये जाते है, इस कारण इनको बाह्य तप कहा गया है। यह तप शब्द का निरूपण तो कर्मोंका निःशेष दाह कर देने से तपः है, इस तात्पर्य को ले रहा है। जिसप्रकार अग्नि तृण आदिको जला देती है, उसी प्रकार तप भी कर्मोको तपाकर भस्म कर देता है, अथवा देह और इंद्रियोको ताप करता है, इस कारण भी अनशन आदिको तप कह दिया जाता है।

यहा कोई तर्क उठाता है कि इस तपसे फिर किन कर्मोंका संवर हो जायगा ? बताओ ! ऐसी जिज्ञासा उपस्थित हो जानेपर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान वचन कहते है।

षोढा बाह्यं विनिर्दिष्टं तपोत्रानशनादि यत्।
संवरस्तेन च ज्ञेयो ह्यतपो हेतुकर्मणाम् ॥१॥

इस सूत्रमे अनशन, अवमौदर्य आदि जो छह प्रकारका बहिरंग तप विशेष रूपेण निर्दिष्ट किया गया है, उस करके अतपस्याको हेतु मानकर आने योग्य कर्मोंका संवर हो जाना समझ लेना चाहिये। अर्थात् जो तपस्या नही कर रहे हैं उनके कर्मोका आस्रव हो रहा है तथा उस अतपके विपरोत जो अनशन आदि तपोको कर रहे हैं उनके कर्मोंका संवर हो जाता है। यह युक्तिसिद्ध सिद्धात हैं।

अथाभ्यन्तरं तपःप्रकाशयन्नाह; —

बाह्य तपोका निरूपण करनेके अनन्तर अब सूत्रकार महाराज अभ्यन्तर तपोंका प्रकाश कराते हुए अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं।

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

प्रायश्चित्त लेना, विनय करना, वैयावृत्य करना, स्वाध्याय करना, व्युत्सर्ग और ध्यान ये उत्तरवर्ती अन्तरंग तप हैं। प्रमाद से उत्पन्न हुए दोषोका प्रत्यनीक प्रयोगों द्वारा परिहार कर देना प्रायश्चित्त है, पूज्य पदार्थोमे आदर करना विनय हैं, शरीरकी चेष्टा या अन्य द्रव्य करके उपासना करना वैयावृत्य है, आलस्यको छोडकर समीचीन श्रुतज्ञान की भावना करना स्वाध्याय है, परपदार्थोमे आपापन और अपनेपन के संकल्प

का परित्याग कर देना व्युत्सर्ग है, चित्तके विक्षेप का त्याग करते हुए एक अर्थमे ही अनेक ज्ञानोको उपजाकर चित्तवृत्तिका निरोध करना ध्यान है । अन्तरग मनका आत्मीय शुभभावोमे नियंत्रण किये जाने के कारण होनेसे ये छओ अन्तरग तप माने गये हैं ।

तप इति सम्बध्यते । अस्यान्यतीर्थानभ्यस्तत्वातुत्तरत्वं अभ्यन्तरत्वमिति-यावत्, अन्तःकरणव्यापाराद्वाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात् । स्वत एतच्च संवेद्यमिति दर्शयन्नाह ।

पूर्व सूत्रमे कहे गये तप इस शब्दकी अनुवृत्ति कर यहां संवध कर लिया जाता है। अन्य मतावलम्बियो करके अभ्यास प्राप्त नही होनेके कारण इन प्रायश्चित आदिको की उत्तर तपस्यापना इष्ट किया गया ह । उत्तर इस पदका अर्थ यहा प्रकरण अनुसार अभ्यन्तर है, यो ये अभ्यन्तर तप है यह फलितार्थ निकला ।

अन्तरग इन्द्रिय हो रहे मनका इन प्रायश्चित आदिको मे अवलम्ब व्यापार होनेके कारण और वाह्यद्रव्यकी अपेक्षा न होनेके कारण ये अन्तरग तप है; तथा ये प्रायश्चित आदिक तप स्वतः ही भले प्रकार जानने योग्य है, अर्थात् उपवास आदिक जैसे दूसरे जीवो करके भी वेद्य है, उसप्रकार प्रायश्चित्त आदिक मानसिक उप-योग हो रहे सन्ते स्वसवेदन प्रत्यक्षद्वारा ही सवेद्य है, परसवेद्य नही है । इसी बात को ग्रन्थकार अगली वार्तिकद्वारा दिखलाकर स्पष्ट कह रहे हैं ।

प्रायश्चित्तादि षड्भेदं तपः संवरकारणं
स्यादुत्तरं स्वसंवेद्यमिति स्पष्टमनोगतं ॥१॥

संवरका कारण हो रहा प्रायश्चित्त आदि छह भेदवाला अभ्यन्तर तप है, जोकि स्पष्ट रूपसे मन इन्द्रिय द्वारा जान लिया गया, सन्ता स्वसवेदन प्रत्यक्ष करने योग्य है, अत यह अन्तरग तप हो सकता है ।

तद्भेदगणनार्थमाह, —

उन अन्तरग तपोके भेद प्रभेदो की गणना करनेके लिए सूत्रकार महाराज अग्रिमसूत्रको कह रहे है, उसको स्पष्ट सुनिये ।

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

ध्यान नामक तपसे पहिले तक क्रमानुसार नौ, चार, दश, पाच, दो इतने भेदवाले प्रायश्चित्त आदिक हैं। अर्थात् प्रायश्चित के नो भेद हैं, विनयके चार भेद है, दशभेदोको धाररहा वैयावृत्य है, स्वाध्याय के पाँच भेद है, दो भेदवाला व्युत्सर्ग है । ध्यानके भेदोका निरूपण भविष्यमे किया जायगा ।

नवादीनां भेदशद्वेनोपसंहितानामन्यपदार्था वृत्तिः । द्विशद्वस्य पूर्वनिपात-प्रसंग इति चेन्न, पूर्वसूत्रापेक्षत्वात् । शाद्वान्न्यायाद्द्वंद्वे सुरल्पाच्तरमिति सूत्रात्संख्याया अल्पीयस्या इत्युपसंख्यानाच्च द्विशद्वस्य पूर्वनिपातप्रसक्तावप्यार्थान्न्यायात् प्रायश्चित्ता-दिसूत्रार्थापेक्षया यथाक्रममभिसंबंधार्थलक्षणमुल्लंघ्यते, अर्थस्य बलीयस्त्वात् लक्ष्यानु-विधानाल्लक्षणस्य । एते च नवादयः प्रभेदा इत्याह—

संख्या व सख्येय को कह रहे और परली ओर पडे हुए भेद शद्व के साथ द्वन्द्व समास गर्भित उपसन्धान को प्राप्त हो रहे नव, चतुर आदि पदोकी अन्य पदार्थोको प्रधान रख रही बहुव्रीही समास नामकी वृत्ति कर ली जाय, तब तो प्रायश्चित्त आदिके नौ, चार, दश, पांच, दो भेद है, यह सूत्रार्थ हो जाता है ।

यहा कोई शंका करता है कि सूत्रमे द्वन्द्व समास को प्राप्त हुए द्वि इस शद्व का सबके पूर्व में नियम से पड जानेका प्रसंग आता है । ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना, क्योकि पूर्व सूत्रमे कह कहे गये प्रायश्चित्त आदिके भेदोकी अपेक्षा अनुसार व्युत्सग के भेदोको प्रतिपत्ति करानेके लिए पीछे द्वि शब्द कहा गया है ।

द्वन्द्व समासमें सुसज्ञवाले इकारान्त, उकारान्त पदोका पूर्वमे निपात कर उच्चारण किया जाता हैं, एव जिस पदमे अतिशय करके अल्प अच् होय उस पद का भी पूर्वसे निपात हो जाता है ।

तीसरी बात यह भी सूत्रोसे अतिरिक्त वार्तिको द्वारा कही गयी है कि संख्यावाची पदोमे अत्यन्त अल्पसंख्याको कह रहे पदका पूर्वमे निपात होता है ।

ये तीनों नियम द्वि शब्दका पहिले उपादान करनेमे लागू हो रहा हैं, यो शद्वशास्त्र सम्बन्धी वैयाकरण न्यायसे द्वि शब्दके पूर्व निपात हो जानेका प्रसंग आ पडने पर भी अर्थसम्बन्धी न्यायसे प्रायश्चित्त, विनय आदि सूत्रके अर्थकी अपेक्षा करके क्रम अनुसार उद्देश्य विधेय दोनोका सम्बन्ध करनेके लिए व्याकरण के लक्षण सूत्रोंका उल्लघन कर दिया जाता है, " द्वन्द्वे सुः " " अल्पाच्तर " इन सूत्रोसे तथा " सख्याया अल्पीयस्या. " इस उपसंख्यान किये गये वार्तिक से जो द्वि शब्द का पूर्व निपात होना आवश्यक पडा है, अर्थ सबंधी नीतिसे इसकी उपेक्षा की गयी है, क्योकि न्याय शास्त्रमे शब्दकी अपेक्षा अर्थ अत्यधिक बलवान होता है । व्याकरण के लक्षण सूत्रोको लक्ष्य के अनुकूल कार्य करना चाहिये, सिद्धांत या न्यायशास्त्रके अनुयायियोको थोडा व्याकरण का लक्ष्य रखना पडता है, किन्तु वैयाकरणो को अर्थका बहुभाग ध्यान रखना चाहिये, तभी तो " मिने चर्षौ " आदि सूत्र बनाने पडे ।

ये नौ आदिक प्रभेद है। अन्तरंग तपके छह भेद हैं और उन छह मे से पाच के नव आदिक प्रभेद हैं। इसी तत्त्वको ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट कह रहे है।

प्रोक्ता नवादयो भेदाः प्राग्ध्यानात्ते यथाक्रमं।
प्रायश्चित्तादिभेदानां तपसोभ्यन्तरस्य हि॥१॥

इस सूत्र द्वारा उमास्वामी महाराजने अभ्यन्तर तप संबधी प्रायश्चित्त, विनय आदिक भेदोके ध्यानसे पहिले यथाक्रम से वे नौ, चार आदिक प्रभेद नियम करके बहुत अच्छे कह दिये है। एक बार किसीके भेद कर पुनः उन भेदोके जो प्रकार किये जाते है, उनको प्रभेद कहते है।

यतस्तपसोऽभ्यन्तरस्य प्रायश्चित्तादय एव भेदात्मानो नवादयस्तेषां भेदा इति प्रभेदास्ते। प्राग्ध्यानदिति वचनं यथासंख्यप्रतिपत्त्यर्थम्।

जिम कारण से कि अभ्यन्तर तपके प्रायश्चित्त, विनय आदिक ही भेद स्वरूप है,इस कारण उन प्रायश्चित्त आदिकोके नौ, चार आदिक जो भेद है, इस कारण वे अभ्यन्तर तपके प्रभेद कहे जाते है, पुत्र का पुत्र पौत्र कहलाता है, उसका पुत्र भी प्रपौत्र हो जाता हैं।

सूत्र में ध्यान से पहिले यह जो निरूपण किया गया है वह सख्या अनुसार प्रभेदो की प्रतिपत्ति करानेके लिए है, अन्यथा प्रायश्चित्त आदि छह तपोका नौ, चार आदि सख्यावाची पाच पदोके साथ समन्वय नही हो सकता था। ध्यान मे पहिले यो कह देने पर तो पाच तपो का पाच सख्यापूर्वक भेदोके साथ यथासंख्य अन्वय बन जाता है, विषमता नही होती हैं।

तत्रास्य तपोभेदस्य नवविकल्पान् प्रतिपादयन्नाह;—

अब उन अभ्यन्तर तपोमे से पहिले भेद हो रहे प्रायश्चित्त नामक तपके नौ विकल्पो की शिष्यो को प्रतिपत्ति कराते हुये सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्रका परिभाषण कर रहे है।

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः॥२२॥

आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना ये प्रायश्चित्त के नौ भेद हैं। गुरु के सन्मुख अपने प्रमादकृत दोषोका प्ररूपण करना आलोचन है। भविष्यमे दोषो के सर्वथा परित्याग की भावना रखकर

वर्तमान सम्बन्धी स्वकीय दुष्कृत्यों का प्रतीकारार्थ मिथ्यापन भावित करना प्रतिक्रमण है।

" पडिक्कमामि भंते, इरियावहिणाए। विरायणाये। अणागुत्ते। पाणुग्गमणे। बिज्जुगमणे। हरिदुग्गमणे। उच्चारपस्सवणखेलसिंहाणाये। जियडिपइट्ठवणियाए जे जीवा। एइन्दिया वा। वेइन्दिया वा। तेइन्दिया वा। चउरिंदिया वा। पंचिंदिया वा। णोल्लिदा वा। पेल्लिदा वा। संघट्टिदा वा। संघादिदा वा। उद्दाविदा वा। परिदाविदा वा। लेस्सिदा वा। बिदिदा वा। छिंदिदा वा। ठाणदो वा। ठाणचकमणदो वा। तस्सविसोहिं करणं। जाव अरहन्ताणं। भयवन्ताणं। णमोकार करोमि। ताव काय। पावकम्म उच्चरियं। वोसरामि (जाप्यं देयं) । णमो अरहंताणं। णमो सिद्धाणं। णमो आयरियाण। णमो उवज्झायाण। णमो लोए सव्वसाहूणं।

ईर्यापथे प्रचलताद्य मया प्रमादा, - देकेंद्रियप्रमुखजीवनिकायबाधा।
निर्वर्तिता यदि भवेदयुगान्तरेक्षा, मिथ्यातदस्तु दुरितं गुरु(जिन)भक्तितो मे॥
करचरणतनुविघातादटतो निहतः प्रमादतः प्राणी।
ईर्यापथमिति भीत्या, मुञ्चे तद्दोषहान्यर्थं।

इच्छामिभन्ते ईरियावहमालोचेउं। पुव्वुत्तरदक्खिणपच्छिमचउदिसासु विदिसासु विहरमाणेण, जगुत्तरदिट्ठिणा, दट्ठव्वा, डव डव चरियाये, प्रमाददोसेण पाणभूद जीवसत्ताणं एदेसिं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, किरंतो वा, समणमणुदो वा, तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

पापिष्ठेन दुरात्मना जडधिया मायाविना लोभिना,
रागद्वेषमलीमसेन मनसा दुष्कर्म यन्निर्मितं।
त्रैलोक्याधिपते जिनेद्र भवतः श्रीपादमूलेऽधुना,
निन्दापूर्वमहं जहामि सततं निर्वर्तये कर्मणां।

इत्यादि रूपसे प्रतिक्रमण किया जा सकता है, जाप्य या सामायिक के समान प्रतिक्रमण करना भी अति आवश्यक है। आलोचन और प्रतिक्रमण दोनों का संसर्ग होते सन्ते आत्मा को शुद्ध करना तदुभय है। कोई दोष केवल आलोचन कर देने से ही प्रशांत हो जाता है। दूसरा दुष्कृत्य केवल प्रतिक्रमण करने पर निवृत्त हो जाता है। तीसरा दोष ऐसा है जिसका कि आलोचन, प्रतिक्रमण दोनो प्रायश्चित्त करने पर आत्मशुद्धि हो सकती है।

सबके साथ मिलकर हो रही खाने, पीने, उपकरण रखने आदिका व्यवस्थाओमे से कुछ कालतक के लिये दोषी जीवका पृथग् भाव कर देना विवेक है।

कार्योत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग है। उपवास आदि करना तप है। कुछ दिनो की दीक्षा का त्याग करा देना छेद है। पखवाडा, महीना, आदि के लिये दूर छोड देना परिहार है। वर्तमान की दीक्षा का छेद कर पुन नये तौर से दीक्षित करना (होना) उपस्थापना है।

यह नौ प्रकारका प्रायश्चित्त है।

लोक मे भी घृणित पदार्थ को देखकर थूक देनेसे या मुहसिकोड, आख हटाकर वैराग्य संपादक शब्द बोलते हुए करुणापूर्ण भावो द्वारा चित्त की ग्लानि मिटा ली जाती है। परमार्थतः जीव की अन्तरग शुद्धवृत्तिओसे दोष दूर होकर आत्म विशुद्ध हो जाता है।

प्रायश्चित्तस्य नवविकल्पाः। प्रमाददोषव्युदासभावप्रसादनैःशल्यानवस्थाव्यावृत्तिमर्यादात्यागसयमदाढर्चभावनादिसिद्धयर्थं प्रायश्चित्तं विशुद्धचर्थमित्यर्थः तस्यालोचनादयो निरवद्यवृत्तयो नवविकल्पा भवन्तीत्याह—

इस सूत्रमे प्रायश्चित्त के नौ विकल्प कह दिये गये हैं। प्रमाद से किये गये दोषोका निराकरण करने के लिए प्रायश्चित्त किया जाता है, भावोकी शुद्धिके लिए भी प्रायश्चित्त होता है। कोई अपराध बन जानेसे आत्मा मे शल्य लग बैठती है, उस शल्य का परित्याग कर निःशल्य हो जाना भी प्रायश्चित्त करनेका प्रयोजन है। पाप कर चुके जीवका चित्त अव्यवस्थित रहता है, प्रायश्चित्त कर लेनेसे वह चित्तकी अव्यवस्था या अनवस्था व्यावृत्त हो जाती है।

पापी जीव धार्मिक मर्यादाओका त्याग कर अनर्गल प्रवृत्ति कर बैठता है, प्रायश्चित्त कर लेनेसे पुन मर्यादा का त्याग नहीं हो पाता है।

प्रायश्चित्त कर लेनेसे सयम पालनेमे दृढता हो जाती है, अनित्यपन आदि बारह भावनाओ या पांचव्रतोको वाग्गुप्ति आदि पच्चीस भावनाओ तथा आत्मीय शुभ भावनाओ की सिद्धिके लिए प्रायश्चित्त किया जाता है।

अन्यथा पापमे प्रवृत्ति नही होना, अप्रशस्त कर्मो की स्थिति, अनुभाग का ह्रास हो जाना, आदिक प्रयोजनोको साधनेवाला प्रायश्चित्त हैं।

प्रायः का अर्थ अपराध है, चित्तका अर्थ विशेष शुद्धि है, उस अपराध की आत्मामे शुद्धि करना या अपराध को विशुद्धि के लिये प्रवर्तना यह प्रायश्चित्त का अर्थ है। उस प्रायश्चित्त के निर्दोष प्रवृत्ति स्वरूप आलोचना आदिक नौ भेद हो रहे है। इस ही सूत्रोक्त सिद्धांत को ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा कह रहे है।

आलोचनादयो भेदाः प्रायश्चित्तस्य ते नव ।
यथागममिह ज्ञेया निरवद्यप्रवृत्तये ॥१॥

प्रायश्चित्त के प्रसिद्ध हो रहे वे आलोचना आदिक नौ भेद आगम अनुसार जान लेना चाहिये, जोकि लगे हुए दोषोका निवारण करते हुए भविष्य में निर्दोष प्रवृत्ति कराने के लिये उपयुक्त हैं।

तत्र गुरवे प्रमादनिवेदनं दशदोषविवर्जितमालोचनं । प्रायश्चित्तलघुकरणार्थमुपकरणदानं,यदि लघु मे शक्त्यपेक्षं किंचित्प्रायश्चित्तं दीयते तदाहं दोषं निवेदयामीति दीनवचनं, परादृष्टदोषगूहनेन प्रकटदोषनिवेदनं, प्रमादालस्याभ्यामल्पदोषावज्ञानेन स्थूलदोषप्रतिपादनं, महादोषसंवरणेनाल्पदोषकथनं, ईदृशे दोषे किं प्रायश्चित्तमित्युपायेन प्रच्छन्नं, बहुयतिजनालोचनाशब्दाकुले स्वदोषनिवेदनं, किमिदं गुरूपपादितं प्रायश्चित्तं युक्तमागमे न वेत्यत्यन्यगुरुप्रश्नः,महदपि प्रायश्चित्तं गृहीतं न फलकरमिति संचित्य स्वसमानाय प्रमादावेदनं,परगृहीतस्यैव प्रायश्चित्तस्यानुमतेन स्वदुश्चरितसंवरणं, इति दशालोचनदोषास्तेषां वर्जनमात्मापराधस्याश्वेव निर्माय बालवदृजुबुध्याभिधानं तद्विशिष्टमालोचनं सम्यगवगंतव्यं ।

उन नौ प्रकार प्रायश्चित्तो में पहिला आलोचन यो हैं कि एकान्त मे विराजमान हो रहे प्रसन्न मनवाले गुरु के लिये (सन्मुख) शिष्य का विनय सहित होकर अपने प्रमादकृत अपराधोका दश दोषोसे विवर्जित हो रहा स्पष्ट निवेदन कर देना आलोचन है।

वे दशदोष इस प्रकार हैं कि गुरु महाराज प्रायश्चित्त लघु कर देवे इसके लिये पिच्छ, कमंडलु, आदि उपकरणोका दान करना पहिला दोष है। उपकरण दे देनेपर मुझे हलका प्रायश्चित देंगे ऐसा विचार कर पुस्तक आदि देना दोष समझा गया हैं।

शारीरिक प्रकृति से मै दुर्बल हूं, पीडित हूं, उपवास आदि बडे दण्डोको झेलने के लिये समर्थ नही हो सकता हूं, यदि गुरुजी मेरी हीनशक्ति की अपेक्षा कर कुछ हलका प्रायश्चित्त दे देवे, तब तो मै उनके सन्मुख दोषोका निवेदन किये देता हू, इस प्रकार दीनतापूर्ण वचन कहना दूसरा दोष है।

दूसरे प्राणियो करके नही देखे गये दोषो को छिपाकर दूसरोमें प्रकट हो चुके दोषोका ही मायाचार पूर्वक निवेदन करना तीसरा दोष है।

प्रमाद और आलस्यसे छोटे छोटे (सूक्ष्म) दोषोका तिरस्कार करते हुये केवल स्थूल दोषोका गुरुजी के सामने प्रतिपादन करना चौथा दोष है। यह अपराधी

अपने छोटे छोटे दोषो को जान बूझकर छिपा जाता है, मोटे दोषोको कह देता है ।
महाकठिन दण्ड प्राप्त होनेके भयसे बडे दोषोका संवरण करके मात्र छोटे छोटे दोषोका गुरुके सामने कथन करना पाचवा दोष है ।

गुरुजो महाराज, इस प्रकारके दोष हो जानेपर किसी को क्या प्रायश्चित्त दिया जा सकता है ? इस छलपूर्ण उपायसे दोषोको लुका छिपाकर गुरू की उपासना करना यह छठा दोप है । या "पृच्छन" पाठ मान लेने पर पूछना, अर्थ किया जाय ।

पखवाडे, चोमासे, या वर्षके अन्तमे कियो जानेवाली अनेक मुनिजनोकी आलोचनाओंके शब्दोंसे व्याकुल हो रहे अवसरपर व्याक्षिप्त मनवाले आचार्य महाराज के सन्मुख स्वकीय दोपोका निवेदन करना सातवा दोष है ।

गुरुजी के द्वारा समझाकर दिया गया यह प्रायश्चित्त (दण्डव्यवस्था) क्या आगम पद्धति मे युक्त है ? अथवा क्या प्रायश्चित्तशास्त्र अनुसार समुचित नही है ? इस प्रकार शंका रखते हुये शिष्यका अन्य आचाय गुरूके सन्मुख प्रश्न उपस्थित करना आठवा दोप है । आठवे दोषमे गुरू के प्रति अश्रद्धा और अपनी दुर्बलता व्यक्त की है ।

बहुत बडा भी प्रायश्चित्त ले लिया गया कुछ दृष्ट फल नही करता है, इस प्रकार अपने मनमे अच्छी मान ली गयी कुभावना पूर्ण चितना कर गुरूके प्रति दोषोका नही निवेदन करता हुआ आलसी मुनि अपने समान हो रहे दूसरे सहवासीके सन्मुख हो प्रमादोका निवेदन कर देता हैं, यह नौमा दोष हैं ।

नौमा दोषवाले को गुरु के प्रति अश्रद्धा भाव, परलोक का नही मानना, अतोन्द्रिय पदार्थों को इष्ट नही करना, आत्मीय शुद्धिका अभाव, अनास्तिक्य आदिक ऐब लगे हुये है ।

अपने समान दोपवाले दूसरे शिष्य करके गृहीत हो चुके प्रायश्चित्तको मान लेना कि इसो प्रायश्चित्त को मै ग्रहण कर लूं, सबके सन्मुख कहने मे बडी बुराई होगी इस प्रकार अपने दुश्चरित्रोको छिपा लेना दशवां दोप हैं ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अनुसार दण्डव्यवस्था बदलती रहती है । जज साहब एक अपराधी को सात वर्ष की सजा देते हैं, उसी प्रकारके दुसरे अपराधी को केवल तीन वर्षका सजा बोलते हैं । इसी प्रकार अन्तरग भावो और परिस्थितियो के वेत्ता आचार्य महाराज अपराधी शिष्योको अनेक प्रकारकी दंडव्यवस्था बताते है । यो आलोचन के दश दोप हैं, उनका परित्याग कर गुरूजी के सन्मुख शीघ्र ही अपने अपराध को देर न कर कह देना चाहिये, जैसे कि कपटरहित बालक अपनी स्वाभाविक

सरल बुद्धिसे स्वकीय दोपोका अन्यूनातिरिक्त कथन कर देता है, उसी प्रकार छलरहित होकर दशदोपो कर रहित जो आलोचन किया जायगा वह समीचीन विशिष्ट प्रकार का आलोचन समझ लेना चाहिये।

तच्च संयताश्रयं द्विविषयमेकान्ते संयतिकाश्रयं त्रिविषयं प्रकाशे प्रायश्चित्तं गृहीत्वा कुर्वतोऽकुर्वतश्च कुतश्चित्तपश्चरणसाफल्येतरादिगुणदोषप्रसक्तिः प्रसिद्धैव।

और वह आलोचन यदि मुनिका आचार्य के प्रति होय तो संयमियों का अवलम्ब पाकर हुआ एकान्त स्थलपर केवल दो मे ही होना चाहिये। (विषयत्वं सप्तम्यर्थ) अर्थात् सयमी यदि प्रायश्चित्त लेवे तो वहां एकान्तमे गुरू और शिष्य दो ही होने चाहिये, तथा यदि सयमवालो आर्यिका का अवलम्ब पाकर यदि प्रायश्चित्त लिया जा रहा हैं, तो प्रकाश (एकान्तरहित) प्रदेश मे कम से कम तीन प्राणियोमे लिया जाय, अर्थात् आर्यिकासे कोई प्रायश्चित्त लेवे, या आर्यिका किसी आचार्य से प्रायश्चित्त लेवे तो प्रसिद्ध स्थलमे तीन आदि जन अवश्य होने चाहिये, अकेले स्त्री का अकेले पुरुष के साथ एकान्त स्थलमे वार्तालाप आदि करना निषिद्ध है।

आचार्य महाराज से प्रायश्चित्तको ग्रहण करके श्रद्धापूर्वक उस प्रायश्चित्त को करनेवाले मुनिके तपश्चरण की सफलता, आत्मीय निर्दोषता, चारित्रविशुद्धि आदि गुणोंका प्रसंग मिल जाना प्रसिद्ध ही है और जो लज्जा, दुर्वलता, तिरस्कार, हीनशक्ति अश्रद्धा आदि किसी भी कारण से उस गृहीत प्रायश्चित्त को नही कर रहा है, उस शिष्यके तपश्चरण की निष्फलता, सदोषता, पापबंध, असंयम, आदि दोपोका प्रसंग हो जाना भी प्रसिद्ध ही है। अतः अतीचार या दोषो से आत्माको बचाकर सर्वदा शोधता रहे।

जो साहुकार अपने लेने, कर्ज, व्याज, भाडा, हानि, लाभका विचार नही रखता है, अन्धाधुंद होकर उधार बाटता है, अपव्यय करता है, वह कुछ ही दिनों में नष्ट (बरवाद) हो जाता है। उसी प्रकार मुमुक्षु संयमीको निर्दोष आलोचन द्वारा अपने दोपोका निवारण कर चारित्र विशुद्धि करते हुये शीघ्र निःश्रेयसंप्राप्ति का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये।

मिथ्यादुष्कृताभिधानाद्यभिव्यक्तप्रतिक्रिया प्रतिक्रमणं। तदुभयसंसर्गे सति शोधनात्तदुभयं। सर्वस्य प्रतिक्रमणस्यालोचनपूर्वकत्वात् केवलं प्रतिक्रमणमयुक्तमिति चेन्न। तत्र गुरुणाभ्यनुज्ञातेन शिष्येणैवालोचनकरणात्। तदुभयस्मिन् गुरुणैवोभयस्य विधानात्।

मेरे दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय यानी पूर्व कर्मोके वशसे या प्रमाद अनुसार मुझसे जो खोटा कृत्य बन गया है, वह मिथ्या पड जाओ, इस प्रकार कहने, विचारने चर्या करने आदि प्रयोगो करके पाप का प्रकट रूपमे प्रतीकार कर देना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण नामके प्रायश्चित्त से आत्मा मृदु हो जाता है, भविष्य मे खोटा कर्म करनेमे नही प्रवर्तता है।

उन आलोचन और प्रतिक्रमण दोनोका सम्बन्ध हो जाने पर आत्माकी शुद्धि हो जानेसे जो प्रायश्चित हुआ है, वह तदुभय कहा जाता है। किसी दुष्कृत्यजन्य अशुद्धि से मैला आत्मा आलोचन मात्र से शुद्ध हो जाता है, दूसरे ढंगकी मलिनता को केवल प्रतिक्रमण से हटाकर आत्मा शुद्ध बन बैठता है किन्तु कोई पापजन्य तीसरी अशुद्धि इस जाति की है, उसका निराकरण तदुभय से ही किया जाता है। जैसे कि किसी दण्डव्यवस्थानुसार अपराधी को शारीरिक क्लेश (जेलखाना) और आर्थिक हानि (जुरमाना) दोनो भुगतने पडते हैं।

यहा कोई शंका करता है कि सभी प्रतीक्रमणो के पूर्व मे आलोचन किया जाता है, अकेला प्रतिक्रमण कर लेना तो समुचित नही हैं, ऐसी दशा मे प्रतिक्रमण और तदुभय मे कोई अन्तर नही ठहरा, तब तो "तदुभय" का उपादान करना व्यर्थ पडा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना. क्योकि सभी प्रतिक्रमण यद्यपि आलोचन पूर्वक होते हैं, किन्तु उस प्रतिक्रमण मे तो गुरूजी द्वारा विनयपूर्ण आज्ञा प्राप्त कर चुके शिष्य करके ही आलोचन करना पडता हैं, और तदुभय मे तो गुरुजी करके ही आलोचन और प्रतिक्रमण दोनो का विधान किया जाता है, यो प्रतिक्रमण और तदुभय मे स्पष्ट अन्तर है।

संसक्तान्नपानोपकरणादीनां विभजनं विवेकः। व्युत्सर्गः कार्योत्सर्गादिकरणं। तपोनशनादि, दिवसपक्षमासादिप्रव्रज्या हापन छेदः। पक्षमासादिविभागेन दूरत. परिवर्जनं परिहारः। पुनर्दीक्षाप्रापणमुपस्थापना। तदिदं नवविधमपि प्रायश्चित्तं किं कस्मिन् प्रमादाचरिते स्यादिति परमागमादवसेयं,तस्य देशकालाद्यपेक्षस्यान्यथावसातुमशक्यत्वात्।

मिलजुल कर व्यवहार मे आ रहे खाने, पीने, उपकरण धरने, शास्त्र विराजमान करने आदि का पृथग्भाव कर देना विवेक है। अर्थात् जो मुनि एक साथ खाते, पीते, बैठते यात्रा करते हैं, अपराधी शिष्यको उन व्यवहारो मे से अलग कर दिया जाता है, यह विभाग करना विवेक नाम का प्रायश्चित्त है। लोक मे भी अपराधी को जाति-विरादरी से यथायोग्य अलग कर देना दण्ड चला आ रहा है।

कालका नियम कर कार्योत्सर्ग, कठिन आसन, आदि करना व्युत्सर्ग है। जैसे किसी विद्यार्थी के प्रमाद से वायुद्वारा शास्त्रजीका पत्र उडकर भूमि पर पड गया, इस अविनय का दण्ड गुरूजी ने नमस्कार मन्त्र पढते हुये कार्योत्सर्ग कर लो बतलाया या कुछ देर के लिये एक कठोर आसन से आतपन योग करना आज्ञापित किया, उसी भाँति आत्मशुद्धि के लिये व्युत्सर्ग किया जाता है।

तप नामका छठा प्रायश्चित्त तो उपवास करना, ऊनोदर खाना, आदि प्रसिद्ध ही है।

अनेक दिनो से दीक्षित हो रहे शिष्य की किसी अपराध के बन जाने पर दिन, पक्ष, महिना, चातुर्मास, आदि विभाग कर के दीक्षाका त्याग करा देना छेद नामका प्रायश्चित्त है।

पखवाडा, महिना, ऋतु आदि का विभाग कर दूर हो से अपराधी शिष्य को योग्यतानुसार वर्ज देना परिहार हैं।

महाव्रतोका मूल से ही उच्छेद कर पुनः नये स्वरूप से दीक्षा प्राप्त कराना उपस्थापना नामका प्रायश्चित्त है। सो यह नौ भी प्रकारका प्रायश्चित्त कौनसा किस किस प्रमाद या दोष के आचरण करने पर हो सकेगा, इस रहस्य को परमोत्कृष्ट आगम से निर्णीत कर लिया जाय। देश, काल, अवस्था, शारीरिक संहनन, आत्मोय भाव आदि की अपेक्षा रख रहे उस प्रायश्चित्त विधान का आगम या गुरु परिपाटी के अतिरिक्त अन्य प्रकारो (उपायो)से निर्णय नही किया जा सकता हैं। आचार्यो करके मुनियो और गृहस्थो को प्रायश्चित्त दिया जाता हैं। गृहस्थो को गृहस्थाचार्य या सदाचारी उद्भट पण्डित भी प्रायश्चित्त की व्यवस्था कर देते हैं। सिद्धांतरहस्य या प्रायश्चित्त के शास्त्रोका अध्ययन, अध्यापन करना विशेष अधिकारियो मे ही नियमित है, साधारण रूप से प्रायश्चित्त शास्त्रों का उपदेश, आदेश, नही दिया जाता है।

अथ विनयविकल्पप्रतिपादनार्थमाह;—

प्रायश्चित्त का प्ररूपण कर चुकने पर अब सूत्रकार महाराज विनय नामक तप के भेदों की प्रतिपत्ति कराने के लिये उस अग्रिम सूत्रका स्पष्ट कथन कर रहे है।

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥२३॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार इनका विनय करना ज्ञानविनय, दर्शन विनय, चारित्रविनय और उपचारविनय हैं। इनमे तीन तो अशुद्ध निश्चयनयके विषय

हो रही अध्यात्म विनय है और चौथी व्यवहारनय का विपय होकर बाह्य अवलम्बनोसे विशेषित हो रही उपचारविनय है। अन्तरग पावन पुरुषार्थो से अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्रो को बढाकर विशुद्ध करते हुये स्वय उनका विनय किया जाता है, वस्तुत. यही परमार्थ विनय हैं। बहिरग मे गुरु आदिक का विनय तो भावविनय नही होकर द्रव्य विनय है। हा, भावविनय का सहकारी कारण होनेसे उपचारविनय भी सादर पालनीय है।

विनय इत्यनुवर्तते,प्रत्येकमभिसंबंधः, ज्ञानविनय इत्यादि। तत्र सबहुमान ज्ञानग्रहणाभ्याससमरणादिर्ज्ञानविनयः। पदार्थश्रद्धाने निःशंकितत्वादिलक्षणोपेतता दर्शनविनयः, सामायिकादौ लोकबिन्दुसार पर्यन्ते श्रुतसमुद्रे भगवद्भिः प्रकाशितेन्यथा पदार्थकथनासंभवात्।

"प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्य" इत्यादि सूत्रसे विनयशद्ब को अनवृत्ति कर ली जाती है। उस विधेय दलमे डाल दिये गये विनय पदका प्रत्येक ज्ञान आदि के साथ परली ओर से संबध कर लेना चाहिये, तब तो ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, उपचारविनय इस प्रकार विनय तपके चार भेद हो जाते हैं।

उन चार विनयोमे पहिली ज्ञानविनय तो यो है कि जिनागम या स्वकीय शुद्ध ज्ञानका बहुत मान रखते हुए जीव करके सम्यग्ज्ञान के ग्रहण का अभ्यास करना, स्मरण करना, चिंतन करना,आदिक ज्ञान विनय है। "ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च बहुमानेन स्मन्मितमनिन्ह्वं ज्ञानमाराध्यम्"। यो अष्टअगसमन्वित ज्ञान की आराधना करनी पडती है।

जिनोपदिष्ट पदार्थो के श्रद्धान करने मे नि शंकितपन, अविपरीतपन आदि स्वरूपोसे सहितपना दर्शनविनय है। "सूक्ष्मं जिनोदित तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते,आज्ञासिद्ध तु तद्ग्राह्य नान्यथावादिनो जिना" इस प्रकार तत्त्वो मे अकम्प लोहजल के समान संशयरहित रुचि रखना दर्शन विनय है। सामायिक, चतुर्विशतिस्तव, वन्दना आदिक चौदह अगबाह्य श्रुतज्ञानमे अथवा आचार अंग आदि अगो त । उत्पादपूर्व, अग्रायणीय पूर्व को आदि लेकर त्रिलोक बिन्दुसार चौदह ये पूर्व पर्यन्त, श्रुतसमुद्र मे यथार्थ प्रतिपादन है, इनकी प्रणाली के अतिरिक्त अन्य प्रकारो से पदार्थों का कथन करना असंभव है, श्री जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रकाशित हो रहे शास्त्रसमुद्र में ही पदार्थों का निरूपण सत्यार्थ हो रहा है, ऐसो नि संशय दृढता दर्शनविनय को प्राण है।

तद्वताश्चारित्रे समाहितचित्तता चारित्रविनयः । प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वभ्युत्थानाभिगमनांजलिकरणादिरुपचारविनयः, परोक्षेष्वपि कायवाङ्मनोभिरंजलिक्रिया गुणसंकीर्तनानुस्मरणादिः । ज्ञानलाभाचारविशुद्धिसम्यगाराधनाद्यर्थं विनयभावनं । किमर्थं पुनर्ज्ञानादयो विनया इत्यभेदेनोक्ता इत्याह—

उन ज्ञानविनय और दर्शनविनय से सहित हो रहे तपस्वीका चारित्र मे समाधियुक्त होकर चित्त लग जाना चारित्र विनय है ।

सन्मुख प्रत्यक्ष किये जा रहे पूजनीय आचार्य, उपाध्याय आदि मे सम्भ्रम हर्षयुक्त होकर शीघ्र उठ कर आदर करना, उनके अनुकूल गमन करना, हाथ जोड अञ्जलि करना, प्रणाम करना, अनुनय करना, आदिक सब उपचार विनय है, तथा आचार्य आदि के परोक्ष होने पर भी उनको मन मे विचार कर शरीर से अञ्जलि सहित प्रणाम करना, वचन से उनके गुणोका अच्छा कीर्तन करना और मनसे उनका या उनके गुणोंका बार बार स्मरण, कीर्तन, प्रशसा आदि करना उपचारविनय है । यों ज्ञान की प्राप्ति, आचार की शुद्धि, समीचीन आराधनाओंका अनुभव, आत्मीय मृदुता आदि प्रयोजनों के लिये विनय नामक तपकी भावना की जाती है ।

यहा कोई प्रश्न उठाता है कि ज्ञानकी विनय, दर्शन की विनय यों ज्ञान आदि और विनय का षष्ठी विभक्ति अनुसार भेद करके निरूपण करना अच्छा लगता है, किन्तु सूत्रकार ने फिर ज्ञान आदिक चार विनय हैं, यो अभेद करके इस सूत्रमें प्ररूपण किया है, सो वह प्रतिपादन फिर किस प्रयोजन को लिये हुये है ? बताओ । ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इन अग्रिम दो वार्तिकों को कह रहे हैं ।

ज्ञानादयोत्र चत्वारो विनयाः प्रतिपादिताः ।
कथंचित्तदभेदस्य सिद्धये परमार्थतः ॥१॥
ज्ञानादिमात्र ना सम्यग्ज्ञानादि विनयो हि नः ।
तस्यांतरंगता न स्यादन्यथान्येन वेदनात् ॥२॥

निश्चय नय अनुसार परमार्थ रूप से उन ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचारों का विनय तप के साथ कथंचित् अभेद हो रहा है, इस रहस्य की सिद्धि के लिये सूत्रकारने इस सूत्रमे अभेद प्रतिपादक प्रथमा विभक्ति अनुसार ज्ञान आदिक चार विनय कह कर समझा दी है । हम जैन दार्शनिको के यहां ज्ञान, दर्शन आदि की भावना करना ही अर्थात् अपने पुरुषार्थ से अपनी ज्ञान आदि सम्पत्तियों को जैसे

होय.तैसे बढाना ही सम्यग्ज्ञान आदि का विनय है। मन्दिरजी मे शास्त्र के सन्मुख हाथ जोड लेना या जिनेन्द्र देव के दर्शन कर लेना मात्र यही बहिरंग क्रिया ज्ञान, दर्शन विनय नही हैं। अन्यथा यानी यदि ज्ञान आदिको विनय नहीं मानकर हम बहिरग व्यवहार को ही हम विनय मान बैठते तो अन्य जीवो करके सवेदन हो जानेके कारण उस विनय तपको अतरगपना नही हो पाता, क्योकि दूसरोसे संवेद्य हो रहे अनशन आदि तप या घट, पट, आदिक पदार्थ वहिरग माने गये है। हा, स्वसवेदन प्रत्यक्ष करके अनुभूत हो रहे ज्ञान आदि विनय या सुख, दुख आदि पदार्थ अन्तरंग हैं।सर्वज्ञके अतिरिक्त अन्य जीवो से भी जिसका प्रत्यक्ष हो रहा है वह पदाथ अन्तरग नही हो सकता हैं। उपचार विनयमे भी अन्तरंग परिणाम कुछ निराले हो रहे हैं।

अथ वैयावृत्त्यप्रतिपत्त्यर्थमाह, —

विनय नामक अन्तरग तपका निरूपण कर चुकने पर अब सूत्रकार महाराज शिष्यो को वैयावृत्त्य तपके भेदो की प्रतिपत्ति कराने के लिये इस अगिले सूत्रकी रचना करते हैं।

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानां ॥२४॥

आचार्य की वैयावृत्त्य करना, उपाध्याय महाराजकी टहल करना, तपस्वी की परिचर्या करना, शिक्षा लेनेकी वान रखने वाले मुनियो की अनुकूल वृत्तिता करना, रोगादिक से क्लेश पा रहे ग्लान मुनियो की सेवा करना, वृद्ध मुनि गण की शुश्रूषा करना, कुल मे एकत्रित हो रहे यतिवरो का अनुनय करना, सघकी उपासना करना, साधुओकी सपर्या करना, मनोज्ञ मुनियोका परिचारकत्व करना, यो दशप्रकार वैयावृत्त्य नामका तप है।

वैयावृत्त्यमित्यनुवृत्ते. प्रत्येकमभिसबंधः। व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्त्यं। किमर्थं तदुक्तमित्याह; —

बीसमे सूत्र से वैयावृत्त्य इस शब्द की अनुवृत्ति कर ली जाती हैं,इस कारण उस वैयावृत्यपदका षष्ठी विभक्ति वाले आचार्य आदिप्रत्येक के साथ परली ओर सम्बन्ध कर लिया जाय। आचार्य की वैयावृत्य, उपाध्याय की वैयावृत्य आदिक यो दस भेद कर पूरे नाम समझे जाते है। व्यावृत्त शद्ब से भाव या कर्म मे ष्यञ् प्रत्यय कर ऐच् का आगम करते हुये वैयावृत्य शब्द बना लिया जाता है। व्यावृत्त हो रहे पुरुष का भाव (परिणाम) अथवा कर्म (क्रिया) वैयावृत्य है। वह वैयावृत्य किसलिये कहा गया है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा उत्तर कहते है।

आचार्यप्रभृतीनां यद्दशानां विनिवेदितं ।
वैयावृत्यं भवेदेतदन्वर्थप्रतिपत्तये ॥१॥

आचार्य, उपाध्याय आदि दश प्रकारके मुनियोका जो वैयावृत्य करना इस सूत्र मे विशेष रूपेण निवेदन किया जा चुका है, यह तो वैयावृत्य शब्द के प्रकृति प्रत्यय अनुसार निकाले गये अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये हो सकता है। अर्थात् किसी जीवके ऊपर व्याधि, परीषह, उपसर्ग, मिथ्यात्व, आदि विपत्तियोका प्रसग आ जाने पर काय की चेष्टा अथवा अन्य द्रव्य करके उन व्याधि आदिको का प्रतीकार कर देना वैयावृत्य है। गुण मे राग करने की बुद्धि से संयमी के पावोको दबाना या अन्य भी संयमी का उपकार करना, प्रासुक औषधि खाना, पीना, कराना, आश्रय, काठ का तकिया, तृणो की शैय्या, आदि उपकरणो करके कष्टो को हटाना अथवा उनका श्रद्धान दृढ रखना इत्यादिक सब वैयावृत्य है। वैयावृत्य इतने बडे शब्दकी निरुक्ति करके ही उक्त अर्थ निकल पडता है। श्रावक के उत्तर गुणों मे श्री समन्तभद्र आचार्य ने वैयावृत्य शिक्षाव्रत कहा है और सूत्रकार महाराज ने अतिथि सविभाग कहा हैं। विधि, द्रव्य दाता, पात्र, प्रतिग्रह आदिका लक्ष्य रखते हुये नवकोटिसे विशुद्ध हो रहे दाता का संयमियो के लिये दान देना भी वैयावृत्य है।

आचरंति तस्माद् व्रतानीत्याचार्यः। उपेत्य तस्मादधीयत इत्युपाध्यायः। महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी। शिक्षाशीलः शैक्षः, रुजादिविलष्टशरीरो ग्लानः। गण. स्थविरसंततिः। दीक्षकाचार्यसंस्त्यायः कुलं। चातुर्वर्ण्यश्रमणनिवहः संघः। चिरप्रव्रजित. साधु। मनोज्ञोभिरूपः। संमतो वा लोकस्य विद्वत्त्ववक्तृत्वमहाकुलत्वादिभि', असंयतसम्यग्दृष्टिर्वा। तेषां व्याधिपरीषहमिथ्यात्वाद्युपनिपाते तत्प्रतीकारो वैयावृत्यं बाह्यद्रव्यासम्भवे स्वकायेन तदानुकूल्यानुष्ठानं च। तच्च समाध्याधाना विचिकित्साभाव प्रवचनवात्सल्याद्यभिव्यक्त्यर्थं। बहूपदेशात् क्वचिन्नियमेन प्रवृत्तिज्ञापनाय भूयसामुपन्यासः।

आचार्य आदि शब्दो की निरुक्ति अनुसार अर्थ यो है कि सम्यग्ज्ञान चारित्र के आधार हो रहे उनसे प्राप्त हो रहे व्रतो का आचरण किया जाता हैं, इस कारण से आचार्य है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, तप इन पाच आचारों का स्वयं आचरण करते हुये जो दूसरे भव्यो को भी आचरण कराते है, अत ये आचार्य हैं।

विनय से प्राप्त होकर, व्रत, शील, भावना और विशिष्ट ज्ञानके आधार हो

रहे उस प्रसिद्ध पाठक से जो शास्त्रज्ञान पढा जाता है, इस कारण यह उपाध्याय है, उप्+अधि+इण+घञ्+सु=उपाध्यायः।

भूम या प्रशसा अथवा अतिशय अर्थ मे मत्वर्थीय विन् प्रत्यय कर तपस्वी शब्द बनाया जाता है। महान् उपवास, रसपरित्याग, कायक्लेश आदिका प्रमोद सहित अनुष्ठान करनेवाला मुनि तपस्वी कहा जाता है।

जिनागम के शिक्षा लेने की टेव को धार रहा व्रतधारी सयमी शैक्ष्य कहा जाता है।

रोग, उपसर्ग आदि करके जो शारीरिक क्लेश उठा रहा है, वह व्रती ग्लान समझा जाता है।

वृद्ध यमियो की संतति (मण्डल) गण है। दीक्षा देनेवाले आचार्य महाराज का सघात (दीक्षित परिमण्डल) कुल है। ऋषि, मुनि, यति, अनगार इन चार वर्ण के नग्न साधुओंका समुदाय संघ कहा जाता है।

बहुत कालके दीक्षित हो रहे मुनि साधु माने गये है। अत्यन्त सुंदर हो रहे मुनि मनोज्ञ हैं, अथवा विद्वत्ता, वक्तृता, महान् कुलमे उपजना, अनेक लोकोपकारी कार्य करना, सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार ग्रन्थ बनाना, आदि गुणो करके जो जन समुदाय द्वारा सन्माननीय हो रहें हैं, वे मनोज्ञ है। चौथे गुणस्थानवाले असयमी सम्यग्दृष्टि भी मनोज्ञ कहे जा सकते है।

उन आचार्य आदि दशो प्रकार के व्रतियो पर शारीरिक व्याधि. परीषह, मिथ्यादृष्टि हो जानेका प्रसग, मानसिक व्याकुलता, आदि विघ्नोके उपस्थित हो जाने पर निर्जीव औषधि, खाद्यपेय पदार्थ, आसन आदि उपकरणो द्वारा उनका प्रतीकार करना वैयावृत्य है।

यदि बहिरग औषधि खाद्य आदि सामग्री मिलनेका असभव हो जाय तो अपने शरीर करके उन आचार्य आदिको के मनोऽनुकूलपन से क्रिया करना भी वैयावृत्य हैं।

वह वैयावृत्य तो अन्य ओर से चित्तवृत्ति का निरोध करते हुये चित्तवृत्ति की एकाग्रता को धारण करना, ग्लानिका अभाव हो जाना, प्रवचन (उत्कृष्ट वचनवाले साधु या आगम) की वत्सलता और स्वामीसहितपन, दुःखप्रतीकार आदि को प्रकट करने के लिये किया जाता हैं। अर्थात् सेवा या वैयावृत्य करनेवाले पुरुषोंका योग मिल जाने पर व्याधिपीडित मुनिका चित्त ध्यान मे संलग्न हो जाता हैं। सेवको का सेव्य

मुनिके कफ, नासिका मल, मूत्र, पुरीप, आदि मलोका धोना हठाना आदि क्रिया अनु–
सार निर्विचिकित्सा अग पुष्ट होता है। सेवक के प्रवचन की वत्सलत्व गुण को पुष्टि
मिलती है। प्रकृष्ट है वचन जिनके प्रकृष्ट जो वचन, इत्यादि निरुक्तियो करके प्रवचन
शद्ब द्वारा देव, शास्त्र, गुरु, वक्ता, वाग्मी, वादी इन सबका ग्रहण हो जाता है। सेव्य
मुनिको अपने सम्भालनेवाले स्वामयो का भी आत्मा मे सवेदन होता रहता है। जोकि
जघन्य या मध्यम श्रेणी के साधुओको कदाचित् अभीष्ट हो रहा है, उत्तम श्रेणीके
साधु तो वैयावृत्य किये जाने और नहो किये जाने दोनो दशा मे समान रूप से आत्म
ध्यानस्थ रहते हैं।

यहाँ कोई यह पूछ सकता था कि इस सूत्र मे आचार्य आदि बहुत मुनि–
योके नाम क्यो गिनाये हैं? संघकी वैयावृत्य या गणकी वैयावृत्य मात्र इतना कहने से
सभी प्रयोजन सघ जाता है। इसका समाधान करने के लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि
आचार्य आदि बहुतो मे वैयावृत्य करनेका उपदेश दे देने से किसी न किसी में किसी भी
सेवक की नियम करके वैयावृत्य करने की प्रवृत्ति हो जाय,इस सिद्धात का ज्ञापन करने
के लिये आचार्य आदि बहुत से व्रतियोका इस सूत्रमे विशदतया प्ररूपण किया गया है।
सूत्रोक्त पद व्यर्थसारिखे होकर अपरिमित अर्थका ज्ञापन कराते हुये पुनः सार्थक
हो जाते हैं।

अथ स्वाध्यायप्ररूपणार्थमाह;–

वैयावृत्य के अनन्तर अब प्रसग प्राप्त हो रहे स्वाध्याय तपका प्ररूपण
करने के लिये श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं।

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥२५॥

आप्तोक्त ग्रन्थोको वाचना, सर्वज्ञ आम्नाय से चले आ रहे ग्रन्थोके प्रमेयोमे
संशयच्छेद या निर्णय के लिये विशिष्ट ज्ञानीको पूछना, जान लिये गये विषयका मनसे
चिंतन करना, द्वादशाग वाणीके साक्षात् या परम्परा से प्राप्त हुये जैन वाङमय का
शुद्ध घोकना और धर्मोपदेश देना या सुनना, यो पांच प्रकारका स्वाध्याय तप है।

स्वाध्याय इत्यनुवर्तमानेनाभिसंबंधः। निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रतिपादनं
वाचना। संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः पृच्छना। अधिगतार्थस्य
मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा। घोषशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः। धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः।
प्रज्ञातिशयप्रशस्ताध्यवसायाद्यर्थ स्वाध्यायः। कथमयमंतरंगरूप इत्याह।

" प्रायश्चित्तविनय " इत्यादि सूत्र से अनुवृत्त किये जा रहे स्वाध्याय इस पदका वाचना आदि प्रत्येक के साथ विधेय दलको ओर सबध कर लिया जाय । आप्तोपज्ञ निर्दोप ग्रन्थका या उसके अर्थका अथवा दोनोका योग्य विनीत पात्र मे प्रतिपादन करना, वाचना नामक स्वाध्याय है ।

उत्पन्न हुये सशय का छेद करनेके लिये अथवा निर्णीत हो चुके का पुनरपि बलाधान यानी दृढ अवधारण करने के लिये,जिससे कि कालान्तरमे भी सशय नही हो सके, दुसरे प्रकाड विद्वान् के प्रति सविनय प्रश्न उठाकर पूछना, पृच्छना स्वाध्याय है । पूछनेवाला विनीत पुरुष अपने उत्कर्ष या दूसरो का तिरस्कार तथा उपहास हो जानेका अणुमात्र भी विचार न रक्खे । जीतने की इच्छा, जोरसे चिल्लाना, अपना प्रभाव जमाना, आदि दूषण प्रश्नकर्ता को टालने चाहिये, तभी तत्वबुभुत्सा अनुसार यथार्थज्ञानकी प्राप्ति हो सकेगी ।

जान लिये गये प्रमेय अर्थका मनसे चिन्तना करते ये अभ्यास करना अथवा उन अर्थों को बार बार चिंतन करना, अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है ।

ज्ञात हो चुके पाठको पुनः पुनः परिवर्तन करते हुये शुद्ध घोकना,आम्नाय स्वाध्याय हैं । घोखते हुये प्रतिष्ठा या अन्य इस लोक सम्वन्धि फलोकी आशा नही रखी जाय । अधिक शीघ्रतासे या अधिक विलम्ब से उच्चारण करना, गीत गाना, शिर को कपाना, अर्थ को नही समझकर रटना, अति मन्द स्वर से घोखना, इत्यादि ऐबो को टालकर घोखा जाय ।

देखे जा रहे लौकिक प्रयोजनो का परित्याग कर मिथ्या मार्ग की निवृत्ति के लिये अथवा दूसरो के सन्देह को व्यावृत्ति के लिये आर्षप्रणीत धर्मकथा, आचार प्रकाशन और अगपूर्व सम्वन्धी प्रज्ञापनीय तत्त्वोका प्रतिपादन करना, धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय है ।

स्वाध्याय तपको करने का प्रयोजन यह हैं कि हिताहित का विवेक करने वाली प्रज्ञाबुद्धि मे अतिशय उपजे, निर्दोष प्रशसनीय तत्त्वोका अध्यवसाय किया जाय, आप्तोक्त शास्त्रोकी अक्षुण्ण स्थिति बनी रहे, श्रोताओ, वक्ताओ के सशय का निराकरण हो जाय, अन्य मिथ्यादार्शनिको का उपद्रव नही सता सके, दूसरो के हृदय मे जैन सिद्धात को धाक जमा दो जाय, स्वपक्षमण्डन, परमतखण्डन, अपने को और दूसरे भव्यो को शीघ्र मोक्ष मार्ग पर ले जाना, वैराग्य तपोवृद्धि, आत्मविशुद्धि आदिक फल स्वाध्याय के प्रसिद्ध ही है ।

यहा कोई शंका उठाता है कि यह स्वाध्याय अन्तरंगतप स्वरूप किस प्रकार है ? बताओ। ऐसी आशका उपस्थित होने पर ग्रन्थकार श्री विद्यानद स्वामी समाधानार्थ अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

स्वाध्याय: पंचधा प्रोक्तो वाचनादिप्रभेदत:।
अंतरंगश्रुतज्ञान – भावनात्मत्वतस्तु स: ॥१॥

वाचना, पृच्छना आदिक प्रभेदो से स्वाध्याय तप: पांच प्रकारका इस सूत्र मे बढिया कहा जा चुका है, (प्रतिज्ञा) क्योकि वह स्वाध्याय तो अन्तरंग मे श्रुतज्ञान की भावना स्वरूप हो रहा है, (हेतु) श्रुतज्ञान की भावना अन्तरंग तप हैं, अत: तदा-त्मक स्वाध्याय भी अन्तरंग तप कहा जाता है।

अथ व्युत्सर्गप्रतिनिर्देशार्थमाह;–

स्वाध्याय का निरूपण कर चुकने पर अब श्री उमास्वामी महाराज अवसर प्राप्त व्युत्सर्ग नामक तपका परामर्श करते हुये विनीत शिष्योकी प्रतिपत्ति कराने के लिये अग्रिम सूत्र शीतल वारि को स्वकीयमुखहिमवान से उतार कर कह रहे हैं।

बाह्याभ्यन्तरोपध्यो: ॥२६॥

बाह्य उपधियो (परिग्रहो) और अभ्यन्तर उपधियोंका परित्याग कर देना व्युत्सर्ग नामक तप है।

व्युत्सर्ग इत्यनुवृत्तेर्व्यतिरेकनिर्देश: पूर्ववत्। उपधीयते बलाधानार्थमि-त्युपधि:। अनुपात्तवस्तुत्यागो बाह्योपधिव्युत्सर्ग:। क्रोधादिभावनिवृत्तिरभ्यन्तरोपधि-व्युत्सर्ग:। कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वा।

"प्रायश्चित्तविनय" इत्यादि सूत्र से व्युत्सर्ग इस पदकी अनुवृत्ति हो जाने से पूर्वके समान षष्ठी विभक्ति के अनुसार भेद निर्देश करते हुये परली ओर व्युत्सर्ग का अन्वय कर देना अर्थात् 'वि+उत्+सृज्+घञ्' यो भावमे प्रत्यय कर व्युत्सर्ग शद्व बनाया गया हैं। अत: भाव क्रिया के लिये व्यतिरेक का कथन करनेवाली "बाह्या-भ्यन्तरोपध्यो" इस सूत्र से द्विवचनान्त षष्ठी विभक्ति कही गयी है। पहिले, बाईसवे, तेईसवे, और पच्चीसवे सूत्रोमे अभेद को कह रहे प्रथमा विभक्तिवाले पद है, किन्तु चौवीसवे और छब्वीसवे सूत्र मे वैयावृत्त्य करना और परित्याग कर देना यो विधेय दल की क्रियाओकी अपेक्षा षष्ठी विभक्ति डाली गयी है। (कर्तृकर्मणो: कृतिषष्ठी ।

भोग और उपभोगो में बलाधान यानी पुष्टि प्राप्त कराने के लिये जो परिग्रहीत हो रहा है, इस कारण यह उपधि है।

आत्मा के साथ कथंचित् एकपन को प्राप्त होकर नही ग्रहण किये गये वस्तुका त्याग कर देना बाह्य उपधियोको व्युत्सर्ग कहा जाता है। तथा आत्मा के साथ कथचित् एकत्व को प्राप्त होनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, आदि औदयिक भावोकी निवृत्ति कर देना अभ्यन्तर उपधियोका व्युत्सर्ग है। नियत काल तक अथवा जोवन पर्यन्त काय का त्याग कर देना भी अभ्यन्तर उपधि का परित्याग है, क्योकि क्रोध आदिके समान शरीर का भो जीव ने अन्तरंग रूप से परिग्रह कर रक्खा है।

परिग्रहनिवृत्तेरवचनमिति चेन्न, तस्य धनहिरण्यवसनादिविषयत्वात्। धर्माभ्यन्तरभावादिति चेन्न, प्रासुकनिरवद्याहारादिनिवृत्तितंत्रत्वात्। प्रायश्चित्ताभ्यन्तरत्वादिति चेन्न, तस्य प्रतिद्वन्द्विभावात् प्रायश्चित्तस्य हि व्युत्सर्गस्यातिचारः प्रतिद्वन्द्वीष्यते निरपेक्षश्चाय ततो नैतद्वचनमनर्थकं। अनेकत्रावचनमनेनैव गतत्वादिति चेन्न शक्त्यपेक्षत्वात्। तदेवाह—

यहां कोई शका उठाता है कि महाव्रतोका उपदेश करते समय परिग्रह की निवृत्ति कह दी गयी है, इस कारण यहा पुन अन्तरग वहिरग परिग्रहोका त्याग करना व्यर्थ है, तब तो यहा तपो के प्रकरण मे व्युत्सर्ग का निरूपण नही करना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योकि, "हिंसानृतस्तेयाब्रम्हपरिग्रहेभ्यो विरतिव्रतं" इस सूत्र अनुसार उस परिग्रह निवृत्ति का कथन तो गाय, भेस, सोना, वस्त्र, धान्य, आदिके परित्याग को विषय करता है और यहा तपस्वी के सभी अन्तरग, बहिरग, उपधियो और शरीर का भी ममत्व त्याग कर देना अभीष्ट हो रहा है, तपश्चरण कर रहा मुनि कुछ नियत कालके लिये सम्पूर्ण उपधियो का साकल्पिक परित्याग कर बैठता है।

पुन शंकाकार कह रहा हैं कि उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार के धर्मों मे त्याग धर्म भीतर पडा हुआ है, तदनुसार उपधियोका परित्याग कर दिया जायगा, पुनः यहा व्युत्सर्ग क्यो कहा जा रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना भी तो ठीक नही है, कारण कि जीवरहित निर्दोष आहार, औपधि, आदि की निवृत्ति करना यानी दान करना इस क्रिया को कराने के लिये त्यागधर्म पराधीन है, अर्थात् त्यागधर्म अनुसार गृहस्थ आहार, औपधि, वसतिका आदिका दान मुनिके लिये या अन्य

सद्‌गृहस्थो के लिये करता है और मुनि महाराज भी ज्ञानदान करते हुये चेतन,अचेतन परिग्रहो का परित्याग कर देते हैं, त्याग धर्म मे कोई काल का नियम नही है, काल का नियम नही कर शक्ति अनुसार त्याग कर दिया जाता है ।

पुनरपि शंकाकार कह रहा है कि प्रायश्चित्त के भेदो मे व्युत्सर्ग भीतर प्रविष्ट हो रहा है, पुनः यहा व्युत्सर्ग क्यो कहा जाता है । ग्रन्थकार कहते है कि यह मन्तव्य भी ठीक नही हैं, क्योकि प्रायश्चित्त मे गर्भित हो रहे उस व्युत्सर्ग का प्रतिद्वन्द्वी अतीचार विद्यमान है, व्युत्सर्ग नाम के प्रायश्चित्त का प्रतिपक्ष हो रहा अतीचार दोष इष्ट हो रहा है, कोई दोष लग जाने पर ही आचार्य महाराज शिष्य को कार्योत्सर्ग आदि कर लेने का व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त देते है, किन्तु यह व्युत्सर्ग तो किसी दोषकी अपेक्षा रखता हुआ नही हैं । स्वतन्त्र पुरषार्थ द्वारा मुनि उपधियो का परित्याग कर देता है, तिस कारण अभ्यन्तर तपो मे व्युत्सर्ग का यह निरूपण करना व्यर्थ नही है ।

यहा फिर भी किसी का आक्षेप है कि व्युत्सर्ग का परिग्रहनिवृत्ति, धम प्रायश्चित्तो यो अनेक स्थल पर कथन करना निरर्थक दीखता है, यहा अभ्यन्तर तपो मे इस व्युत्सर्ग का निरूपण कर देनेसे ही पूर्वोक्त सभी प्रयोजन प्राप्त हो जाते है । आचार्य कहते है कि यह तो न कहना, क्योकि अधिकारी जीवो की शक्ति की अपेक्षा अनुसार अनेक स्थानो पर उपदेश दिया गया हैं । परमकारुणिक आचार्य महाराजो ने कतिपय ढगो से मोह, ममता, राग, द्वेष का त्याग कराया है । कही पाप लग जाने पर प्रायश्चित्त रूप से उपाधियो का त्याग कराया गया हैं, और कही दोष न लगने पर भी कर्मो की संवर निर्जरा के लिये परिग्रहो का त्याग अभीष्ट हैं । कुछ त्याग नियत काल तक किये जाते है, किसी किसी त्याग मे काल की मर्यादा नही है, श्री जिनेन्द्र देव के परपदार्थनिवृत्तिस्वरूप और स्वात्मोपलब्धिरूप धर्म की प्राप्ति करना जीवों के सामर्थ्य अनुसार है, उत्तर उत्तर गुणोका प्रकर्ष करनें के लिये और उत्साह उत्पन्न करने के लिये अपेक्षापूर्ण दुबारा, तिबारा, कहना भी पुनरुक्त नही समझा जाता हैं ।

" शक्तितस्त्यागतपसी " नानाप्रकार जीवों की शक्ति और परिणामो अनुसार त्याग करने की व्यवस्था है, इस ही प्रसिद्ध सिद्धात को ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिको द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं ।

स्याद्‌बाह्याभ्यन्तरोपध्यो व्युत्सर्गोऽधिकृतो द्विधा ।
व्रतधर्मात्मको दानप्रायश्चित्तात्मकोऽपरः ॥१॥
कथंचित्यागतां प्राप्तोऽप्येको निर्दिश्यते नृणां ।
शक्तिभेदव्यपेक्षायां फलेष्वेकोऽप्यनेकधा ॥२॥

तप के भेदो का निरूपण करते हुये अधिकार प्राप्त हो रहा व्युत्सर्ग तप तो इस सूत्र मे ह्योपधिका और अभ्यन्तरोपधिका परित्याग करना यो दो प्रकार कहा जा चुका समझो । परिग्रहनिवृत्ति नामक व्रतस्वरूप कहा गया और त्याग धर्म आत्मक हो रहा, तथा दानस्वरूप प्ररूपा गया, एवं प्रायश्चित्त आत्मक बन रहा, विशेष व्युत्सर्ग तो इस अन्तरंग तपस्या स्वरूप व्युत्सर्ग से भिन्न ही हैं, हाँ, सर्वत्र सामान्य रूपसे त्याग विवक्षित हैं । कथंचित् त्यागपने को प्राप्त हो रहा साधारणपने करके एक भी व्युत्सर्ग कर देना मनुष्यो या जीवो की भिन्न भिन्न शक्ति की विशेष अपेक्षा करने पर अनेक रूपेण कह दिया जाता है । तथा एक हो रहा भी व्युत्सर्ग फलो मे भी अनेक प्रकार से निर्दीष्ट हो जाता है ।

भावार्थ :– जैसे एक भी औषधि भिन्न भिन्न अनुयानों की सहकारिता से अनेक रोगोका दमन कर देती है, उसो प्रकार व्युत्सर्ग भी अनेक आत्मीय स्वभावो से सहकृत हो रहा सन्ता अभ्युदय और नि श्रेयस का सम्पादक हो जाता हैं, आत्मा धर्मी अनेक धर्मों को धार रहा है ।

धर्मे धर्मेन्य एवार्थो धर्मिणोनन्तधर्मणः ।
अगित्वेन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदंगता ॥

–आप्तमीमांसा

प्रत्येक वस्तु परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावो की अपेक्षा नास्तित्व धर्म को अटल रूप से झेल रही हैं । अपने ऊपर रक्खे हुये स्वात्मक अनन्तानन्त अभावो में से यदि एक अभाव को भी हटा दिया जाय तो तत्काल वस्तुको उक्त प्रतियोगी आत्मक हो जाने के लिये बाध्य हो जाना पड़ेगा । एक विद्यार्थी यदि अपने ऊपर तदात्मक होकर धरे हुये सर्पाभाव, सिंहान्योन्याभाव, आदि को एक क्षण के लिये भी दूर कर दे तो उस छात्र को उसी समय सर्प या सिंह बन जाना पडेगा, उसकी हाप, धाप, पुकार किसी भी न्यायालय (अदालत) मे सुनी नही जा सकेगी । स्वचतुष्टय अनुसार आत्म–सम्पत्ति को धार रहा पदार्थ प्रत्येक क्षण में स्वातिरिक्त विषयोके प्रागभाव, प्रध्वंस

अन्योन्याभाव, और अत्यन्ताभाव को सुस्थिर होकर पकडे रहता है, तभी उसका जीवन अक्षुण्ण सद्गत बना रहता हैं, अन्यथा प्रत्येक वस्तुओ पर आपत्तियो के वज्रघात होतें रहते। प्रकरण मे एक व्युत्सर्ग धर्मके अनेक विव्रर्त दिखलाये गये हैं। इसी वात का विवरण ग्रन्थकार कर रहे है।

सावद्यप्रत्याख्यानशक्त्यपेक्षया हि व्रतात्मकस्त्यागः। स चाव्रतास्रव निरोधफलः। पुण्यास्रवफलं तु दानं स्वातिसर्गशक्त्यपेक्षं। धर्मात्मकस्तु संवरणशक्त्य-पेक्षस्त्यागः। प्रायश्चित्तात्मकोतिचारशोधनशक्त्यपेक्षः। अभ्यन्तरतपोरूपस्तु कायोत्स-र्जनशक्त्यपेक्ष इति त्यागसामान्यादेकोप्यनेकः।

वस्तु मे अनन्त गुण हैं, गुणो की भिन्न भिन्न समयो मे अनेक पर्यायें होती रहती हैं, एक एक पर्याय मे भिन्न भिन्न प्रसगो की परिस्थिति के वश अनेक स्वभाव बन बैठते है।

प्रकरण मे आत्माके चरित्र गुणका परिणाम एक व्युत्सर्ग भी है, इसी व्युत्सर्ग को भिन्न भिन्न प्रकरणों पर स्वल्प अन्तर अनुसार अनेक स्वरूपो से कहा गया है। पाच व्रतो में परिग्रहनिवृत्ति नाम का व्रत है, पापो से सहित हो रहे कृत्यो के त्याग कर देने की शक्ति अपेक्षा करके यह व्युत्सर्ग ही व्रत आत्मक त्याग है जो कि वह परिग्रह त्याग स्वरूप हो रहा अव्रत परिणामो को हेतु मानकर आने वाले दुष्कर्मो का निरोध कर देना इस फल को लिये हुये हैं। अर्थात् परिग्रह संरक्षण से जो पाप बन्ध होनेवाला था उसको पाचमा व्रतस्वरूप हो रहा व्युत्सर्ग रोक देता है। तथा "अनु-ग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं" स्वकीय अर्थ के त्यागने की शक्ति की अपेक्षा रखता हुआ दानस्वरूप व्युत्सर्ग तो पुण्यकर्मो का आस्रव होना, इस फल का संपादक है। दानस्वरूप व्युत्सर्ग करते रहने से भोगभूमि मे उपजना, देव हो जाना आदि अनेक अभ्युदयो की प्राप्ति हो जाती है। हाँ, उत्तम क्षमा आदि दशविध धर्मों मे से त्याग धर्म आत्मक हो रहा व्युत्सर्ग तो सवरण शक्ति की अपेक्षा रखता हुआ त्याग स्वभाववाला परिणाम है, जब कि धर्मों से संवर होता है, अतः त्याग आत्मक व्युत्सर्ग से कर्मो का संवर अवश्य भावी है, एव नौ भेदवाले प्रायश्चित्तो मे भी व्युत्सर्ग गिनाया गया हैं, प्रायश्चित्तो से अतीचारो का शोधन हो जाता है, यो दशस्वरूप अतीचारो के शोधने की शक्ति की अपेक्षा रखता हुआ व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त आत्मक भी हैं।

इसी प्रकार यहां अभ्यन्तर तपो मे व्युत्सर्ग का पाठ हैं, अतः अभ्यन्तर तपःस्वरूप हो रहा व्युत्सर्ग तो कार्योत्सर्ग करना, उपात्त, अनुपात्त, उपधियोका त्याग

करना, नियतकाल अथवा जीवन पर्यन्त काय को त्याग देना, इन शक्तियोकी अपेक्षा रखता हुआ न्यारा ही विशेष पर्याय है। निवृति धर्म के उत्तरोत्तर गुणो की प्रकर्षता हो जाने से और संयमी के उत्साह की उत्पत्ति कराना स्वरूप प्रयोजन होने से पुनरुक्त पना नही हैं। इस प्रकार त्याग सामान्य होने से एक भी हो रहा व्युत्सर्ग विचारा विशेषणो के भेद से अनेक हो जाता है, उसके फल भी मेघजल के प्रयोजनसमान परिस्थिति वश अनेक हैं।

स च निःसंगनिर्भयजीविताशाव्युदासाद्यर्थं व्युत्सर्गः। कथमुपध्योर्बाह्याभ्यन्तरता च मता यतस्तयो व्युत्सर्गः स्यादित्याह—

तथा वह व्युत्सर्ग नामका तप तो परिग्रह रहितपन, भयरहितपन, जीवित रहनेकी आशा का परित्याग हो जाना, दोषोका उच्छेद हो जाना, मोक्षमार्गकी भावना मे तत्पर बने रहना, दुष्कर्मों का संवर हो जाना, आत्मशुद्धि होना, आदि प्रयोजनो की सिद्धि के लिये किया जाता हैं।

यहा कोई प्रश्न कर रहा है कि इन दो उपधियो को बाह्यपना और अभ्यन्तरपना कैसे माना गया है ? जिससे कि उनका त्याग करना, व्युत्सर्ग नामका तप हो सके, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधानार्थ इस उत्तरवार्तिक को स्पष्ट कह रहे हैं।

बाह्याभ्यन्तरतोपध्योरनुपात्तेतरत्वतः।
जीवेन तत्र कायाद्यैर्वेद्यावेद्ये नृणां मता ॥१॥

संसारी जीव करके नही ग्रहीत होनेसे और ग्रहीत होनेसे उपधियोंका बाह्यपना और अभ्यन्तरपना व्यवस्थित हो रहा हैं, उन दोनोमे संयमी मनुष्योके काय आदि करके वेद्य हो रहा बाह्य उपधित्याग है, और व्रती पुरुषोकी शारीरिक चेष्टा आदि करके नही जानने योग्य तो उपधिका अभ्यन्तरपना माना गया है, अर्थात् वस्त्र, धन, गृह, कुटुम्ब आदि बाह्य वस्तुओ और उनके त्यागको साधारण जनता भी जानती है, हा, क्रोध, मान, शरीर ममत्व, आदिका ज्ञान और आत्मा मे उनके त्याग परिणाम का दूसरो को ज्ञान होना कठिन है। दोनो ही उपधियो के त्याग स्वपर परिणाम अन्तरंग हैं, अत. व्युत्सर्ग को अन्तरंग तपमे परिगणित किया गया है।

अथ ध्यानं व्याख्यातुकामः आहः ;—

पाचवे व्युत्सर्ग तपका निरूपण कर चुकने पर अब ग्रन्थकार छठे ध्यान

नामक तपके व्याख्यान करने को इच्छा रखते हुये इस अग्रिमसूत्र को बहुत बढ़िया व्यक्त कर रहे है ।

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमांतमुहूर्तात् ॥२७॥

वज्रवृषभनाराच और वज्रनाराच तथा नाराच इन तीन उत्तम संहननों मे से किसी भी एक संहनन को धार रहे जीवके किसी एक अर्थमे अव्यग्र, अनन्यमनस्क होकर जो चिंताओंका निरोध हो जाना है वह ध्यान है, जो कि आवलि कालसे ऊपर और दो घटी से नीचे के अन्तर्मूहूर्त नामक काल तक हो सकता है। भावार्थ— एक ध्यान अन्तर्मुहुर्त से अधिक दो घन्टे, चारघन्टे, एक दिन, दो दिन आदि कालों तक नही किया जा सकता है। कई घन्टे तक जो ध्यान लगाये बैठे दीखते हैं, उनके उतनी देरमे अनेक ज्ञान हो चुके हैं, जैसे कि उत्तर वैक्रियिक शरीर अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं ठहरता है, हाँ, उसकी पुनः पुनः उत्पत्ति होकर संततधारा कई घन्टो दिनो तक एक सी बनी रह सकती है। बड़े अन्तर्मुहूर्त कालतक तो उत्तम संहननवाले पुरुष ही ध्यान लगा सकते है। हीन सहननवाले जीव भी आर्त्त,ध्यान या धर्मध्यान कर सकते हैं। हां, महासंक्लेशरूप प्रधान आर्त्त, रौद्र ध्यान तो उत्तम संहननवाले जीवके ही प्रवर्तते है। सहनन के उदय से सर्वथा रीते हो रहे देव, नारकियो के भी उक्त तीन ध्यान सम्भवते हैं। मोक्षके उपयोगी प्रकृष्ट ध्यान तो उत्तम सहननवालो के ही बनेंगे। अन्य विषयोसे चिंताओको हटाकर एक ही अर्थ मे मानसिक विचारोको केन्द्रीभूत कर देना, शुभ ध्यान या अशुभध्यान कहा जायगा। शेष चिन्ताओ को भावना या सामान्यज्ञान समझा जायगा।

किमनेन सूत्रेण क्रियत इत्याह;—

इस उमास्वामी महाराज के सूत्र करके क्या अभिधेय की ज्ञप्ति की जा रही है? ऐसी जिज्ञासा उपज जाने पर ग्रन्थकार अग्रिमवार्त्तिक का निरूपण कर रहे हैं, उसको सुनिये।

उत्तमेत्यादिसूत्रेण ध्यानं ध्याताभिधीयते।
ध्येयं च ध्यानकालश्च सामर्थ्यात्तत्परिक्रिया ॥१॥

"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता" इत्यादि सूत्र करके ध्यान, ध्यान करने वाला जीव, ध्यान करने योग्य ध्येय पदार्थ और ध्यान धारे रहनेका काल, ये चार बाते कण्ठोक्त कह दी गयी है। तथा कण्ठोक्त किये विना ही अर्थापत्ति की सामर्थ्य से उस

ध्यान का परिकर भी इसी सूत्र से अभिधेय हो जाता हैं। भावार्थ- ध्यान का प्रकरण अतीव गम्भीर है, विशेष ध्यानोकी प्रक्रिया के लिये गुरु परिपाटी की आवश्यकता है, तथापि सूत्रकार महाराज ने इस सूत्रमे शिष्योको समझाने के लिये बहुत कह दिया है।

एक अर्थ मे मानसिक उपयोग को रोके रहना ध्यान है। उत्तम संहननों का धारी पुरुष ध्यान करनेवाला अच्छा ध्याता हैं। अन्य विपयो से चिंताओ का संहरण कर स्तिमित अन्तःकरण की वृत्तियो को जिस अर्थ मे लगा दिया जाता है, वह पदार्थ ध्येय है। और अन्तर्मुहूर्त तक एक ध्यान टिक सकता है, यह सूत्र मे ध्यान का काल कह दिया गया हैं। ध्यान का परिकर तो योगियो के गम्य हैं।

श्री राजवार्तिक मैं शुक्लध्यान और धर्मध्यान के परिकर का विवरण यो किया हैं कि उत्तम सहनन वाला पुरुष परीषहोकी बाधाओको सह सकनेवाला स्वात्मोपलब्धि के लिये या ध्यान योग के लिये समर्थ होता हैं। पर्वतो की गुहा, नदीकिनारा, वन, जीर्ण उपवन, शून्यगृह आदि किसी एक शुद्ध स्थानपर ध्यान लगावे, उस स्थान पर उपद्रवी पशु, पक्षी, सर्प, मनुष्य आदि का आना जाना न होय। अधिक शीत और अधिक उष्ण भी नही होय, तीव्र वायु, वर्षा, घाम से रहित होय, अन्य भी ढोल बजना, नाचना, गाना, कोलाहल होना, आदि चित्तविक्षेप के कारणोसे रहित होय, ऐसे स्वानुकूल स्पर्श वाले शुद्ध स्थानपर प्रमाद को नही करनेवाले सुखासन से बैठ कर या खडे होकर ध्यान लगावे, पल्यकासन से सीधा बैठकर शरीर को सुस्थिर रखता हुआ अपनी गोद मे डेरे (बाये) हस्ततल पर दक्षिण हाथको ऊपर हथेली करके धरता हुआ नासाग्रनयन होकर ध्यान लगावे। दातोको खोलने या भीचने का प्रयत्न नही करता हुआ थोडा नम्रमुख होकर मुखपर प्रसन्नता धरता हुआ सौम्यदृष्टि होकर ध्यान करे। निद्रा, आलस्य, राग, रति, शोक, द्वेप, ग्लानि, आदि विकारो को दूर कर मन्द मन्द श्वास, उच्छ्वास का प्रचार कर रहा नाभिके ऊपर, हृदय, मस्तक अन्याय्र किसी परिचित अग मे मनोवृत्ति का विन्यास कर मोक्ष को चाहनेवाला जीव प्रशस्त ध्यान करे।

क्षमा, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, मार्दव आदि गुणो को तदात्मक होकर रक्षित रख रहा आत्मतत्व को जानने मे उपयुक्त हो रहा मनुष्य ध्यानी कहा जा सकता है। केवल प्राणायाम लगाकर या अन्य किसी हठयोग की पद्धति से कितने दिनो या महिनो तक मरा, मूर्छित या मृतकल्प होकर पडे रहना, ध्यान या योग नही है। ऐसी समाधि का ढोग जहां कि स्वात्मतत्त्वोपलब्धि नही है, जैनदर्शन मे प्रशस्त नहीं माना गया है।

यों प्राणायाम इडा, पिंगला, सुषुम्ना नाडियां, क्षुद्रविद्या और महाविद्याओं की सिध्दि सिंह, गज, मेष, आदि रूपो की परावृत्ति करना, इन्द्रजाल विद्या, वशीकरण, स्तम्भन, मंत्रविधान, आदिका विस्तृत वर्णन अंगप्रविष्ट, और अंगबाह्य श्रुतग्रन्थोमें किया गया है, किन्तु मोक्षोपयोगी क्रियाके लौकिक कर्तव्योसे भिन्न है।

कर्मो की संवर या निर्जराके सम्पादक शुभ ध्यानो के लिये प्रशस्त परिकर सामग्री आवश्यक है, हा आर्तरौद्रध्यान तो तीव्ररागी, द्वेषी जीवोमे सुलभतासे बन बैठते है। सातमे नरकको ले जानेके लिये भी विशेष निकृष्ट परिकर अपेक्षणीय है उक्त सम्पूर्ण सिध्दान्त इस सूत्र द्वारा ही परिशुध्द प्रतिभावाले विद्वानो की दृष्टिमे आ जाता हैं, अतः इसको सामर्थ्यगम्य कह दिया है।

तत्र कश्चिदाह – योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति, स एवं पर्यनुयोज्यः किमशेषचित्तवृत्तिरोधस्तुच्छः किं वा स्थिरज्ञानात्मक इति ? नाद्यपक्षः श्रेयानुत्तरस्तु स्यादित्याह–

ध्यान का स्वरूप और सामग्री का निरूपण करने के उस अवसरपर कोई एक योगमतानुयायी पतजंलि विद्वान यो कह रहे हैं कि योग तो चित्तकी वृत्तियोका निरोध हो जाना है अर्थात् योग मतानुसार सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुणोकी साम्य अवस्था रूप प्रकृत्तिके परिणाम स्वरूप मन यानी अन्तःकरण अथवा बुध्दीस्वरूप चित्तकी बहिर्मुखताका विच्छेद हो जानेसे अन्तर्मुख होकर अपने कारण में लय हो जाना योग है। अभ्यास, वैराग्य, आदि साधनोसे उस चित्तकी शांत, घोर, मुढवृत्तियोका या प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, इन पाच वृत्तियोंका निरोध हो जाना योग हैं। अब आचार्य कहते है कि वह योगमतानुयायी इस प्रकार प्रश्न उठाकर पर्यालोचना करने के योग्य है, कि बताओ भाई सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोका निरोध हो जाना क्या तुच्छ निरुपाधि अभाव पदार्थ है? अथवा क्या चंचल चित्तवृत्तियोका रुककर स्थिर ज्ञानरूप हो जाना यह निरोध है? भावार्थ– अभावको कहनेवाले नञ्के जैसे प्रसज्य और पर्युदास ये दो भेद हैं, पहिला तुच्छ अभावको कह रहा है, दूसरा पर्युदास तो तद्भिन्न तत्सदृश्य भाव पदार्थका प्रतिपादक है, उसी प्रकार निरोध पदका अर्थ भी सर्वाङ्गरूपेण अभाव और तत्सदृश्य भाव पदार्थ होता है। ऐसी दशामे उठाये जा रहे उक्त दोनों प्रश्नोका उत्तर देना पतजंलि अनुयायियोंको आवश्यक पड जाता है। तुच्छ अभावको निरोध मानना यह आदिका पक्ष तो श्रेष्ठ नही है– क्योकि वैशेषिक मतानुयायी ही तुच्छ अभावको स्वीकार करते हैं। मीमासक, जैन, और यौगदार्शनिक तुच्छ अर्थको नहीं मानते

हैं, जो कार्यता, कारणता, अर्थक्रियाकारिता आदि धर्मोसे रीता है ऐसा तुच्छ पदार्थ आकाशकुसम के समान असत् है, हां उत्तरवर्ती दूसरा स्थिरज्ञानस्वरूपचित्त वृत्तिरोध हो सकता है। इसी तत्वको ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिक द्वारा विशदरूपेण कह रहे हैं।

नाभावो शेषचित्तानां तुच्छः प्रमितिसंगतः।
स्थिरज्ञानात्मकश्चिन्तानिरोधो नोत्र संगतः ॥२॥

आत्मा की योग (ध्यान) अवस्था मे सम्पूर्ण चित्तोका सर्वथा तुच्छ अभाव (प्रसज्य) हो जाना तो प्रमाणो से भले प्रकार जानने योग्य नही है। जब कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, यदि उसके सम्पूर्ण ज्ञानोका तुच्छ अभाव हो जायगा, तो आत्म तत्त्व ही खरविषाण के समान उड जायगा। जड होकर आत्मा कभी ठहर नही पाता है। जो विषय समीचीन बुद्धि से ज्ञात नहीं हो रहा है, वह प्रामाणिक पुरुषो मे मान्य नही हैं। हा, वह चित्तवृत्तियो यानी चिन्ताओ का निरोध (पर्युदास) यदि स्थिर ज्ञान स्वरूप है, अर्थात् यहा वहा के अनेक संकल्प विकल्पो मे से चित्तवृत्तियोको हटाकर एक अर्थ मे केन्द्रित कर स्थिर ज्ञानस्वरूप हो जाना है, ऐसा चिन्तानिरोध तो हम जैनो के यहा इस ध्यान के प्रकरण मे प्रमाणसंगत प्रतीत हो रहा है, उसी को सूत्रकार ने इस सूत्र मे कहा है।

ननु चाशेषचित्तवृत्तिनिरोधान्न तुच्छोभ्युपगम्यते तस्य ग्राहकप्रमाणाभावादनिश्चितत्वात्। कि तर्हि ? पुंसः स्वरूपेवस्थानमेव तन्निरोध स एव हि समाधिरसंप्रज्ञातो योगो ध्यानमिति च गीयते ज्ञानस्यापि तदा समाधिभृतामुच्छेदात्। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेवस्थान,' इति वचनात्।

पुन योगमतानुयायियोका अनुनय है कि जैनो के समान हम भी सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोका निरोध हो जानेसे कोई तुच्छ अभाव हो जाय, यानी कुछ भी ज्ञान, विचार, तर्कणा, भावना, नही रहे ऐसा नही स्वीकार करते हैं, क्योकि ऐसे उस तुच्छ ध्वंसपदार्थ को ग्रहण करनेवाले प्रमाण का अभाव है। प्रामाणिक दार्शनिको के यहां तुच्छ पदार्थ का अद्यापि निश्चय नही हो चुका है, अतः वन्ध्यापुत्र के समान तुच्छ निरोध को प्रमाणगोचर नही मानते हैं। तब तो यहां चित्तवृत्तियो का निरोध भला कौनसा भाव पदार्थस्वरूप है ? इस प्रश्नका उत्तर हम यौगिक यह देते हैं कि आत्माका अपने शुद्ध स्वरूप मे अवस्थान हो जाना ही उन चित्तवृत्तियो का निरोध हैं और वही नियम से समाधि या असप्रज्ञात योग अथवा ध्यान इस प्रकार सुंदर शब्दो द्वारा गाया जाता है।

भावार्थं - वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता इन चारों के सम्बन्ध से जो होती है वह संप्रज्ञात समाधि है वह इसमे प्राकृत पदार्थोंका ज्ञान, परमात्माका ज्ञान, आनदका अनुभव, अपने स्वरूपका ज्ञान ऐसे अनेक ज्ञान होते ही इस कारण यह सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, चारो स्वरूप सबीज समाधि हैं, इसमें निर्विचार समाधि उत्तम मानी गई हैं। परमवैराग्य द्वारा प्रज्ञा और प्रज्ञासस्कारों का भी विरोध हो जानेपर निरालबन चित्त असप्रज्ञात समाधिको प्राप्त होता है यह निर्बीजसमाधि सर्वोत्तम हैं। शुद्ध स्वकीय रूपसे ही परमात्माका साक्षात्कार करता हुआ योगी मुक्त हो जाता है, उस समय समाधिको धारनेवाले आत्माओके ज्ञानका भी सर्वथा उच्छेद हो जाता है। पतंजलि ऋषि के बनाये हुये योगसूत्रके समाधिपादमे ऐसे कथन किया गया हैं कि उस निरोधके समय या योग आवस्थामे दृष्टा आत्माका अपने शुद्ध परमात्मस्वरूप चैतन्यमात्रमे अवस्थान हो जाता हैं।

द्रष्टा ह्यात्मा ज्ञानवांस्तु न कुम्भाद्यस्ति कस्यचित्।
धर्ममेघसमाधिश्चेन्न दृष्टा ज्ञानवान् यतः ॥ ३ ॥

योगमत अनुसार आत्मा मात्र देखनेवाला दृष्टा हैं, ज्ञानवान् तो नही है ज्ञान या बुद्धी तो प्रकृतिका विवर्त हैं, जोकि चैतन्यसे न्यारा है, आत्मा चेतन है, प्रकृति ज्ञानवती है। जिस प्रकार घट, पट, आदि के ज्ञान नही उपजता हैं उसी प्रकार आत्मामे भी ज्ञान नही है। असंख्य जीवोमेसे किसी किसी के धर्ममेघ नामकी समाधि उपजती हैं "प्रसंख्यानेप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्याते धर्ममेघः समाधिः" (योगसूत्र कैवल्यपाद २९ वाँ सूत्र) इस सूत्रमे समाधिके प्रकर्षकी प्राप्तिका उपाय बताया गया हैं। यथाक्रमसे व्यवस्थित हो रहे तत्वोकी परस्पर विलक्षण स्वरूपसे भावना करना होनेपर भी फलकी लिप्सा नही रखनेवाले योगीके निरंतर विवेकज्ञानका उदय होनेसे धर्ममेघ नामक समाधि उपज जाती हैं। अर्थात् संप्रज्ञात समाधिके फलस्वरूप विवेकज्ञानकी परमसीमाके नाम धर्ममेघ समाधि है। उस धर्ममेघ समाधिसे वासनासहित अविद्यादि क्लेश और पुण्यपाप रूप कर्म निवृत्त हो जाते है ("ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः") उस क्लेश निवृत्तीकालमे अविद्यादि सम्पूर्ण आवरण और मलोसे रहित हुये चित्तके अनन्तप्रकाशमे ये ज्ञेय पदार्थ स्वल्प प्रतीत हो जाता हैं। अर्थात् ज्ञेय जगतसे असंख्यातगुणा भी पदार्थ अधिक होता तो योगी उसको भी ज्ञानप्रसाद द्वारा जान सकता था। ज्ञानप्रसादरूप परमवैराग्य तो व्युत्थान सम्प्रज्ञात समाधिमे लगा देता हैं। यहां तक योगविद्वान् आत्माके चैतन्य और द्रष्टापनको पुष्ट करता हुआ धर्ममेघ समाधिको कह चुका है।

अब ग्रन्थकार कहते है कि यह सिद्धात तो ठीक नही है जिसकारण से जो दृष्टा होगा वह ज्ञानवान् अवश्य होगा ज्ञान और दर्शन का सहयोग होकर अविनाभाव है। महासत्ताका आलोचनस्वरूप दर्शनका होना साकारोपयोग ज्ञानसे सवद्ध है, छद्म स्थोंके दर्शन पूर्वक ज्ञान होता हैं और सर्वज्ञ महाराजके दर्शन, ज्ञान, युगपत् हो जाते हैं दिनके अवसरपर दिनकरके प्रखर प्रताप मे जैसे तारानिकरका मन्दतर उद्योत भी सम्मिलित है, उसी प्रकार केवल ज्ञानके साकार चैतन्यमे लोकालोकवितिमिरकेवलदर्शननामक उद्योत भास रहा हैं।

तथाहि--ज्ञानवानात्मा द्रष्टत्वात् यस्तु न ज्ञानवान् स न दृष्टा, यथा कुंभादि दृष्टा चात्मा ततो ज्ञानवान्। प्रधानं ज्ञानवदिति चेन्न, तस्यैव द्रष्टत्वप्रसंगाद द्रष्टुर्ज्ञानवत्ताभावात् कुम्भादिवत्। ज्ञानवत्वे पुरुषस्यानित्यत्वापत्तिरिति चेन्न, प्रधान स्याप्यनित्यत्वानुषक्तेः। तत्परिणामस्य व्यक्तस्यानित्यत्वोपगमाददोष इति चेत्, पुरूष पर्यायस्यापि बोधविशेषादेरनित्यत्वे को दोषः ? तस्य पुरुषात् कथचिदव्यतिरेके भंगुरत्वप्रसग इति चेत्, प्रधानाद्व्यक्तं किमत्यन्तव्यतिरिक्तमिष्टं येन ततः कथचिद-व्यतिरेकादनित्यता न भवेत्।

इस ही आत्माके ज्ञान और दर्शन दोनो स्वभावोको युक्तियो द्वारा ग्रन्थकार पुष्ट कर रहे हैं। आत्मा (पक्ष) ज्ञानवाला हैं (साध्यदल) दृष्टा होनेसे (हेतु) जो जो दृष्टा नही है वह तो ज्ञानवान् भी नही है जैसे कि घट, पट आदिक जड पदार्थ है (व्यतिरेकदृष्टान्त) दृष्टा आत्मा हैं (उपनय) तिस कारण ज्ञानवान् हैं (निगमन) यो पाच अवयववाले परार्थानुमान करके आत्मामे ही ज्ञानको सिद्ध किया गया है।

यहाँ कपिल मतानुयायी आक्षेप उठाता है कि आत्मामे ज्ञान नही हैं ज्ञानवान् तो प्रधान (प्रकृति) है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना। क्योंकि यदि प्रधान में ज्ञान माना जायगा तो उस प्रधानको ही दृष्टा हो जानेका प्रसग आ जावेगा, दृष्टापन और ज्ञान का सामानाधिकरण्य है। जो दृष्टा नही हैं उसके ज्ञानाधिकरणपने का अभाव हैं, जैसे कि घट, पट आदिक जड पदार्थ दृष्टा नही होनेके कारण ही ज्ञानवान् भी नही है।

पुन कपिलमतानुयायी कह रहे है कि जीवो के हो रहे घटज्ञान, पटज्ञान आदिक अनित्य है,यदि आत्मा को ज्ञानवान् स्वीकार किया जायगा तब तो विनाशी ज्ञानके साथ तादात्म्य हो जाने से आत्माको भी अनित्यपनकी अनिष्ट आपत्ति बन बैठेगी, आत्माका ज्ञान के साथ क्षणक्षणमे उपजना, मरमिटना, ऐसा अनित्यपन किसीने नही माना है।

आचार्य कहते हैं कि यह तो नही कहना, क्योंकि इसी प्रकार तुम्हारे यहा सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की साम्यावस्थारूप प्रकृती को भी अनित्य हो जानेका प्रसंग बन बैठेगा, साख्योने भी प्रकृति को अनित्य नही माना है। यदि सांख्य यो कहे कि उस प्रकृति की पर्यायें हो रहे महत्तत्त्व (बुद्धि) अहकार, ग्यारह इंद्रियां, पाच तन्मात्रायें और पाच भूत, इन व्यक्त पदार्थों का अनित्यपना हम स्वीकार करते हैं अतः कोई दोष नही आता है, यो समाधान करने पर तो ग्रन्थकार कह रहे है कि जैसे नित्यप्रधान के परिणाम हो रहे बोध आदिक अनित्य भी हो सकते हैं उसी प्रकार नित्य आत्माके ज्ञान विशेष, सुख, दर्शन आदिक परिणाम भी अनित्य हो जाय तो क्या दोष आता है? आत्माके परिणाम हो रहे ज्ञान आदिक अनित्य हो सकते हैं। कोई क्षति नही है।

इसपर कापिल पुनः आक्षेप उठाता है कि आप जैनो के कथन में यह बडा भारी दोष आता है कि उन ज्ञानादि पर्यायो को आत्मा से कथचित् अभिन्न मानने पर आत्मा के भी क्षणध्वंसी हो जाने का प्रसग आ जायगा। ज्ञान का झट झट नाश होते ही आत्मा भी विनशता रहेगा। किन्तु आपने आत्मद्रव्य को अनादि, अनन्त अविनाशी, अभीष्ट किया है।

अब आचार्य महाराज सांख्य विद्वानो के प्रति कहते है कि आप कापिलों के यहां महदादिक व्यक्त पदार्थ क्या प्रधान से अत्यन्त भिन्न हो रहे इष्ट किये गये हैं? बताओ, जिस कारण कि उन बुद्धि आदिक परिणामो से प्रधान का कथचित् अभेद हो जाने के कारण प्रकृति को अनित्यपना न होता। भावार्थ— जैसे आपने हमारे ऊपर ज्ञान का अभेद हो जानेसे आत्मा के क्षणध्वंसीपन का दोप उठाया है, उसी प्रकार तुम्हारे यहा अव्यक्त प्रकृति का बुद्धि आदि व्यक्तो के साथ अभेद हो जानेसे प्रकृति का भी क्षणिकपना अनिवार्य हो जाता है। आपने भी प्रकृतिको अनादि, अनन्त, नित्य माना है।

व्यक्ताव्यक्तयोरव्यतिरेकैकान्तेपि व्यक्तमेवानित्यं परिणामत्वान्न पुनरव्यक्तं परिणामित्वादिति चेत्, तत एव ज्ञानात्मनोरव्यतिरेकेपि ज्ञानमेवानित्यमस्तु पुरुषस्तु नित्योस्तु विशेषाभावात्।

पुन. वावदूक साख्य पण्डित कह रहे हैं कि व्यक्त पदार्थ और अव्यक्त प्रकृति का एकान्तरूप से अभेद होनेपर भी महत्तत्त्व आदि व्यक्त पदार्थ ही अनित्य हैं क्योकि ये परिणाम है, पर्यायें तो सबके यहा अनित्य मानी गई हैं, हाँ फिर अव्यक्त

प्रधान तो अनित्य नहीं है। क्योंकि वह परिणामोंको करनेवाला या धारनेवाला परिणामी है परिणामी द्रव्य आप जैनोंके यहां भी नित्य ही माना गया है। यों कापिलोंके कहनेपर तो आचार्य महाराज कह रहे हैं कि तिस ही कारणसे ज्ञान पर्याय और आत्मद्रव्य का अभेद होते हुए भी ज्ञान ही अनित्य रहा। पुरुष (आत्मा) तो नित्य बना रहो हमारे तुम्हारे यहां कोई विशेषता नहीं है। जो आपका कटाक्ष है वही हमारा आक्षेप हो सकता है और जो आपकी ओरसे समाधान किया जायगा वही हमारा समाधान भी समझ लेना चाहिये। अपने घिसे रुपये को उत्तमोत्तम रुपया कहना और दूसरे के बढिया रुपये को खपिल्ली कहने की टेव विद्वानों को नहीं शोभती है। जैसे सांख्यों के यहां (प्रकृति) परिणामी नित्य है उसी प्रकार हम स्याद्वादियों के यहां आत्मा परिणामी नित्य है। जगत् मे कूटस्थनित्य पदार्थ खरविषाणवत् अलीक है, असद्भूत है।

पुरुषोऽपरिणाम्येवेति चेत्, प्रधानमपि परिणामि माभूत्। व्यक्तेः परिणामी प्रधानं न शक्तेः सर्वदा स्थास्नुत्वादिति चेत्, तथा पुरुषोपि सर्वथा विशेषाभावात् सर्वस्य सतः परिणामित्वसाधनाच्च, अपरिणामिनि क्रमयौगपद्यविरोधादर्थक्रियानुपपत्तेः सत्त्वस्यैवासंभवात्। ततो द्रष्टात्मा ज्ञानवानेव बाधकाभावादिति न तस्य स्वरूपेऽवस्थितिरज्ञानात्मिका काचिदसंप्रज्ञातयोगदशायामुपपद्यते जडात्मभावात्।

कपिलमतानुयायी कहते हैं कि हमारे यहां पुरुष आत्मा कूटस्थ नित्य ही है, परिणमन नहीं करता है। ऐसा उनके कहनेपर तो हम आक्षेप करेंगे कि तब तो प्रकृति भी परिणामो को करनेवाली मत होओ। इसपर पुनः सांख्य कहते हैं कि महत्तत्व आदि व्यक्तियो को अपेक्षा से प्रधान परिणामो को करता है शक्ति की अपेक्षा से नहीं, शक्ति की अपेक्षा से तो वह प्रधान सर्वदा स्थितिशील है। उत्पाद, विनाश, या आविर्भाव, तिरोभाववाला नहीं है। यो सांख्यो के कहनेपर तो हम जैन भी कह देंगे कि तिस ही प्रकार पुरुष भी व्यक्त पर्यायो की अपेक्षा परिणामनशील है, द्रव्यशक्ति की अपेक्षा तो सर्वदा नित्यस्वभाव है। आपकी परिणामधारिणी प्रकृति से हमारे यहां के परिणामी आत्मा का सभी प्रकारो से परिणाम धारनेमे कोई अन्तर नही है।

एक बात यह भी है कि सम्पूर्ण सत् पदार्थोंका परिणामी होना पहिले प्रकरणो मे सिद्ध कर दिया गया है। जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, परिणामो को नही धारता है वह खरविषाणवत् असत् है। परिणामो से रीते पदार्थ मे क्रम और युगपत् पनेका विरोध हो जाने से अर्थ क्रिया करने की सिद्धि नही होने के कारण उसकी

सत्ताका ही असम्भव है। "सत्त्वं अर्थक्रियया व्याप्तं, अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता" तिस कारण सिद्ध हुआ कि दृष्टा आत्मा ही नियम से ज्ञानवान् भी है। जबकि इस आत्माके ज्ञानसहितपन का कोई प्रत्यक्ष आदि प्रमाण बाधक नही है। इस कारण उस आत्माका साँख्यमतानुसार असंप्रज्ञात समाधिदशा मे अज्ञान स्वरूप हो रहे स्वकीय रूपमे अवस्थान हो जाना किसी प्रकार सुघटित नही हो पाता है। क्योकि ज्ञानरहित आत्मा जड स्वरूप हो जायगा और असप्रज्ञात दशामें जडस्वरूप हो जानेसे भला आत्माकी स्वकीय रूपमें अवस्थिति क्या रही ? अग्नि का अतिशोत स्पर्श अवस्थामे अवस्थित रहना जैसे बाधित है उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानरहित हो जाना अनेक बाधाओं से भरपूर है।

सम्प्रज्ञातस्तु यो योगो वृत्तिसारूप्यमात्रकं।
संज्ञानात्मक एवेति न विवादोस्ति तावता ॥ ४ ॥

हाँ, आप सांख्यो ने जो प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पाच वृत्तियोके साथ तद्रूप हो जाना मात्र जो सप्रज्ञात योग माना है वह तो समीचीन ज्ञानरूप ही है। उसमे आत्माका ज्ञानलक्षण रक्षित रहता है। इस कारण तितने मात्रसे हम जैनोका आप लोगोके साथ कोई विवाद नही है। अर्थात् जिस समयमे चित्त एकाग्र नही है अथवा संप्रज्ञात समाधिरूप है वितर्क, विचार, आनद, अस्मिता, इन चारों के अनुगम से संप्रज्ञात समाधिको प्राप्त हो रहा है, उस अवसरपर ज्ञान अक्षुण्ण बना रहता है। योगसे अन्यकाल व्युत्थान दशामे भी वृत्तियोंका सारूप्य होकर ज्ञान प्रकाशता रहता है, यो आत्माके ज्ञानसहितपनमे हमारा तुम्हारा मत एक है कोई झगडा नही है।

सप्रज्ञातो योगो ज्ञानात्मक एव "वृत्तिसारूप्यमितरत्रे"ति वचनात्। वृत्तयः पंचतय्यः तासां विषयसारूप्यमात्रं जिहासोपादित्सारहितमुपेक्षाफलं तद्ध्यानं चित्तवृत्तिनिरोधस्येत्थंभूतस्य भावादिति यद्भाष्यते तत्र ज्ञानातमत्वमात्रेण नास्ति विवादः सर्वस्य ध्यानस्य ज्ञानात्मकत्वप्रसिद्धेः। ज्ञानमेव स्थिरीभूतं समाधिरिति परैरप्यभिधानात्।

आप सांख्योके यहां माना गया सम्प्रज्ञात समाधियोग तो ज्ञान आत्मक ही है। पतञ्जलि प्रणीत योगसूत्रके पहिले समाधिपादका चौथा सूत्र "वृत्तिसारूप्यमितरत्र" ऐसा ऋषियो का वचन होनेसे आपको सम्प्रज्ञात अवस्थामें आत्माका ज्ञानरूप अभीष्ट करना पडता है। इसके अगले सूत्रमे चित्तकी क्लिष्ट, अक्लिष्ट, वृत्तियां पाच प्रकारकी

प्रधान तो अनित्य नही है। क्योंकि वह परिणामोको करनेवाला या धार रहा परिणामो है परिणामी द्रव्य आप जैनोके यहा भी नित्य ही माना गया है। यो कापिलोके कहनेपर तो आचार्य सहर्ष कह रहे है कि तिस ही कारणसे ज्ञान पर्याय और आत्मद्रव्य का अभेद होते हुए भी ज्ञान ही अनित्य रहो। पुरुष (आत्मा) तो नित्य बना रहो हमारे तुम्हारे यहा कोई विशेषता नही है। जो आपका कटाक्ष है वही हमारा आक्षेप हो सकता है और जो आपकी ओरसे समाधान किया जायगा वही हमारा समाधान भी समझ लेना चाहिये। अपने घिसे रुपये को उत्तमोत्तम रुपया कहना और दूसरे के बढिया रुपये को रुपिल्ली कहने की टेव विद्वानो को नहीं शोभती है। जैसे सांख्यो के यहा (प्रकृति) परिणामी नित्य है उसी प्रकार हम स्याद्वादियो के यहाँ आत्मा परिणामी नित्य है। जगत् मे कूटस्थनित्य पदार्थ खरविषाणवत् अलीक है, असद्भूत हैं।

पुरुषोऽपरिणाम्येवेति चेत्, प्रधानमपि परिणामि माभूत्। व्यक्तेः परिणामी प्रधान न शक्तेः सर्वदा स्थास्नुत्वादिति चेत्, तथा पुरुषोपि सर्वथा विशेषाभावात् सर्वस्य सतः परिणामित्वसाधनाच्च, अपरिणामिनि क्रमयौगपद्यविरोधादर्थक्रियानुपपत्तेः सत्त्वस्यैवासभवात्। ततो द्रष्टात्मा ज्ञानवानेव बाधकाभावादिति न तस्य स्वरूपेऽवस्थितिरज्ञानात्मिका काचिदसप्रज्ञातयोगदशायामुपपद्यते जडात्मभावात्।

कपिलमतानुयायी कहते है कि हमारे यहाँ पुरुष आत्मा कूटस्थ नित्य ही है, परिणमन नहीं करता है। ऐसा उनके कहनेपर तो हम आक्षेप करेगे कि तब तो प्रकृति भी परिणामो को करनेवाली मत होओ। इसपर पुन साख्य कहते है कि महत्तत्व आदि व्यक्तियो की अपेक्षा से प्रधान परिणामो को करता है शक्ति की अपेक्षा से नहीं, शक्ति की अपेक्षा से तो वह प्रधान सर्वदा स्थितिशील है। उत्पाद, विनाश, या आविर्भाव, तिरोभाववाला नही है। यो साख्यो के कहनेपर तो हम जैन भी कह देगे कि तिस ही प्रकार पुरुष भी व्यक्त पर्यायो की अपेक्षा परिणमनशील है, द्रव्यशक्ति की अपेक्षा तो सर्वदा नित्यस्वभाव है। आपकी परिणामधारिणी प्रकृति से हमारे यहाँ के परिणामी आत्मा का सभी प्रकारो से परिणाम धारनेमें कोई अन्तर नहीं है।

एक बात यह भी है कि सम्पूर्ण सत् पदार्थोका परिणामी होना पहिले प्रकरणो मे सिद्ध कर दिया गया है। जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, परिणामों को नहीं धारता है वह खरविषाणवत् असत् है। परिणामो से रीते पदार्थ मे क्रम और युगपत् पनेका विरोध हो जाने से अर्थ क्रिया करने की सिद्धि नही होने के कारण उसकी

सत्ताका ही असम्भव है। "सत्त्वं अर्थक्रियया व्याप्तं, अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता" तिस कारण सिद्ध हुआ कि दृष्टा आत्मा ही नियम से ज्ञानवान् भी हैं। जबकि इस आत्माके ज्ञानसहितपन का कोई प्रत्यक्ष आदि प्रमाण बाधक नही है। इस कारण उस आत्माका साँख्यमतानुसार असंप्रज्ञात समाधिदशा मे अज्ञान स्वरूप हो रहे स्वकीय रूपमे अवस्थान हो जाना किसी प्रकार सुघटित नही हो पाता है। क्योकि ज्ञानरहित आत्मा जड स्वरूप हो जायगा और असप्रज्ञात दशामें जडस्वरूप हो जानेसे भला आत्माकी स्वकीय रूपमें अवस्थिति क्या रही ? अग्नि का अतिशीत स्पर्श अवस्थामें अवस्थित रहना जैसे बाधित है उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानरहित हो जाना अनेक बाधाओ से भरपूर है।

सम्प्रज्ञातस्तु यो योगो वृत्तिसारूप्यमात्रकं।
संज्ञानात्मक एवेति न विवादोस्ति तावता ॥ ४ ॥

हाँ, आप साख्यो ने जो प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पाच वृत्तियोके साथ तद्रूप हो जाना मात्र जो सप्रज्ञात योग माना है वह तो समीचीन ज्ञानरूप ही है। उसमे आत्माका ज्ञानलक्षण रक्षित रहता है। इस कारण तितने मात्रसे हम जैनोका आप लोगोके साथ कोई विवाद नही है। अर्थात् जिस समयमे चित्त एकाग्र नही है अथवा संप्रज्ञात समाधिरूप है वितर्क, विचार, आनद, अस्मिता, इन चारों के अनुगम से संप्रज्ञात समाधिको प्राप्त हो रहा है, उस अवसरपर ज्ञान अक्षुण्ण बना रहता है। योगसे अन्यकाल व्युत्थान दशामे भी वृत्तियोका सारूप्य होकर ज्ञान प्रकाशता रहता है, यो आत्माके ज्ञानसहितपनमे हमारा तुम्हारा मत एक है कोई झगडा नही है।

सप्रज्ञातो योगो ज्ञानात्मक एव "वृत्तिसारूप्यमितरत्रे"ति वचनात्। वृत्तयः पंचतय्यः तासां विषयसारूप्यमात्रं जिहासोपादित्सारहितमुपेक्षाफलं तद्ध्यानं चित्तवृत्तिनिरोधस्येत्थंभूतस्य भावादिति यद्भाष्यते तत्र ज्ञानात्मत्वमात्रेण नास्ति विवादः सर्वस्य ध्यानस्य ज्ञानात्मकत्वप्रसिद्धेः। ज्ञानमेव स्थिरीभूतं समाधिरिति परैरप्यभिधानात्।

आप साख्योके यहां माना गया सम्प्रज्ञात समाधियोग तो ज्ञान आत्मक ही है। पतञ्जलि प्रणीत योगसूत्रके पहिले समाधिपादका चौथा सूत्र "वृत्तिसारूप्यमितरत्र" ऐसा ऋषियो का वचन होनेसे आपको सम्प्रज्ञात अवस्थामें आत्माका ज्ञानरूप अभीष्ट करना पडता है। इसके अगले सूत्रमे चित्तकी क्लिष्ट, अक्लिष्ट, वृत्तियां पांच प्रकारकी

मानी गई हैं। धर्माधर्मकी वासना को उत्पन्न करनेवाली रजोगुणसम्बन्धी और तमोगुण सम्बन्धी वृत्तियां क्लिष्ट हैं। इन वृत्तियो से राग, द्वेष आदिमे प्रवृत्त हुआ आत्मा शुभाशुभ कर्मों के करनेसे जन्म, मरण, रूप कष्टो को प्राप्त होता रहता है तथा जो वृत्तियें प्रकृति और पुरुष के भेद को विषय कर रही धर्माधर्मद्वारा भाविजन्म के आरम्भ को निवृत्त कर देती हैं वे सात्विकवृत्तियें अक्लिष्ट हैं। उन पाचो वृत्तियो का शात, घोर, मूढ, दशा अनुसार चक्षुरादि द्वारा बाह्य, आभ्यन्तर विषयो में बुद्धि के साथ मात्र सारूप्य हो जाता हैं। सात्त्विक वृत्ति की शात अवस्था अनुसार छोडने की इच्छा और ग्रहण करने की इच्छा से रहित हो रहा उपेक्षा फलवाला वह संप्रज्ञातयोग स्वरूप ध्यान है। इस प्रकार हो चुके चित्तवृत्ति के निरोध का सद्भाव उस समाधि में रहता हैं इस प्रकार जो व्यासजी द्वारा योगसूत्र के भाष्य में भाषित किया गया है। इसके उस अशमे मात्र ज्ञान आत्मकपने करके हमे कोई विवाद नही है, क्योकि जैन सिद्धान्त मे सभी ध्यानो का ज्ञानात्मकपना प्रसिद्ध हो रहा हैं। दूसरे दार्शनिको ने भी व्युत्थान दशाके अस्थिर ज्ञानो की दशा को टालकर स्थिर हो चुका ज्ञान ही समाधि है ऐसा निरूपण किया हैं। योगसूत्र के तीसरे विभूतिपादका दूसरा सूत्र भी इसी अभिप्राय को कह रहा है " तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् " योगचन्द्रि का वृत्ति को रचनेवाले अनन्तदेव पण्डित इस सूत्र का अर्थ यो कर रहे हैं कि जिस जिस देशमें चित्त धर दिया हैं उसमें प्रत्यय यानी ज्ञान का एकतान हो जाना, एकरस प्रवाह रूपसे प्रवर्त जाना अर्थात् विसदृश परिणामो का परिहार करते हुये धारणा के आलम्बन विषय में ही निरन्तर उपज रहा ज्ञान ही ध्यान है " तदेवार्थमात्रनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधि " (सूत्र तीसरा) वही ध्यान केवल एक अर्थका निर्भास करता हुआ ज्ञाता, ज्ञेय, स्वरूप से शून्य हो रहा मानू समाधि हो जाता है मानसिक उपयोग जहा एकाग्र कर दिया जाय वह समाधि है।

विषयसारूप्यं तु वृत्तीनां प्रतिबिंबाधान तदनुपपन्नमेव क्वचिदमूर्तेर्थे कस्यचित् प्रतिबिम्बासम्भवात्। तथाहि – न प्रतिबिंबभूतो वृत्तयोऽमूर्तत्वाद्यथा खं, यत् प्रतिबिंबभूतं न तदमूर्तं दृष्टं यथा दर्पणादि। अमूर्ता वृत्तयस्तस्मान्न प्रतिबिंबभूत इत्यत्र न तावदसिद्धो हेतुर्ज्ञानवृत्तीनां मूर्तत्वानभ्युपगमात्। तदभ्युपगमे बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्व प्रसंगात्। मनोवदतिसूक्ष्मत्वादप्रत्यक्षत्वे स्वसंवेदनप्रत्यक्षतापि न स्यात्तद्वदेव। न चास्वसंविदिता एव ज्ञानवृत्तयोर्थग्राहित्वविरोधात्।

आप पतञ्जलो ने "वृत्तिसारूप्यमितरत्र" इस सूत्र द्वारा क्लिष्ट अक्लिष्ट हो रही प्रमाण आदि वृत्तियो में विषयो के साथ सरूपपना यानी बौद्धोक्त

ज्ञान के समान प्रतिबिम्बो का धारण करना जो माना है वह तो युक्तियो से ही सिद्ध नही हो पाता हैं। भावार्थ- योग से अन्य काल मे आत्मा का वृत्तियो के साथ तदाकार हो जाना यानी व्युत्थान काल मे बुद्धि आदि के सहारे आत्मा भी वैसा ही भासता है बुद्धिवृत्ति के समान वृत्तिवाला हो जाता है। जैसी जैसी सुख आदि आकारों को धारण करनेवाली वृत्तिया हैं तदनुरूप ही पुरुष का वेदन होता रहता हैं। चलायमान जल तरंगो में प्रतिबिम्बित चन्द्रबिम्ब भी चलायमान दिखता है, उसी प्रकार पुरुष भी वृत्तियो के आकारवाला तत्स्वरूप विदित हो रहा हैं। यह योगसिद्धान्त युक्ति सिद्ध नहीं है, क्योकि किसी भी अमूर्त अर्थमे किसी भो मूर्त या अमूर्त पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड जाना असम्भव है। आपके यहाँ आत्मा सर्वथा अमूर्त माना गया है। वृत्तियाँ भी अमूर्त हैं। उनमें विपयो का प्रतिबिम्ब नही पड सकता है। इसी बातको विशदरूपेण अनुमान बनाकर कहते हैं कि वृत्तियाँ (पक्ष) प्रतिबिम्बो को धारनेवाली नही है (साध्यदल) अमूर्त होने से (हेतु) जैसे कि आकाश अमूर्त हो रहा प्रतिबिम्ब आकारो को नही धारता है (अन्वयदृष्टान्त) जो जो प्रतिबिम्ब को धारनेवाले पदार्थ वे वे अमूर्त नही देखे गये हैं जैसे कि दर्पण, जल, तैल, खड्ग आदि हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त) वृत्तियें अमूर्त हैं (उपनय) तिस कारण प्रतिबिम्बो को धारनेवाली नही हैं (निगमन)। यो इस पञ्चावयववाले परार्थानुमान में पडा हुआ अमूर्तपना हेतु असिद्ध नही है। पक्ष में हेतु नही रहता तो असिद्ध हेत्वाभास हो जाता, किन्तु यह हेतु पक्ष में वर्त रहा है। ज्ञानस्वरूप वृत्तियो का मूर्त होना स्वीकार नही किया गया है। यदि उन ज्ञानवृत्तियो को रूपादिमान्, मूर्त, स्वीकार किया जायगा तो चक्षु आदि बहिरंग इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष हो जाने का प्रसग आ जावेगा, ज्ञानो का बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हो जाना किसी को अभीष्ट नही है। यदि नैयायिक को मन के मूर्तपन मे सहकारी समझकर योग यहां यों कहैं कि ज्ञानवृत्तियां मन के समान अत्यन्त सूक्ष्म हैं। अतः मूर्त भी मन का सूक्ष्म हो जाने के कारण जैसे चक्षुरादिक करके प्रत्यक्ष नही हो पाता है उसी के समान अत्यन्त सूक्ष्म होने से ज्ञान वृत्तियो का बाह्य प्रत्यक्ष नहों हो पाता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो उस मूर्त मन के समान ही ज्ञानवृत्तियों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो जाना भी नहीं बन सकेगा। किन्तु ज्ञान का स्वसंवेदन हो रहा है, स्वसंवेदन द्वारा नही जानी जा रही तो ज्ञानवृत्तियां नही हैं, यदि ऐसी अस्वसंविदित होती तो उनके द्वारा अर्थ के ग्रहण हो जाने का विरोध हो जाता, जो स्वसंविदित नही है

घटादिक के समान वह अर्थ का ग्राहक (ज्ञापक) नही हो सकता है। ज्ञान जब कभी होगा तब स्वसविदित प्रत्यक्षाक्रान्त ही होगा।

प्रदीपादिवदस्वसंविदितेपि विषयग्राहित्वं ज्ञानवृत्तीनामविरुद्धमिति चेन्न, वैषम्यात्। प्रदीपादिद्रव्यंहि नार्थग्राहि स्वयमचेतनत्वात्। किं तर्हि ? चक्षुरादीरूपादि-ग्राहि ज्ञानकारणस्य सहकारितयार्थग्राहीत्युपचर्यंते न पुनः परमार्थतस्तत्र तथा। ज्ञानवृत्तयत्तु तत्वतोर्थग्राहिण्य इष्यन्ते ततो न साम्ययुदाहरणमस्येति नास्वसंविदितत्व-सिद्धिस्तासां दर्शनवत्।

यदि मीमासक को ढाढस बंधानेवाला समझकर योग पुनः यों कहे कि अपना स्वसवेदन प्रत्यक्ष नहो होते हुये भी मूर्त ज्ञानवृत्तियो प्रदीप, सूर्य, चक्षुरिन्द्रय आदिके समान होकर विषयो की ग्राहिका हो जावेगी, कोई विरोध नही पडता हैं।

आचार्य कहते हैं कि यह तो नही कहना। क्योंकि आपके दिये हुये प्रदीप आदि दृष्टान्त विषम हैं। देखिये वस्तुतः विचारा जाय तो यही निर्णीत होगा कि स्वयं अचेतन यानी जड होने के कारण प्रदीप आदिक द्रव्य तो अर्थों को ग्रहण करनेवाले नही हैं, तब तो " प्रदीपेन, चक्षुषा, सूर्येण, वा ज्ञायते " यो प्रदीप आदि को ज्ञान (प्रमिति) की करणता कैसे है ? इसका समाधान यही है कि रूप, रस आदि को ग्रहण करनेवाले करणभूत ज्ञानके सहकारी कारण हो जाने से चक्षुः, प्रदीप आदिक पदार्थ विचारे अर्थ के ग्राहकपने करके उपचरित किये जा रहे है, करण के कारण को करण कह दिया गया है, जैसे कि पिता के पिता को कोई पौत्र विचारा पिता कह देता है। परमार्थरूप से फिर वे प्रदीपादिक तो अर्थके ग्राहक नही हैं। हां, ज्ञानवृत्तियां तो सात्त्विक वास्तविक रूप से अर्थोंके ग्रहण करलेने की टेव को धरनेवाली इष्ट की गई हैं, इसी प्रकार चक्षू, सूर्य, अञ्जन, ममीरा मे भी समझ लेना। तिसकारण आप का प्रदीप उदाहरण उन ज्ञानवृत्तियो के मूर्त होनेपर भी अर्थ को ग्रहण करने में सम नहीं है विषम है।

इस प्रकार उन ज्ञानवृत्तियों का अस्वसंविदितपन सिद्ध नही होता है जैसे कि सत्ता का आलोचन करनेवाला दर्शन स्वसंविदित नही हैं, वैसा ज्ञान को नहीं समझ बैठना, ज्ञान तो वस्तुतः स्वसंविदित ही हैं " स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः " विषय को ग्रहण करते समय ज्ञान अपना स्वसंवेदन तत्काल ही कर लेता है (ज्ञान का उपजना ही स्वसंवेदन स्वरूप हैं, चाहे मिथ्याज्ञान हो चाहे सम्यग्ज्ञान हो तत्क्षण ही स्वको जानने में सभी प्रमाण हैं)।

" भावप्रमेयापेक्षायाँ प्रमाणाभासनिन्ह्वः ।
वहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते " (श्री समन्तभद्राचार्यः) ।

न च स्वसंविदितत्वं कस्यचिन्मूर्तस्य दृष्टमिष्टं चातिप्रसंगादित्यमूर्तत्वमेव चित्तवृत्तीनामवस्थितं ततो नासिद्धो हेतुः । नाप्यनैकान्तिको विरुद्धो वा विपक्षवृत्त्यभावाद्यतश्चित्तवृत्तीनां प्रतिबिंबभृत्त्वाभावो न सिद्ध्येत् ।

किसी भी घट, पट आदि रूपी मूर्त पदार्थ का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा स्वयं को ज्ञात कर लेना देखा नही गया हैं और अनुमान या आगम द्वारा भी " मूर्तों का स्वसंविदिति हो जाना " यह सिद्ध अभीष्ट नही किया है । क्योकि ऐसा मानने से अतिप्रसंग हो जावेगा । आत्मा या ज्ञान के समान अन्यगृह वस्त्रादि पदार्थ भी अपना स्वसंवेदन स्वय करने लगेंगे, तब तो जड और चेतन पदार्थो का कोई पृथग्भाव नहीं हो सकेगा ।

या चित्तवृत्तियों का अमूर्तपना ही व्यवस्थित हो जाता है तिसकारण चित्त या ज्ञान की वृत्तियों मैं प्रतिबिम्ब धारने के अभाव को साधनेपर दिया गया अमूर्तपना हेतु असिद्ध हेत्वाभास नही हैं । क्योंकि पक्ष मैं भले प्रकार वर्त रहा हैं । तथा यह अमूर्तत्व हेतु अनैकान्तिक यानी व्यभिचारी अथवा विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है । क्योकि निश्चित साध्याभाववाले दर्पण, रडग (रांग) लिप्त पीतल के वासन आदि विपक्ष पदार्थों में नही वर्तता है जिस से कि चित्तवृत्तियों के प्रतिविम्ब को धारने का अभाव सिद्ध न हो सके, अर्थात् असिद्ध, विरुद्ध या व्यभिचारी हेत्वाभास अमूर्तत्व हेतु होता तो दूषित हेतु अपने प्रकरण प्राप्त साध्य को सिद्ध नही कर पाता । किन्तु यह अमूर्तत्व हेतु निर्दोष है अतः प्रतिवादियोके सन्मुख नियत साध्यको सिद्ध कर ही देता है ।

विषयप्रतिनियतमान्यथानुपपत्त्या प्रतिबिम्बभृतो ज्ञानवृत्तय इति चेन्न, निराकारत्वेपि विषयप्रतिनियमसिद्धेः पुंसो दर्शनस्य भोगनियमवत् ।

अब बौद्धो का सहारा लेते हुये सांख्य मतानुयायी कह रहे हैं कि घटज्ञान का विषय घट ही हैं, पटज्ञान पट को ही जानता है, ऐसा विषयों का प्रतिनियम बन जाना अन्यथा यानी ज्ञानवृत्तियों के प्रतिविम्ब (आकार) धारे विना युक्तिपूर्ण नहीं सिद्ध हो पाता है, इससे अनुमित हो जाता है कि ज्ञानवृत्तियां चाहे मूर्त हों प्रतिबिम्बों को अवश्य धारती हैं । घट को ही घटज्ञान विषय करता है इसका नियामक यही है कि घटज्ञानमे घट का आकार पडा हुआ है, यदि अन्तरंग तत्त्वज्ञान का और बहिरंग

पदार्थ ज्ञेय का कोई सम्बन्ध न होता तो उस घटज्ञान द्वारा कोई भी समुद्र, परमाणु आदि पदार्थ ज्ञात कर लिया जाता। चादी के रुपये (सिक्के) से कुछ भी गेहू, वस्त्र, घृत, लवण आदि पदार्थ मोल लिया जा सकता है। रुपया का किसी विवक्षित पदार्थ के साथ ही गठबंधन नही हो रहा है, जिससे कि वह एक नियत पदाथ का ही क्रय करे।

इसी प्रकार आकाररहित ज्ञान उपज चुका वह चाहे जिस को प्रकाश देगा। सूर्य का उदय हो गया। वह राजा, चाण्डाल सबके घरमे समान रूप से मणि मुक्ता फल, मल, मूत्र आदि को विशदरूप से प्रकाशता है और जब ज्ञानमे आकार पडेगा उसी को प्रकाशित करेगा। जो पुरुष विक्रेता को मूल्य देगा वही वस्तु का क्रय करेगा, जो मूल्य नही देकर क्रय करना अमूल्यदानक्रयित्व दोष है। बौद्धो ने भी–

" अर्थेन घटयत्येनां नहि मुक्त्वार्थरूपतां, तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता "

ऐसा कहा है साविकल्पकबुद्धि निर्विकल्पकबुद्धि का अर्थ के साथ इतना ही संबंध करा देती हैं जिससे कि निर्विकल्पबुद्धि में पडे हुये आकार अनुसार वह अर्थ को यथार्थ जान बैठती है, अर्थाकार के अतिरिक्त निर्विकल्पकबुद्धि और अर्थ का कोई बादरायण संबन्ध नही है। दूती या कुट्टिनी जो है सो पुंश्चली अभिसारिका को जार के साथ मात्र इतना ही जोड देती है, जिससे कि उनका आद्य मिलन हो जाय पश्चात् वह दूर हो जाती है।

" भिन्नकालं कथं ग्राह्यं इति चेद्‌ग्राह्यतां विदुः,
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम्।"

बौद्धो के यहा ज्ञान को अर्थ से जन्य माना गया है (तदुत्पत्तिः) कार्यसे समर्थ कारण एक क्षणपूर्व रहता है। जब सपूर्ण पदार्थ क्षणिक इष्ट हैं तो ज्ञानकाल मे अर्थ हो चुका और अर्थकाल में ज्ञान का आत्मलाभ ही नही हुआ था, तब तो भिन्न कालीन ज्ञेय मरा हुआ विचारा उत्तर कालवर्ती ज्ञान के द्वारा ग्राह्य कैसे होय। इसका उत्तर युक्तियो को जाननेवाले बौद्ध यही देते हैं कि ज्ञानमे अर्थ का आकार पड जाना ही ज्ञेय की ग्राह्यता है। पिता मर गया लडके को अपनी सपत्ति सोप गया, कृतज्ञ, विनीत पुत्र अपने जनक को सर्वदा (स्मृति या भावना द्वारा) जानता रहता है। वैष्णव संप्रदाय अनुसार पुत्र अपने पिता का तर्पण करता हैं, पिण्डदान करता हैं जो कि उसी अपने नियत पिता को प्राप्त होता माना गया है। उसी प्रकार हम साख्य भी विषयो के प्रति नियम की व्यवस्था करते हुये ज्ञान वृत्तियो मे विषय का प्रतिबिम्ब

ज्ञान के समान प्रतिबिम्बों का धारण करना जो माना है वह तो युक्तियों से ही सिद्ध नहीं हो पाता है। भावार्थ– योग से अन्य काल में आत्मा का वृत्तियों के साथ तदाकार हो जाना यानी व्युत्थान काल में बुद्धि आदि के सहारे आत्मा भी वैसा ही भासता है बुद्धिवृत्ति के समान वृत्तिवाला हो जाता है। जैसी जैसी सुख आदि आकारों को धारण करनेवाली वृत्तियां हैं तदनुरूप ही पुरुष का वेदन होता रहता हैं। चलायमान जल तरंगो में प्रतिबिम्बित चन्द्रबिम्ब भी चलायमान दिखता है, उसी प्रकार पुरुष भी वृत्तियो के आकारवाला तत्स्वरूप विदित हो रहा हैं। यह योगसिद्धान्त युक्ति सिद्ध नहीं है, क्योकि किसी भी अमूर्त अर्थमे किसी भी मूर्त या अमूर्त पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड जाना असम्भव है। आपके यहां आत्मा सर्वथा अमूर्त माना गया है। वृत्तियाँ भी अमूर्त है। उनमें विषयो का प्रतिबिम्ब नही पड सकता है। इसी बातको विशदरूपेण अनुमान बनाकर कहते हैं कि वृत्तियाँ (पक्ष) प्रतिबिम्बो को धारनेवाली नही है (साध्यदल) अमूर्त होने से (हेतु) जैसे कि आकाश अमूर्त हो रहा प्रतिबिम्ब आकारों को नही धारता है (अन्वयदृष्टान्त) जो जो प्रतिबिम्ब को धारनेवाले पदार्थ वे वे अमूर्त नही देखे गये है जैसे कि दर्पण, जल, तैल, खड्ग आदि हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त) वृत्तियें अमूर्त हैं (उपनय) तिस कारण प्रतिबिम्बो को धारनेवाली नही हैं (निगमन)। यो इस पञ्चावयववाले परार्थानुमान में पडा हुआ अमूर्तपना हेतु असिद्ध नही है। पक्ष में हेतु नही रहता तो असिद्ध हेत्वाभास हो जाता, किन्तु यह हेतु पक्ष में वर्त रहा है। ज्ञानस्वरूप वृत्तियो का मूर्त होना स्वीकार नही किया गया है। यदि उन ज्ञानवृत्तियो को रूपादिमान्, मूर्त, स्वीकार किया जायगा तो चक्षु आदि बहिरंग इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष हो जाने का प्रसंग आ जावेगा, ज्ञानो का बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हो जाना किसी को अभीष्ट नही है। यदि नैयायिक को मन के मूर्तपन मे सहकारी समझकर योग यहां यों कहे कि ज्ञानवृत्तियां मन के समान अत्यन्त सूक्ष्म हैं। अतः मूर्त भी मन का सूक्ष्म हो जाने के कारण जैसे चक्षुरादिक करके प्रत्यक्ष नही हो पाता है उसी के समान अत्यन्त सूक्ष्म होने से ज्ञान वृत्तियों का बाह्य प्रत्यक्ष नही हो पाता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो उस मूर्त मन के समान ही ज्ञानवृत्तियों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो जाना भी नही बन सकेगा। किन्तु ज्ञान का स्वसंवेदन हो रहा है, स्वसंवेदन द्वारा नहीं जानी जा रही तो ज्ञानवृत्तियां नहीं हैं, यदि ऐसी अस्वसंविदित होती तो उनके द्वारा अर्थ के ग्रहण हो जाने का विरोध हो जाता, जो स्वसंविदित नहीं है

घटादिक के समान वह अर्थ का ग्राहक (ज्ञापक) नही हो सकता है। ज्ञान जब कभी होगा तब स्वसंविदित प्रत्यक्षाक्रान्त ही होगा।

प्रदीपादिवदस्वसंविदितेपि विषयग्राहित्वं ज्ञानवृत्तीनामविरुद्धमिति चेन्न, वैषम्यात्। प्रदीपादिद्रव्यंहि नार्थग्राहि स्वयमचेतनत्वात्। किं तर्हि ? चक्षुरादीरूपादिग्राहि ज्ञानकारणस्य सहकारितयार्थग्राहीत्युपचर्यते न पुनः परमार्थतस्तत्र तथा। ज्ञानवृत्तयस्तु तत्त्वतोर्थग्राहिण्य इष्यन्ते ततो न साम्ययुदाहरणमस्येति नास्वसंविदितत्वसिद्धिस्तासां दर्शनवत्।

यदि मीमासक को ढाढस बंधानेवाला समझकर योग पुनः यो कहे कि अपना स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नही होते हुये भी मूर्त ज्ञानवृत्तियों प्रदीप, सूर्य, चक्षुरिन्द्रिय आदिके समान होकर विषयो की ग्राहिका हो जावेगी, कोई विरोध नही पडता है।

आचार्य कहते हैं कि यह तो नही कहना। क्योकि आपके दिये हुये प्रदीप आदि दृष्टान्त विषम हैं। देखिये वस्तुतः विचारा जाय तो यही निर्णीत होगा कि स्वयं अचेतन यानी जड होने के कारण प्रदीप आदिक द्रव्य तो अर्थों को ग्रहण करनेवाले नही हैं, तब तो "प्रदीपेन, चक्षुषा, सूर्येण, वा ज्ञायते" यो प्रदीप आदि को ज्ञान (प्रमिति) की करणता कैसे है ? इसका समाधान यही है कि रूप, रस आदि को ग्रहण करनेवाले करणभूत ज्ञानके सहकारी कारण हो जाने से चक्षुः, प्रदीप आदिक पदार्थ विचारे अर्थ के ग्राहकपने करके उपचरित किये जा रहे है, करण के कारण को करण कह दिया गया है, जैसे कि पिता के पिता को कोई पौत्र विचारा पिता कह देता है। परमार्थरूप से फिर वे प्रदीपादिक तो अर्थके ग्राहक नही हैं। हां, ज्ञानवृत्तियां तो सात्त्विक वास्तविक रूप से अर्थोके ग्रहण करलेने की टेव को धरनेवाली इष्ट की गई हैं, इसी प्रकार चक्षू, सूर्य, अञ्जन, ममीरा मे भी समझ लेना। तिसकारण आप का प्रदीप उदाहरण उन ज्ञानवृत्तियो के मूर्त होनेपर भी अर्थ को ग्रहण करने में सम नही है विषम है।

इस प्रकार उन ज्ञानवृत्तियो का अस्वसंविदितपन सिद्ध नही होता है जैसे कि सत्ता का आलोचन करनेवाला दर्शन स्वसंविदित नही हैं, वैसा ज्ञान को नही समझ बैठना, ज्ञान तो वस्तुतः स्वसंविदित ही हैं "स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः" विषय को ग्रहण करते समय ज्ञान अपना स्वसंवेदन तत्काल ही कर लेता है (ज्ञान का उपजना ही स्वसंवेदन स्वरूप हैं, चाहे मिथ्याज्ञान हो चाहे सम्यग्ज्ञान हो तत्क्षण हो स्वको जानने में सभी प्रमाण हैं)।

" भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिन्ह्वः ।
वहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते " (श्री समन्तभद्राचार्यः) ।

न च स्वसंविदितत्वं कस्यचिन्मूर्तस्य दृष्टमिष्टं चातिप्रसंगादित्यमूर्तत्वमेव चित्तवृत्तीनामवस्थितं ततो नासिद्धो हेतुः । नाप्यनैकान्तिको विरुद्धो वा विपक्षवृत्त्यभावाद्यतश्चित्तवृत्तीनां प्रतिबिंबभृत्वाभावो न सिद्धयेत् ।

किसी भी घट, पट आदि रूपी मूर्त पदार्थ का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा स्वयं को ज्ञात कर लेना देखा नही गया है और अनुमान या आगम द्वारा भी " मूर्तों का स्वसंविदिति हो जाना " यह सिद्ध अभीष्ट नही किया है । क्योकि ऐसा मानने से अतिप्रसंग हो जावेगा । आत्मा या ज्ञान के समान अन्यगृह वस्त्रादि पदार्थ भी अपना स्वसंवेदन स्वय करने लगेंगे, तब तो जड और चेतन पदार्थों का कोई पृथग्भाव नहीं हो सकेगा ।

या चित्तवृत्तियों का अमूर्तपना ही व्यवस्थित हो जाता है तिसकारण चित्त या ज्ञान की वृत्तियो में प्रतिविम्ब धारने के अभाव को साधनेपर दिया गया अमूर्तपना हेतु असिद्ध हेत्वाभास नही है । क्योंकि पक्ष में भले प्रकार वर्त रहा है । तथा यह अमूर्तत्व हेतु अनैकान्तिक यानी व्यभिचारी अथवा विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। क्योकि निश्चित साध्याभाववाले दर्पण, रङ्ग (राग) लिप्त पीतल के वासन आदि विपक्ष पदार्थों में नही वर्तता है जिस से कि चित्तवृत्तियो के प्रतिबिम्ब को धारने का अभाव सिद्ध न हो सके, अर्थात् असिद्ध, विरुद्ध या व्यभिचारी हेत्वाभास अमूर्तत्व हेतु होता तो दूषित हेतु अपने प्रकरण प्राप्त साध्य को सिद्ध नही कर पाता । किन्तु यह अमूर्तत्व हेतु निर्दोष है अतः प्रतिवादियोंके सन्मुख नियत साध्यको सिद्ध कर ही देता है ।

विषयप्रतिनियतमान्यथानुपपत्त्या प्रतिबिम्बभृतो ज्ञानवृत्तय इति चेन्न, निराकारत्वेपि विषयप्रतिनियमसिद्धेः पुंसो दर्शनस्य भोगनियमवत् ।

अब बौद्धो का सहारा लेते हुये साख्य मतानुयायी कह रहे हैं कि घटज्ञान का विषय घट ही हैं, पटज्ञान पट को ही जानता है, ऐसा विषयो का प्रतिनियम बन जाना अन्यथा यानी ज्ञानवृत्तियों के प्रतिबिम्ब (आकार) धारे विना युक्तिपूर्ण नहीं सिद्ध हो पाता है, इससे अनुमित हो जाता है कि ज्ञानवृत्तियां चाहे मूर्त हों प्रतिबिम्बों को अवश्य धारती हैं । घट को ही घटज्ञान विषय करता है इसका नियामक यही है कि घटज्ञानमे घट का आकार पडा हुआ है, यदि अन्तरंग तत्त्वज्ञान का और बहिरंग

पदार्थ, ज्ञेय का कोई सम्बन्ध न होता तो उस घटज्ञान द्वारा कोई भी समुद्र, परमाणु आदि पदार्थ ज्ञात कर लिया जाता। चादी के रुपयें (सिक्के) से कुछ भी गेहूं, वस्त्र, घृत, लवण आदि पदार्थ मोल लिया जा सकता है। रुपया का किसी विवक्षित पदार्थ के साथ ही गठबंधन नही हो रहा है, जिससे कि वह एक नियत पदार्थ का ही क्रय करे।

इसी प्रकार आकाररहित ज्ञान उपज चुका वह चाहे जिस को प्रकाश देगा। सूर्य का उदय हो गया। वह राजा, चाण्डाल सबके घरमे समान रूप से मणि मुक्ता फल, मल, मूत्र आदि को विशदरूप से प्रकाशता है और जब ज्ञानमे आकार पडेगा उसी को प्रकाशित करेगा। जो पुरुष विक्रेता को मूल्य देगा वही वस्तु का क्रय करेगा, जो मूल्य नही देकर क्रय करना अमूल्यदानक्रयित्व दोष है। बौद्धो ने भी—

"अर्थेन घटयत्येनां नहि मुक्त्वार्थरूपतां, तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता"

ऐसा कहा है सविकल्पकबुद्धि निर्विकल्पकबुद्धि का अर्थ के साथ इतना ही संबंध करा देती है जिससे कि निर्विकल्पबुद्धि में पडे हुये आकार अनुसार वह अर्थ को यथार्थ जान बैठती है, अर्थाकार के अतिरिक्त निर्विकल्पकबुद्धि और अर्थ का कोई वादरायण संबन्ध नहीं है। दूती या कुट्टिनी जो है सो पुंश्चली अभिसारिका को जार के साथ मात्र इतना ही जोड देती है, जिससे कि उनका आद्य मिलन हो जाय पश्चात् वह दूर हो जाती है।

"भिन्नकालं कथं ग्राह्यं इति चेद्ग्राह्यतां विदुः,
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम्।"

बौद्धो के यहा ज्ञान को अर्थ से जन्य माना गया है (तदुत्पत्तिः) कार्यसे समर्थ कारण एक क्षणपूर्व रहता है। जब सपूर्ण पदार्थ क्षणिक इष्ट है तो ज्ञानकाल मे अर्थ हो चुका और अर्थकाल मे ज्ञान का आत्मलाभ ही नही हुआ था, तब तो भिन्न कालीन ज्ञेय मरा हुआ विचारा उत्तर कालवर्ती ज्ञान के द्वारा ग्राह्य कैसे होय। इसका उत्तर युक्तियो को जाननेवाले बौद्ध यही देते है कि ज्ञानमे अर्थ का आकार पड जाना ही ज्ञेय की ग्राह्यता है। पिता मर गया लडके को अपनी सपत्ति सोप गया, कृतज्ञ, विनीत पुत्र अपने जनक को सर्वदा (स्मृति या भावना द्वारा) जानता रहता है। वैष्णव-सप्रदाय अनुसार पुत्र अपने पिता का तर्पण करता है, पिण्डदान करता है जो कि उसी अपने नियत पिता को प्राप्त होता माना गया है। उसी प्रकार हम सांख्य भी विषयो के प्रति नियम की व्यवस्था करते हुये ज्ञान वृत्तियो मे विषय का प्रतिबिम्ब

पड जाना अभीष्ट करते है नही तो कहां विचारा अन्तस्तत्व ज्ञान और कहां बहिरंग विषय। इनका ऊर्ध्व लोक या अधोलोक के समान संबंध क्या है ?। ग्रन्थकार आचार्य कहते हैं कि यह तो नही समझ बैठना, कारण कि ज्ञानमे आकारो के नही पडनेपर भी विषयो का प्रतिनियम हो जाना सिद्ध है जैसे कि आत्मा के दर्शन गुण का भोगो के साथ नियम बन रहा आप सांख्यो ने माना है। अर्थात्– सांख्यो ने चेतन आत्मा को दृष्टा, भोक्ता, स्वीकार किया है, दर्शन मे आकार पड़ता नही है फिर भी प्रकृति से प्राप्त हुये भोग्य पदार्थों को दर्शन करता हुआ आत्मा भोग लेता है। एक प्राकृत भोग्य पदार्थ को सभी आत्माये नही भोगते है, विशिष्ट भोग्य को एक नियत आत्मा ही भोगता है। यहां आकर नही पडते हुये भी प्रत्येक संसारी आत्मा का नियत पदार्थों के दर्शन या भोग के साथ दृश्यपना या भोग्यपना व्यवस्थित हो रहा आपने माना है।

ज्ञान में आकार माननेपर तो आपके यहाँ और बौद्धो के यहाँ कतिपय दोष आवेंगे यदि तदाकार यानी तद्रूपता होने से ज्ञान को अर्थ का नियामक माना जायगा तब तो सम्पूर्ण समान आकारवाले पदार्थो की उसी एक प्रत्यक्ष ज्ञान करके विशद प्रतिपत्ति हो जानी चाहिये। समान आकारवाले पदार्थो का ज्ञानमे प्रतिबिम्ब या चित्र एकसा ही पडेगा एक पुस्तक का प्रत्यक्ष करनेपर उस छापेखाने की एक साथ छापी गई सम्पूर्ण वैसी पुस्तको का विशद प्रतिभास हो जाना चाहिये। अनुमान या आगमज्ञान हो जाने की बात हम नही कहते है किंतु सामने रक्खी हुई पुस्तक का जैसा विशद प्रत्यक्ष हो रहा है वैसा ही चक्षुः द्वारा विशद प्रत्यक्ष उन सम्पूर्ण समान पुस्तको का हो जाना चाहिये।

तदुत्पत्ति माननेपर भी बौद्ध इस दोष को भले ही टाल देवे किन्तु अन्य दोषो से बच नही सकते हैं। क्योकि इन्द्रिय, अदृष्ट, आकाश आदिसे व्यभिचार हो जायगा, इनसे ज्ञान पैदा होता है किन्तु उत्पन्न हुआ ज्ञान इन को जानता नही है यदि इसका तदाकारता से वारण किया जायगा फिर भी तादृूप्य, तदुत्पत्ति दोनो का समानार्थो के अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञानों करके व्यभिचार दोष तदवस्थ रहेगा। जैन सिद्धान्त अनुसार किसी भी आत्मीय गुण मे किसी भी मूर्त अमूर्त पदार्थ का आकार पडना कभी तो नही इष्ट किया गया है। क्वचित् ज्ञान को साकार जो कह दिया है वहां आकार का अर्थ स्व, पर का संचेतन करना, विकल्पनायें करना मात्र हैं प्रतिबिम्ब धारण करना नही। भला सर्वज्ञ के ज्ञान में भूत, भविष्य, पदार्थ क्या प्रतिबिम्ब डाल

सकते हैं ? कुछ भी नही । हमारे तुम्हारे व्याप्तिज्ञान में त्रिलोक त्रिकालवर्ती नियत साध्य और साधन कुछ भी प्रतिविंव नही डाल पाते हैं जव कि भूत, भविष्य काल के वे वर्तमान मे है ही नही, ऐसी दशा में उनका प्रतिविंव ज्ञानमे नही पड सकता है अत प्रतिबिम्बस्वरूप आकार की अपेक्षा आत्मा के सभी गुण निराकार हैं हां आत्मा की लम्बाई, चौडाई, मोटाई, स्वरूप आकृति या ज्ञान द्वारा विकल्पना की अपेक्षा भले ही किसी गुणको साकार मान लिया जाय कोई क्षति नही हैं । अत. प्रतिविम्व या आकार धारे विना ही ज्ञानवृत्तिया स्वावरण क्षयोपशम स्वरूप योग्यता करके नियत विषयो को जान लेती है । जगत् में किसी विवक्षित पुरुप के स्त्री, वच्चे, वस्त्र, गृह, भूषण, पुस्तकें, पत्र, घोडे, गाडी, रुपये आदि पदार्थ नियत हैं पुरुषार्थ या अन्य कारणो से भी अनेक अनुकूल, प्रतिकूल, पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं । किस किस में आकार पड जाने को मानते फिरोगे । सातावेदनीय के उदय और लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय के क्षयोपशम अनुसार जितने पदार्थ जिस जीव को प्राप्त हो रहे हैं वे सव पदार्थ उसके नियत हैं । असातावेदनीय और अन्तराय कर्म के उदय से अनिष्ट पदार्थ भी नियतरूपेण जीवको प्राप्त हो रहे हैं, इसी प्रकार ज्ञानावरण के क्षयोपशम अनुसार ज्ञान भी नियत पदार्थों को विषय कर लेता है आकार पड जावेकी आवश्यकता नही है ।

अथ बुद्धिप्रतिबिंबितमेव नियतमर्थं पुरुषश्चेतयते नान्यथा प्रतिनियमाभाव प्रसंगादिति मत, तर्हि बुद्धिरपि कुतः प्रतियतार्थप्रतिबिम्बं बिभर्ति न पुनः सकलार्थ-प्रतिबिम्बमिति नियमहेतुर्वाच्यः प्रतिनियताहकाराभिमतमेवार्थं बुद्धिः प्रतिबिम्बयतीति चेत्, किमनया परपरया प्रतिबिम्बमन्तरेणैवाहंकारप्रतिनियमितमर्थं बुद्धिर्व्यवस्यति मनःसंकल्पितमिवाहंकारः । करणालोचितमिव च मननमिति, स्वसामग्रीप्रतिनियमादेव सर्वत्र प्रतिनियमसिद्धेरलं प्रतिबिम्बकल्पनया । तथा च न चित्तवृत्तीनां सारूप्यं नाम यन्मात्रं संप्रज्ञात योगः स्यादिति परेषां ध्यानासंभवः । नापि ध्येयं तस्य सूत्रेनु-पादानात् । ध्याना सिद्धौ तदसिद्धेश्च स्याद्वादिनां तु ध्यानं ध्येये विशिष्टे सूत्रितमेव, चिन्तानिरोधस्यैकदेशतः कात्स्न्यंतो वा ध्यानस्यैकाग्रविषयत्वेन विशेषणात् । तथाहि-

अब इसके अनन्तर कपिल मतानुयायियो का यदि यों मन्तव्य होवे कि बुद्धि में प्रतिविम्बित हो रहे नियत पदार्थ को आत्मा चेतना करता है अन्यथा यानी बुद्धि में प्रतिबिम्ब पडे विना आत्मा किसी भी पदार्थ का चैतन्य नही कर सकता है,

यदि प्रतिबिम्ब पडे विना ही चैतन्योपयोग कर बैठे तो प्रत्येक पदार्थ का नियतरूपेण चेतनोपयोग होने के नियम के अभाव का प्रसंग आ जावेगा, जब प्रकृति व्यापक है तो कोई भी आत्मा किसी भी प्राकृत पदार्थकी चेतना कर लेगी। अतः "बुध्द्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" प्रतिबिम्ब द्वारा बुद्धि में निर्णीत हो चुके अर्थ की ही नियत रूपेण पुरुष चेतना करता है यह मानना पड़ता है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो हम पूछेंगे कि बुद्धि भी बिचारी किस कारण से प्रत्येक के लिये नियत हो रही अर्थ के प्रतिबिम्ब को धारण करती है ? किन्तु फिर सम्पूर्ण अर्थों के प्रतिबिम्ब को क्यों नही धार लेती है ? इसका नियामक हेतु आपको कहना पडेगा, जब कि जगत् मे अनन्तानन्त पदार्थ पड़े हुये हैं तो बुद्धि सबका प्रतिबिंब ले लेवे नियामक हेतु के विना किसी विशिष्ट अर्थ का ही प्रतिबिम्ब ले लेने की व्यवस्था नही हो सकती है।

इसपर सांख्य यदि यो कहैं कि प्रत्येक बुद्धि के लिये नियत हो रहे विशिष्ट अहंकार द्वारा अभिमान के विषय हो रहे पदार्थ का हो बुद्धि प्रतिबिम्ब लेती है अर्थात् प्रकृति का पहिला विवर्त बुद्धि है पुनः बुद्धि का कार्य अहकार है, अहंकार का कार्य ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच-तन्मात्रायें हैं यो अहकार से नियत अर्थ का बुद्धि प्रतिबिम्ब लेती है और बुद्धि प्रतिबिम्बित अर्थ का चेतयिता पुरुष हैं यो कहनेपर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा इस दूरवर्तिनी परम्परा से क्या लाभ निकलेगा ?

फिर हम पूछेंगे कि अहंकार भी नियत अर्थ का अभिमान क्यों करता है ? इसपर आप कहेगे कि मन से जिस नियत विषय का संकल्प किया गया था उसी का अहंकारने अभिमान किया पुनः इसपर प्रश्न उठेगा कि मनने नियत अर्थ का ही संकल्प क्यो किया ? सभी प्राकृत पदार्थों का उसको "यह होगा" या "वह होगा" ऐसा संकल्प करना चाहिये था, तिसपर आप सांख्य कहोगे कि इन्द्रियों द्वारा जिस पदार्थ का आलोचन हुआ उसी नियत विषय को मन विचारता है।

पुनरपि प्रश्न उठता ही रहेगा कि इन्द्रियों ने ही उन नियत विषयों का आलोचन क्यो किया, सभी का एक ओरसे धरकर आलोचन कर डालना चाहिये था। बहुत साहस करेंगें तो भी आप पांचवे, छठे चोद्य का कुछ भी उत्तर नही दे सकोंगे अतः इस व्यर्थ की परम्परा को छोडिये इससे कुछ लाभ नही। अन्तमें पकडे जावेवाले निर्णीत मार्गपर प्रथम से ही आरूढ हो जाइये। देखो बात यह है कि प्रतिबिम्ब के

विना ही अहकार द्वारा प्रतिनियत हो रहे अर्थ का ही निर्णय बुद्धि करती है जैसे कि प्रतिबिम्ब के विना ही मन से संकल्प किये जा चुके अर्थ का अहंकारतत्त्व अभिमान करता हैं अथवा प्रतिबिम्ब पडे विना इन्द्रिया भी नियत अर्थोकी ही आलोचना करती हैं।

सिद्धान्त यह है कि अपनी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, स्वरूप विशिष्ट सामग्री के प्रतिनियम से ही सभी अर्थों में प्रतिनियम बने रहने की सिद्धि हो रही हैं, अतः ज्ञानवृत्तियो में प्रतिबिम्ब पडने की झूठी कल्पना से कुछ भी प्रयोजन नही सधता है और तिसप्रकार ज्ञानो का निराकारपना सिद्ध हो जानेसे चित्तवृत्तियो का सारूप्य यानी विषयाकारधारीपना नाममात्र को भी सिद्ध न हो सका जिससे कि "वृत्तिसारूप्य-मितरत्र" इस सूत्र द्वारा उन ज्ञानवृत्तियो का विषय सारूप्य हो जाना सम्प्रज्ञात योग बन पाता। विषय ग्रहण या कषाय करने के समान सप्रज्ञात समाधि के अवसरपर ज्ञानवृत्तियो का ताद्रूप्य नही बन पाता हैं। यों दूसरे विद्वान् साख्यो के यहा ध्यान का बन जाना असभव है। तथा ध्यान के समान ध्यान करने योग्य ध्येय पदार्थ भी सिद्ध नही हो पाता है क्योंकि उनके सूत्र में उस ध्येय पदार्थ का उपादान ही नही किया गया हैं जब ध्यान को ही सिद्धि नही हो सकी तो उस ध्यान से गम्य ध्येय की सिद्धि तो कथमपि नही हो सकती है हाँ स्याद्वाद सिद्धान्त को माननेवाले आर्हत विज्ञो के यहाँ तो विशिष्ट एक अर्थस्वरूप ध्येयमे ध्यान लग जाना इसी सूत्र द्वारा कहा ही जा चुका हैं क्यो कि एक देश से या सपूर्ण रूप से चिन्ता के निरोध को ध्यान कहा है "एकाग्र-चिन्तानिरोधो ध्यानम्" एक अग्र (अर्थ) ही विषयपने करके ध्यान का विशेषण हो रहा है (ध्याननिष्ठ विषयिता निरूपित विषयतावान् एकाग्रः) इस ही रहस्य को ग्रन्थकार अग्रिम दो वार्तिको द्वारा स्पष्ट कर दिखलाते हैं।

अनेकत्राप्रधाने वा विषये कल्पितेपि वा।
माभूच्चिन्तानिरोधोयमित्येकाग्रे स संस्मृतः ॥ ५ ॥
एकाग्रेणेति वा नानामुखत्वेन निवृत्तये।
क्वचिच्चिन्तानिरोधोस्याध्यानत्वेन प्रमादिवत् ॥ ६ ॥

उक्त सूत्र मे "एकाग्रचिन्तानिरोधः" को ध्यान कहा गया है। एक वास्तविक प्रधान अर्थ में चिन्ताओ का निरोध करना ध्यान हैं। इन लक्षण घटित पदो का साफल्य यो है कि अनेक अप्रधान अथवा कल्पित किये गये भी अर्थ में

चिन्ताओं का निरोध करना ध्यान नहीं हो सके इस कारण सूत्र में इतर की व्यावृत्ति करते हुये सूत्रकार ने एक अग्रमें वह चिन्ताओ का अन्यत्र से निरोध होकर केन्द्रीभूत हो जाना ध्यान कहा है यो भले प्रकार सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार स्मरण कर कह दिया है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त तक घट, पट आदि अनेक पदार्थो में ज्ञान धारा को उपजाते रहना ध्यान नही है क्योकि सूत्र में एक अर्थ मे ऐसा पद पडा हुआ है। और अग्निर्माणवकः, अयं मनुष्यः सिह, इत्यादि स्थलो के अविवक्षित या आरोपित गौण अर्थमे एक टक होकर चिन्ता को रोके रहना ध्यान नही है कारण कि सूत्र मे मुख्य अर्थ को कहनेवाला अग्रपद पडा हुआ है तथा मिट्टी की बनी हुई गाय, घोडा, या अवस्तुभूत कल्पित अर्थ में ध्यान लगा बैठना कोई ध्यान नही है क्यो कि वास्तविक अर्थ को कहनेवाला अग्रपद सूत्र मे उपात्त है।

एक बात यह भी है कि अनेक अर्थो को मुख्य करके उनमे चिन्ताओं को रोके रहना ध्यान हो जायगा इसकी निवृत्ति के लिये सूत्रमें "एकाग्रेणचिन्तानिरोधः," ऐसा कह दिया गया है वायुवेगरहित अवस्था में प्रदीपशिखा जिस प्रकार अचल है उसी प्रकार क्वचित् एक ही अचल अर्थ में ध्यान लगा रहना चाहिये। प्रदीप की या सूर्य की प्रभा जिस प्रकार अनेक अर्थो मे उन्मुख हो जाती है उस प्रकार अनेक अर्थो मे उन्मुख हो रही ज्ञानधारा की ध्यानपने करके व्यवस्था नही नियत है।

एकशब्दः संख्यापदं, अंग्यते तदंगति तस्मिन्निति वाग्रं मुखं, भद्रेदाग्र विप्रेत्यादि निपातनात्, अंगेर्गत्यर्थस्य कर्मण्यधिकरणे वा रग्विधानात्। चिन्तान्तःकरण-वृत्तिः अनियतक्रियार्थस्य नियतक्रियाकर्तृत्वेनावस्थानं निरोधः एकमग्रं मुखं यस्य सोय-मेकाग्रः चिन्ताया निरोधः एकाग्रश्चासौ चिन्तानिरोधश्च स इत्येकाग्रचिन्तानिरोधः।

इस सूत्रमे कहा गया एक शब्द तो सख्यावाची पद है अर्थात् असहाय, अनुपम, केवल, असाधारण, अभेद, एकत्वसख्या, केचित् आदिक अनेक अर्थो के सम्भव होनेपर यहा प्रकरण में एक शब्द एकत्व सख्यो को कहनेवाला लिया गया है। और अग का अर्थ यह है कि गति अर्थ में वर्त रही "अगि" धातु से कर्म या अधिकरण में रक् प्रत्यय कर अग्र शब्द को सिद्ध किया गया है गति अर्थक धातुओ का ज्ञान भी अर्थ हो जाता है। उसको ज्ञात किया जाय अथवा ज्ञान द्वारा उस में स्वीकृति प्राप्त की जाय इस कारण अग्र का अर्थ मुख हो जाता है "भद्रेन्द्राग्रविप्र" इत्यादि सूत्र करके निपात हो जानेसे गत्यर्थ अगिधातु से कर्म वा अधिकरण में रक् प्रत्यय का विधान किया गया है पदार्थों में अन्तःकरण मन की वृत्ति हो जाना चिन्ता है चलना, सोना,

रोक लेना ध्यान नही हो सकता है तथा एकाग्र का वाच्य प्रधान वास्तविक अर्थ करने से कल्पित अर्थ मे चिन्ताओ को रोके रहना ध्यान नही कहायेगा चिन्ताओं को रोककर एक ही ध्येय अर्थ में वास्तविक ज्ञान धारा को बहाते हुये निश्चल चिन्ता करना ध्यान है अत. कोरी अवास्तविक कल्पनाओ का आरोप करते रहना ध्यान नही समझा जा सकता है यो सूत्रोक्त पदो की सफलता को दिखाते हुये अतिव्याप्ति दोषो का निराकरण कर लिया जाय।

नन्वनेकान्तवादिनां सर्वस्यार्थस्यैकानेकरूपत्वात् कथमनेकरूपव्यवच्छेदे-नैकाग्रध्यानं विधीयत इति कश्चित् सोप्यनालोचितवचन, एकस्यार्थस्य पर्यायस्य वा प्रधानभावे ध्यानविषयवचनात्। तत्र द्रव्यस्य पर्यायान्तराणां च सत्त्वेपि गुणीभूतत्वा-द्ध्यानविषयत्वव्यवच्छेदात्। तत एव चैक शब्दस्य संख्याप्राधान्यवाचिनो व्याख्यानात्।

यहां किसी शंकाकार का पूर्वपक्ष है कि सम्पूर्ण पदार्थो को अनेक धर्म स्वरूप कहने की टेव को रखनेवाले जैनो के यहा सभी पदार्थ जब एक स्वरूप और अनेक स्वरूप हैं तो ऐसा हो जाने से अनेक रूपों का व्यवच्छेद करके एक ही अर्थ में ध्यान किस प्रकार कर लिया जाय ? अनेकान्त को एकान्त जानना मिथ्या पडेगा। अतः कोरे एक अर्थ मे ध्यान लग जाना स्याद्वादियो के यहां नही बन सकता है। यहा तक कोई एक पण्डित कह रहा है। अब आचार्य कहते हैं कि वह एकान्तवादी पण्डित भी विचारणा किये विना हो वचनो को कहनेवाला है, कारण कि एक पदार्थ अथवा उसकी एक पर्याय के प्रधान हो जानेपर ज्ञान समुदाय रूप ध्यान का विषय हो जाना कहा गया है उस ध्येय वस्तु में द्रव्य और ध्यानाक्रान्त पर्याय से अतिरिक्त अन्य पर्यायो का सद्भाव होनेपर भी वे सब गौणरूप हो रही हैं अतः ध्येय द्रव्य या पर्याय से अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण तदभिन्न द्रव्य और पर्यायो को ध्यान के विषय हो जाने का व्यवच्छेद (निराकरण) हो जाता है। तिसही कारण से तो हमने एकत्व सख्या या प्रधानपन को कथन करनेवाले एक शब्द का व्याख्यान किया है। अर्थात् अनेकान्तात्मक अर्थमे से ही एक प्रधानभूत द्रव्य या पर्यायस्वरूप धर्मविशेष में ही ज्ञान धारा उपजाकर अखड ध्यान लगाया जाता है अर्थ तो द्रव्य, पर्याय, गुण, स्वभाव, अविभागप्रतिच्छेद इन सबका तादात्म्यस्वरूप हो रहा वस्तु है उसके एक ही किसी वास्तविक अंशमें ध्यान हो जाना वन बैठता है।

नन्वेवं कल्पनारोपित एव विषये ध्यानमुक्तं स्यात्तत्त्वतः पर्यायमात्रस्य वस्तुनोनुपपत्तेर्द्रव्यमात्रवत्, द्रव्यपर्यायात्मनो जात्यन्तरस्य च वस्तुत्वात् नयविषयस्य च वस्त्वेकदेशत्वादन्यथा नयस्य विकलादेशत्वविरोधादिति पर.। सोपि न नीतिवित्, पर्यायस्य निराकृतद्रव्यपर्यायान्तरस्यैव वाऽवस्तुसाधनान्निरस्तसमस्तपर्यायद्रव्यवत्। न पुनरपेक्षितद्रव्यपर्यायन्तरस्य पर्यायस्यावस्तुत्वं तस्य नयविषयतया वस्त्वेक देशत्वेप्य-वस्तुत्वनिराकरणात। " नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः। न समुद्रोऽसमुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि।" इति नियमात्। न च वस्त्वंशः कल्पनारोपित एव वस्तुनोपि तथा प्रसंगात्।

शंकाकार पण्डित कह रहा है कि इस प्रकार ध्यान की व्यवस्था करनेपर तो कल्पना बुद्धि से आरोपे गये कल्पित विषयमे ही ध्यान होना कहा गया समझो क्योंकि केवल पर्याय को ही तात्त्विकरूप से वस्तुपना बना नही सकता है जैसे कि केवल द्रव्यको ही अक्षुण्ण वस्तु का स्वरूप नही माना जाता हैं प्रमाणपद्धति से विचारा जाय तो जैनो के यहा द्रव्य और पर्याय स्वरूप हो रहे तथा इन द्रव्य जाति और पर्याय जाति दोनो से न्यारे तीसरो ही जातिवाले अर्थ को वस्तु माना गया है। नयके विषयभूत अर्थांश को वस्तु का एक देश व्यवस्थित किया है अन्यथा यानी नयज्ञान के विषय को वस्तु का एक देश नहीं मानकर वस्तु का पूर्ण स्वरूप माना जाय तो नय को वस्तु के विकल अंशका कथन करनेवाले विकलादेशीपन का विरोध हो जावेगा। यहां तक कोई दूसरा विद्वान् कह रहा है।

आचार्य कहते हैं कि वह पण्डित भी न्याय, नीति को जाननेवाला नही है कारण कि द्रव्य और स्वभिन्न तन्निष्ठ न्यारी न्यारी अनेक पर्यायो को निराकरण कर चुके हो एक अकेली पर्याय को ही अवस्तुपना पूर्व प्रकरणो में साधा गया है जैसे कि जिस द्रव्य ने सम्पूर्ण पर्यायो का निराकरण कर दिया है वह कूटस्थ अकेला द्रव्य कथमपि वस्तु का पूर्ण शरीर नही कहा जाता है। शीर्ष (शिर) तभी शरीरांग हो सकता है जब कि छाती, पेट, नितम्ब आदि अंगों की अपेक्षा रखता है, इसी प्रकार छाती भी तभी जीवित है जब कि शिर आदि सात अंगो की अपेक्षा रख रही है, परस्पर अपेक्षा रक्खे विना सभी अंग मर जाते हैं उसी प्रकार वस्तु के अंश हो रहे द्रव्य और व्यञ्जन पर्याय तथा अर्थ पर्याय हैं। पर्यायो से निरपेक्ष हो रहा केवल द्रव्य कोई वस्तु नहीं है तथैव द्रव्यो की अपेक्षा नही रखनेवाली अकेली पर्याय कोई चीज

नहीं है खरविषाणवत् अवस्तु है । किन्तु फिर द्रव्य और पर्यायान्तरों की अपेक्षा रख चुकी पर्याय को अवस्तुपना नहीं है क्योंकि अपने सम्पूर्ण तादात्म्यापन्नों की अपेक्षा रख रही उस पर्याय को नय का विषयपना होने के कारण वस्तु का एकदेशपना होते हुये भी अवस्तुपन का निराकरण कर दिया गया है "प्रमाणनयैरधिगमः" इस सूत्र के व्याख्यान में पांचवीं वार्तिक द्वारा यों नियम किया गया है कि यह नय का विषय हो रहा अर्थांश न तो पूरा वस्तु है और न खरविषाणवत् अवस्तुभूत है जिस कारण से कि वह अर्थांश विचारा अखंड वस्तु का एक अंश कहा जाता है । जिस ही प्रकार कि समुद्र का अंश (लाल सागर या अरब का समुद्र आदि टुकड़े) न तो पूरा समुद्र ही है और न घट, पट के समान समुद्र ही है किन्तु समुद्र का एक अंश है इसी प्रकार ध्यान का विषयभूत पदार्थ भी वस्तु का एक देश है कल्पित नहीं । वस्तु का अंश हो रहा ध्येय पदार्थ कोई कोरी कल्पनाओ से आरोपा जा चुका ही नही है यदि अंगो को कल्पित माना जायगा तो अंगी भी सर्वथा कल्पित हो जायगा अत वस्तु को भी तिस प्रकार कल्पित हो जाने का प्रसंग आ जावेगा । वस्तु अंगों का समुदाय हो तो वस्तु है ।

स्वरूपालम्बनमेव ध्यानमित्यन्ये, तेपि न युक्तवचसः, सर्वथा तत्स्वरूपस्य ध्यानध्येयरूपद्वय विरोधात् । कथंचिदनेकस्वरूपस्य तदविरोधिध्यानरूपादर्थान्तरभूते ध्येयरूपे ध्यानं प्रवर्तते इति स्वतो व्यतिरिक्तमेव द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा समालम्बते । न च द्रव्यपरमाणुर्भावपरमाणुर्वार्थपर्ययो न भवति पुद्गलादिद्रव्यपर्याय-त्वात् तस्येति चिन्तितप्रायं ।

अपने आप अपने स्वरूप को ज्ञान में आलंबन विषय बनाये रखना ही ध्यान है, इस प्रकार कोई अन्य विद्वान् कह रहे हैं । ग्रन्थकार कहते हैं कि वे विद्वान् भी युक्तिपूर्ण वचनों को कहनेवाले नहीं हैं । क्योंकि सर्वथा उसी स्वरूप में निमग्न बने रहने को ध्यान और ध्येय दो रूप हो जाने का विरोध है जिस का ध्यान किया जाता है वह ध्येय पदार्थ है अतः ध्यान, ध्याता, ध्येय, यो कथंचित् अनेक स्वरूप हो रहे पदार्थ के उन ध्यान, ध्येय, स्वरूपो का कोई विरोध नहीं है अनेक धर्मों को धार रहे ध्याता आत्मा के ध्यान-स्वरूप से भिन्न अर्थ हो रहे ध्येय रूप में ध्यान प्रवर्त जाता है इस कारण वह ध्यान अपने से भिन्न हो रहे ही द्रव्यपरमाणु अथवा भावपरमाणु का भले प्रकार अवलंब करता है यो ध्यान भिन्न है और ध्यान का कर्म न्यारा है रूपादि मान पुद्गलपर्याय द्रव्यपरमाणु है जो कि " अत्तादि अत्तमज्झं अत्तत णेवं

इंन्द्रियेगेज्झं, जद्दव्वं अविभागी तं परमाणुं वियाणेहि ।" इस स्वरूप को धारण करती है और परमाणु का ज्ञान या परमाणु अतीन्द्रिय शक्तियां भावपरमाणु है ज्ञान तो आत्मा के चेतना गुण की पर्याय है और परमाणु की शक्तियां पुद्गलद्रव्य स्वरूप हैं अतः द्रव्य परमाणु या भावपरमाणु कोई अर्थ की पर्याय नहीं है ऐसा नहीं समझ बैठना । क्योंकि वे द्रव्यपरमाणु या भावपरमाणु दोनों हीं पुद्गल आदि (आत्मा) द्रव्यों की पर्याय हैं इस सिद्धान्त की पूर्व प्रकरणों मे कई बार चिन्तना कर चुके है यहां कहना निरर्थक है ।

ततोयं ध्यानशब्दो भावकर्तृकरणसाधनो विवक्षावशात् ध्येयं प्रति व्यावृतस्य भावमात्रत्वात् ध्यातिर्ध्यानमिति भवति । करणप्रशंसापरायां वृत्तौ कर्तृसाधनत्वं ध्यायतीति ध्यानं। साधकतमत्वविवक्षायां करणसाधनं ध्यायत्यनेन ज्ञानावरणवीर्यान्तराय-विगमविशेषोद्भूतशक्तिविशेषेणेति ध्यानमिति । एकान्तकल्पनायां दोषविधानमुक्तं ।

तिस कारण यह ध्यान शब्द विवक्षा के वश से भाव में या कर्ता में अथवा करण में युट् प्रत्यय कर साध दिया गया है । (ध्यानमात्रं ध्यानं) सामान्य रूप से ज्ञप्तियो रूप ध्यान करना स्वरूप क्रियाओं की अपेक्षा करनेपर ध्यान शब्द भावसाधन है क्योंकि ध्यान करने योग्य पदार्थ के प्रति व्यापार कर रहीं क्रियाभाव मात्र है ऐसा होनेसे "ध्यातिर्ध्यानम्" इस प्रकार भावमे क्ति प्रत्यय कर निर्वचन कर दिया है । करण की प्रशंसा करने में तत्पर हो रही वृत्ति होते सन्ते तो ध्यान शब्द को कर्ता मे युट्-प्रत्यय कर साध लिया जाय, ध्यान करनेवाला है इस कारण वह करण स्वयं ध्यान कर्ता है जैसे कि "देवदत्तः असिना छिनत्ति देवदत्तः किं छिनत्ति असिः स्वयमेव छिनत्ति" देवदत्त तलवार से लेज (रस्सी) को काट रहा है देवदत्त क्या कर रहा है तलवार ऐसी उत्तम है जो कि स्वय ही रस्सी को काटती चली जा रही है । यहां काटने मे करणभूत तलवार है, कर्ता देवदत्त है, किन्तु तलवार की बडाई करना जब अभीष्ट हो जाता है तो करण हो रही तलवार को ही कर्ता कोटि में ले आते हैं इसी प्रकार ध्यान वस्तुतः ध्यान क्रिया का करण है, जैसे कि ज्ञप्तिक्रिया का करण ज्ञान है । फिर भी करण हो रहे ध्यान की प्रशंसा करना अपेक्षित होनेपर स्वतंत्र कर्ता रूपसे ध्यान का उल्लेख किया जाता है । आत्मा क्या ध्यान करता है ? वह ध्यान ही स्वयं ध्यान कर रहा है । तीसरी ध्यान क्रिया में प्रकृष्ट उपकारकपने की विवक्षा करनेपर जिस करके ध्यान किया जाय वह ध्यान है, यों करण में युट्-प्रत्यय कर ध्यान

शब्द व्याकरण की प्रक्रिया से निर्दोष सिद्ध कर लिया जाता है। ज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तराय कर्म इन दोनो का निःशेषरूप से विगम (क्षयोपशम) हो जानेपर प्रकट हुई जानने और उत्साह करने की विशेष आत्मीय सामर्थ्य करके ध्यान करना होता है इस कारण यह ज्ञानोत्साहशक्ति ध्यान है यदि एकान्तरूप से ध्यान को क्रियास्वरूप या कर्ता अथवा करण स्वरूप ही माना जायगा तो उसमे अनेक दोषो का विधान आता है इसको हम पहिले कह चुके हैं।

प्रथमसूत्रे ज्ञानशब्दस्य करणादिसाधनत्वसमर्थनात् निर्विषयस्य ध्यानस्य भावसाधनत्वाद्यनुपपत्तेश्च। भाववंतमन्तरेण भावस्यासंभवात् कर्तुरभावे करणत्वानुपपत्तेः। सर्वथैकान्ते कारकव्यवस्थासंभवस्य चोक्तत्वात्।

सब से पहिले के " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " इस सूत्र मे ज्ञान शब्द को करण, भाव आदि (कर्ता) मे साध लेने का समर्थन किया जा चुका है। ध्यान ज्ञानस्वरूप ही है, ज्ञान के समान ध्यान में भी विषयभूत ध्येय पदार्थ हैं, इन का अवलम्ब क्वचित् भले ही कोई पदार्थ पड जाय किन्तु चारित्र, सुख, वीर्य आदिक तो विषयो से रीते होते हैं आत्मीय सुख या आत्मीय स्वरूप निष्ठा किसी विषय के नही हैं। स्वयं तद्रूप है, किन्तु ज्ञान या ध्यान तो किसी न किसी विषय का ही होगा। केवलज्ञान भी त्रिलोक त्रिकालवर्ती बहिरंगपदार्थ और आत्मीय अन्तरंग पदार्थो को विषय कर रहा है, यों ध्यान में भी कोई द्रव्य या पर्याय अथवा स्वकीय शुद्धात्मा विषय अवश्य पड जाते है विषयो से रहित हो रहे ध्यान को भावसाधनपना अथवा कर्तासाधनपना आदिक नही बन सकते हैं क्योकि भाववान् पदार्थ के विना भाव का होना असम्भव है घट के विना घटत्व नही ठहर पाता है और कर्ता का अभाव माननेपर करणपना नही बन सकता है सर्वथा नित्यपन, अनित्यपन आदि एकान्तो के माननेपर कारक होनेकी व्यवस्था का असम्भव है इस बात को हम पूर्वप्रकरणो मे कह चुके हैं " क्रियाप्रकारीभूतोऽर्थ कारकम् " " क्रियान्वयित्वं वा कारकत्वम् " आदि कारकपना अनेकान्त सिद्धान्त में बनता है केवल स्वरूपालम्बन को ही ध्यान माननेपर ध्यान सुव्यवस्थित नही हो पाता है।

न च विकल्पारोपिते विषये ध्यानमित्येकान्तवादोपि श्रेयान्, निर्विषयध्यानस्यापि काल्पनिकत्वप्रसंगात् कुमारीपरिकल्पितभोज्ये काल्पनिकभोजनवत्। न च परिकल्पितात् ध्याताध्यातुः फलमकल्पितरूपमुपपद्यते कल्पित भोजनादकल्पिततृप्तिवत्।

नन्वेवं कल्पनारोपित एव विषये ध्यानमुक्तं स्यात्तत्वतः पर्यायमात्रस्य वस्तुनोनुपपत्तेर्द्रव्यमात्रवत्, द्रव्यपर्यायात्मनो जात्यन्तरस्य च वस्तुत्वात् नयविषयस्य च वस्त्वेकदेशत्वादन्यथा नयस्य विकलादेशत्वविरोधादिति पर। सोपि न नीतिवित्, पर्यायस्य निराकृतद्रव्यपर्यायान्तरस्यैव वाऽवस्तुसाधनान्निरस्तसमस्तपर्यायद्रव्यवत्। न पुनरपेक्षितद्रव्यपर्यायन्तरस्य पर्यायस्यावस्तुत्वं तस्य नयविषयतया वस्त्वेक देशत्वेप्य-वस्तुत्वनिराकरणात्। "नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः। न समुद्रोऽसमुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि।" इति नियमात्। न च वस्त्वंशः कल्पनारोपित एव वस्तुनोपि तथा प्रसंगात्।

शंकाकार पण्डित कह रहा है कि इस प्रकार ध्यान की व्यवस्था करनेपर तो कल्पना बुद्धि से आरोपे गये कल्पित विषयमे ही ध्यान होना कहा गया समझो क्योंकि केवल पर्याय को ही तात्विकरूप से वस्तुपना बना नही सकता है जैसे कि केवल द्रव्यको ही अक्षुण्ण वस्तु का स्वरूप नही माना जाता हैं प्रमाणपद्धति से विचारा जाय तो जैनों के यहा द्रव्य और पर्याय स्वरूप हो रहे तथा इन द्रव्य जाति और पर्याय जाति दोनो से न्यारे तीसरो ही जातिवाले अर्थ को वस्तु माना गया है। नयके विषयभूत अर्थांश को वस्तु का एक देश व्यवस्थित किया है अन्यथा यानी नयज्ञान के विषय को वस्तु का एक देश नही मानकर वस्तु का पूर्ण स्वरूप माना जाय तो नय को वस्तु के विकल अंशका कथन करनेवाले विकलादेशीपन का विरोध हो जावेगा। यहां तक कोई दूसरा विद्वान् कह रहा हैं।

आचार्य कहते हैं कि वह पण्डित भी न्याय, नीति को जाननेवाला नही है कारण कि द्रव्य और स्वभिन्न तन्निष्ठ न्यारी न्यारी अनेक पर्यायो को निराकारण कर चुके हो एक अकेली पर्याय को ही अवस्तुपना पूर्व प्रकरणों में साधा गया है जैसे कि जिस द्रव्य ने सम्पूर्ण पर्यायो का निराकारण कर दिया है वह कूटस्थ अकेला द्रव्य कथमपि वस्तु का पूर्ण शरीर नही कहा जाता है। शीर्ष (शिर) तभी शरीरांग हो सकता है जब कि छाती, पेट, नितम्ब आदि अंगो की अपेक्षा रखता है, इसी प्रकार छाती भी तभी जीवित हैं जब कि शिर आदि सात अंगो की अपेक्षा रख रही है, परस्पर अपेक्षा रखे विना सभी अंग मर जाते हैं उसी प्रकार वस्तु के अंश हो रहे द्रव्य और व्यन्जन पर्याय तथा अर्थ पर्याय हैं। पर्यायो से निरपेक्ष हो रहा केवल द्रव्य कोई वस्तु नही है तथैव द्रव्यो की अपेक्षा नही रखनेवाली अकेली पर्याय कोई चीज

नहीं है खरविषाणवत् अवस्तु है। किन्तु फिर द्रव्य और पर्यायान्तरों की अपेक्षा रख चुकी पर्याय को अवस्तुपना नही है क्योकि अपने सम्पूर्ण तादात्म्यापन्नो की अपेक्षा रख रही उस पर्याय को नय का विषयपना होने के कारण वस्तु का एकदेशपना होते हुये भी अवस्तुपन का निराकरण कर दिया गया है "प्रमाणनयैरधिगम." इस सूत्र के व्याख्यान में पाचवी वार्तिक द्वारा यो नियम किया गया है कि यह नय का विषय हो रहा अर्थांश न तो पूरा वस्तु है और न खरविषाणवत् अवस्तुभूत है जिस कारण से कि वह अर्थांश चित्कारा अखंड वस्तु का एक अश कहा जाता है। जिस ही प्रकार कि समुद्र का अंश (लाल सागर या अरब का समुद्र आदि टुकडे) न तो पूरा समुद्र ही है और न घट, पट के समान समुद्र ही है किन्तु समुद्र का एक अंश हैं इसी प्रकार ध्यान का विषयभूत पदार्थ भी वस्तु का एक देश है कल्पित नही। वस्तु का अंश हो रहा ध्येय पदार्थ कोई कोरी कल्पनाओ से आरोपा जा चुका ही नही है यदि अगो को कल्पित माना जायगा तो अगी भी सर्वथा कल्पित हो जायगा अत वस्तु को भी तिस प्रकार कल्पित हो जाने का प्रसग आ जावेगा। वस्तु अशो का समुदाय ही तो वस्तु हैं।

स्वरूपालम्बनमेव ध्यानमित्यन्ये; तेपि न युक्तवचसः, सर्वथा तत्स्वरूपस्य ध्यानध्येयरूपद्वय विरोधात्। कथंचिदनेकस्वरूपस्य तदविरोधिध्यानरूपादर्थान्तरभूते ध्येयरूपे ध्यानं प्रवर्तते इति स्वतो व्यतिरिक्तमेव द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा समालम्बते। न च द्रव्यपरमाणुर्भावपरमाणुर्वार्थपर्ययो न भवति पुद्गलादिद्रव्यपर्याय-त्वात् तस्येति चिन्तितप्रायं।

अपने आप अपने स्वरूप को ज्ञान में आलबन विषय बनाये रखना ही ध्यान है, इस प्रकार कोई अन्य विद्वान् कह रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि वे विद्वान् भी युक्तिपूर्ण वचनो को कहनेवाले नहीं है। क्योकि सर्वथा उसी स्वरूप मे निमग्न बने रहने को ध्यान और ध्येय दो रूप हो जाने का विरोध हैं जिस का ध्यान किया जाता है वह ध्येय पदार्थ है अतः ध्यान, ध्याता, ध्येय, यों कथचित् अनेक स्वरूप हो रहे पदार्थ के उन ध्यान, ध्येय, स्वरूपो का कोई विरोध नही है अनेक धर्मों को धार रहे ध्याता आत्मा के ध्यान स्वरूप से भिन्न अर्थ हो रहे ध्येय रूप में ध्यान प्रवर्त जाता है इस कारण वह ध्यान अपने से भिन्न हो रहे ही द्रव्यपरमाणु अथवा भावपरमाणु का भले प्रकार अवलब करता हैं यो ध्यान भिन्न है और ध्यान का कर्म न्यारा है रूपादि मान पुद्गलपर्याय द्रव्यपरमाणु है जो कि "अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव

इन्द्रिये गेज्जं, जद्दव्वं अविभागी तं परमाणुं वियाणेहि।" इस स्वरूप को धारण करती हैं और परमाणु का ज्ञान या परमाणु अतीन्द्रिय शक्तियां भावपरमाणु है ज्ञान तो आत्मा के चेतना गुण की पर्याय हैं और परमाणु कीं शक्तियां पुद्गलद्रव्य स्वरूप हैं अतः द्रव्य परमाणु या भावपरमाणु कोई अर्थ की पर्याय नही है ऐसा नही समझ बैठना। क्योंकि वे द्रव्यपरमाणु या भावपरमाणु दोनो ही पुद्गल आदि (आत्मा) द्रव्यों की पर्याय हैं इस सिद्धान्त की पूर्व प्रकरणो में कई बार चिन्तना कर चुके हैं यहां कहना निरर्थक है।

ततोयं ध्यानशब्दो भावकर्तृकरणसाधनो विवक्षावशात् ध्येयं प्रति व्यावृतस्य भावमात्रत्वात् ध्यातिर्ध्यानमिति भवति। करणप्रशंसापरायां वृत्तौ कर्तृसाधनत्वं ध्यायतीति ध्यानं। साधकतमत्वविवक्षायां करणसाधनं ध्यायत्यनेन ज्ञानावरणवीर्यान्तराय-विगमविशेषोद्भूतशक्तिविशेषेणेति ध्यानमिति। एकान्तकल्पनायां दोषविधानमुक्तं।

तिसकारण यह ध्यान शब्द विवक्षा के वश से भाव में या कर्ता में अथवा करण में युट् प्रत्यय कर साध दिया गया है। (ध्यानमात्रं ध्यानं) सामान्य रूप से ज्ञप्तियों रूप ध्यान करना स्वरूप क्रियाओं की अपेक्षा करनेपर ध्यान शब्द भावसाधन है क्योंकि ध्यान करने योग्य पदार्थ के प्रति व्यापार कर रहीं क्रियाभाव मात्र है ऐसा होनेसे "ध्यातिर्ध्यानम्" इस प्रकार भावमे क्ति प्रत्यय कर निर्वचन कर दिया हैं। करण की प्रशंसा करने में तत्पर हो रही वृत्ति होते सन्ते तो ध्यान शब्द को कर्ता मे युट् प्रत्यय कर साध लिया जाय, ध्यान करनेवाला है इस कारण वह करण स्वयं ध्यान कर्ता है जैसे कि "देवदत्तः असिना छिनत्ति देवदत्तः किं छिनत्ति असिः स्वयमेव छिनत्ति" देवदत्त तलवार से लेज (रस्सी) को काट रहा है देवदत्त क्या कर रहा हैं तलवार ऐसी उत्तम है जो कि स्वय ही रस्सी को काटती चली जा रही है। यहीं काटने मे करणभूत तलवार है, कर्ता देवदत्त है, किन्तु तलवार की बडाई करना जब अभीष्ट हो जाता है तो करण हो रही तलवार को ही कर्ता कोटि में ले आते हैं इसी प्रकार ध्यान वस्तुतः ध्यान क्रिया का करण हैं, जैसे कि ज्ञप्तिक्रिया का करण ज्ञान हैं। फिर भी करण हो रहे ध्यान की प्रशंसा करना अपेक्षित होनेपर स्वतंत्र कर्ता रूपसे ध्यान का उल्लेख किया जाता है। आत्मा क्या ध्यान करता है? वह ध्यान ही स्वयं ध्यान कर रहा है। तीसरी ध्यान क्रिया में प्रकृष्ट उपकारकपने की विवक्षा करनेपर जिस करके ध्यान किया जाय वह ध्यान है, यों करण में युट् प्रत्यय कर ध्यान

शब्द व्याकरण की प्रक्रिया से निर्दोष सिद्ध कर लिया जाता है। ज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तिराय कर्म इन दोनो का नि शेषरूप से विगम (क्षयोपशम) हो जानेपर प्रकट हुई जानने और उत्साह करने की विशेष आत्मीय सामर्थ्य करके ध्यान करना होता है इस कारण यह ज्ञानोत्साहशक्ति ध्यान है यदि एकान्तरूप से ध्यान को क्रियास्वरूप या कर्ता अथवा करण स्वरूप ही माना जायगा तो उसमे अनेक दोषो का विधान आता है इसको हम पहिले कह चुके हैं।

प्रथमसूत्रे ज्ञानशब्दस्य करणादिसाधनत्वसमर्थनात् निर्विषयस्य ध्यानस्य भावसाधनत्वाद्यनुपपत्तेश्च। भाववंतमन्तरेण भावस्यासंभवात् कर्तुरभावे करणत्वानुपपत्तेः। सर्वथैकान्ते कारकव्यवस्थासंभवस्य चोक्तत्वात्।

सब से पहिले के " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " इस सूत्र मे ज्ञान शब्द को करण, भाव आदि (कर्ता) में साध लेने का समर्थन किया जा चुका है। ध्यान ज्ञानस्वरूप ही है, ज्ञान के समान ध्यान मे भी विषयभूत ध्येय पदार्थ हैं, इन का अवलम्ब क्वचित् भले ही कोई पदार्थ पड जाय किन्तु चारित्र, सुख, वीर्य आदिक तो विषयो से रीते होते हैं आत्मीय सुख या आत्मीय स्वरूप निष्ठा किसी विषय के नही हैं। स्वयं तद्रूप है, किन्तु ज्ञान या ध्यान तो किसी न किसी विषय का ही होगा। केवलज्ञान भी त्रिलोक त्रिकालवर्ती बहिरंगपदार्थ और आत्मीय अन्तरंग पदार्थो को विषय कर रहा है, यो ध्यान में भी कोई द्रव्य या पर्याय अथवा स्वकीय शुद्धात्मा विषय अवश्य पड जाते है विषयो से रहित हो रहे ध्यान को भावसाधनपना अथवा कर्तासाधनपना आदिक नही बन सकते हैं क्योकि भाववान् पदार्थ के विना भाव का होना असम्भव है घट के विना घटत्व नही ठहर पाता है और कर्ता का अभाव माननेपर करणपना नही बन सकता है सर्वथा नित्यपन, अनित्यपन आदि एकान्तो के माननेपर कारक होनेकी व्यवस्था का असम्भव है इस बात को हम पूर्वप्रकरणो मे कह चुके हैं " क्रियाप्रकारीभूतोऽर्थ कारकम् " " क्रियान्वयित्व वा कारकत्वम् " आदि कारकपना अनेकान्त सिद्धान्त में बनता है केवल स्वरूपालम्बन को ही ध्यान माननेपर ध्यान सुव्यवस्थित नही हो पाता है।

न च विकल्पारोपिते विषये ध्यानमित्येकान्तवादोपि श्रेयान्, निर्विषयध्यानस्यापि काल्पनिकत्वप्रसंगात् कुमारीपरिकल्पितभोज्ये काल्पनिकभोजनवत्। न च परिकल्पितात् ध्यातार्ध्यातुः फलमकल्पितरूपमुपपद्यते कल्पित भोजनादकल्पिततृप्तिवत्।

नन्वेवं कल्पनारोपित एव विषये ध्यानमुक्तं स्यात्तत्त्वतः पर्यायमात्रस्य वस्तुनोनुपपत्तेर्द्रव्यमात्रवत्, द्रव्यपर्यायात्मनो जात्यन्तरस्य च वस्तुत्वात् नयविषयस्य च वस्त्वेकदेशत्वादन्यथा नयस्य विकलादेशत्वविरोधादिति पर । सोपि न नीतिवित्, पर्यायस्य निराकृतद्रव्यपर्यायान्तरस्यैव वाऽवस्तुसाधनान्निरस्तसमस्तपर्यायद्रव्यवत् । न पुनरपेक्षितद्रव्यपर्यायन्तरस्य पर्यायस्यावस्तुत्वं तस्य नयविषयतया वस्त्वेक देशत्वेप्य-वस्तुत्वनिराकरणात् । " नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः । न समुद्रोऽसमुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि । " इति नियमात् । न च वस्त्वंशः कल्पनारोपित एव वस्तुनोपि तथा प्रसंगात् ।

शंकाकार पण्डित कह रहा है कि इस प्रकार ध्यान की व्यवस्था करनेपर तो कल्पना बुद्धि से आरोपे गये कल्पित विषयमे ही ध्यान होना कहा गया समझो क्योकि केवल पर्याय को ही तात्त्विकरूप से वस्तुपना बना नही सकता है जैसे कि केवल द्रव्यको ही अक्षुण्ण वस्तु का स्वरूप नही माना जाता हैं प्रमाणपद्धति से विचारा जाय तो जैनो के यहा द्रव्य और पर्याय स्वरूप हो रहे तथा इन द्रव्य जाति और पर्याय जाति दोनो से न्यारे तीसरो ही जातिवाले अर्थ को वस्तु माना गया है। नयके विपयभूत अर्थांश को वस्तु का एक देश व्यवस्थित किया है अन्यथा यानी नयज्ञान के विषय को वस्तु का एक देश नही मानकर वस्तु का पूर्ण स्वरूप माना जाय तो नय को वस्तु के विकल अंशका कथन करनेवाले विकलादेशीपन का विरोध हो जावेगा। यहा तक कोई दूसरा विद्वान् कह रहा हैं ।

आचार्य कहते हैं कि वह पण्डित भी न्याय, नीति को जाननेवाला नही है कारण कि द्रव्य और स्वभिन्न तन्निष्ठ न्यारी न्यारी अनेक पर्यायो को निराकारण कर चुके हो एक अकेली पर्याय को ही अवस्तुपना पूर्व प्रकरणो में साधा गया है जैसे कि जिस द्रव्य ने सम्पूर्ण पर्यायो का निराकारण कर दिया है वह कूटस्थ अकेला द्रव्य कथमपि वस्तु का पूर्ण शरीर नही कहा जाता है। शीर्ष (शिर) तभी शरीरांग हो सकता है जब कि छाती, पेट, नितम्ब आदि अंगो की अपेक्षा रखता है, इसी प्रकार छाती भी तभी जीवित है जब कि शिर आदि सात अंगो की अपेक्षा रख रही है, परस्पर अपेक्षा रक्खे विना सभी अंग मर जाते हैं उसी प्रकार वस्तु के अंश हो रहे द्रव्य और व्यञ्जन पर्याय तथा अर्थ पर्याय हैं। पर्यायो से निरपेक्ष हो रहा केवल द्रव्य कोई वस्तु नही है तथैव द्रव्यो की अपेक्षा नही रखनेवाली अकेली पर्याय कोई चीज

नहीं है खरविषाणवत् अवस्तु है। किन्तु फिर द्रव्य और पर्यायान्तरों की अपेक्षा रख चुकी पर्याय को अवस्तुपना नहीं है क्योंकि अपने सम्पूर्ण तादात्म्यापन्नों की अपेक्षा रख रही उस पर्याय को नय का विषयपना होने के कारण वस्तु का एकदेशपना होते हुये भी अवस्तुपने का निराकरण कर दिया गया है "प्रमाणनयैरधिगमः" इस सूत्र के व्याख्यान में पांचवी वार्तिक द्वारा यों नियम किया गया है कि यह नय का विषय हो रहा अर्थांश न तो पूरा वस्तु है और न खरविषाणवत् अवस्तुभूत है जिस कारण से कि वह अर्थांश विचारा अखंड वस्तु का एक अंश कहा जाता है। जिस ही प्रकार कि समुद्र का अंश (लाल सागर या अरब का समुद्र आदि टुकड़े) न तो पूरा समुद्र ही है और न घट, पट के समान समुद्र ही है किन्तु समुद्र का एक अंश है इसी प्रकार ध्यान का विषयभूत पदार्थ भी वस्तु का एक देश है कल्पित नहीं। वस्तु का अंश हो रहा ध्येय पदार्थ कोई कोरी कल्पनाओं से आरोपा जा चुका ही नहीं है यदि अंगों को कल्पित माना जायगा तो अंगी भी सर्वथा कल्पित हो जायगा अतः वस्तु को भी तिस प्रकार कल्पित हो जाने का प्रसंग आ जावेगा। वस्तु अंशों का समुदाय हो तो वस्तु है।

स्वरूपालम्बनमेव ध्यानमित्यन्ये; तेपि न युक्तवचसः, सर्वथा तत्स्वरूपस्य ध्यानध्येयरूपद्वय विरोधात्। कथंचिदनेकस्वरूपस्य तदविरोधिध्यानरूपादर्थान्तरभूते ध्येयरूपे ध्यानं प्रवर्तते इति स्वतो व्यतिरिक्तमेव द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा समालम्बते। न च द्रव्यपरमाणुर्भावपरमाणुर्वार्थपर्ययो न भवति पुद्गलादिद्रव्यपर्यायत्वात् तस्येति चिन्तितप्रायं।

अपने आप अपने स्वरूप को ज्ञान में आलंबन विषय बनाये रखना ही ध्यान है, इस प्रकार कोई अन्य विद्वान् कह रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि वे विद्वान् भी युक्तिपूर्ण वचनों को कहनेवाले नहीं हैं। क्योंकि सर्वथा उसी स्वरूप में निमग्न बने रहने को ध्यान और ध्येय दो रूप हो जाने का विरोध है जिस का ध्यान किया जाता है वह ध्येय पदार्थ है अतः ध्यान, ध्याता, ध्येय, यों कथंचित् अनेक स्वरूप हो रहे पदार्थ के उन ध्यान, ध्येय, स्वरूपों का कोई विरोध नहीं है अनेक धर्मों को धार रहे ध्याता आत्मा के ध्यान स्वरूप से भिन्न अर्थ हो रहे ध्येय रूप में ध्यान प्रवर्त जाता है इस कारण वह ध्यान अपने से भिन्न हो रहे ही द्रव्यपरमाणु अथवा भावपरमाणु का भले प्रकार अवलंब करता है यों ध्यान भिन्न है और ध्यान का कर्म न्यारा है रूपादि मान पुद्गलपर्याय द्रव्यपरमाणु है जो कि "अत्तादि अत्तमज्झं अत्तत्त णेव

इन्द्रिये गेज्जं, जद्दव्वं अविभागी तं परमाणुं वियाणेहि ।" इस स्वरूप को धारण करती हैं और परमाणु का ज्ञान या परमाणु अतीन्द्रिय शक्तिया भावपरमाणु है ज्ञान तो आत्मा के चेतना गुण की पर्याय हैं और परमाणु की शक्तियां पुद्गलद्रव्य स्वरूप हैं अतः द्रव्य परमाणु या भावपरमाणु कोई अर्थ की पर्याय नही है ऐसा नही समझ बैठना । क्योंकि वे द्रव्यपरमाणु या भावपरमाणु दोनो ही पुद्गल आदि (आत्मा) द्रव्यो की पर्याय हैं इस सिद्धान्त की पूर्व प्रकरणो मे कई बार चिन्तना कर चुके हैं यहां कहना निरर्थक है ।

ततोयं ध्यानशब्दो भावकर्तृकरणसाधनो विवक्षावशात् ध्येयं प्रति व्यावृतस्य भावमात्रत्वात् ध्यातिर्ध्यानमिति भवति । करणप्रशंसापरायां वृत्तौ कर्तृसाधनत्वं ध्यायतीति ध्यानं। साधकतमत्वविवक्षायां करणसाधनं ध्यायत्यनेन ज्ञानावरणवीर्यान्तराय-विगमविशेषोद्भूतशक्तिविशेषेणेति ध्यानमिति । एकान्तकल्पनायां दोषविधानमुक्तं ।

तिसकारण यह ध्यान शब्द विवक्षा के वश से भाव में या कर्ता में अथवा करण में युट् प्रत्यय कर साध दिया गया है । (ध्यानमात्र ध्यानं) सामान्य रूप से ज्ञप्तियों रूप ध्यान करना स्वरूप क्रियाओं की अपेक्षा करनेपर ध्यान शब्द भावसाधन है क्योंकि ध्यान करने योग्य पदार्थ के प्रति व्यापार कर रही क्रियाभाव मात्र है ऐसा होनेसे "ध्यातिर्ध्यानम्" इस प्रकार भावमे क्ति प्रत्यय कर निर्वचन कर दिया हैं। करण की प्रशंसा करने में तत्पर हो रही वृत्ति होते सन्ते तो ध्यान शब्द को कर्ता मे युट् प्रत्यय कर साध लिया जाय, ध्यान करनेवाला है इस कारण वह करण स्वयं ध्यान कर्ता है जैसे कि "देवदत्तः असिना छिनत्ति देवदत्तः कि छिन्नत्ति असिः स्वयमेव छिन्नत्ति" देवदत्त तलवार से लेज (रस्सी) को काट रहा है देवदत्त क्या कर रहा हैं तलवार ऐसी उत्तम है जो कि स्वयं ही रस्सी को काटती चली जा रही है । यहां काटने मे करणभूत तलवार है, कर्ता देवदत्त हैं, किन्तु तलवार की बडाई करना जब अभीष्ट हो जाता है तो करण हो रही तलवार को ही कर्ता कोटि में ले आते हैं इसी प्रकार ध्यान वस्तुतः ध्यान क्रिया का करण हैं, जैसे कि ज्ञप्तिक्रिया का करण ज्ञान हैं । फिर भी करण हो रहे ध्यान की प्रशंसा करना अपेक्षित होनेपर स्वतंत्र कर्ता रूपसे ध्यान का उल्लेख किया जाता है । आत्मा क्या ध्यान करता है ? वह ध्यान ही स्वयं ध्यान कर रहा है। तीसरी ध्यान क्रिया में प्रकृष्ट उपकारकपने की विवक्षा करनेपर जिस करके ध्यान किया जाय वह ध्यान है, यों करण में युट् प्रत्यय कर ध्यान

शब्द व्याकरण की प्रक्रिया से निर्दोष सिद्ध कर लिया जाता है। ज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तराय कर्म इन दोनो का निःशेषरूप से विगम (क्षयोपशम) हो जानेपर प्रकट हुई जानने और उत्साह करने की विशेष आत्मीय सामर्थ्य करके ध्यान करना होता है इस कारण यह ज्ञानोत्साहशक्ति ध्यान है यदि एकान्तरूप से ध्यान को क्रियास्वरूप या कर्ता अथवा करण स्वरूप ही माना जायगा तो उसमे अनेक दोषो का विधान आता है इसको हम पहिले कह चुके हैं।

प्रथमसूत्रे ज्ञानशब्दस्य करणादिसाधनत्वसमर्थनात् निर्विषयस्य ध्यानस्य भावसाधनत्वाद्यनुपपत्तेश्च। भाववंतमन्तरेण भावस्यासंभवात् कर्तुरभावे करणत्वानुपपत्तेः। सर्वथैकान्ते कारकव्यवस्थासंभवस्य चोक्तत्वात्।

सब से पहिले के " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " इस सूत्र मे ज्ञान शब्द को करण, भाव आदि (कर्ता) में साध लेने का समर्थन किया जा चुका है। ध्यान ज्ञानस्वरूप ही है, ज्ञान के समान ध्यान में भी विषयभूत ध्येय पदार्थ हैं, इन का अवलम्ब क्वचित् भले ही कोई पदार्थ पड जाय किन्तु चारित्र, सुख, वीर्य आदिक तो विषयो से रीते होते हैं आत्मीय सुख या आत्मीय स्वरूप निष्ठा किसी विषय के नही हैं। स्वयं तद्रूप हैं, किन्तु ज्ञान या ध्यान तो किसी न किसी विषय का ही होगा। केवलज्ञान भी त्रिलोक त्रिकालवर्त्ती बहिरंगपदार्थ और आत्मीय अन्तरंग पदार्थो को विषय कर रहा है, यो ध्यान में भी कोई द्रव्य या पर्याय अथवा स्वकीय शुद्धात्मा विषय अवश्य पड जाते है विषयो से रहित हो रहे ध्यान को भावसाधनपना अथवा कर्तासाधनपना आदिक नही बन सकते हैं क्योकि भाववान् पदार्थ के विना भाव का होना असम्भव है घट के विना घटत्व नही ठहर पाता है और कर्ता का अभाव माननेपर करणपना नही बन सकता है सर्वथा नित्यपन, अनित्यपन आदि एकान्तो के माननेपर कारक होनेकी व्यवस्था का असम्भव है इस बात को हम पूर्वप्रकरणो मे कह चुके हैं " क्रियाप्रकारीभूतोऽर्थ कारकम् " " क्रियान्वयित्व वा कारकत्वम् " आदि कारकपना अनेकान्त सिद्धान्त में बनता है केवल स्वरूपालम्बन को ही ध्यान माननेपर ध्यान सुव्यवस्थित नही हो पाता है।

न च विकल्पारोपिते विषये ध्यानमित्येकान्तवादोपि श्रेयान्, निर्विषयध्यानस्यापि काल्पनिकत्वप्रसंगात् कुमारीपरिकल्पितभोज्ये काल्पनिकभोजनवत्। न च परिकल्पितात् ध्याताध्यातुः फलमकल्पितरूपमुपपद्यते कल्पित भोजनादकल्पिततृप्तिवत्।

नन्वेवं कल्पनारोपित एव विषये ध्यानमुक्तं स्यात्तत्त्वतः पर्यायमात्रस्य वस्तुनोनुपपत्तेर्द्रव्यमात्रवत्, द्रव्यपर्यायात्मनो जात्यन्तरस्य च वस्तुत्वात् नयविषयस्य च वस्त्वेकदेशत्वादन्यथा नयस्य विकलादेशत्वविरोधादिति पर.। सोपि न नीतिवित्, पर्यायस्य निराकृतद्रव्यपर्यायान्तरस्यैव वाऽवस्तुसाधनान्निरस्तसमस्तपर्यायद्रव्यवत्। न पुनरपेक्षितद्रव्यपर्यायन्तरस्य पर्यायस्यावस्तुत्वं तस्य नयविषयतया वस्त्वेक देशत्वेप्य-वस्तुत्वनिराकरणात्। " नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः। न समुद्रोऽसमुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि।" इति नियमात्। न च वस्त्वंशः कल्पनारोपित एव वस्तुनोपि तथा प्रसंगात्।

शंकाकार पण्डित कह रहा है कि इस प्रकार ध्यान की व्यवस्था करनेपर तो कल्पना बुद्धि से आरोपे गये कल्पित विषयमे ही ध्यान होना कहा गया समझो क्योकि केवल पर्याय को ही तात्त्विकरूप से वस्तुपना बना नही सकता है जैसे कि केवल द्रव्यको ही अक्षुण्ण वस्तु का स्वरूप नही माना जाता हैं प्रमाणपद्धति से विचारा जाय तो जैनो के यहा द्रव्य और पर्याय स्वरूप हो रहे तथा इन द्रव्य जाति और पर्याय जाति दोनो से न्यारे तीसरी ही जातिवाले अर्थ को वस्तु माना गया है। नयके विषयभूत अर्थांश को वस्तु का एक देश व्यवस्थित किया है अन्यथा यानी नयज्ञान के विषय को वस्तु का एक देश नही मानकर वस्तु का पूर्ण स्वरूप माना जाय तो नय को वस्तु के विकल अंशका कथन करनेवाले विकलादेशीपन का विरोध हो जावेगा। यहां तक कोई दूसरा विद्वान् कह रहा हैं।

आचार्य कहते हैं कि वह पण्डित भी न्याय, नीति को जाननेवाला नही है कारण कि द्रव्य और स्वभिन्न तन्निष्ठ न्यारी न्यारी अनेक पर्यायो को निराकारण कर चुके ही एक अकेली पर्याय को ही अवस्तुपना पूर्व प्रकरणो में साधा गया है जैसे कि जिस द्रव्य ने सम्पूर्ण पर्यायो का निराकारण कर दिया है वह कूटस्थ अकेला द्रव्य कथमपि वस्तु का पूर्ण शरीर नही कहा जाता है। शीर्ष (शिर) तभी शरीरांग हो सकता है जब कि छाती, पेट, नितम्ब आदि अंगो की अपेक्षा रखता है, इसी प्रकार छाती भी तभी जीवित है जब कि शिर आदि सात अंगो की अपेक्षा रख रही है, परस्पर अपेक्षा रक्खे विना सभी अंग मर जाते हैं उसी प्रकार वस्तु के अंश हो रहे द्रव्य और व्यञ्जन पर्याय तथा अर्थ पर्याय हैं। पर्यायो से निरपेक्ष हो रहा केवल द्रव्य कोई वस्तु नही है तथैव द्रव्यो की अपेक्षा नही रखनेवाली अकेली पर्याय कोई चीज

नहीं है खरविषाणवत् अवस्तु है। किन्तु फिर द्रव्य और पर्यायान्तरों की अपेक्षा रख चुकी पर्याय को अवस्तुपना नहीं है क्योंकि अपने सम्पूर्ण तादात्म्यापन्नों की अपेक्षा रख रही उस पर्याय को नय का विषयपना होने के कारण वस्तु का एकदेशपना होते हुये भी अवस्तुपन का निराकरण कर दिया गया है "प्रमाणनयैरधिगमः" इस सूत्र के व्याख्यान में पांचवी वार्तिक द्वारा यों नियम किया गया है कि यह नय का विषय हो रहा अर्थांश न तो पूरा वस्तु है और न खरविषाणवत् अवस्तुभूत है जिस कारण से कि वह अर्थांश विचारा अखंड वस्तु का एक अंश कहा जाता है। जिस ही प्रकार कि समुद्र का अंश (लाल-सागर या अरब का समुद्र आदि टुकड़े) न तो पूरा समुद्र ही है और न घट, पट के समान समुद्र ही है किन्तु समुद्र का एक अंश है इसी प्रकार ध्यान का विषयभूत पदार्थ भी वस्तु का एक देश है कल्पित नहीं। वस्तु का अंश हो रहा ध्येय पदार्थ कोई कोरी कल्पनाओं से आरोपा जा चुका ही नहीं है यदि अंगों को कल्पित माना जायगा तो अंगी भी सर्वथा कल्पित हो जायगा अतः वस्तु को भी तिस प्रकार कल्पित हो जाने का प्रसंग आ जावेगा। वस्तु अंशों का समुदाय ही तो वस्तु है।

स्वरूपालम्बनमेव ध्यानमित्यन्ये; तेपि न युक्तवचसः, सर्वथा तत्स्वरूपस्य ध्यानध्येयरूपद्वय विरोधात्। कथंचिदनेकस्वरूपस्य तदविरोधिध्यानरूपादर्थान्तरभूते ध्येयरूपे ध्यानं प्रवर्तते इति स्वतो व्यतिरिक्तमेव द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा समालम्बते। न च द्रव्यपरमाणुर्भावपरमाणुर्वार्थपर्ययो न भवति पुद्गलादिद्रव्यपर्यायत्वात् तस्येति चिन्तितप्रायं।

अपने आप अपने स्वरूप को ज्ञान में आलंबन विषय बनाये रखना ही ध्यान है, इस प्रकार कोई अन्य विद्वान् कह रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि वे विद्वान् भी युक्तिपूर्ण वचनों को कहनेवाले नहीं है। क्योंकि सर्वथा उसी स्वरूप में निमग्न बने रहने को ध्यान और ध्येय दो रूप हो जाने का विरोध है जिस का ध्यान किया जाता है वह ध्येय पदार्थ है अतः ध्यान, ध्याता, ध्येय, यों कथंचित् अनेक स्वरूप हो रहे पदार्थ के उन ध्यान, ध्येय, स्वरूपों का कोई विरोध नहीं है अनेक धर्मों को धार रहे ध्याता आत्मा के ध्यान स्वरूप से भिन्न अर्थ हो रहे ध्येय रूप में ध्यान प्रवर्त जाता है इस कारण वह ध्यान अपने से भिन्न हो रहे ही द्रव्यपरमाणु अथवा भावपरमाणु का भले प्रकार अवलंब करता है यों ध्यान भिन्न है और ध्यान का कर्म न्यारा है रूपादि मान पुद्गलपर्याय द्रव्यपरमाणु है जो कि "अत्तादि अत्तमज्झं अत्तत्त णेव

इन्द्रिये गेज्जं, जद्दव्वं अविभागी तं परमाणुं वियाणेहि।" इस स्वरूप को धारण करती हैं और परमाणु का ज्ञान या परमाणु अतीन्द्रिय शक्तियां भावपरमाणु है ज्ञान तो आत्मा के चेतना गुण की पर्याय है और परमाणु की शक्तियां पुद्गलद्रव्य स्वरूप हैं अतः द्रव्य परमाणु या भावपरमाणु कोई अर्थ की पर्याय नहीं है ऐसा नही समझ बैठना। क्योंकि वे द्रव्यपरमाणु या भावपरमाणु दोनो ही पुद्गल आदि (आत्मा) द्रव्यों की पर्याय हैं इस सिद्धान्त की पूर्व प्रकरणो में कई बार चिन्तना कर चुके है यहां कहना निरर्थक है।

ततोयं ध्यानशब्दो भावकर्तृकरणसाधनो विवक्षावशात् ध्येयं प्रति व्यावृतस्य भावमात्रत्वात् ध्यातिर्ध्यानमिति भवति। करणप्रशंसापरायां वृत्तौ कर्तृसाधनत्वं ध्यायतीति ध्यानं। साधकतमत्वविवक्षायां करणसाधनं ध्यायत्यनेन ज्ञानावरणवीर्यान्तराय-विगमविशेषोद्भूतशक्तिविशेषेणेति ध्यानमिति। एकान्तकल्पनायां दोषविधानमुक्तं।

तिसकारण यह ध्यान शब्द विवक्षा के वश से भाव में या कर्ता में अथवा करण में युट् प्रत्यय कर साध दिया गया है। (ध्यानमात्र ध्यानं) सामान्य रूप से ज्ञप्तियों रूप ध्यान करना स्वरूप क्रियाओ की अपेक्षा करनेपर ध्यान शब्द भावसाधन है क्योकि ध्यान करने योग्य पदार्थ के प्रति व्यापार कर रही क्रियाभाव मात्र है ऐसा होनेसे "ध्यातिर्ध्यानम्" इस प्रकार भावमे क्ति प्रत्यय कर निर्वचन कर दिया हैं। करण की प्रशंसा करने में तत्पर हो रही वृत्ति होते सन्ते तो ध्यान शब्द को कर्ता मे युट् प्रत्यय कर साध लिया जाय, ध्यान करनेवाला है इस कारण वह करण स्वयं ध्यान कर्ता है जैसे कि "देवदत्तः असिना छिनत्ति देवदत्तः कि छिन्नत्ति असिः स्वयमेव छिन्नत्ति" देवदत्त तलवार से लेज (रस्सी) को काट रहा है देवदत्त क्या कर रहा हैं तलवार ऐसी उत्तम है जो कि स्वय ही रस्सी को काटती चली जा रही है। यहां काटने मे करणभूत तलवार हैं, कर्ता देवदत्त हैं, किन्तु तलवार की बडाई करना जब अभीष्ट हो जाता है तो करण हो रही तलवार को हो कर्ता कोटि में ले आते हैं इसी प्रकार ध्यान वस्तुतः ध्यान क्रिया का करण हैं, जैसे कि ज्ञप्तिक्रिया का करण ज्ञान हैं। फिर भी करण हो रहे ध्यान की प्रशंसा करना अपेक्षित होनेपर स्वतंत्र कर्ता रूपसे ध्यान का उल्लेख किया जाता है। आत्मा क्या ध्यान करता है? वह ध्यान ही स्वयं ध्यान कर रहा हैं। तीसरी ध्यान क्रिया मे प्रकृष्ट उपकारकपने की विवक्षा करनेपर जिस करके ध्यान किया जाय वह ध्यान है, यों करण में युट् प्रत्यय कर ध्यान

शब्द व्याकरण की प्रक्रिया से निर्दोष सिद्ध कर लिया जाता है। ज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तराय कर्म इन दोनो का नि शेषरूप से विगम (क्षयोपशम) हो जानेपर प्रकट हुई जानने और उत्साह करने की विशेष आत्मीय सामर्थ्य करके ध्यान करना होता है इस कारण यह ज्ञानोत्साहशक्ति ध्यान है यदि एकान्तरूप से ध्यान को क्रियास्वरूप या कर्ता अथवा करण स्वरूप ही माना जायगा तो उसमे अनेक दोषो का विधान आता है इसको हम पहिले कह चुके हैं।

प्रथमसूत्रे ज्ञानशब्दस्य करणादिसाधनत्वसमर्थनात् निर्विषयस्य ध्यानस्य भावसाधनत्वाद्यनुपपत्तेश्च। भाववंतमन्तरेण भावस्यासंभवात् कर्तुरभावे करणत्वानुपपत्तेः। सर्वथैकान्ते कारकव्यवस्थासंभवस्य चोक्तत्वात्।

सब से पहिले के " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " इस सूत्र मे ज्ञान शब्द को करण, भाव आदि (कर्ता) मे साध लेने का समर्थन किया जा चुका है। ध्यान ज्ञानस्वरूप ही है, ज्ञान के समान ध्यान मे भी विषयभूत ध्येय पदार्थ हैं, इन का अवलम्ब क्वचित् भले ही कोई पदार्थ पड जाय किन्तु चारित्र, सुख, वीर्य आदिक तो विषयो से रीते होते हैं आत्मीय सुख या आत्मीय स्वरूप निष्ठा किसी विषय के नही हैं। स्वयं तद्रूप है, किन्तु ज्ञान या ध्यान तो किसी न किसी विषय का ही होगा। केवलज्ञान भी त्रिलोक त्रिकालवर्त्ती बहिरंगपदार्थ और आत्मीय अन्तरंग पदार्थो को विषय कर रहा है, यो ध्यान में भी कोई द्रव्य या पर्याय अथवा स्वकीय शुद्धात्मा विषय अवश्य पड जाते है विषयो से रहित हो रहे ध्यान को भावसाधनपना अथवा कर्तासाधनपना आदिक नही बन सकते हैं क्योकि भाववान् पदार्थ के विना भाव का होना असम्भव है घट के विना घटत्व नही ठहर पाता है और कर्ता का अभाव माननेपर करणपना नही बन सकता है सर्वथा नित्यपन, अनित्यपन आदि एकान्तो के माननेपर कारक होनेकी व्यवस्था का असम्भव है इस बात को हम पूर्वप्रकरणो मे कह चुके है " क्रियाप्रकारीभूतोऽर्थ कारकम् " " क्रियान्वयित्व वा कारकत्वम् " आदि कारकपना अनेकान्त सिद्धान्त में बनता है केवल स्वरूपालम्बन को ही ध्यान माननेपर ध्यान सुव्यवस्थित नही हो पाता है।

न च विकल्पारोपिते विषये ध्यानमित्येकान्तवादोपि श्रेयान्, निर्विषयध्यानस्यापि काल्पनिकत्वप्रसंगात् कुमारीपरिकल्पितभोज्ये काल्पनिकभोजनवत्। न च परिकल्पितात् ध्याताध्यातुः फलमकल्पितरूपमुपपद्यते कल्पित भोजनादकल्पिततृप्तिवत्।

ततो नैकान्तवादिनां ध्यानध्येयव्यवस्था, प्रमाणविरोधात् स्वयमिष्टतत्त्वनिर्णयायोगात् ध्यातुरभावाच्च । न हि कूटस्थपुरुषो ध्याता पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानहीनत्वात् क्षणिकचित्तवत् ।

यहां कोई एकान्तवादी पण्डित कह रहा है कि विकल्पनाओं से आरोपे गये विषय मे ध्यान प्रवर्तता है जैसे श्मश्रुनवनीत नाम का परिग्रही मोछ में लगे हुये मक्खन की भित्तिपर क्रयविक्रय अनुसार कोरी मनगढन्त रौद्रध्यान की कल्पनायें करता रहा था छोटे छोटे बच्चे अपने खेल खिलौनेपर अनेक नि.सार कल्पनायें उठाया करते हैं। दुःस्वप्नो में भी रीती कल्पनायें उत्पन्न होती रहती हैं, इसी प्रकार ध्यान भी असद्भूत कल्पित पदार्थो में वर्तता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार एकान्तरूप से कथन करना श्रेष्ठमार्ग नही है। अनेक आर्त, रौद्र ध्यानो में व्यर्थ कोरी कल्पनायें उठाकर यह जीव पापबंध करता रहता है। किन्तु बहुत से आर्त्त रौद्र ध्यानों मे विषयो का अवलम्ब पाकर ज्ञानधारा बहती है। धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान तो परमार्थरूप से वस्तु स्पर्शी ही हैं। आप शंकाकारो ने भी "ध्यानं निर्विषयं मनः" (साख्यदर्शन छठा अध्याय पच्चीसवाँ सूत्र) ऐसा अभीष्ट किया है। यदि सभी ध्यान कल्पित अर्थ में प्रवर्त रहे माने जायेंगे, तब तो तुम्हारे यहा वास्तविक रूपसे माने गये विषयो का अवलम्ब नही लेकर लग रहे मनःस्वरूप ध्यान को भी काल्पनिक हो जाने का प्रसंग आ जायगा। जैसे कि गुडियां गुड्डो से खेलनेवाली लडकियों के द्वारा बहुत से झूठ मूंट कल्पना कर लिये गये लड्डू, पूडी आदि भोज्य पदार्थो में भोजन भी काल्पनिक ही समझा जायगा। बच्चे, बच्चियां, रेत मट्टी के कल्पित लड्डू, पूडियों को मुख की आकृति बनाकर कल्पित भोजन कर लेती हैं, ऐसी कोरी कल्पना से क्रीडा मात्र के अतिरिक्त कोई तृप्ति नही हो जाती है। इसी प्रकार यहां वहां की मनोनीत कल्पना किये गये ध्यान से ध्याता आत्मा को वस्तुभूत अकल्पित फल हो जाना नहीं बन सकता है। मिट्टी के खिलौना हो रहे गाय, घोडे, बैल से वास्तविक दूध या बोझा ढोना, खींचना, कार्य नहीं हो सकते हैं जैसे कि कल्पित भोजन से भूंख दूर होकर अकल्पित तृप्ति नहीं हो जाती है। तिसकारण एकान्तवादियों के यहा ध्यान और ध्यान करने योग्य ध्येय पदार्थ की व्यवस्था नही हो सकती है। क्योंकि प्रमाण से विरोध आ जायगा। उनके यहा माने गये "तत्र प्रत्ययैकताध्यानं" "रागोपहति ध्यानं" "ब्रह्मात्मचिन्ता ध्यानं"; "ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया आनन्ददायिनी स्थितिर्ध्यानम्" ये कोई भी ध्यान के लक्षण प्रमाणों से सिद्ध नही होते हैं। इसी प्रकार ध्यान करने योग्य कूटस्थ

आत्मा या सूर्यमण्डल मध्यवर्ती परमात्मा अथवा ब्रह्म आदिक ध्येय पदार्थ भी प्रमाणोंसे निर्णीत नही है यो स्वयं इष्ट किये गये पुरुष, प्रकृति आदि पच्चीस तत्त्व या प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थ अथवा द्रव्य, गुण, कर्म आदि सात पदार्थ एवं सद्ब्रह्म आदिक ध्यान करने योग्य तत्त्वो का निर्णय नही हो पाया है। अतः ध्येय तत्त्व की व्यवस्था नही हुई। तथा ध्याता आत्मा का भी अभाव हो जानेसे ध्यान करना नहीं बनता है नित्यपक्ष या क्षणिक एकान्त आदि दर्शनो मे आत्मा की सिद्धि नही हो पाई है। नैयायिक पण्डित सभी आत्माओं को नित्य, व्यापक मानते हैं, वेदान्ती अद्वैत ब्रह्म को मान बैठे हैं, बौद्ध बुध तो ज्ञान के अतिरिक्त आत्मा को स्वीकार ही नही करते हैं, सांख्यों के यहां आत्मा कमलपत्र के समान निर्लेप माना गया है। ये आत्मतत्त्व के स्वरूप कथन की परिभाषायें सब प्रमाणो से विरुद्ध पडती हैं। जब कि आत्मा निजोपात्त शरीरानुविधायी, ज्ञानात्मक, परिणामी, स्वसंवेद्य हो रहा है। वस्तुतः ऐसा ही आत्मा ध्यान का कर्ता, ध्याता बन सकता है। कापिलो का माना गया कूटस्थ, अपरिणामी पुरुष तो ध्याता नही, क्योंकि जो पहिली ध्यानान्तर की अवस्था या अध्यान की दशाको छोडकर विवक्षित पदार्थ के ध्यान की पर्याय को धारण करेगा, वही ध्याता होगा, कूटस्थ पदार्थ में पूर्व स्वभावो का परित्याग उत्तर स्वभावो का ग्रहण करना और ध्रुवता इस परिणाम की हीनता है, जैसे कि सत् का सर्वथा विनाश और असत् का सर्वाङ्ग उत्पाद होना मान रहे बौद्धो के यहां मात्र क्षणस्थायी चित्त के पूर्व स्वभावोका त्याग और उत्तर स्वभावो का ग्रहण तथा ध्रुवता इस सिद्धान्त लक्षणलक्षित परिणाम को नही धारने के कारण ध्यातापन नही सुघटित हो पाता है।

नापि प्रधानं तस्याचेतनत्वात् कायवत्। महदादिव्यक्तात्मा ध्यातेति चेन्न, तस्य प्रधानव्यतिरेकेणाभावात्। कल्पितस्य चावस्तुत्वात्संतानवत्। स्याद्वादिनां तु ध्यातास्ति, तस्योत्तमसंहननत्वविशिष्टस्य मूर्तिमत्त्वात्। तथा चाह—

सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणो की साम्य अवस्थास्वरूप प्रकृति भी ध्यान करनेवाली ध्याता (ध्यात्री) नही हो सकती ही है। क्योंकि सांख्यों ने उस प्रधान को अचेतन होना माना हैं। जैसे कि अचेतन शरीर विचारा ध्यान नही कर सकता है, उसी प्रकार चैतन्यरहित प्रधान भी ध्यान करनेवाला नहीं सुघटित होता है " सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्महतोऽहंकारोऽहंकारात्पञ्च तन्मात्राण्युभयमिंद्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गुणाः " (सांख्यसूत्र पहिला अध्याय ६१ वां सूत्र) अव्यक्त प्रधान के व्यक्त हो रहे महान् आदि परिणाम भी ध्याता हो जाते हैं, यह कहना भी तो ठीक नही पडेगा। क्योंकि उन महदादिकों का प्रधान से भिन्नपने

रूपसे अभाव है जैसा ही प्रधान अचेतन है वैसे ही उससे अभिन्न हो रहे महान्, अहकार आदि भी अचेतन हैं, अचेतन पदार्थ ध्यान करनेवाला नहीं है, जैसे कि घट, पट, आदि पदार्थ किसी का ध्यान नही लगा पाते हैं। कल्पना से गढ लिये गये बुद्धिशाली महान् आदि तत्त्वो का वस्तुपन निर्मित नही हो पाता है। जैसे कि पूर्ववर्त्ती और उत्तरवर्त्ती कालोमें कुछ भी नहीं अन्वय रखनेवाले क्षणिक चित्तों की सन्तान(लडी)वास्तविक नहीं बन सकती है एक सौ ग्यारह(१११)या एकसौ आठ(१०८)दोनों की मालामेसे अंगुलीसे छुपे जारहे एक वर्तमानकालीन मालिकाका ही अस्तित्व मानकर एक सौ दस या एक सौ सात पहिले पिछले मणियोंका सर्वथा असद्भाव माननेवाले बौद्धों के यहां जैसे जाप देनेयोग्य माला नहीं बनसकती है उसी प्रकार बौद्धोके यहा संतान समुदाय प्रेत्यभाव आदि भाव नही बन सकते हे। इस रहस्य का विशेष विवेचन ग्रन्थकारने अपने अष्ट सहस्री ग्रन्थमे किया है। यों तिरोभाव, आविर्भाव को माननेवाले कापिलो और द्विती यक्षणमें सबका ध्वंस माननेवाले अक्रियावादी बौद्धों के यहां संतान यानी पूर्व, अपर अनेक पर्यायो की वास्तविक लडी नही बन पाती है। बौद्ध पण्डित पदार्थो मे क्रिया होना नही मानते हे उनका विचार है कि मनुष्य, घोडा, बन्दुककी गोली, तोपसे गोला छूटना ये जो पदार्थ चलते दिखते उनमें क्रिया नहीं होती है किन्तु पहिले आकाश प्रदेशपर जो घोडा या गोला था उसका समूलचूल नाश होकर दूसरे प्रदेश पर नया ही घोडा या गोला उपज गया है, इसी प्रकार मीलों तक यही विनाश,उत्पाद,की प्रक्रिया होती रहती है। सिनेमा (दृष्य नाटक) मे कोई चित्र चलते नही हैं, किन्तु भिन्न भिन्न प्रकार के सादृश नवीन चित्रों का सन्मुख उत्पाद और पूर्व चित्रों का विमुख विगम होते रहनेसे स्थूल बुद्धिवाले प्रेक्षक उन उन पदार्थोंको क्रियावान् समझ बैठते हे। जैन सिद्धान्त अनुसार बौद्धोकी उक्त पंक्तियां अलीक हैं। सिनेमा के चित्रोमें भले ही क्रिया नही होय मात्र विद्युत्शक्तिसे रीलें सरकती हुई चली जाय किन्तु दृष्यमान मनुष्य, घोडे, रेलगाडी विमान, आदिमें क्रिया हो रही प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। क्रियावान् पदार्थ भी एकत्व प्रत्यभिज्ञान द्वारा कालान्तर स्थायी सिद्ध हो रहे है। यो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, स्वरूप परिणामको धारनेकाने पदार्थको ही अर्थक्रिया को कररहे सत् है। कापिल आदि दार्शनिकोंके यहा ध्यातातत्त्व नहीं बनपाती है हां स्याद्वादी विद्वद्वरेण्योंके यहा तो परिणामी आत्मा ध्यान करनेवाला ध्याता हो जाता है। क्योकि उत्तम संहननोसे विशिष्ट होरहे उस संसारी अनादि कर्मबन्धनबद्ध आत्माके मूर्तिसहितपना प्रमाणोंसे सिद्ध है। उस ही प्रकार आत्माकी ध्यातापनको अग्रिम वार्तिक में ग्रन्थकार स्वयं प्रतिपादन कर रहे हैं।

प्रोक्तं संहननं यस्य भवेदुत्तममिष्यते ।
तस्य ध्यानं परं मुक्तिकारणं नेतरस्य तत् ॥ ७ ॥

जिस संसारी आत्माके बढिया कहे गये पहिले तीन संहनन होंगे वह आत्मा उत्तम संहननवाला अभीष्ट किया गया हैं। और उसी आत्मा के मुक्ति का कारण हो रहा उत्कृष्ट ध्यान हो सकेगा। अन्य आत्माके या प्रकृति, महान्, क्षणिकचित्त, अद्वैत ब्रह्म, चित्र अद्वैत, आदिको ध्यातापन और वह ध्यान करना नही बनपाता है। ध्यान करतें समय पहिली अध्यान अवस्था को या अन्य ध्यान दशाको छोडना पडता है और नवीन ध्यान पर्याय को पुरुषार्थद्वारा उपजाना पड़ता है। तथा ध्याता आत्मा परिणामी होकर स्थिर रहता है। मूर्त आत्मा मूर्तमनके द्वारा मूर्त, अमूर्त, पदार्थों का चिंतन करता रहता है। ध्यान अवस्थामे निमग्न होकर कतिपय मुनिजन शृगाली, व्याघ्री आदि द्वारा भक्षण किये जानेको कष्टवेदनाओ का अनुभव भी नही करपाते है। " नमोस्तु तेभ्यो मुनिवर्य्येभ्य: " ।

आद्यं संहननं त्रयमुत्तमसंहननं सोयमुत्तमसंहननस्तस्य ध्यानं न पुनरनुत्तमसंहननस्य तस्य ध्यानशक्त्यभावात् । विहितपवनविजयस्यानुत्तमसंहननस्यापि ध्यान सामर्थ्यं मनोविजयप्राप्तेरिति चेत्, स परपवनविजय कुतः ? गुरूपदिष्टाभ्यासातिशयादिति चेन्न,तदभ्यासस्यैवानुत्तमसंहननेन विधातुमशक्यत्वात् । तदभ्यासे पीडोत्पत्तेरार्त ध्यानप्रसंगाच्च । पवनधारणायामेवावहितमनसोऽन्यद्ध्येये प्रवृत्त्यनुपपतेः सकृन्मनसो व्यापारद्वितयायोगात् ज्ञानयौगपद्यप्रयत्नयौगपद्याभ्यां मनसोऽव्यवस्थितेः ।

नामकर्मकी उत्तर प्रकृति होरहे छह भेदवाले सहनन कर्म के आदि में होनेवाले वज्रऋषभनाराच संहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराच संहनन, ये तीन भेद उत्तम संहनन कहे गये है। यह तीनो प्रसिद्ध उत्तम सहनन जिस आत्माके उदय प्राप्त कार्यान्वित है वह आत्मा उत्तम सहनन है। यह बहुब्रीहिसमास कर उत्तम सहनन शब्द का अर्थ करदिया गया हैं। उस उत्तम सहननवाले आत्माके ही बढिया ध्यान हो-सकता है। किन्तु फिर जिस हीनशक्तिक जीवका उत्तम सहनन है, उस निर्बल जीवके ध्यान होना नहीं बनता है जवकि उसके बढ़िया ध्यान करनेकी शक्ति का अभाव हैं।

यहां कोई हठयोगी या प्राणायाम को पुष्ट करनेवाला पण्डित आक्षेप कर रहा है कि जो श्वासोच्छ्वास आदि वायुओपर विजय प्राप्त कर चुका है, वह भले ही उत्तमसंहननोंका धारी नही भी होय फिर भी उसके ध्यान करनेकी सामर्थ्य है क्योंकि

पवन का विजय करते हुये उसने मनपर विजय प्राप्त करली है, मनोविजयी योगी मनको यहां वहाँ न ही भटकाकर एक पदार्थमे लगा कर ध्यान जमा सकता है। ऐसा कहनेपर तो ग्रन्थकार पूछते है कि कि वह उत्कृष्ट पवनका विजय करना भला किस कारणसे उत्पन्न होगा ? बताओ। इस पर यदि तुम यो कहो कि योगाभ्यासी गुरुके उपदिष्ट किये गये अभ्यास मार्गकी अतिशय वृद्धि होजानेसे पवनोके ऊपर विजय प्राप्त कर लिया जाता है। कई दिनो और महीनो तक हठयोग समाधि लगाकर मृतकके समान बैठे या पडे रह सकते है।

आचार्य कहते हैं कि यों तो नही कहना, क्योकि उत्तम संहननोसे रहित हो रहे पुरुष करके उस परम पवन का अभ्यास या विजय नही किया जासकता है जो हीन सहनन पुरुष यदि पवनका विजय करेगा या दीर्घ कालतक प्राणायाम करेगा तो शरीर मे पीडा उत्पन्न होजानेके कारण मानसिक व्यथा अनुसार घोर आर्तध्यान होजानेका प्रसग आजावेगा। हठरूपेण मनोविजय होकर आत्माका शुभ ध्यान नही बन पायगा।

एक बात यह भी है कि मस्तक कपोलमे चढाकर पवनको धारनेमे ही उसका चित्त एकाग्र लगा रहेगा, ऐसी दशा होजानेपर दूसरे ध्येय पदार्थमे मनकी प्रवृत्ति लगना नही बन सकता हैं, एक ही बारमें मनके दोनो व्यापार हो जानेका योग नहीं है " युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंग " एक ही बारमें दो आदि ज्ञानों का नही उपजना ही मनका ज्ञापक हेतु है। पापड, कचोडी, पुरानापान, खाते समय जो पाचो इन्द्रियो द्वारा एक साथ पाचो ज्ञान हो रहे प्रतीत होते हैं वहाँ भी शीघ्र क्रमसे उत्पन्न होजानेके कारण युगपत्पनेका भ्रम है, वस्तुतः वे क्रमसे हुये हैं। नैयायिक, जैन, बौद्ध, वैशेषिक सभी दार्शनिक एक समयमें एक ही ज्ञानका उपजना स्वीकार करते है। " तद्यौगपद्यलिङ्गत्वाच्च न मनसः " न्यायसूत्र दुसरा अध्याय प्रथम आन्हिक चौबीसवा सूत्र है। तथा " प्रयत्नायौगपद्याज् ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् " वैशेषिक सूत्र तीसरा अध्याय दूसरा आन्हिक तीसरा सूत्र। इन प्रमाणो से सिद्ध है कि एक ही समयमे मन दो उपयोग नही कर सकता है, कतिपय ज्ञानो के एक साथ उपज जावे या दो चार प्रयत्नो के एक समयमें ही उपज जाने करके मनकी व्यवस्था नही हो पाती हैं। किन्तु वैशेषिक सूत्र अनुसार प्रयत्नोंका युगपत्पना ही होनेसे और ज्ञानो का एक साथ उपजना नही होनेसे ही प्रत्येक जीवित शरीरमें एक एक मनकी व्यवस्था हो रही है। नृत्य

करनेवाला या चञ्चल व्याख्याता जो एक समय मे मुखसंचालन, भृकुटी मटकाना, हाथ-पाव चलाना यो अनेक प्रयत्न कर रहा है। वह सब मनके शीघ्र सचार अनुसार क्रमसे ही होते हे। ऐसा कणाद अनुयायी मान रहे हे। किन्तु जैनसिद्धान्त अनुसार ज्ञानमे मनकी आवश्यकता नही हैं। एकेन्द्रिय जीवसे लेकर असंज्ञी पचेन्द्रियतक जीवोके ज्ञानमे मन का योग नही है। क्योकि उनके मन ही नही हे। तब तो "आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिंगम्" यह वैशेषिकोंका मन्तव्य युक्तिपूर्ण नही है। तथैव एक मनोयोग द्वारा या वचनयोग द्वारा एक ही समयमे कतिपय प्रयत्न हो रहे देखे जाते है। गोह, साँप, छुकली आदि के अवयव कट जाने पर या अन्य जीवोके बोलते हूये, विचार कर चलनेपर, कई प्रयत्न हो रहे हे। हा ज्ञान एक साथ कई कतिपय नहीं हो सकते है। "एकस्मिन् न द्वौ उपयोगौ" (अष्टसहस्री) एक समय मे दो उप-योग नही हो सकते हैं,लब्धियाँ चार तक भले ही हो जाँय "एकादीनि भाज्यानि युगपदेक-स्मिन्नाचतुर्भ्यः" यह सूत्र लब्धियों के संभव जाने की अपेक्षासे हे।

एतेन प्राणायामधारणयोर्ध्यानकारणत्वमुक्तं प्रत्याहारवत्। यमनियमयोस्तु तदंगत्वमिष्टमेव। असंयतस्य योगाप्रसिद्धेः।

इस पूर्वोक्त कथन करके प्राणायाम और धारणाको भी ध्यान का कारणपना नही है। यह कहा गया समझो, जैसे कि प्रत्याहार को ध्यान का कारणपना नहीं है भावार्थ-योगदर्शनमे "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि" साधनपाद का उनतीसवा सूत्र है। यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योगके आठ अग माने हें। "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः (३० वाँ सूत्र) अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग ये पांच यम हैं "शौच संतोषतप.स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः" (समाधिपाद वत्तीस वा सूत्र) वाह्य, अभ्यन्तर शौच रखना, सतोषवृत्तिः, तपश्चरण, स्वाध्यायकरना, फल की इच्छा छोड कर ईश्वर मे चित्त लगाना ये पाच नियम है "स्थिरसुखमासनम्" (४६ वाँ सूत्र) स्थिर और सुखदायी सिद्धासन, भद्रासन, वीरासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि योगके आसन हैं। "तस्मिन्सति श्वासप्रश्वास-योर्गति विच्छेदः प्राणायामः" (साधनपाद उनञ्चासवाँ सूत्र) बाहर की वायु का भीतर जाना श्वास है और भीतर की वायु का बाहर निकालना प्रश्वास है। उस

आसनके सिद्ध हो जाने पर श्वसन और प्रश्वास की गति का अभाव होजाना प्राणायाम है।

" स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुसार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः " (साधनपाद ५४ वां सूत्र) अपने अपने विषयों के साथ अच्छा संबन्ध नहीं होते हुये इन्द्रियोंका मन के स्वरूप अनुकरण होजाना ही मानो प्रत्याहार है अर्थात् यम, नियम के अनुष्ठान द्वारा संस्कृत होकर चित्त अपने विषयों से विरक्त होजाता है तब मनके अधीन होकर अपने अपने विषयो मे सञ्चार करनेवाली इन्द्रिया भी विषयोंसे विमुख होकर चित्त-स्थिति के समान स्थित हो जाती हैं।

विषयो मे नही जाने देकर इन्द्रियोंको अन्तर्मुख रोके रहना प्रत्याहार है। "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा " (योगसूत्र विभूतिपाद पहिला सूत्र) चित्त का किसी नाभिचक्र, हृदयकमल मूर्धभाग, नासिकाअग्र, जिल्हाअग्र, आदि प्रदेशो मे बन्धन करना यानी स्थिर करना धारणा है। " तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् " (विभूति पाद दूसरा सूत्र) धारणा के अनन्तर उस ध्येय पदार्थ में चित्तवृत्ति की एकतानता को ध्यान कहते हैं " तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः " (विभूतिपाद तीसरा सूत्र) जैसे जपाकुसुम के सन्निधान से स्फटिकमणि अपने श्वेत रूप को त्यागकर पुष्प के रक्त रग से रक्त प्रतीत होती है उसी प्रकार अभ्यासद्वारा अपने ध्यान स्वरूप से शून्य होरहा मानू वह ध्यान ही ध्यानात्मक रूप को त्यागकर केवल ध्येयरूप प्रतीत होने लगजाता हैं वह समाधि है, जहां ध्याता, ध्यान, ध्येय तीनो प्रतिभासते है वह ध्यान है और केवल स्वरूपशून्य ध्येय का ध्यान लगा रहना समाधि हैं। जिस समाधि के अभ्यास से सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार हो जाता है, वह सम्प्रज्ञात समाधि है यों पतञ्जलि ने योगसूत्र मे निरूपण किया है।

यहां आचार्य कह रहे हैं कि पवन पर विजय प्राप्त कनने से ध्यान की सामर्थ्य नही आती है इस कथनसे प्राणायाम और धारणा को भी ध्यान का कारणपना नहीं है यह कह दिया गया समझो, जैसे प्रत्याहार ध्यान का कारण नही होता है। ये तीनों आत्मा की ध्यान धारने की शक्ति को पुष्ट नही करते है। हां, यम और नियम को तो ध्यान या योग का अंगपना इष्ट ही हैं, यम तो आपने जैन सिद्धान्त अनुसार ही मान लिये है " अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्यागः " इत्यादिक सिद्धियों का होजाना

भी समुचित है जो योगी (ढोंगी) यम, नियमो से रीता होकर संयमी नही हैं उसके योग होजाने की प्रसिद्धि नहीं है।

आ अन्तर्मुहूर्तादिति कालविशेषवचनाच्च नानुत्तमसंहननस्य ध्यानसिद्धिः, तेनोत्तमसंहननविधानमन्यस्येयत्कालाध्यवसायधारणासामर्थ्यादुपपन्नं भवति। तत ऊर्ध्वं तन्नास्तीत्याह—

ध्यान के लक्षणसूत्र मे अन्तर्मूहूर्त कालसे पहिले कालतक ही ध्यान लगता है, इस प्रकार कालविशेष की मर्यादाका निरूपण करदेनेसे भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि जो प्राणी उत्तम संहननोका धारी नही है, उसके ध्यानकी सिद्धि नही बनती है तिस कारण सूत्रकारने ध्यान के लिये तीन ही आदि के उत्तम संहननो का विधान किया है अन्य निकृष्ट सहननवाले जीव के इतने कतिपय आवलीसे प्रारम्भकर ४८ मिनट मुहूर्त के भीतर अन्तर्मुहूर्त काल तक चित एकाग्रकर अध्यवसाय यानी ध्यान को धारने की सामर्थ्य नही हैं, इससे युक्तिपूर्ण यही सिद्ध होता हैं कि उत्तम सहननवाला पुरुष ही अन्तर्मुहूर्त कालतक चित्तको एकाग्रकर ध्यान लगा सकता है, उस अन्तर्मुहूर्त-कालसे ऊपर पूरा मुहूर्त, दिन, रात, महीना, दो महीना तक ध्यान लगाये रहने की यह सामर्थ्य किसी भी जीव के नही हैं। इसी बात को ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिक द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं।

अन्तर्मुहूर्ततो नोर्ध्वं सम्भवस्तस्य देहिनाम्।
आ अन्तर्मुहूर्तादित्युक्तं कालान्तरविच्छिदे ॥८॥

अन्तर्मुहूर्त कालोसे ऊपर कालोतक प्राणियो के उस ध्यानका लग जाना सम्भव नही हैं, इस कारण मुहूर्त, दिन, मास, आदिक कालान्तरो का व्यवच्छेद करने के लिये मूलसूत्रमे "आ अन्तर्मुहूर्तात्" यानी अन्तर्मुहूर्ततक ही ध्यान हो सकता है, यह कहा गया है।

नह्युत्तमसंहननोपि ध्यानमन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमविच्छिन्नं ध्यातुमीष्टे पुनरावृत्त्या परान्तर्मुहूर्तकाले ध्यानसंततिश्चिरकालमपि न विरुध्यते।

उत्तम संहननवाला जीव भी अन्तर्मूहूर्त से उपर कालतक विच्छेदरहित ध्यान को ध्याने के लिये समर्थ नही है। अन्तर्मूहूर्त से ऊपर जाने पर व्यक्तिरूपसे ध्यान

की लडी टूट जायगी, हाँ पुनःपुनः कतिपय ध्यानोंकी आवृत्ति करके उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त काल में या दो चार मुहूर्तकाल मे कतिपय सन्तानी ध्यानों की सन्तति चिरकाल तक भी होती रहै कोई विरोध नहीं पडता है, जैसे कि उत्तरवर्ती वैक्रियिक शरीर अन्तर्मुहूर्त काल से अधिक नही ठहरता हैं, किन्तु जिन जन्माभिषेक कल्याणक में या अन्य क्रीडा स्थलो मे देव, इन्द्र, घन्टों, दिनों, तक उत्तर शरीर द्वारा अनेक क्रियायें करते रहते हैं यहां भी वैक्रियिक शरीर की उत्तर, उत्तर अनेक विक्रियाओं का उत्पाद होकर शरीर-सतति बहुत काल तक ठहर जाती हैं।

ननु यद्येकान्तर्मुहूर्तस्थास्नु ध्यानं प्रतिसमयं तादृशमेव तदित्यंतसमयेपि तेन तादृशेनैव भवितव्यं तया च द्वितीयान्तर्मुहूर्तेष्वपि तस्य स्थितिसिद्धेर्न जातु विच्छेदः स्यात्। प्रथमान्तर्मुहूर्तपरिसमाप्तौ तद्विच्छेदे वा द्वितीयादिसमये विच्छेदानुषक्तेः क्षणमात्रस्थितिः ध्यानमायातं सर्वपदार्थानां क्षणमात्रस्थास्नुतया प्रतीतेरक्षणिकत्वे बाधकसद्भावात् इति केचित्,

अब बौद्ध का पूर्वपक्ष प्रारम्भ होता हैं कि जैन विद्वान यदि ध्यान को दो चार सैकिण्ड या चार छः मिनट आदि एक अन्तर्मुहूर्त काल तक ही ठहरने की टेव को धारने वाला मानते हैं, ऐसी दशामे एक अन्तर्मुहूर्त काल तक ठहर रहा, वह ध्यान, पिण्ड विचारा समय समय प्रति वैसा ही एकसा रहेगा, ज्ञानपर्यायों का दूसरे क्षण में बदल जाना जैन भी इष्ट करते हैं। अन्तर्मुहूर्त तक के ध्यान में असंख्याते या स्वसवेद्य संख्याते ज्ञान हो चुके है, एक ध्यान मे पहिले ज्ञान ने दूसरा ज्ञान पैदा किया, दूसरा ज्ञान नष्ट हो रहा तिसरे ज्ञानको उपजा गया, मध्यवर्ती ज्ञानने अपने अगिले समय के ज्ञान को बनाया, इसी प्रकार विनाश, उत्पाद होते होते ध्यान के अन्तरसमय मे भी वह ज्ञान उस ही प्रकार का यानी उत्तर समयवर्त्ती ज्ञान को पैदा करते रहने वाला होना चाहिये और तैसा होने पर दूसरे, तीसरे; चौथे आदि अन्तर्मुहूर्तों मे भी उसी सदृश ज्ञान का बना रहना सिद्ध हैं, वही चक्र चार छः घण्टे तक भी चल सकता है और ऐसा होते रहने से कदाचित् महीनों, वर्षों तक भी ध्यान का विच्छेद (अन्तराल) नही पड सकेगा कोई भी ज्ञान थक कर यों नही कहेगा कि मै आगे ज्ञानको उत्पन्न नहीं करूंगा जैसे कि ध्यान का मध्यवर्ती ज्ञान अग्रिम क्षण मे ज्ञान को उपजाने के लिये निषेध नही करता है।

यदि आप जैन यो कहैं कि पहिले अन्तर्मुहूर्त के ठीक समाप्त हो जाने पर उस ज्ञान सन्ततिरूप ध्यान का विच्छेद मान लिया जायेगा, पश्चात् दूसरे ध्यानका प्रारम्भ

हो जायगा, इस पर हम बौद्ध कहेंगे कि तब तो दूसरे, तीसरे आदि समयो मे ही झट ज्ञानके विच्छेदन होजाने का प्रसग आजावेगा, बालू की बनी लेखनी यदि बीच मे से खिर जाती हैं तो प्रारम्भ होते ही दूसरे, तीसरे कणोसे भी बिखर सकती हैं, ऐसी दशा हो जानेपर अन्तर्मुहूर्त के अन्तिम समय के ज्ञान समान आद्यज्ञान उपजते ही दूसरे समयमे ज्ञान के टूट जाने से ध्यान का केवल एक क्षणतक ठहरना ही प्राप्त हुआ, यथार्थ (सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय अनुसार) विचारने पर दीप कलिका, बिजली, जलबबूला आदिके समान सभी घट, पट, ज्ञान, ध्यान, चेतन, अचेतन, पदार्थोका मात्र एक क्षण तक ही स्थित बने रहना स्वभाव होने करके प्रतीति हो रही है। पदार्थोंका क्षणिकपने से रहित कालान्तर स्थायीपना या नित्यपना स्वरूप माननेपर अनेक बाधक प्रमाणो का सद्भाव हैं, अतः ध्यान एकक्षणस्थायी ही मानना चाहिये। यहाँ तक कोई बुद्धमत अनुयायी कह रहे हैं।

तेषामपि प्रथमक्षणे ध्यानस्यैकक्षणस्थायित्वे तदवसानेप्येकक्षणस्थायित्वप्रसंगात् न जातुचिद्विनाशः सकलक्षणव्यापिस्थितिप्रसिद्धे , अन्यथैकक्षणेपि न तिष्ठेत्।

अत्र आचार्य महाराज लगे हाथ टकासा उत्तर देते है कि उन बौद्धो के यहां भी पहिले क्षणमे उपज गये ज्ञानस्वरूप ध्यान का यदि एक क्षणतक स्थायीपना माना जायगा तब तो क्षण के आदि, मध्य समान अन्त मे भी एक क्षणस्थायित्व यानी एक क्षण तक टिके रहना स्वभाव बने रहनेका प्रसग आवेगा, तदनुसार वह ध्यान दूसरे समयमे भी मर नही सकता हैं, पुन दूसरे समयके अन्तमे भी एकक्षणस्थायित्वशील बना ही रहेगा, यो तीसरे क्षणमे भी ज्ञान का बाल बाँका नही हो सकता हैं, इसी धारा अनुसार ज्ञान अनेक वर्षो या अनन्तकाल तक टिकाउ हो जायगा, यो तुम्हारे समान सूक्ष्मदृष्टी से बाल की खाल निकालने पर किसी भी पदार्थ का कभी विनाश नहीं हो पायगा। फेंके गये डेल या गोला चलते ही चले जायगे, कही रुकेंगे नही आदि, मध्य के वेग जैसे क्रिया को उपजाते हैं तद्वत् २ प्राचीय वेग भी धाराप्रवाह क्रियाको उत्पत्ति करते रहेंगे। अथवा क्रियोत्पत्ति नही मानने वालोके यहा स्वलक्षण ही उत्तरोत्तर अनत प्रदेशोपर उत्पन्न होता चला जायगा। सम्पूर्ण अनादि अनन्त क्षणो मे व्याप रहे पदार्थों की स्थिति बने रहना प्रसिद्ध हो जायगा, अन्यथा यानी समयके अन्तमे ज्ञानका नाश मानोगे, तब तो समयके आदि मे ही ज्ञान क्यो नही नष्ट हो जाय? ऐसी दशामें वह ज्ञान एक पूरे क्षण भी नही ठहर पायेगा, तुम्हारा क्षणिकपना (द्वितियक्षणवृत्ति ध्वंसप्रतियोगित्वं) भी हाथसे निकल जाता है।

अथैकक्षणस्थितिकत्वे नोत्पत्तिरेव क्षणास्थायिनः प्रच्युतिरतो न सदावास्थितिः। तर्ह्यंतर्मुहूर्तस्थितिक-ध्यानवादिनामन्तर्मुहूर्तादुत्तरकालं समयादिस्थितिकत्वेनोत्पत्तिरेवा नंतर्मुहूर्तस्थायिनः प्रच्युतिरन्तर्मुहूर्तस्यास्नुतयात्मलाभ एवोत्पत्तिरिति नाविच्छेदशक्तेः सततावस्थितिप्रसंगो यतः कौटस्थ्यसिद्धिः।

इसके अनन्तर बौद्ध यदि यों कहना प्रारम्भ करे कि एक क्षण मात्र ठहरने की टेव रखनेवाले क्षणस्थायी पदार्थ की एक क्षण मात्र मे ही जिसकी स्थिती होय, इस स्वरूपसे उपजना ही तो द्वितीय क्षण मे नही ठहरनेवाले का विनश जाना है, यानी प्रथम क्षण की उत्पत्ति ही द्वितीय क्षण मैं ध्वंस हो जाना स्वरूप है, जो भी कोई पदार्थ उपजेगा द्वितीय क्षण मे अपनी होनहार मृत्यु को साथ लेकर ही उपजेगा, स्वचतुष्टय की अपेक्षा उपज रहे अस्तित्व के साथ परचतुष्टय अपेक्षा नास्तित्व का साथ लगा रहना जैनोने भी अभीष्ट किया हैं, पूर्व पर्याय का ध्वंस और उत्तरक्षणवर्ती पर्याय के उत्पाद हो जाने का एक ही समय है, इस कारण हम बौद्धों के यहा पदार्थों की सदा अवस्थिति बने रहने का दोष नही लग पायेगा, जोकि जैनोने हमारे ऊपर तान के तीर समान मारा था, एक क्षण के पीछे विच्छेद पडता चला जायगा।

आचार्य कहते है कि तब तो जिस ध्यान की अन्तर्मुहूर्त स्थिति हैं ऐसे ध्यान के काल की पक्ष को ग्रहण कर रहे जैन विद्वान वादियो के यहा भी यही समाधान लागू हो जायगा। पहिला ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक ठहरेगा, दूसरा ध्यान आवली कालसे ऊपर एक समय, दो समय, आदि असंख्याते समयो तक स्थितिको लेकर के अन्तर्मुहूर्त तक उपज जावेगा। जघन्ययुक्तासंख्यात प्रमाण समयो की एक आवली हैं, संख्याती आवलियोका एक अन्तर्मुहूर्त होता है, एक समय अधिक आवली भी अन्तर्मुहूर्त मे गिनी गयी है। यो एक समय, दो समय आदि की स्थिति सहितपने करके अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान का उपज जाना ही अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही ठहरने वाले ध्यान का ध्वस हो जाना हैं तथा अन्तर्मुहूर्त तक स्थितिशील होकर के ध्यान का आत्मलाभ हो जाना ही ध्यान की उत्पत्ति हैं, जो ध्यान अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर ही उपजा है,अन्तर्मुहूर्त के पीछे सयय में उसकी मृत्यु हो जाना अनिवार्य हैं।

इस प्रकार नही विच्छेद होने की शक्ति के सर्वदा अवस्थित बने रहने का प्रसंग नहीं आता हैं। जिससे कि ध्यान के या अन्य घट, पट आदि पर्यायों के नित्य

कूटस्थपन की सिद्धि हो जाय अथ अन्तर्मूहूर्त तक ठहरकर वह ध्यान अवश्य नष्ट-
जायगा, यो प्रत्येक अन्तर्मूहूर्त में नाना ज्ञानो के अन्तराल पडते रहेंगे, वर्षो या अ
काल तक एक ही ध्यान बने रहने का दोप हम जैनो के ऊपर नही लागू होगा, ध्य
ही क्या, किसी भी पदार्थ का कूटस्थ नित्य हो जाना हम स्वीकार नही करते हैं ।

**कथमन्यदान्यस्योत्पत्तिरतर्मुहूर्तस्थास्नोः प्रच्युतिरतिप्रसंगात् इति चेत्, कथ
कक्षणप्रच्युतिः क्षणान्तरस्थितिकत्वेनोत्पत्तिरन्यस्य स्यादिति समः पर्यनुयोगः सर्वथा
प्रसंगस्य समानत्वात्। तथा च न क्वचिदुत्पत्तिः क्षणार्थानां सिद्धयेत् विनाशोपि नानुत्पन्न
भावस्येति नित्यवादिनां कूटस्थार्थसिद्धिरबाधिता स्यात् क्षणिकत्व एव बाधकसद्भावात्**

बौद्ध पुनः आक्षेप करते हैं कि अन्य समय मे यानी दूसरे अन्तर्मुहूर्त में अ
ध्यान यानी दूसरे ध्यान का उपज जाना भला अन्तर्मुहूर्ततक स्थितिस्वभावव
पहिले ध्यान का नाश हो जाना कैसे माना जा सकता हैं ? अपने घर का स्थित रह
क्या दूसरे घर का विनाश कहलावेगा ? कभी नही ।

यो कुचोद्य करने पर तो ग्रन्थकार कहते है कि तुम बौद्धों के यहां भी य
प्रश्न लागू हो सकता है। सुनिये कि दूसरे अन्य ज्ञान का अन्य दूसरे क्षण मे
स्थितिसहितपने करके उपज जाना ही भला पहिले ज्ञान का एक क्षण पीछे ही भ
ध्वंस हो जाना किस प्रकार हो सकेगा ? बताओ। इस प्रकार सकटाक्ष व्यर्थ के प्रश्न
उठाना स्वरूपपर्यनुयोग तुम्हारे ऊपर भी समान रूपसे लागू हैं, दूसरो को दूषण देन
या निग्रहप्राप्त कर देने की इच्छा रखने वाले एकाक्ष को अपने ही ऊपर स्वयं दोषो
पड जाने का लक्ष्य रखना चाहिये, विप्रतिषेध या सहानवस्थान विरोध के प्रकरण
दूसरे का उपजना पहिले के विनश जाने से अविनाभावी कहा गया है, अतः जैनो
ऊपर बौद्ध अतिप्रसंग दोष उठावेंगे, उसी ढगसे अतिप्रसंग दोष सभी प्रकारो से बौद्ध
के ऊपर भी समानरूपेण लग बैठता है। बौद्ध जैसा उसका निराकरण करेंगे वैसा ही
निवारण हमारी ओर से भी समझा जाय, क्षणस्थिति और अन्तर्मुहूर्त स्थिति के प्रश्नो-
त्तर दोनो ओर से समान है, प्रत्युत तिस प्रकार अन्वयरहित कोरी क्षणिकता मानने पर
बौद्धो के यहा क्षणिक पदार्थों का किसी भी समय में उपजना सिद्ध नही हो सकेगा,
जो पदार्थ उत्पन्न ही नही हुआ है, उसका विनाश हो जाना भी नही सिद्ध हो सकेगा,
यो उत्पाद और विनाश से रहित पदार्थों के नित्यपन को बक रहे, वादियो के यहा कूटस्थ
अर्थ की सिद्धो निर्बाध हो जावेगी, बौद्धो के क्षणिकत्व पक्ष मे ही अनेक बाधक प्रमाणो

का सद्भाव है, बौद्धों का घातक शस्त्र कुपिशाच या कृत्यादेवी के उत्थित कर देने के समान उन्ही के ऊपर गिरता है नित्यपन या कालान्तरस्थायीपन को पुष्टि मिलती है, जिसका कि बौद्ध नखशिखतक पसीना बहाकर खन्डन करना चाहते हैं।

स्यादाकूतं क्षणिकवादिनां क्षणादूर्ध्वं प्रच्युतिर्द्वितीयक्षणस्थितिकत्वेनोत्पत्तिः, ततो नोत्पत्तिविपत्तिरहितं तत्संततमनुषज्यते यतः क्षणिकत्वसिद्धिर्वाप्रतिहता न स्यादिति। तदसत्, तथान्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वस्यापि सद्धेः सर्वथा विशेषाभावात्।

संभवतः क्षणिकवादी बौद्धो का यह साभिप्राय चेष्टित होवे कि क्षणिक की ही पक्ष को कहने वाले हम बौद्धों के यहां पहिला पर्याय का क्षण से ऊपर विनाश हो जाना ही दूसरी पर्याय का द्वितीय क्षण मे स्थिति हो जाने रूप करके उपज जाना हैं, यो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य घटित हो जाते है, आप जैनों के यहां भी ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यो की रक्षा इस ही प्रकार की गयी हैं, तिस कारण उत्पत्ति और विनाश से रहित हो रहा सन्ता वह क्षणिक स्वलक्षण पदार्थ सतत(सर्वदा) अवस्थित रहना यह प्रसंग उठाया जाता और जिससे क्षणिकपने की सिद्धि निर्बाध नही होती। अर्थात् क्षणस्थितिशील पदार्थ सभी उत्पत्ति और विपत्ति से सहित है, वे एक क्षण ही ठहरते हैं, कोई पदार्थ नित्य नही है, फिर पदार्थों की सकल क्षणो मे व्याप रहो स्थिति का प्रसग हमारे ऊपर क्यो उठाया जा रहा है ?

आचार्य कहते हैं कि वह बौद्धोका कहना प्रशंसनीय नही है, क्योकि तिस ही प्रकार ध्यानके अन्तर्मुहूर्त तक स्थित बने रहने की भी सिद्धि हो जाती है, सभी प्रकारों से कोई विशेषता नही है, जैसे आप क्षणिक पदार्थ की क्षणकाल से ऊपर मृत्यु होजाना ही अन्य स्वलक्षण की दूसरे क्षण मे ही स्थिति होनेपनेसे उत्पत्ति मानते हैं, उसी प्रकार प्रकरणप्राप्त अन्तर्मुहूर्त से ऊपर विवक्षित ध्यान का नाश हो जाना ही अन्य ध्यान का दूसरे अन्तर्मुहुर्त तक ही स्थित रहनेपने करके उत्पाद हैं, यो जैनसिद्धान्त के अनुकूल उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों की व्यवस्था को यदि आप मान रहे हैं, तब तो हमारा अभीष्ट मनोरथ सिद्ध हो जाता है।

न चैवं क्षणिकत्ववस्तुनो नाशोत्पादौ समं स्यातां प्रथमक्षणभावित्वादुत्पादस्य, द्वितीयक्षणभावित्वात्तद्विनाशस्य। कार्योत्पादस्य कारणविनाशात्मकत्वात् सममेव नाशोत्पादौ तुलान्तयोर्नामोन्नामवदिति चेत्, कथं प्रकृतचोद्यपरिहारः ? । एकक्षणस्थास्नुतयोत्पाद एव द्वितीयक्षणे विनाश इति नान्यदान्यस्योत्पत्तिरन्यस्य विनाशः। सममेव

नाशोत्पादयोस्तथा प्रसिद्धिरिति चेत्, तर्ह्यंतर्मुहूर्तमात्रस्थायितयोत्पत्तिरेव तदुत्तरकालतया विनाश इति समः समाधिः ।

बौद्ध कह रहे है कि इस प्रकार उत्पाद और विनाश के मान लेने पर क्षणिक हो रहे स्वलक्षण या विज्ञानस्वरूप वस्तु के नाश और उत्पाद एक हीं सम काल मे नही हो जायेंगे, जिससे कि विरोध दोष खड़ा कर दिया जाय. कारण कि पहिले क्षण में होने वाला उत्पाद है और उस प्रथमक्षण स्थायी वस्तु का विनाश तो दूसरे क्षण मे होने वाला है, पहले क्षण मे वर्तरहा वस्तु उपादान कारण है और द्वितीय क्षणवर्ती स्वलक्षण कार्य है । जब कि कारण (समवायिकारण) का विनाश स्वरूप ही कार्य का उत्पाद है, जैनो के यहा भी "कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमात् लक्षणात् पृथक् "(देवागमस्तोत्र) पूर्वपर्याय के नाश और उत्तरपर्याय के उत्पाद का समय एक ही माना गया है। " नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः " जैसे समान डोरी के पलडों को धार रही तराजू के अन्तवर्त्ती एक भाग में निचाई होने पर उसी समय झट दूसरे भाग उंचाई हो जाती हैं । एक ओर नीचा और दूसरी ओर ऊचा हो जाने का समय एक ही है । इसी प्रकार नाश और उत्पाद का एक ही समय है ।

आचार्य कहते है कि जैन सिद्धान्तमे दीक्षित हो चुके मानू बौद्ध यदि यों कहेंगे तब तो हम कहते है कि आप ही के आक्षेप अनुसार प्राप्त हो गये इस प्रकरण प्राप्त चोद्य का परिहार किस प्रकार कर सकोगे ? बताओ । यो तो जैनसिद्धान्त अनुसार उत्पाद, व्यय को मान लेने पर कथंचित् ध्रौव्यपना भी ध्वनित हो जाता है, बौद्धों के ऊपर उठाये गये कूटस्थ अर्थ के सिद्ध हो जाने का आपादान तदवस्थ हो रहा ।

यदि बौद्ध पुनः यो कहे कि एक क्षणमात्र स्थिति रहने स्वभाव रूपसे उपज जाना ही दूसरे क्षण मे विनाश हो जाना है, यो अन्य समय (द्वितीय समयमें) अन्य (द्वितीय क्षणवर्ती स्वलक्षण) का उत्पाद हो जाना अन्य (प्रथमक्षणवर्ती स्वलक्षण) का विनाश नही है, क्योकि तिसप्रकार तराजू के समान नाश और उत्पादकी एक समय मे ही हो जाने की प्रसिद्धि हैं, "सव्येतरगोविषाणवत्" बैल के दाया और बायां सीग दोनो एक ही समय में उपजते है । सुगतमत अनुयायियों के यो कहनेपर हम जिनपतिशासन के अनुयायी कहते हैं कि तब तो केवल अन्तर्मुहूर्त कालतक स्थायीपने करके ध्यान का उपज जाना ही उस अन्तर्मुहूर्त काल से अव्यवहित उत्तरवर्ती काल में

विनाश होजाना स्वरूप हैं इसप्रकार तुम्हारा, हमारा समान समाधान हैं, बोध्य और समाधान जब दोनो एक जाति के हे तो जैनो के ऊपर " न जातु विच्छेदः स्यात्" एक ध्यान का कभी विच्छेद ही नही होगा, ऐसा कटाक्ष करना पक्षपातपूर्ण ही समझा जायगा।

नन्वेवं संवत्सरादिस्थितिकमपि ध्यानं कुतो न भवेदिति चेन्न, तथा संभावनाभावात्। यद्धि यथास्थितिक सभाव्यते तत्तथास्थितिकं शक्यं वक्तुं नान्यथा।

" प्रश्नावधारणेऽनुज्ञानुनयामंत्रणे ननु " बौद्ध पण्डित प्रश्न उठा रहे हे कि यदि असंख्यात समयोवाले अन्तर्मुहूर्त कालतक एक ध्यान की स्थिति मानो जायगी तो इसी प्रकार वर्ष, दश वर्ष या हजार वर्षतक स्थिति को रखने वाला ध्यान भो भला क्यों नही हो जावेगा ? जब समय से ध्यान अधिक बढ़कर असंख्याते समयों तक अविघ्न रहता है तो वर्षोंतक भी एक ध्यान ठहर जायगा।

आचार्य कहते हे कि यह तो नही कहना, क्योंकि तिस प्रकार महिनों, वर्षों तक एक ही ध्यान बने रहने की संभावना नहीं है, सभी प्राणियों की मानसिक वृत्तियां चञ्चल हे, मनसे ध्यान होता हैं, एक अर्थ में अन्तर्मुहूर्त से अधिक कालतक उपयोग लगा रहना असंभव हैं। यह व्याप्ति है कि जो पदार्थ नियम से जिस प्रकार स्थिति को लिये हुये सम्भव रहा हैं, उस पदार्थ के उतनी ही स्थिति का धारण करना कहा जा सकता हैं, अन्य प्रकारो से निरूपण करना नहीं उचित है, भावार्थ– " अन्तोमुहुत्तमेत्ता चउ मणजोगा कमेण संखगुणा " (गोम्मटसार जीवकांड) एक मनोयोग या वचनयोग अन्तर्मुहूर्त कालतक ठहरता हैं, भले ही वह अन्तर्मुहूर्त छोटा, बडा हो। भावलेश्या भी छोटे या बडे अन्तर्मुहूर्त कालतक ठहरकर बदल जाती है, भले ही वह समान लेश्या में ही परिवर्तन क्यो न हो। उपशमसम्यग्दर्शन अन्तर्मुहूर्त तक ही ठहरता है, भारतवर्ष मे सूर्य का उदय एक अयन के दिनों मे साढे पच्चीस घटिका से लेकर साढे चौंतीस घड़ी के अन्तर्गतकाल तक ही रहता है, सैकडो वर्षोंतक एक ही सूर्य का उदय बना रह कर उतना बडा अखण्ड दिन नही प्रकाशता हैं, छह मास सूर्य दक्षिणायन रहता है, और छहमास तक उत्तरायण रहता है। मानव स्त्रियों के दो सौ अस्सी दिनो तक गर्भ में रहकर संतान जन्म ले लेती हैं। महीने, दो महीने की न्यूनता या अधिकता भले ही हो जाय, किन्तु दशों वर्षोंतक गर्भ में निवास बने रहना अलीक हैं। पशु, पक्षियों के भिन्न जाति अनुसार गर्भधारण का काल न्यारा न्यारा है। एक शरीर की स्थिति संख्याते

असंख्याते वर्षों तक मानी जाती हैं, अनन्ते वर्षोंतक व्यक्तिरूप से किसी शरीर का ठहरना असम्भव है। इसी प्रकार ऋतुयें, फल, पुष्प आदि के काल नियत हैं, एक ही समयका या अनन्तेवर्षों का झूठा आग्रह करना प्रमाणबाधित है। कोई कपडा यदि तीन वर्ष मे पुराना (जीर्ण) हो जाता है तो यहा यह विचार उठाया जा सकता है कि वह पहिले दिन या दूसरे दिन सर्वथा नवीन है, तो महीने भर भी नवीन ही रहेगा, यो वर्ष, दो, वर्ष क्या पांचसौं वर्ष तक भी नवीन ही बना रहेगा। यदि वह तीन वर्ष में जीर्ण हो जायेगा तो ढाई वर्ष में भी पुराना पड ही चुका होगा, यो न्यूनता करते हुए एकदिन में भी उसके जीर्ण होजाने का प्रसंग बन बैठेगा।

सुबुद्धे भ्रात ! जबकि क्रमक्रम से तीन वर्ष में जीर्ण होजाना प्रत्यक्ष सिद्ध है तो उक्त कुचोद्यो से वस्त्र की नियत मर्यादा का बालाग्र भी खण्डन नही हो सकता है। एक मनुष्य चालीस तोले पानी पीकर एक बार अपनी प्यास बुझा लेता है, यहाँ कोई कुतर्क उठावे कि एक तोला पानी पीलेने पर यदि उसकी प्यास नही बुझती है तो दो, तीन, आदि उनतालीस तोला पानी पीचुकने पर भी प्यास नही बुझेगी। और यदि उन तालीस तोला पानी पीचुकने पर प्यास नही बुझी तो इसके उपर एक तोला अन्य भी पानी पीलिया तथापि उसकी प्यास क्या बुझेगी ? हाँ, यदि उनतालीस तोला पानी पी लेने पर प्यास बुझ जावेगी कहोगे तो एक तोला पीलेने पर भी प्यास बुझ गयी कह दो।

इसी प्रकार खिचडी एक मुहूर्त मे चूल्हे पर पकती हैं। नीहार कर तीन बार मट्टी से हाथ धोलेने पर हस्तशुद्धि होजाती है। तीन बार लोटा माज लेनेपर पात्र शुद्ध कहा जाता है। यो ही कोई मनुष्य साठ वर्षतक जीवित रहकर इकसठ वर्ष के आदि समय मे मर जाता हैं, यहाँ भी उक्त निस्सार चोद्य उठाये जा सकते है। किन्तु अनेकात पक्ष में उठाये गये विरोध आदि दोषों के समान उक्त कुतर्कों का निराकरण हो जाता है। क्योकि अनेक धर्मों से तदात्मक होरहे अर्थ के समान अनेक क्षणो तक एक स्थूल क्रिया या क्रियावान् का बना रहना प्रत्यक्ष प्रमाणो से प्रसिद्ध है। यो ध्यान का स्थितिकाल भी अन्तर्मुहूर्त नियत है, इस से न्यून या अधिक कर दूसरे प्रकारो से ध्यान का काल नियत नही किया जा सकता हैं। कोरी धींगा धींगी चलाने से अप्रामाणिकता का दोष माथे मढ दिया जायगा।

न चान्तःकरणवृत्तिलक्षणायाश्चिंतायाः निरोधो नियतविषयतयावस्थानलक्षणान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं सम्भाव्यते मनसोस्मदादिष्वन्यविषयान्तरे सजातीये विजातीये वा सक्रमणनिश्चयात्तत्कार्यानुभवस्मरणादे· संचारान्यथानुपपत्तेः। केवलमनुत्तमसंहननस्य चितानिरोधमनल्पकालमुपलभ्य स्थिरत्वेन प्रक्षीयमाणं वावबुध्योत्तमसंहननस्यांतर्मुहूर्तकालस्तथासाविति संभाव्यते। तथा परमागमप्रामाण्यं चेत्यलं प्रसंगेन।

बात यह है कि अभ्यन्तर इन्द्रिय होरहे मन: नामक अन्तःकरण की वृत्तियो स्वरूप चिन्ता का नियत एक विषय में लगाकर अवस्थित करना स्वरूप निरोध करना तो अन्तर्मुहूर्त से ऊपर कालतक कथमपि नही संम्भवता है। क्योकि हम तुम आदि ससारी प्राणियो में मन के संक्रमण (एक को छोड़कर दूसरे विषयों मे लग जाना) का निश्चय हो रहा है। ध्येय विषय के समान जातिवाले सजातीय अर्थ मे अथवा विभिन्न जातिवाले विजातीय न्यारे न्यारे दूसरे विषयो मे मन का झट संक्रमण होजाता है। इस साध्य का ज्ञापक अविनाभावि हेतु यह है कि उस न्यारे न्यारे विषयों में संक्रमण के कार्य हो रहे, विभिन्न अनुभव करना, स्मरण करना, प्रत्यभिज्ञान करना, आदि का संचार हो जाना मन का संक्रमण माने विना अन्य प्रकारों से बन नही पाता है। केवल उत्तम संहननों से रहित होरहे, आधुनिक हीनसंहननी प्राणी के अल्पकाल तक भी नही ठहरने वाले चिन्तानिरोध को देखकर (समझकर) अथवा चिन्तानिरोध का स्थिरपने करके अतिशीघ्र क्षय होरहा अनुभव कर यह अनुमान प्रमाण द्वारा सम्भावना करली जाती हैं कि उत्तम संहनन वाले प्राणी का वह ध्यान तिसप्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक ही टिक पाता हैं। भावार्थ- आज कल अनेक प्राणीं जाप करते, सामायिक करते हुये ध्यान लगाते है, किंतु चित्तवृत्ति एक विषय मे देरतक नही ठहरती हैं, प्राणियों का चित्त यहाँ वहां विचलित होजाता हैं। अधिक पुरूषार्थ करने पर भी एक, दो विपल, पल, सैकिण्ड तक ही कदाचित् ध्यान लग पाता हैं। चित्त को वहां स्थिर करना चाहते है किंतु चिन्ता का निरोध स्थिर नही रहकर क्षय को प्राप्त होजाता है। कषाय पूर्वक किये गये दुर्ध्यान भी बहुत देर तक नही हो पाते है, हां, ध्यानो को बदल बदल कर कोई भले ही देरतक आर्तध्यानी या रौद्रध्यानी बना रहो, चिन्ताओं का निरोध करना बडा कठिन कार्य है, प्रकृतिजन्य कार्यो में अधिक अन्तर नहीं पडता है, स्वर्ग य भोगभूमि में भी चना या गेहूं होगा वह बीजजन्य वृक्षपर ही लगा होगा, मिट्टीके कल्पित च ने की यहाँ चर्चा नही हैं, मांस या रक्त त्रसजिवो के शरीर से ही उपजते हैं, भात या

तरकारी के समान वनस्पतियो से या अन्य जड़ी बुटियाँ आदि उपकरणों अथवा लोह यत्रो से प्रासुक मास नहीं बनाया जा सकता है। देखना, सूघना, आख नाक से ही हो सकता है। पर्याप्त मनुष्यो की उत्पत्ति माता के उदर से है। वृक्ष से नहीं। इसी प्रकार अनेक कार्य अपने कारणोद्वारा नियतदेश, नियतकाल और नियत स्वरूप से होरहे हैं, ध्यान के लिये भी अन्तर्मुहूर्त काल नियत हैं, चाहें उत्तम संहननवाला संज्ञी जीव हो अथवा भले ही हीन संहननी समनस्क प्राणी हो, अन्तर्मुहूर्त कालतक एक अर्थ मे एक एक ध्यान को नही ठहरा सकता है। हाँ, छोटे वडे अन्तर्मुहूर्त की वात न्यारी है, अन्तर्मुहूर्त के लाखो, करोडो, असंख्याते अवान्तर भेद है। अपने अपने अनुभवप्रमाण (प्रत्यक्ष) और अनुमान प्रमाण से इस रहस्य को साध दिया है। तथा अन्तर्मुहूर्त तक हो एक ध्यान वने रहने का निर्णय करने मे सर्वोपरि सर्वज्ञ आम्नाय प्राप्त परमागम की प्रमाणता है, जो परमागम में लिखा हुआ है वह अक्षरश सत्यार्थ है, न्यून अधिक करने की सामर्थ्य किसी को नही हैं।

सूत्रकार महाराज के इस सूत्र में कहे गये सिद्धान्त को निःसंशय होकर प्रमाण मान लेना चाहिये। यहाँतक इस प्रकरण को समाप्त करते है, अधिक प्रसग वढाने से पूरा पडो, वुद्धिमानो को थोडा संकेत ही पर्याप्त है। भाष्यार्थ- राजवार्तिक मे परिणमन के छः प्रकार रवखे है, " स तु षोढा भिद्यते, जायतेऽस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षयते, विनश्यतीति " प्रथम ही अन्तरग, बहिरग कारणो में भाव उपजता है, पुनः उपजकर वह आत्मलाभ करता है. जैसे कि मनुष्यगति कर्म की अपेक्षा आत्मा मनुष्यपर्याय रूपसे जन्म लेता है और आयु कर्म आदि निमित्तो से अन्तर्मुहूर्त या ५०, १०० आदि वर्षों तक मनुष्य पर्याय का अवस्थान रहता हैं, उनमे, वालक, शिशु, कुमार आदि अवस्थाओ अनुसार विभिन्न परिणतियाँ होती रहती है। पहिले कतिपय परिणामो को नही छोडते हुए अन्य शरीर अवयव, ज्ञान, इन्द्रिय, विचारशक्ति, अनुभव आदिका अधिक हो जाना वृद्धि है। वृद्ध अवस्था में क्रमसे पूर्वभावो की एकदेश निवृत्ति होजाना अपक्षय है। और गृहीत मनुष्य पर्याय की सामान्य रूपसे सर्वाग निवृत्ति होजाना विनाश हैं। यों दृश्यमान पदार्थो के अनेक विभिन्न कालो की मर्यादा को लिये हुये परिणमन होते है।

धोती को पानी में डुबोकर उठा लिया जाय, उसका पानी झट एक ही समय या निमिष में क्यो नही निचुड जाता है? अथवा घण्टो, वर्षों, पल्यो, तक पानी क्यो

नही टपकना रहना है ? ऐसे कुबोद्य उठाकर किसी सिद्धान्त का अणुमात्र भी खण्डन नही हो सकता हैं। जब कि अन्तर्मुहूर्त कालतक ही धोती के जल का टपकते रहना प्रत्यक्षसिद्ध होरहा हैं। साबूदाना, मूगकी दाल, भात, खिचडी, तोरई, लौका, आदिक अन्तर्मुहूर्त में ही अग्निपक्व होजाते हैं कितनो ही तीक्ष्ण या महान् अग्निसे पकाया जाय, दग्ध भले ही होजाँय किन्तु खाने योग्य परिपाक होने के लिये अन्तर्मुहूर्त काल आवश्यक हैं ऐसी काल की मर्यादा को लेकर होने वाले नियत कार्यों के अनेक दृष्टान्त है। आहार, नीहार, मूतना, आदि कार्य अन्तर्मुहूर्त में सम्पन्न होते हैं देर लगे तो दूसरे प्रारम्भ होगये समझो। बिजली या दीपप्रकाश अथवा शब्द ये क्रम से ही चलते है भले वे एक सैकिण्ड मे हजारो सैकडो या दशो मील चले, हाथ की अंगुली मे सुई या कांटा चुभ जाने पर अथवा पाव के अगुठे मे ठोकर या चोट लग जाने पर क्रम से ही सर्वांग मे वेदना व्यापी है, हाँ, वह क्रम मशीन के घूमते हुये चाक के समान अत्यन्त शीघ्र चल जाता है यो अनेक कार्यो की क्रमसे ही उत्पत्ति है। भैंस के दश और घोडी के ग्यारह बारह महिने मे बच्चा जन्म लेता हैं मुर्गी इकईस दिन में, बिल्ली डेढ़ महिने मे, कुतिया तीन महीने में गर्भधारण के पश्चात् व्याय जाती है। इसी प्रकार मुर्गी आठ महिने मे, छिरिया डेढ वर्ष मे, कुतिया दो वर्ष मे और गाय, भैंस, घोडी, पाच वर्ष मे वयस्क (यौवन वयःप्राप्त) हो जाती है, साठो चाँवल साठ दिन मे पकती हैं, गेहू, चने, आदि के काल नियत है। हा, शीत उष्ण देशो मे या बहिरग प्रयोगो से काल मर्यादा की थोडी न्यूनता अधिकता होसकती है।

विजली की शक्ति से मुर्गी के अण्डे शीघ्र वढाये जासकते हैं किन्तु कम से कम एक समय या बढकर सैकडो वर्षो या पल्य, सागरो का अन्तर नही पड सकता हैं। कर्मभूमिया मनुष्य आठ वर्ष से ऊपर सम्यग्दर्शन को उपजा सकता है, भोगभूमि का मनुष्य उनंचास दिन मे सम्यक्त्व के योग्य होता हैं, तिर्यञ्च जन्मसे सात आठ दिन (दिवस पृथक्त्व) पीछे सम्यक्त्वधारी होसकते है। देव, नारकी, अन्तर्मुहूर्त मे ही पर्याप्त होकर नवीन सम्यग्दृष्टि बन सकते हैं। "तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति" इस का लक्ष कर अब अधिक दृष्टान्त देना व्यर्थ है। हजारों, लाखो भेद वाले छोटे, वडे, अन्तर्मुहूर्त काल तक ही एक ध्यान टिक सकता है, इस को सर्वज्ञ की आज्ञा अनुसार स्वीकार करो, अतिप्रसंग वढाने से हानिके अतिरिक्त कोई लाभ नही निकलेगा।

कः पुनरयमंतर्मुहूर्त इत्युच्चते—उक्तपरिमाणोंतर्मुहूर्तः परमागमे ततोऽत्र न निरूप्यते।

यहां कोई जिज्ञासु बिनीत शिष्य पुंछना है कि ध्यान के अन्तर्मुहूर्त काल की बहुत अच्छी पुष्टि की गई. हम सभी दार्शनिक बहुत प्रसन्न हुये हैं, अब महाराज यह वतलाइये कि यह अन्तर्मूहूर्तकाल का परिमाए फिर क्या हैं? दयासागर ग्रन्थकार इस पर कहते हे कि अन्तर्मुहूर्त का परिमाए तो उत्कृष्ट महान् आगम ग्रन्थो मे कहा जा चुका है, तिस कारए यहां पुनरुक्ति के भय से नही कहा जारहा है, इस श्लोकवार्तिक का अधिकारी पण्डित् स्वयं "नृस्थिती परावरे" सूत्र अनुसार अन्तर्मुहूर्त का अर्थ ज्ञात कर चुका है। अर्थात अन्यसिद्धान्त ग्रन्थो मे अन्तर्मुहूर्त काल को नाप बतादी गई है, गोम्मटसार में तो —

आवलि असंखसमया संखेज्जावलिसमूहमुस्सासो।
"सत्तुस्सासा थोवो सत्तथोवा लवो भणियो" ॥५७३॥
अट्ठत्तीसद्धलवा नाली वे नालिया मुहुत्तं तु।
एग समयेए हीए भिण्एमुहुत्तं तदो सेस" ॥५७४॥

आवली कालसे ऊपर और दो घडी यानी अडतालीस मिनट से भीतर (न्यून) का काल अन्तर्मुहूर्त है, अन्तर अव्यय का अर्थ भीतर होता है। अतः दोघडी के भीतर का काल अन्तर्मूहूर्त है, गोम्मटसार मे क्षेपक गाथा यो हैं —

ससमयमावलि अवर समऊए मुहुत्तयं तु उक्कस्सं।
मज्झा सखवियप्प वियाए अन्तोमुहुत्तमिएं" ॥१॥

एकसमय अधिक आवली काल का जघन्य अन्तर्मुहूर्त होता है। एक समय कम मुहूर्त यानी क्षएन्यून अडतालीस मिनट का उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त होताहै, इन दोनो के मध्यवर्ती असंख्याते विकल्प भी अन्तर्मुहूर्त के भेद है।

ज्ञानमेव ध्यानमिति चेन्न,तस्य व्यग्रत्वात्, ध्यानस्य पुनरव्यग्रत्वात्। तत एवैकाग्रवचनं वैयग्र्यनिवृत्यर्थं सूत्रे युज्यते।

कोई विद्वान् ज्ञान को ही ध्यान मानते हैं, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह एकान्त तो समुचित नही हैं। क्योकि वह ज्ञान विभिन्न अर्थो मे न्यारी न्यारी ज्ञप्तिया कर रहा व्यग्र हैं किन्तु ध्यान फिर व्यग्र नही है, एक ही अर्थ मे तत्पर होरहा हैं, तिस हीं कारए से सूत्र मे "एकाग्र" पद कहा गया है, जिसका कि व्यग्रता की निवृत्ति करने के लिये

सूत्र मे निरूपण करना युक्तिपूर्ण है, या व्यंग को ध्यान हो जाने की शंका का समाधान-कारक हैं, (युजसमाधौ)।

भावार्थ— अनेक पदार्थोंका अवलम्ब लेकर यहां वहां चञ्चल होकर विषय कर रही चिन्ता का अन्य सम्पूर्ण विषयो की उन्मुखता से व्यावृत्त होकर एक ही अर्थ में नियमित लगे रहना ध्यान है। अप्रामाणिक धारावाहिक ज्ञानों से यह ध्यान न्यारा है, ध्यान मे एक अर्थपर साधन, अधिकरण, स्वामित्व आदि की वास्तविक कल्पना अनुसार अश, उपाशो को ग्रहण कर रहे अनेक ज्ञान गिरते हैं। आत्माके सुख, दुःख, क्रोध, वेद, ध्यान लेश्या, दान, पूजन, सम्यक्त्व, खाना, पोना, व्यभिचार, ब्रह्मचर्य, दौडना, पठन, पाठन, आदि परिणाम किसी न किसी गुण की ही पर्याय होसकते हैं, अन्यथा ये स्वभाव या विभाव कभी आत्मा के नही कहे जासकते हैं। क्रोध करना चारित्र गुण की विभाव परिणति है। लौकिक सुख, दु ख तो अनुजीवी सुखगुण के विभाव परिणाम है। अध्यापक की पठनपरिणति तो गुरुके ज्ञानावरण क्षयोपशम, वीर्यान्तरायक्षयोपशम, अगोपागनामकर्म, स्वरकर्मोदय, वाग्लब्धि, पुरुषार्थ, प्रतिभा, आदि कारणों से उपजा कतिपय गुणो का संकर परिणमन है, लेश्या भी चारित्रगुण और पर्यायशक्ति होरहे योग का सकर परिणाम है। यहांतक कि हेगना, मूतना, रोना, चिल्लाना आदि परिणाम भी जीवो और पुद्गल के सामुदायिक गुणो के विवर्त हैं। ध्यान भी आत्मा की एक पर्याय है, जोकि चारित्र गुण के साथ सहयोग रखरहे चेतना गुण की विभाव परिणति है। सिद्ध अवस्था मे ध्यान नही है, प्रत्युत तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानों मे भी अनुपचरित ध्यान नही है, अतः देशघाति प्रकृतियों के उदय अनुसार ज्ञानावरण के क्षयोपशम से उपजे ध्यान को विभाव परिणाम कह देने मे सकोच नही किया जाता है।

सर्वार्थसिद्धि में "ज्ञानमेवापरिस्पन्दमानमपरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति," यह लिखा है कि अग्नि की अकम्पशिखा के समान परिस्पन्द नही कर प्रकाश रहा ज्ञान ही ध्यान है, आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान तो बहुभाग कुश्रुत ज्ञान या कुनयस्वरूप हैं। रौद्रध्यान प्रथम से लेकर चौथे, पांचवे गुणस्थानो मे पाया जाता है, तथा गुणस्थानतक आर्त्तध्यान सम्भवता है। अतः ये श्रुतज्ञान या नयरूप भी भले ही हो जांय, हां, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान तो श्रुतज्ञान या श्रुतज्ञान का एक देश हो रहे नयस्वरूप हैं। पृथक्त्ववीचार और एकत्ववितर्क अविचार तो बहुत बढ़िया नय

हैं। नयको श्रुतज्ञान से न्यून शक्तिवाला नही समझ बैठना। हां, कर्मों के क्षय करने की शक्ति नयज्ञानो मे विशेष है।

सहकारीकारण, उपादानकारण, प्रेरककारण, उदासीनकारण, ज्ञापक-कारण, समर्थकारण, इन मे से किसीको न्यूनशक्तिवाला दूसरे को अधिक शक्तिवाला ठहराने का किसो को अधिकार नही हैं। कोई व्यक्ति या समाज स्वार्थवश किसी अपेक्षासे यदि किसी विशेष प्रेरक कारण की अधिक प्रतिष्ठा करता है, तो उस अनन्त कालतक अगणित पदार्थों को उदासीनतया कररहे कारण के सन्मुख उस क्षणिक अपेक्षा का कोई मूल्य नही हैं, वस्तु की शक्ति का विचार कीजिये। गुप्तप्रासादो मे बैठे हुये राजनीतिज्ञो तथा सिपाही, सैनिक या मजूरो की दशा निहारिये। जीव के समान पुद्गल, धर्म, अधर्म, द्रव्य, कालाणुयें, आकाश, सभी अनन्तानन्त शक्तिवाले है। उदासीन कारण की शक्तिका बोझ प्रेरक कारण की शक्ति के गौरवसे न्यून नही है। प्रकरण मे यह कहना है कि श्रुतज्ञान का अंश हो जाने के कारण नय ज्ञानो को छोटा मत समझो " नयचक्र या आलापपद्धति मे किये गये नयो के विवरण का जिन प्रविष्ट विद्वानो ने सूक्ष्म गवेषण किया हैं, वे नयज्ञान का परिचय पागये हैं।

द्रव्य, गुण, पर्याय, स्वभाव, अविभाग प्रतिच्छेदो अनुसार वास्तविक नयज्ञान होरहे अत्यधिक उपयोगी हैं। नित्याशुद्धपर्यायार्थिक, उपचरितासद्भूतव्यवहार, कर्मोपाधिसापेक्षअशुद्धद्रव्यार्थिक, स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार परमभाव ग्राहकनयें, परद्रव्यादि ग्राहकनय, निर्विकल्पनय, इत्यादि का परामर्ष करने से नयो के महान् उदर का गम्भीर विद्वानो को आभास होजाता है, दुर्नयो की लीला भी अपरम्पार है। नयज्ञान अतीव विचार करनेवाला विचारक है।

साव्यवहारिक प्रत्यक्ष या देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, ऋजुमति, विपुलमति यहाँतक कि केवल ज्ञान भी अविचारक है। मतिज्ञानो मे गिनाये गये सज्ञा, (प्रत्यभिज्ञान) चिन्ता, (व्याप्तिज्ञान,) आभिनिबोध (स्वार्थानुमान) परार्थानुमान या प्रतिभा, सभव, अर्थापत्ति आदि ज्ञान तथा श्रुतज्ञान ये ज्ञान विचार करनेवाले है। उपशम श्रेणी या क्षपकश्रेणी में अवधिज्ञान या मनःपर्यय भले ही पाये जाय, किंतु उनका उपयोग नही है। वस्तुतः वहाँ विचारशाली ध्यान होकर नयज्ञानमंडल चमक रहा है, तभी तो सचित अनन्तानन्तकर्मों का विनाश स्वल्पकाल मैं करदिया जाता हैं, इस अपेक्षा प्रमाणो से नयों की शक्ति बहुत बढी-चढी मानी गई है। जो मुनि जितना ही विचारक या

निर्विकल्पक सुनयो को पुरुषार्थद्वारा उपजाता हैं, उतना ही शीघ्र वह कर्मो का स्थिति अनुभागखडन कर डालता है।

यो संक्षेप में यह कहना है कि, चाहे कोई भी ज्ञान तो ध्यान नही हैं, किन्तु अव्यग्र ज्ञान धारा या दुर्नय, सुनय, एव अन्य एकाग्रश्रुतज्ञान ध्यान का स्वरूप धर लेते हैं। योगी या ध्यानी पुरुष इनका और भी सूक्ष्म विचार कर सकते है, इस सूत्र के एक एक अक्षर मे अपरिमित प्रमेय भरा पडा है। यहाँ व्यग्रताकी निवृत्ति के लिए मात्र ज्ञान को ही ध्यान होजाने का निषेध कर दिया है।

चिन्तानिरोधग्रहणं तत्स्वाभाव्यप्रदर्शनार्थं तत एव ज्ञानवैलक्षण्य, अन्यथास्य कथं चिन्ता न स्यात्।

इस सूत्र में "चिन्तानिरोधः" पद का ग्रहण तो ध्यान को उस चिन्तानिरोध-स्वभाव होरहेपन का प्रदर्शन करने के लिये है। अर्थात् जैसे अशुद्ध द्रव्य होरही स्थूल पृथ्वी पर्याय के विशेष विवर्त बनरहे घट मे घटशद्व प्रवर्तता है, इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप चिन्ता की वृत्तिविशेष मे ध्यान शद्व को प्रवृत्ति है, विशेष अर्थ मे अव्यग्र होरही ज्ञान प्रवृत्ति को लक्षण नही बनाकर अन्य ज्ञानो की चिन्ताओ के निरोध को उद्देश्य दल मे डालकर ध्यान का लक्षण इष्ट किया है, तिस ही कारण यानी चिन्तनिरोध की प्रधानता होने से ध्यान को ज्ञान से विलक्षणपना है। अन्यथा यानी ध्यान को ज्ञानसे विलक्षण नही मान कर यदि दूसरे प्रकार से सर्वथा ज्ञान स्वरूप अभीष्ट कर लिया जायगा तो इस ज्ञानस्वरूप ध्यान के चिन्ता किसप्रकार नही होगी? ज्ञान तो अनेक चिन्तनायें करता रहेगा, अतः ध्यान मे चिन्ता ओ के निरोध पर विशेष लक्ष्य डाला गया है।

ध्यानमित्यधिकृतस्वरूपनिर्देशार्थं। मुहूर्तवचनादहरादिनिवृत्तिस्तथाविधशक्त्यभावात्।

इस सूत्र मे ध्यान यह पद लक्ष्यकोटि में पडा हुआ हैं। जो कि अधिकारप्राप्त छटे अभ्यंतरतप होरहे ध्यान के स्वरूप का निरूपण करने के लिये है। इस सूत्र मे अन्तर्मुहूर्त पद कहा गया है। मुहूर्तपद का कथन करदेने से दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष आदि कालों तक ध्यान जमे रहने की निवृत्ति कर दी जाती हैं, चार छः घन्टो तक या दो,चार दिन तक तिस प्रकार एकाग्र चिन्ता निरोध करते हुये एक ही ध्यान लगा रहने की शक्ति का जीवो के अभाव है। तीनो लोक, तीनों काल मे कोई जीव ऐसा नही है जोकि अन्तर्मुहूर्तसे अधिक कालतक एक ही ध्यान लगाये रहने की सामर्थ्य रखता हो।

अभावो निरोध इति चेन्न, केनचित्पर्यायेणेष्टत्वात् । परोपगतस्य नीरूपस्याभावस्य प्रमाणाविषयत्वेन निरस्तत्वात् । किं च अभावस्य च वस्तुत्वापत्तेर्हेत्वंगत्वादिभ्य । न हि हेत्वंग तु पक्षधर्मत्वादिवस्तुत्वमतिक्रामति । तद्वद्विपक्षे असत्वमपि हेत्वंग तथा परपक्षप्रतिषेधेऽपक्षांग चाभावो निदर्शनांगं चेति तस्य वस्तुधर्मयोगाद्वस्तुत्वं । तथा प्रमाणनयविषयत्वात् कारणत्वात् कार्यत्वाद्विशेषणत्वाद्धेतोश्चेति प्रपञ्चतोऽभ्यूह्यं ततो न कश्चिदुपालम्भः ।

कोई वैशेषिकमतानुयायी आक्षेप उठाता है कि अन्य चिन्ताओं का निरोध होजाना तो अभाव स्वरूप हैं, और अभाव कुछ नही रहना यो तुच्छ है । चिन्ता निरोध की दशामे चिन्तायें या ज्ञानो का अभाव होजाने से खरविषाण के समान ध्यान कुछ भी पदार्थ नही, ठहरा तुच्छ, शून्य, अभाव हो गया । ग्रन्थकार कहते है कि यह तो कटाक्ष नही करना,क्योकि तुच्छ अभाव को जैन स्वीकार नही करते है, अभाव भी भाव आत्मक पदार्थ है, अप्रकृत इतर चिन्ताओ को छोडकर किसी न किसी प्रकृत पर्याय से चिन्ता का बना रहना इष्ट होरहा हैं । रीते भूतल को "भूतले घटाभाव" माना गया हैं,अन्यचिन्ताओं के अभाव की विवक्षा करनेपर ध्यान नास्तिस्वरूप है, किन्तु विवक्षित विषय मे एक टक चिन्तन करते हुए लगे रहने की अपेक्षा करनेसे ध्यानभाव आत्मक सद्रूप हैं, यो सभी पदार्थ परचतुष्टय से नास्ति, स्वचतुष्टय से अस्ति स्वरूप व्यवस्थित हो रहे हैं । दूसरे वैशेषिक या नैयायिको के यहाँ स्वीकार किया स्वरूपशून्य नीरूप तुच्छ अभाव का पूर्व प्रकरण मे निराकरण किया जा चुका हैं, क्योकि कार्यता, कारणता, अर्थक्रियाकारित्व आदि स्वरूपों से रीते होरहे तुच्छ अभाव किसी प्रमाण के गोचर नही होरहे है । अतः इसका पूर्व प्रकरणो मे निराकरण किया जा चुका है, जो प्रमाण का विषय नही है,वह गगनकुसुम के समान असत् पदार्थ है । भावार्थ- जैनो के यहाँ प्रागभाव,प्रध्वंस, अन्योन्याभाव, और अत्यंताभाव को भाववस्तुस्वरूप स्वीकार किया गया है, अष्टसहस्री मे इसका विशद वर्णन है ।

एक बात यह भी है कि "द्रव्यादिषट्कान्योन्याभाववत्वम्" "भावभिन्नत्वम्" ये अभाव के लक्षण प्रशस्त नही है । जब कि पूर्व पर्यायस्वरूप प्रागभाव, और उत्तर पर्यायस्वरूपध्वंस तथा एक जातीय द्रव्य की पर्याय का जबतक अन्य पर्याय स्वरूप नही होना रूप अन्योन्याभाव, एवं एक द्रव्य का दूसरे द्रव्यस्वरूप नही होना आत्मक अत्यन्ताभाव ये चारों परिणाम वास्तविक हैं, अतः इनको वस्तु का अग माना जाता है।

तुच्छ अभाव कुछ ठोस कार्य नही कर सकते है।

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निन्हवे। प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत्"।

"सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे, अन्यत्र समवायेन व्यपदिश्येत सर्वथा"।

यदि प्रागभाव वस्तुस्वरूप होकर कार्यकारी नहीं होता तो घटादि कार्य सभी अनादिकालीन बन बैठते। इसी प्रकार ध्वस को वस्तुभूत नहीं मानने से सभी पर्याये अनन्तकाल तक स्थिर रहती, सभी मुर्देघाट, कबरिस्तान, श्मशान भूमियो, जग-जाती तो वर्तमान काल के मनुष्यो को खाने के लिये एक दाना ओर बैठने के लिये एक अंगुलस्थान भी नही मिलता। अन्योन्याभाव नही मानने पर मनुष्य ही घोडा, हाथी, सांप, तत्काल बन जाता, कोई निरापद होकर एक क्षण नही बैठ पाता। इसी प्रकार अत्यन्ताभाव को वस्तुभूत माने विना जीव का जड बन जाना जड का चेतन बनजाना रोकने के लिये भला कौन शस्त्र, अस्त्र से सुसज्जित होकर प्रतीहार बन सकता था? निरुपाख्य तुच्छ अभावों की सामर्थ्य उक्त कार्यों को करने की नही है, घोडे के कल्पित तुच्छ सीग किसीमे गडकर दुःखवेदना नही उपजा सकते है।

दूसरी बात यह भी है कि हेतुका अंग होजाना, व्यतिरेक दृष्टान्त होजाना, परचतुष्टय से प्रकृत वस्तु को नास्तिस्वरूप रखना, प्रतिबन्धो का अभाव करते हुये कार्य की निर्बाध उत्पत्ति कर देना आदि प्रक्रियाओसे अभाव को वस्तुपना या वस्तु का अश हो जाना आपादन कर दिया गया है। बौद्धो के यहाँ हेतु के पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, ये तीन अंग माने गये है, "पर्वतो वन्हिमान् धूमात् यहां धूम का पर्वत में पाया जाना तो पक्षसत्व है। और अन्वय दृष्टात होरहे रसोई घर में धूमका सद्भाव मिलना सपक्षसत्त्व है, तथा व्यतिरेकदृष्टात हो रहे सरोवर में धूम का नही रहना विपक्षासत्त्व है। यो जिसप्रकार हेतु के पक्ष मे वृत्तिपन आदिक अग होरहे सन्ते तो भी वस्तुपन का अतिक्रमण नही करते है, उसी के समान विपक्ष में वर्तने का असत्पना भी हेतु का अग है तथा परपक्षका प्रतिषेध करने में अभाव पक्षका अंग भी है, अर्थात् वादी का पक्ष अपने पक्ष की सिद्धि करना और पर पक्ष का प्रतिषेध करना है।

" स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोन्यस्य वादिनः, नासाधनागवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।

अतःपरपक्ष का निषेध करने में अभाववादी के पक्ष का अंग है;प्रतिवादी पण्डित साधन के अंगो को नही बोल रहा है, यह अभाव भी वादी के पक्ष की पुष्टि में अग हो गये है,

तथा एक बात यह भी है कि, अभाव पदार्थ दृष्टांत का अंग भी है। जहां जहां आग नही है वहां वहां धुआं नही है, ऐसी व्यतिरेकव्याप्ति को धाररहे व्यतिरेक दृष्टात का अश अभाव ही तो हुआ। हेतु के प्राण होरहे अन्यथानुपपत्ति या अविनाभाव अथवा विपक्षासत्त्व ये पारमार्थिक अभाव स्वरूप है। यों उस अभाव को वस्तु के तदात्मक धर्म होजाने का योग होजाने से यथार्थ वस्तुपना है, तिसीप्रकार प्रमाण और समीचीन नयों का ग्राह्य विषय होजाने से भी अभाव पदार्थ वास्तविक है। विद्यालय में सिंह, सर्प, डांकू आदि का अभाव समीचीन प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय हो रहा है। ऋजुसूत्र नय अनुसार वर्तमान काल मे पूर्व जन्मो की पर्यायों का अभाव ज्ञात हो रहा है, द्रव्यार्थिक नय से अनित्यत्व का अभाव और पर्यायार्थिक नय अनुसार नित्यपन का अभाव सर्वत्र परिच्छिन्न हो रहा है। कहाँ तक कहा जाय अभाव तुच्छ पदार्थ नहीं है, किन्तु कार्यता कारणता, आधारता, आधेयता, विशेषणता, विशेष्यता आदि धर्मों को धार रहा भाव-स्वरूप हैं। घडे में मोगरा, मुग्दर के लगजाने से घटाभाव (ध्वंस) उपजा, मद्य पीने से ज्ञानाभाव पैदा हुआ, कर्मों का उदय होजाने से असिद्धपना उपजा, कोमल उपकरणो करके झाड देवे पर कंटक, कूडा आदि का अभाव उत्पन्न हुआ, औषधि खाने से रोग का अभाव बना यों अभाव पदार्थ कार्य हैं। तथा अभाव कारण भी है देखिये।

आंधी के अभाव से दीपक की उत्पत्ति हुई, विद्यालय में सिंह, सर्पाभाव से निराकुलता, अध्ययन, अध्यापन हुआ, पूर्वपर्याय का ध्वस हो जाने से उत्तर पर्याय उपजी सौ, पाँच सौ वर्षो के प्राणियो का जीवित बने रहना नही होवे से आधुनिक प्राणियो को उचित आवास,आहार, को प्राप्ति होरही है। ज्ञानावरण का क्षयोपशम या क्षय हो जाने से ज्ञान उपज बैठता है, यों प्रत्येक कार्य मे भाव कारणो से अधिक संख्या वाले अभाव पदार्थ कारण बने हुये है। छात्र के मस्तक पर स्वातिरिक्त घोडे, हाथी, शस्त्र, अस्त्र, सोट, सन्दूक सब का अभाव हैं, तभी वह पढ रहा है, भित्ति का अभाव होने पर ही हम परली ओर का दृश्य देख सकते है, यो अभाव में कारणत्व धर्म भी बैठा हुआ है, अभाव मैं सादित्व, कार्यत्व, आदि धर्म रहते है, अतः वह आधार भी है। घट मे पटाभाव है, छात्र में अविनीतता का अभाव है, गुरू मे ईर्षा का अभाव है, यों अभाव आधेय भी है, तिस ही प्रकार "घटाभाववद् भूतलम्" "आकाशरूप अभाववत्" "कृतघ्नताभाववान् छात्रः" आदि स्थलो पर अभाव विशेषण होरहा है। "भूतले घटाभाव" यहां प्रथमान्त मुख्य विशेष्यक शाब्दबोध माननेपर निष्ठत्व संबंध से घटाभावमे भूतल

विशेषण होगया हैं, औ घटाभाव विशेष्य होरहा है, अभावत्व, हेत्वंगत्व, निदर्शनांगत्व आदि विशेषणो का विशेष्य भो अभाव हैं, अतः घट, पट, काले, नीले, ज्ञान, इच्छा, शरीर, मनः आदि के समान अभाव भी वस्तुभूत पदार्थ है, तुच्छ नही है, इस प्रकार विस्तार से इस अभाव को वस्तु के अंगपन को अनेक सद्युक्तिपूर्ण वितर्कणायें करली जावे तिसकारण से हम जैनो के ऊपर कोई भो उलाहना या दूषण नही लगपाता है। यों चिंता के निरोध को भले हो अभाव पदार्थ मानलिया जाय फिर भी वह अन्य पर्यायें स्वरूप होरहा वस्तुभूत है।

ननु चैकस्तत्र नैकाग्रवचनं कर्तव्य ? किं तर्ह्येकार्थवचनं स्पष्टार्थत्वादिति चेन्नानिष्टप्रसगात । वीचारोर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिरिति ह्योष्टं तत्र द्रव्ये पर्यायात् संक्रमाभावस्यानिष्टस्य प्रसंगः । एकाग्रवचनेपि तुल्यमिति चेन्न,आभिमुख्ये सति पौनःपुन्येनापि प्रवृत्तिज्ञापनार्थत्वात् । आभिमुख्यवाचिनि ह्यग्रशब्दे सत्येकाग्रेणैवाभिमुख्येन चिन्तानिरोधः पर्याये द्रव्ये च सक्रामन्न विरुध्यते ।

यहां किसी शकाकार का प्रश्न हैं कि "एकाग्रचिन्तानिरोध" यों इस प्रकार उस ध्यान के लक्षण में यह नही कथन करना चाहिये कि एक अग्र मे चिन्ता का निरोध करलेना ध्यान है, तब तो क्या निरूपण करना चाहिये ? इसपर यह कहा जासकता है कि "एकार्थचिन्तानिरोधः" एक ही अर्थ में चिन्ताओं को रोकलेना ध्यान हैं, ऐसा व्यक्त कहदेने से अर्थ भो स्पष्ट हो जाता है। जिस पदसे बाल, वृद्ध, वनिता तक समझ सके ऐसे सुस्पष्ट शब्द का उपादान करना परोपकृतिपरायण सूत्रकार महाराज को शोभा देता है। ग्रन्थकार कहते है कि, यह तो नहीं कहना क्योकि एकार्थ कहदेने से अनिष्ट कहे जाने का प्रसग आजवेगा। देखिये भविष्य में "वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः" यह कहनेवाले है, ध्येय अर्थ चाहे द्रव्य होय अथवा पर्याय होय और व्यञ्जन यानी वचन होय तथा काय, वचन, मनका अवलम्ब पाकर हुआ आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द स्वरूप योग होय यो इनका परिवर्तन होना सूत्रकार को अभीष्ट होरहा हैं, उस अवस्थामे पर्याय से द्रव्य मे संक्रमण होजाना इष्ट है, यदि एकहि अर्थ मे चिन्ताओं के निरोध को ध्यान कहा जायगा तो द्रव्य से पर्याय मे अथवा पर्याय से द्रव्य मे संक्रमण होजावे का आभाव जो कि अनिष्ट हैं, उसका प्रसंग बन बैठता है।

यदि पुनः शंकाकार यो कहे की एक अग्र कहने पर भी वह अनिष्ट का प्रसंग समान हैं, एकाग्र होकर जो ध्यान धरा जारहा हैं, तब भी द्रव्य से पर्याय मे या पर्याय

से द्रव्य मे संक्रान्ति नही होसकेगी। अग्र का अर्थ मुख्य या अभिमुख अर्थ रक्खा जाय तो भी एक ही द्रव्य या पर्याय मे अभिमुख होकर ध्यान जमा रहेगा, परिवर्तन नही होसकेगा। आचार्य कहते हैं कि यह कटाक्ष तो ठीक नही, क्योंकि अग्र का अर्थ अभिमुखपना होजाने पर पुन. पुनः रूपसे भी प्रवृत्ति होजाय इस बात को समझाने के लिये एकाग्र शब्द कह दिया गया हैं, जब कि अभिमुखपना अर्थ का प्रतिपादन कर रहे अग्र-शब्द के होतेसन्ते एक अग्र करके ही अभिमुखता से चिन्तानिरोध ध्यान है। तो पर्याय और द्रव्य मे संक्रमण करते हुये ध्यान का होना विरुद्ध नही पडता है, कतिपय अर्थों मे भी एक ध्यान की अभिमुखता होजाती हैं, कोई बुद्धिमान् छात्र एक कठिन पंक्ति के कतिपय अर्थो में एकटक लगकर चिन्तना करता रहता है।

प्राधान्यवाचिनो वैकशब्दस्य ग्रहणमिहाश्रीयते। प्रधानपुंसोध्यातुरभिमुखश्चिन्तानिरोध एकाग्रचिन्तानिरोध इति सामर्थ्यात् क्वचिद्ध्येयेर्थे द्रव्यपर्यायात्मनीति प्रतीयते, ततो नानिष्टप्रसंगः।

अथवा प्रधानपना अर्थ के वाचक होरहे एक शब्द का ग्रहण करना यहां आश्रित किया गया हैं, प्रधान होरहे ध्याता आत्मा का अर्थों में अभिमुख होकर चिन्ताओ का निरोध करना एकाग्रचिन्तानिरोध हैं, इस प्रकार विना कहे ही अन्य उच्चार्यमाण-शब्दो की सामर्थ्य से यह तात्पर्य प्रतीत होजाता है कि, द्रव्य और पर्यायो के साथ तदात्मक होरहे किसी भी ध्येय अर्थ मे एक ध्यान लग जाता हैं, ध्येय अर्थ के अंश, उपांशो मे संक्रमण होता रहने पर भी एक ध्यान उसी प्रकार अक्षुण्ण बना रहता हैं, जैसे कि वचन और योगो का अभ्यतर मे परिवर्तन होते हुये भी एक ध्यान प्रतिष्ठित रहता है। तिस कारण अग्रशब्द का निरूपण करदेने से अनिष्ट का प्रसंग नही हो सकता हैं। सर्वत्र पदार्थ को स्पष्ट खोल कर रखदेना ही राजमार्ग नही है। गुप्तस्थलोपर या गम्भीर तत्व का निरूपण कर देने पर अगाध द्व्यर्थक त्र्यर्थक शब्द भी कहे जाते हैं। सख्याते जड शब्दो से अनन्तानन्त प्रमेयो के ज्ञानो को तभी उपजाया जाता हैं, सूत्रकार के एक एक शब्दो मे अपरिमित अर्थ प्रविष्ट होरहा हैं।

अंगतीत्यग्रं पुमानिति तु शब्दार्थकथने सत्येकास्मिन् वा पुंसि चिन्तानिरोध एकाग्र-चिन्तानिरोध इति द्रव्यार्थादेशाद्बाह्यध्येयप्राधान्यापेक्षा निर्वर्तिता, स्वस्मिन्नेव ध्यानस्य वृत्तिरिति नानार्थवाचित्वादेकाग्रवचनं न्याय्य नैकार्थवचनं।

अथवा एक बात यह भी है कि स्वादि गण की "अगि गतौ" धातु से कर्ता में औणादिक र प्रत्यय किया जाय अंगति यानी गमन कर रहा है, जान रहा है, यों अग्र का अर्थ आत्मा हुआ, इस प्रकार अग्र शब्द करके आत्मा स्वरूप अर्थ का कथन करते सन्ते एक पुरुष (आत्मा) मे चिन्ता ओं का निरोध होजाना एकाग्रचिन्ता निरोध हैं। यो द्रव्यार्थिक नय अनुसार कथन कर देनेसे बहिरंग ध्येय पदार्थो के प्रधानपन की अपेक्षा निवृत्त होजाती है। स्वयं आत्मा मे ही ध्यान की प्रवृत्ति बनी रहती हैं, जो आत्मध्यानी हैं वही उत्कृष्ट पुरुषार्थी है, चाहे कितनी ही द्रव्य या पर्यायों मे ध्यान संक्रमण करे, किन्तु अनेक पदार्थों का एक ध्यान और ध्याता आत्मा दोनों द्रव्यार्थिक नय से एक हैं, अतः एकाग्रशब्द ही बहुत अच्छा है। आत्मा का ध्यान ही तो सर्व मुख्य हैं। इस प्रकार अभीष्ट होरहे अनेक अर्थोका वाचक होजाने से सूत्र मे एकाग्र इस गम्भीर शब्द का निरूपण करना न्याय प्राप्त है, स्पष्टरूपेण एकार्थ शब्द का कथन कर देना समुचित नही हैं।

नन्वेवमस्तु चिन्तानिरोधो ध्यानं तस्य तु दिवसमासाद्यवस्थानमुपयुक्तस्येति चेन्न,इन्द्रियोपघातप्रसंगात्। प्राणापाननिग्रहो ध्यानमिति चेन्न,शरीरपातप्रसंगात्। मन्दं मन्दं प्राणापानस्य प्रचारो निग्रहस्ततो नास्त्येव शरीरपातः तत्कृतवेदनाप्रकर्षाभावादिति चेन्न, तस्य तादृशनिग्रहस्य यानपरिकर्मत्वेन सामर्थ्यात्सूत्रितत्वात् आसनविशेषविजयादिवत्। तेनैकाग्रचिन्तानिरोध एव ध्यानम्।

यहाँ कोई आक्षेप करनेवाला अनुनय कर रहा है कि इस प्रकार तो चिन्ता ओं का निरोध कर लेना ही ध्यान का लक्षण बना रहो, जबकि द्रव्य से पर्याय में या पर्याय से द्रव्य मे कई बार संक्रमण करते हुये भी एक ध्यान कहा जाता है, अथवा कतिपय वचनों और योगों का पलटना होजाने पर भी एक ध्यान बना रहता है तो उपयोग निमग्न होरहे किसी समाधिस्थ योगी के उसध्यान की दिन, महीना, वर्ष आदि तक भी अवस्थिति बनी रहेगी। च्यवन आदि ऋषियों का अनेक वर्षों तक समाधिस्थ रहना सुना गया है। अत्रि, कण्व, आदि ऋषि भी बहुत दिनों तक समाधि लगाया करते थे, वाल्मीकि ऋषि के समाधि लगानेपर दीमको ने वामियां बनाली थी और उन मे सर्प रहने लग गये थे। आप जैनों के यहाँ भी बाहुबलीस्वामी एक वर्षतक योग लगाये रहे सुने जाते है, मात्र अन्तर्मुहूर्त तकको अवधि क्यो डाली जाती है ?

ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना क्योकि अन्तर्मुहूर्त से अधिक देर तक ध्यान लगा देने से इन्द्रियो के उपघात होजाने का प्रसग आजावेगा,यानी मस्तक या हृदय फट जायगा, ध्याता आखो से अन्धा, कानों से बधिर होजायगा। यहाँ कोई दूसरे बाह्य समाधि का ढोग रखनेवाले कहते है कि प्राण अपान वायु की क्रिया का ग्रहण करना यानी देर तक रोके रहना ध्यान है। आचार्य कहते है कि यह हठयोग का आग्रह भी ठीक नही है, यो श्वासोच्छ्वास रोकने से तो शरीर के पतन (मृत्यु) होजने का प्रसग बन बैठेगा।

" श्री गोम्मटसार मे लिखा है "

"विसवेयणरक्तक्खय,भयसत्थग्गहणसकिलेसेहिं,उस्सासाहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ"। प्राण, अपान वायु को रोकने करके उपजी हुई दुखवेदना का प्रकर्ष होजाने से प्राणी शीघ्र ही मर जाता है।

इस डर से यदि आप यों कहे कि, श्वास, उच्छ्वास को सर्वथा नहीं रोका जाता है, किन्तु मन्द मन्द रूपसे प्राण, अपान वायु का गमन, आगमनस्वरूप प्रचार होना ही उसका निग्रह है, तिस कारण उस निग्रह करके की गयी वेदना की प्रकर्षता नही होने से शरीर का पात नही होगा, मन्द मन्द सास लेते रहने से बहुत दिनो तक योगी जीवित बना रहेगा, आचार्य कहते है कि यह तो ठीक नही। क्योंकि तिस प्रकार का मन्द मन्द चलते हुये प्राण अपान का निग्रह करना तो ध्यान की परिकर सामग्री है, स्वयं ध्यान नही है। दिगबर मुनि भी ध्यान करते समय बहिरग में प्राण, अपान का मन्द मन्द प्रचार करते हैं, और अन्तरग मे मनःद्वारा अनेक वितर्कणाये करते हुये यहाँ वहाँ की चिन्तनाओ को रोके हुये हैं। ध्यान के लक्षण सूत्र मे यद्यपि ध्यान को पूर्ण सामग्री का कण्ठोक्त प्रतिपादन नही किया गया है। तथापि विना कहे ही सामर्थ्य से सूचित होजाता हैं कि प्राण, अपान का मन्दगमन होना ध्यान का सहायक हैं पर्यं (ल्य) क आसन, उत्कुटिका आसन, मयूर आसन आदि विशेष आसनो पर विजय प्राप्त करना या नेत्रो को न अधिक खोलना, न अधिक मीचना आदिक ये ध्यान का सहायक परिकर है। उसी प्रकार मन्द प्राण, अपान प्रचार भी ध्यान का एक साधन है। साधन मुख्यरूपेण कार्य नही होजाता है, तिस कारण एकाग्रचिन्तानिरोध ही ध्यान समझा जाय।

मात्राकालपरिगणनमिति चेन्न, ध्यानातिक्रमात्। तथा चित्तवैयग्रयात्। एतेन जपस्य ध्यानत्वं प्रतिषिद्धं।

आजकलके अजैन साधुओ का यह भी एक मत है कि मात्राओं करके काल की नियत गणना करते रहना ध्यान है, अर्थात् जितने काल मे हाथ घोंटू को छूलेवे उतना काल मात्रा कहा जाता हैं। ह्रस्व स्वर के उच्चारण मे जितनीं देर लगती है, क्वचित् उतना काल मात्रा माना है। एक चुटकी लगाने के समयको भी कोई मात्रा मानते हैं, पन्द्रह मात्राओ करके जघन्य प्राणायाम होता हैं। तीस मात्रा काल मे मध्यम प्राणायाम किया जाता है, और पैंतालीस मात्रा काल मे उत्तम प्राणायाम संपन्न होता है। तीन प्राणायामो की एक धारणा होती है इत्यादि।

आचार्य कहते हैं कि यह ठीक नही हैं, क्योंकि यों तो ध्यान का अतिक्रमण होजायगा। मात्राओ से काल को गिनते हुए तिसप्रकार चित्त की व्यग्रता हो जाने के कारण ध्यान ही नही लग पाता है। चञ्चल अवस्था में ध्यान कहाँ रहा? अर्थात् पत्तो को गिनते रहना, जापके मनिकाओं को फेरते रहना, अग्नि के सन्मुख आंखे मीचे रहना, पानी मे एक टागसे खडे रहना, वृक्षपर उलटा लटक जाना इत्यादिक कोई भी क्रिया ध्यान नही है।

इस पूर्वोक्त कथन करके जाप्य देने को भी ध्यानपना निषिद्ध करदिया गया है। हाँ, दर्शन, स्तोत्र, पूजन से जाप्य का फल भले ही अधिक होय किन्तु माला के दानों पर बीजाक्षरो का या पञ्चपरमेष्ठी के वाचक पदो का एक सौ आठ बार उच्चारण करना ध्यान नही कहा जा सकता है। ध्यान करना विशेष गुरुतर कार्य है, तिस मे भी धर्म्य ध्यान, शुक्लध्यान तो महान् कठिन हैं फिर भी वर्तमान काल और इस देश मे धर्म्य ध्यान को अभ्यास से साध लिया जाता है।

विध्युपायनिर्देश कर्तव्य इति चेन्न गुप्त्यादिप्रकरणस्य तादर्थ्यात्। संवरार्थं तदिति चेन्न, प्रागुपदेशस्योभयार्थत्वात् ततः संवरार्थं गुप्त्यादिप्रकरण ध्यानविधौ तदुपाय निर्देशार्थं च भवति। तथापीह सकलध्यानधर्माणामिह सामर्थ्यसिद्धत्वात्।

कोई जिज्ञासु कहरहा है कि, एकाग्रचिन्तानिरोध को आपने ध्यान कहा सो ठीक समझ लिया, किन्तु उस ध्यान की विधि के उपायों का सूत्रकारको सूत्रों मे कथन करना चाहिये था, सूत्रों में कारणों का निरूपण नहीं होने से ही तो अनेक पुरुष ध्यान के सहकारी कारणों को ही ध्यान मानने लग गये हैं।

ग्रन्थकार कहते है कि यह तो आक्षेप नही करना क्योंकि गुप्ति, समितिपालन, परीषहजय, धर्मधारण, अनशन, प्रायश्चित्त, आदि प्रकरण उस ध्यान की विधि के

उपायों के लिये ही सूत्रों मे प्रतिपादित किये गये हैं। इसपर यदि तुम यो कहो कि वह प्रकरण तो सवर के लिए कहा गया है। ग्रन्थकार कहते है कि यह एकान्त नही कर बैठना, क्योकि पूर्वप्रकरण मे जो उपदेश दिया गया है वह दोनो के लिये है। तिसकारण गुप्ति, समिति आदि का प्रकरण सवर के लिये होता सन्ता भी ध्यान करने की विधि मे उसके उपायो का निरूपण करने के लिये भी होजाता है। "एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा", धान्य के लिये बम्बा, नहरें, गूले, बनायी जाती हैं। उनपे पशु,पक्षी भी पानी पीलेते हैं, हाँ, कानफाड लेना या सीतारामी चादरा ओढलेना, कानो मे डाट पागट्टा लगा लेना, पञ्चाग्नि तपना, ये कोई भी ध्यान को सामग्री नही हैं। निद्रा, आलस्य, रागद्वेष, छोडकर एकाग्र चित्त लगाने का अभ्यास करना, शरीर को स्तब्ध रखना, इन्द्रियोपर विजय प्राप्त करना इत्यादिक प्रकरण ध्यान के उपाय हो जाते हैं। यद्यपि ध्यान के सपूर्ण धर्मों का सग्रह इस सूत्र मे नही होसका हैं तथापि यहाँ प्रकरण अनुसार इस सूत्र मे ध्यान के सम्पूर्ण धर्मो को विना कहे ही पूर्व, अपर प्रकरणो की सामर्थ्य से सिद्धि होजाती हैं। शद्वो द्वारा स्थूलरूप से स्वल्प प्रमेय कहा जाता हैं, तात्पर्य से बहुत अर्थ खीच लिया जाता हैं। "तात्पर्यं वचसि"

तदेवं सामान्येनोक्तस्य ध्यानस्य विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह ।

तिसकारण इस प्रकार सामान्य से लक्षण कर कह दिये गये ध्यान के विशेषो की शिष्य को व्युत्पत्ति कराने के लिये करुणासागर सूत्रकार महाराज इस अगिले सूत्र को व्यक्तरूपेण कह रहे हैं, उसको दत्त अवधान होकर सुनो।

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥२८॥

आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये ध्यान के चार भेद हैं। दुःख के कार्य और दुःख के कारण होरहे इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, दुःखवेदना, भोगाकांक्षा, अनुसार बुरे चिन्तन करना आर्त्तध्यान हैं। हिंसा, परिग्रह आदि के आवेशसे बुरे परिणामो मे घुलते हुये एकटक अनेक स्मृतियाँ उपजाते रहना रौद्रध्यान हैं। धार्मिक सिद्धान्तो और धार्मिक क्रियाओ का तन्मय होकर एकाग्र विचार करना धर्म्य ध्यान है। ज्ञानार्णव मे इसकी विधि का विवेचन किया गया हैं। ये तीन ध्यान तो वर्तमान कालीन इस क्षेत्र के अनेक जीवो को स्वसंवेद्य है। किन्तु शुक्लध्यान केवल आगम द्वारा ही बोद्धव्य है। शुद्धद्रव्यार्थिक,पर्यायार्थिक नयो अनुसार वस्तु का चिन्तन करना

शुद्धात्मा का ध्यान करना, योगों का उपसंहार और अभाव करते हुये सूक्ष्म क्रिया या क्रियानिवृत्ति रूप आत्मपरिणति होजाना शुक्ल ध्यान है। विशिष्ट संयमी के उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी मे शुक्ल ध्यान पाया जाता-हैं।

ऋतमर्दनमर्त्तिर्वा ऋतेभवमार्तं अर्तौ भवमार्तमिति वा दुःखभवं वेत्यर्थः। रुद्रः क्रुद्धस्तत्कर्म रौद्रं तत्र भवंवा। धर्मादनपेतं धर्म्यं। शुचिगुणयोगाच्छुक्लं। लोभाभि--मवादेर्नं तदाविर्भावोपपत्ते। शुचिगुणयोगः प्रसिद्धः पारमार्थिकः।

ऋत अथवा अर्दन तथा अर्त्ति से आर्त्तशब्द बनाया गया है। ऋत माने दुःख है,'ऋते भवं आर्त्तं'ऋत शब्द से तद्धितवृत्ति अनुसार अणप्रत्ययकर आर्त्त शब्द बना लिया जाय,ऋत यानी दुख मे होरहा जो दुर्ध्यान है वह आर्त्तध्यान है। अथवा भ्वादि गण की "अर्द गतौ याचने च" धातु से कृदन्तवृत्ति अनुसार भाव मे क्ति प्रत्ययकर अर्तिशब्द बना लिया जाय, अर्दनं अर्ति इस का अर्थ मागना हैं, उस अर्त्ति में होरहा जो अपध्यान हैं, वह आर्त्त है, इसका तात्पर्य अर्थ यह हुआ कि, दुःख अवस्था में होरहा अथवा प्रार्थना यानी मांगने की दशा मे होरहा ध्यान आर्तध्यान है। यावना (भीख मांगना) मृत्यु के तुल्य हैं। "द्वे याचितायाचितयोर्यथासंख्य मृतामृते" (अमरकोष) यों आर्त्त शब्द की निरुक्ति करदी गयी है।

"रुदिर अश्रुविमोचने" धातु से रौद्र शब्द बनाया जाय। रोदयति इति रुद्रः जिसकी कृति सुननेवाले को भी रुलादे वह रुद्र है रुद्र का अर्थ क्रोधी हैं, उस रुद्र का जो कर्म यानी कृत्य है, अथवा उस रुद्र मे होरहा जो विचार हैं, वह रौद्र है, यो रुद्र शब्द से तद्धित वृत्ति अनुसार कर्म या भाव अर्थ मे अण प्रत्ययकर रौद्र शब्द बनाया जाता है।

उत्तमक्षमा आदि धर्म से जो अनपेत यानी सहित है, वह धर्म्य हैं धर्म शब्द से अनपेत अर्थ में यत् प्रत्यय कर धर्म्य शब्द साधु बनाया गया है।

शुचि यानी पवित्र अथवा स्वच्छता गुण के योग से शुक्ल समझा जाय, लोभ, क्रोध आदि विभावों से तिरस्कृत होजाना, मृपानन्दी होजाना, दान, पूजन निमग्न होजाना आदि परिणतियों से उस शुक्ल ध्यान का। पजना नही बनता है। शुद्धात्मतत्त्व मे पुरुषार्थ द्वारा मग्न होकर शुक्ल अवस्था मे शुक्ल यान प्रकट होता है। शुचि यानी शुक्लता गुण का योग होजाना कोई कल्पित नही है जैसा बौद्ध या सांख्यो ने मान रक्खा है, किंतु कर्मभार के लघु होजाने पर आत्मा की शुक्लता गुणसे युक्त तदात्मक परिणति होजाती है, यो उत्तमक्षमा, गुप्ति, सामायिक यथाख्यात आदि गुणों के साथ अनिर्बचनीय शुक्लता का योग वास्तविक होकर प्रमाणों से सिद्ध है।

कथमेकं ध्यानं चत्वारि ध्यानानि स्युरित्याह

यहाँ कोइ जिज्ञासु बनकर पूंछता है कि एक ध्यान ही फिर आर्त्त आदि चार ध्यान स्वरूप कैसे होजायेंगे ? बताओ, एक एक ही है, चार चार ही है, एक तो चार नही होसकता है। जब ध्यान के पारमार्थिक पने का विचार करने लगे तो उसको सख्या या विशेषणो का भी यथार्थ निर्णय होजाना चाहिये. विनीत शिष्य की ऐसी निर्णयको इच्छा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधान कारक अग्रिमवार्तिक को स्पष्ट कह रहे हैं।

आर्तादीनि तदेव स्युश्चत्वारि प्रतिभेदतः
ध्यानान्येकाग्रसामान्य–चिन्तान्तरनिरोधतः ॥१॥

एकाग्रचिन्तानिरोध स्वरूप होरहा वही ध्यान अकेला भेद, प्रभेद करदेने से आर्त्त, रौद्र, आदि प्रकार स्वरूप चार ध्यान होजाते है, क्योकि चारो में अन्य चिन्ताओ का निरोध कर देनेसे सामान्यरूपसे एकाग्रपना पाया जाता है, जैसे कि सींग और सास्ना (गलकम्बल) से सहितपना गौ का सामान्य लक्षण है। वह काली, नीली, लाल, कपिल, धवल सम्पूर्ण गायो मे पाया जाता हैं, उसी प्रकार अन्य चिन्ताओं का निरोध कर एकटक एकाग्र बने रहना यह ध्यान का सामान्य लक्षण आर्त्त, रौद्र, धर्म्य शुक्ल ध्यानो मे सुघटित होरहा है।

आर्त्तरौद्रधर्म्याण्यपि हि ध्यानान्येवैकाग्र्यसादृश्यात् चिन्तान्तरनिरोधाच्च शुक्लवत्। केवलमप्रशस्ते पूर्वे प्रशस्ते चेतरे। कुत इत्याह।

आर्त्त और रौद्र तथा धर्म्य ये तीनो भी पुरुषार्थ (पक्ष) ध्यान ही है। (साध्यदल) एक अग्र मे नियत अन्तर्मुहूर्त कालतक टिका रहने धर्म का सदृशपना होने से (पहिला हेतु) और अन्य अनेक चिन्ताओं का निरोधकर अनन्यगति चित्त की एकाग्र केन्द्रित अवस्था होजाने से (दूसरा हेतु) शुक्ल ध्यान के समान (अन्वयदृष्टान्त)

भावार्थ – जैन सिद्धात मे "नित्यमेकमनेकानुगत सामान्य" नित्य और एक तथा अनेको मे अन्वित होकर रहने वाले घटत्व, पटत्व आदि को सामान्य (जाति) नही माना गया है, किन्तु "सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्" घट, पट, गाय, आदि पदार्थों के सदृश परिणमनों को घटत्व, पटत्व, गोत्व आदि सामान्यरूप माना गया है। जिसका कि तदाश्रयव्यक्तियो के साथ कथंचित् भेद, अभेद है। ध्यानत्व जाति भी एकाग्रचिन्तानिरोधस्वरूप सादृश्य-सामान्य अनुसार चारों ध्यानो मे अन्यूनानतिरिक्त

होकर वर्त रही है। मूल पदार्थ सभी भेद प्रभेदो मे ओत-पोत, अन्वित होकर प्रविष्ट होरहा है, शुक्ल ध्यान आगमगम्य है। प्रत्यक्ष आदि अन्यप्रमाणो से आप्तोक्त आगम की प्रमाणता अत्यधिक हैं, अतः स्वसंवेद्य होरहे भी आर्त्त, रौद्र, धर्म्यध्यानोका दृष्टान्त, अत्यन्तपरोक्ष, आगमगम्य, शुक्लध्यान देदिया गया है।

इन चारो ध्याना मे ध्यानत्व सामान्य एक होने पर भी अन्तर केवल इतना ही है कि, पहिले दो आर्तध्यान, और रौद्रध्यान अप्रशस्त है। इनके होनेपर पापप्रकृतियों मे स्थिति, अनुभागशक्तियाँ अधिक पडती है। हाँ, परली ओर के दो न्यारे धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान तो प्रशंसनीय है, क्योंकि इनका सद्भाव होनेपर गौण रूप से पुण्यास्रव होता है और प्रधान रूपसे कर्मो का उपशम या क्षय होता है। कर्मों के दग्ध करने की सामर्थ्य अनुसार धर्म्य और शुक्ल प्रशस्त माने गये है। कोई तटस्थ पूंछ रहा है कि किस कारण से परले दो ध्यानों को प्रशस्तपना है? स्पष्ट कहिये। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार कहते है कि उन ध्यानो मे उतरवर्ती दो ध्यानों का श्रेष्ठपना निरूपण करने के लिये तो स्वय सूत्रकार महाराज अगिले पवित्र सूत्र को कह रहे है।

परे मोक्षहेतू ॥२६॥

उक्त चारो ध्यानों मे परली ओर के धर्म्य और शुक्ल ये दो ध्यान तो मोक्ष के कारण है। धर्म्यध्यान तो परम्परया मोक्ष का कारण है और शुक्लध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण हैं। यद्यपि उपशमश्रेणि मे शुक्ल ध्यान होता हैं। उपशमश्रेणि का उत्कृष्ट अन्तर कतिपय अंतर्मुहूर्त न्यून होरहा अर्ध पुद्गलपरिवर्तन काल है एकबार शुक्लध्यानके होजाने पर भी मोक्ष जाने के लिये किसी किसी जीव को अनन्तभव धारण करने पडते है। तथापि मोक्ष जब भी होगी शुक्लध्यान ही उसका अव्यवहित कारण पडेगा, धर्म्यध्यान से तो शुक्लध्यान को बीच मे देकर ही मोक्ष होसकती हैं। हाँ, एक बार भी धर्म्य ध्यान होजाने पर अर्धपुद्गल परिवर्तन काल मे मोक्ष होजाना अनिवार्य हैं। अतः आर्त रौद्र से न्यारे परले दो शुभध्यान मोक्ष के कारण कहे गये हैं।

सामर्थ्यात् पूर्वे संसारहेतू सूत्रिते। संसारहेतुत्वादार्त्तरौद्रयोरप्रशस्तत्वं, परयोस्तु धर्मशुक्लयोः प्रशस्तत्वं मोक्षहेतुत्वात् इति। पूर्वाभ्यां धर्म्यस्यैव परत्वमिति चेन्न, व्यवहितेपि परशद्वप्रयोगात्द्विवचननिर्देशाद्वा गौणस्यापि संप्रत्ययः। कुतः परयोर्मोक्षहेतुत्वं पूर्वयोः ससारहेतुत्वमित्याहः—

कण्ठोक्त किये विना ही उच्चार्यमाण इतर पदों की सामर्थ्य से यह बात इसी

सूत्रसे ध्वनित होजाती है कि, पूर्ववर्ती आर्त्त, रौद्र ध्यान दोनों संसार के कारण हैं। संसार के कारण होनेसे ही आर्त्त, रौद्र को प्रशस्तपना नही है। हाँ परले धर्म्य और शुक्लध्यान को प्रशस्तपना हैं, क्योकि ये दोनो मोक्ष के कारण है। यहाँतक तटस्थ शकाकार का पूरा समाधान कर दिया गया है।

यहाँ कोई आशका करता है कि पूर्ववर्त्ती आर्त्त, रौद्रों से तो अव्यवहित परे होरहे अकेले धर्म्यध्यान को ही परपना प्राप्त हैं। शुक्लध्यान तो धर्मध्यान के भी परली ओर हैं, अतः परिशेषन्यायसे कह गये पूर्व दो ध्यानो से साक्षात् परे धर्म्यध्यान हीं एक हुआ, आचार्य कहते हैं कि यह तो नही मान बैठना क्योकि व्यवधान पडे हुये पदार्थ मैं भी पर शब्द का प्रयोग होजाता है, जैसे कि पटना से मथुरा नगरी परे है, आगरा से सम्मेदशिखर पर है, यहाँ मध्य मे, देशो, नगरो और नदो पर्वतो का व्यवधान पडा हुआ है, फिर भी पर शद्ब कहा गया है।

एक बात यह भी हैं कि, परे यह शब्द द्विवचन विभक्ति का रूप कहा गया है, अतः परली और के दो यो कथन करने से गौंण होरहे दूसरे की भी समीचीन प्रतीति होजाती है। अथवा यहाँ यो भी शंका उठाई जासकती है कि उक्त चारो ध्यानो मे परपना शुक्ल ध्यान मे ही सुघटित है, चाहे लाखो, करोडो, असंख्य भी पदार्थ क्यो न हो परली छोर का एक हीं होगा दो नही, विषमसंख्या वालो का बीच एक हो सकता है, समसंख्यावालों का ठीक मध्य दो होता हैं, समचतुरस्र, या सम आयतचतुरस्र, संख्या-वाले विन्यस्त पदार्थों का मध्यम चार होगा। हाँ,समघन रचित हुयी संख्यावाली ढेर वस्तु ओ का ठीक बहुमध्यदेश आठ होता है। मध्यदेश के विभाग का अव कोई विकल्प शेष नही है। किन्तु पूर्ववर्त्ती और उत्तरवर्त्ती पदार्थ एक ही होसकता है। सवा डेढ, भी नही यो शुक्ल ध्यान को पर कहना ठीक है धर्म्य को परपना कथमपि युक्त नही है।

ग्रन्थकार कहते है कि इस आक्षेप का उत्तर भी वही है कि पर के निकटवर्ती को भी परपना उपचारसे कह दिया जाता है। मान्य पुरुषो के साथ आये हुये हलके मनुष्यों का भी वैसा ही आदर किया जाता है। तथा द्विवचनान्तपद का प्रयोग कर देने से परले दो ध्यान ही पकडे जाते है। एक कितना ही वडा राजा,पण्डित, चक्रवर्ती तीर्थंकरमहाराज, भी हो वह एक ही , दो नही है। दो कह देने पर प्रधान एक को भी दूसरे गौण का साहित्य प्राप्त करना होगा।

पुनः यहां कोई प्रश्न उठाता है कि क्या कारण है कि परली ओर कहे गये

धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान तो मोक्ष के कारण है, तथा पूर्ववर्त्ती दो आर्त्त, रौद्र ध्यानों को संसार का कारणपना प्राप्त होगया है ? संभव है कि किसी पापीजीव को मन मे यह खटका रहे कि सूत्रकार महाराजने पूर्व मे दो अच्छे ध्यान और पीछे दो बुरे ध्यान कह दिये हों। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

मोक्षहेतू परे ध्याने पूर्वे संसारकारणे।
इति सामर्थ्यतः सिद्धं विमोहत्वेतरत्वतः ॥२६॥

परले दो ध्यान मोक्ष के कारण हैं। यों सूत्र मे कण्ठोक्त कह देने पर विना कहे ही सामर्थ्य से यह सिद्ध होजाता है कि, पूर्ववर्त्ती दो आर्त्त, रौद्रध्यान संसार के कारण है। क्योंकि, मोक्ष के हेतु होरहे दो ध्यानों मे मोहरहितपना हैं और पूर्ववर्ती दो ध्यानो मे विमोहत्व से इतर यानी मोहसहितपना है। इसकारण विमोहत्व हेतु से परले दो ध्यानो मे मोक्ष का हेतुपना साध दिया जाता है और पूर्ववर्त्ती दो ध्यानों मे समोहत्व हेतुसे अर्थापत्ति प्रमाणद्वारा संसार का कारणपना सिद्ध होजाता है।

कथं धर्म्यस्य विमोहत्वमिति चेत्, मोहप्रकर्षाभावादिति प्रत्येयं। सामर्थ्यात् परयोर्मोक्षहेतुत्ववचनात् पूर्वयोः संसारहेतुत्वसिद्धिस्तयोर्मोहप्रकर्षयोगात्।

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि शुक्लध्यान भले ही मोक्ष का कारण बन जाओ उसका मोहरहितपना समुचित है, किन्तु धर्म्य ध्यान को मोहरहितपना किस प्रकार साध सकोगें ? दश मैं गुणस्थान तक मोहकर्म का उदय है, और धर्म्य ध्यान तो चौथे से सातमे गुणस्थान तक ही पाया जाता हैं। चौथे, पाँचवे, छठे, गुणस्थानों मे मोहनीय कर्म माने गये संज्वलन कषाय का तीव्र उदय है, तब तो पक्ष के एकदेश मे हेतु के नही ठहर ने के कारण आपका विमोहत्व हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास हैं। "पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन हेत्वभावो भागासिद्धिः" यों प्रश्न उठने पर तो ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि, धर्म्य ध्यान वाले चौथे, पाँचवे,छठे, सातवे गुणस्थानों मे मोहनीय कर्म के उदय का प्रकर्ष नही है। अप्रत्याख्यानावरण का चौथे मे उदय है, प्रत्याख्यानावरण का पाँचवे मे उदय है, छठे मे सज्वलन का तीव्र उदय हैं, फिर भी उक्त कषायों के तीव्रतर और तीव्रतम प्रकृष्ट उदय नही है। कषायों का प्रकृष्ट उदय होजाने पर उन गुणस्थानो मैं धर्म्य ध्यान नही जम सकता है, यो प्रतिति अनुसार विश्वास कर लेना चाहिये। परले ध्यानो को मोक्ष का हेतुपना इस सूत्र मे निरूपण कर देने से परिशेष

न्याय के सामर्थ्य अनुसार पूर्व के दो ध्यानों को संसार के हेतु होने की सिद्धि होजाती है, क्योंकि उन आर्त्त रौद्र, ध्यानो मे मोहनीय कर्म के उदय की प्रकर्षता का योग होरहा हैं, तीव्रमोही जोव के दो पहिले ध्यान सम्भवते हैं।

तत्रार्त्तस्य किं लक्षणमित्याह :—

उन चार ध्यानो मे प्रथम कहे गये आर्त्तध्यान का लक्षण क्या है ? ऐसी विनीत छात्र की जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अगिले सूत्र का स्पष्ट उच्चारण कर रहे है।

आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३०॥

जो बाधा ओ के कारण होरहें विष, कांटे, शत्रु, शस्त्र आघात, रोग आदिक मनोनुकूल नही ऐसे अमनोज्ञ पदार्थों का प्रकृष्ट संयोग होजाने पर उनके बढिया वियोग होजाने के लिये स्मृतियो का धारारूपेण ठीक पीछे पीछे आत्मा मे आहरण यानी बार बार उपजाते रहना पहिला आर्त्तध्यान है। अर्थात् एकबार स्मृति होजाना केवल स्मरण ज्ञान है, आर्त्तध्यान नही, हां, अमनोज्ञ पदार्थ का वियोग करने के लिये यदि पुनः पुनः उस विषय मे एकाग्र होकर अनेक स्मृतियां उठायी जायंगी तो वह स्मृतियो का समभिहार आर्त्तध्यान बन बैठेगा। इस सूत्र में तीव्र राग, द्वेष, पूर्वक स्मृतियो का समन्वाहार तो आर्त्तध्यान का सामान्य लक्षण हैं, शेष उद्देश्य भाग तो आर्त्तध्यान के चार भेदो में से पहिले प्रकार का प्रबोधक हैं।

अप्रियममनोज्ञं बाधाकारणत्वात्। भृशमर्थान्तरचिन्तनादाहरणं समन्वाहारः। आधिक्येनाहरणादेकत्रावरोध पुनः पुनः प्रबध इत्यर्थः। स्मृतेः समन्वाहारः स्मृतिसमन्वाहार.। तेनामनोज्ञस्योपनिपाते स कथं नाम मे न स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबंध आर्त्तमिति प्रकाशितं भवति। तत्र किं हेतुकमित्याह :—

जो पदार्थ वर्तमान मे जीव को अप्रिय है, बाधाओं का कारण होने से वह अमनोज्ञ माना जाता है। न्यारे न्यारे अर्थो का अत्यर्थ चिन्तन करने से जो पुनः पुनः आहरण (अनुवृत्ति) होजाना है वह समन्वाहार है, इस का तात्पर्य अर्थ यह हुआ कि, स्मृतियो का अधिकपने करके आहरण करने से एक अर्थ मे सब ओर से रुद्ध करते हुये पुन. पुन. स्मृतियो की रचना करते रहना पहिला आर्त्तध्यान है। स्मृति का ज

समन्वाहार है वह स्मृतिसमन्वाहार है, यह षष्ठीतत्पुरुष समास किया गया है, तिस-कारण इस सूत्र द्वारा यह अर्थ प्रकाशित होजाता है कि, स्वप्रकृति को अनिष्ट होरहे अमनोज्ञ पदार्थ का प्रसंग आपडनेपर वह पदार्थ मेरे पास किसी भी प्रकार से नाम मात्र भी नही होवे इसप्रकार संकल्प विकल्प करते हुये अनेक चिन्ताओं की रचना करते रहना आर्त्तध्यान है। यहाँ कोई पूंछता है कि, उन ध्यानों मे पहिले आर्त्तध्यान का हेतु क्या है ? यानी किसको हेतु मानकर वह आर्त्तध्यान उपज बैठता है, ऐसी बुभुत्सा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिक का प्रतिपादन करते है।

आर्तं चतुर्विधं तत्र संक्लेशांगतयोदितं ।
आर्तमित्यादिसूत्रेण प्रथमं द्वेषहेतुकम् ॥१॥

उन ध्यानो मे संक्लेश का अंग होने से पहिला आर्त्तध्यान चार प्रकार का है। तिन में पहिला आर्तध्यान तो द्वेष को हेतु मानकर उपजता संता सूत्रकारने "आर्त्तममनोज्ञस्य" इत्यादि सूत्र करके कह दिया है। अर्थात् परले दो ध्यान विशुद्धि के अंग हैं, यह आर्त्तध्यान संक्लेश का कार्य है और संक्लेश बढाने का ही कारण है। अत संक्लेशाग होने से ही इस ध्यान को आर्त्त कहा गया है।

मिथ्यादर्शनाविरतिपरिणामसंक्लेशः तत् स्वरूपं तत्कारणकं तत्फलं च संक्लेशांग, तस्य भाव संक्लेशांगता तयार्त्तध्यानमुदितं। तच्चतुर्विधं स्वरूपभेदात्। तत्र प्रथममार्त्तमित्यादिसूत्रेण द्वेषहेतुकं सूत्रितं।

मिथ्यादर्शन परिणाम और अविरति परिणतियां तथा प्रमाद परिणमन ये सब जीव के सक्लेश है, जो पदार्थ संक्लेश स्वरूप हैं, वह संक्लेश अंग है, और जिस का कारण वह सक्लेश (बहुव्रीहि समास) है, वह भी पदार्थ संक्लेश अंग हैं, और जिस का फल वह संक्लेश हैं, वह भी संक्लेश का अंग है। यों संक्लेश और संक्लेश का कार्य तथा संक्लेश का कारण होरहे सब संक्लेश का अंग कहे जाते हैं।

"विशुद्धिसंक्लेशांगं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखं ।
पुण्यपापास्त्रवो युक्तो न चेद्व्यर्थस्तवार्हतः ॥"

इस देवागम की कारिका का व्याख्यान करते समय ग्रन्थकारने अष्टसहस्री ग्रन्थ मे विशुद्धि अंग और संक्लेश अंग का बढिया विवरण कर दिया है। उस संक्लेश अंग का जो भाव है वह संक्लेश अंगता है,उस संक्लेश अंगपने करके आर्त्तध्यान चार प्रकार का कहा गया है। अपने अपने लक्षण के भेद से वह आर्त्तध्यान चार प्रकार है,उन चारों मे द्वेष को

हेतु मानकर उपजा पहिला आर्त्तध्यान इस "आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहार" इस सूत्र द्वारा कह दिया गया है।

द्वितीय किं स्वरूपमित्याह

यहां विनीत शिष्य जिज्ञासा करता है कि आर्त्तध्यान का दूसरा भेद फिर किस स्वरूप को धारण करता है, यानी दूसरे आर्त्तध्यान का लक्षण क्या है ?- बताओ, ऐसा प्रश्न उतरनेपर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र का व्यक्त निरूपण कररहे हैं।

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥

पूर्वोक्त से विपरीत होना अर्थात् मनोज्ञ यानी इष्ट होरहे अपने, पुत्र, स्त्री, धन, बन्धु, सुयश, आदि का वियोग होजाने पर उनका सयोग हाजाने के लिये संकल्प कर पुनः पुनः स्मृतियों की अभ्यावृत्ति करते रहना दूसरा आर्त्तध्यान है।

उक्तविपर्ययाद्विपरीतं मनोज्ञस्य विप्रयोगे तत्सम्प्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारो द्वितीयमार्त्तमित्यर्थः। प्रियस्य मनोज्ञस्य विप्रयोगो विश्लेषस्तस्मिन् सति तत्संप्रयोगाय पुनः पुनश्चिन्ताप्रबन्धः। सा मे प्रिया कथं सप्रयोगिनी स्यादिति प्रबन्धेन चिन्तनमार्त्तध्यानमप्रशस्तमिति सूत्रकारस्याभिप्रायः। किं जन्म तदित्याह :—

पहिले कहे गये स्वरूप का विपर्यय होजाने से यह मनोज्ञ का दूसरा आर्त्तध्यान उससे विपरीत है, इसका अर्थ यह हुआ कि, अपने मनोनुकूल ज्ञात होकर अभीष्ट होरहे पुत्र, मित्र, गुरु, माता, पिता, स्वामी, आदि का प्रकृष्ट वियोग होजाने पर उनका बढिया सयोग होजाने के लिये स्मृतियो का धक्का पेल बार बार उठाते रहना आर्त्तध्यान का द्वितीय प्रकार है। पूर्व, अपर, सम्बन्ध लगादेने से सूत्रकार महोदय का अभिप्राय यह प्रतीत होरहा है कि, अत्यन्त प्रिय होरहे मनो मे पदार्थ का जो प्रकृष्ट वियोग यानी विश्लेष (सम्बंधविच्छेद) होजाता है, उस के होजाने पर पुनः पुनः उस प्रियपदार्थ का उत्तम सयोग होजाने के लिये मन मे अनेक चिन्ताओ की रचना करता रहता है। आर्त्तध्यानी जीव विचारता है कि, वह मेरी अतीव प्रिय होरही वस्तु (स्त्री, सन्तान आदि) किस प्रकार मुझसे अच्छा सम्बन्ध करनेवाली होजाय यो उत्तर उत्तर विचारो की रचना करके चिन्ताएँ करते रहना दूसरा आर्त्त है, यह ध्यान प्रशसा प्राप्त नही है। सप्रयोग शब्द मे सम और प्र ये दो उपसर्ग पडे हुये हैं। सम का अर्थ अच्छा है। स्वसमान कालीन तत्सदृशसमानाधिकरणत्व है और प्र का अर्थ स्वसमान कालीन तत्प्रागभावानधिकरणत्व है, इसका ध्वनी वृत्ति से यह अर्थ निकला कि, इष्ट का सयो

होरहे अवसरपर न तो उसका भविष्य मे वियोग होजाना संभावित है और वर्तमान में स्वल्प भी उस का या उसके सदृश का अभाव होजाना संभवनीय नहीं हैं। इसी प्रकार विप्रयोग शब्द में भी प्रशब्द पडा हुआ है, जो कि वर्तमान मे प्रतियोगी के स्वल्प भी सद्भाव को और भविष्य मे प्रतियोगी (यस्य वियोगः स प्रतियोगी) के होजाने को सर्वथा रोके हुये है। सूत्रकार का एक एक अक्षर अनन्त प्रमेय अर्थ को लाद रहा है। यहां कोई पूछ रहा है कि उस दूसरे आर्त्तध्यान का जन्म किस कारण होता है? बताओ। ऐसी जिज्ञासा उठनेपर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

विपरीतं मनोज्ञस्येत्यादिसूत्रेण निश्चितं।
द्वितीयमनुरागोत्थमार्तध्यानमसत्फलं ॥१॥

इस सूत्र मे स्मृति समन्वाहार पद को पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति की जाती है, विपरीतं पद पडा हुआ है। अतः सूत्र का शरीर ऐसा बनगया कि, "मनोज्ञस्य विप्रयोगे तत्संप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः" तब तो सूत्रकार के "विपरीतं मनोज्ञस्य विप्रयोगे" इत्यादि सूत्र करके यह सिद्धांत निर्णीत हुआ कि दूसरा आर्त्तध्यान प्रकट अनुराग से उत्पन्न होता है और उसका फल दुष्कर्मों का बंधना तिर्यंञ्च गति मे लेजाना आदिक अप्रशस्त (बहुतबुरा) है। भावार्थ — पहिला आर्त्तध्यान तो तीव्र दोष से उपजता है, और दूसरे आर्त्तध्यान की उत्पत्ति गाढ अनुराग से है यों इन दोनो आर्त्तध्यानों की अवस्था में तीव्रराग द्वेषतुहेक अशुभ कर्मों का आस्रव होता रहता है।

तृतीयं किमार्त्तमित्याह :—

तीसरा आर्त्तध्यान फिर क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को स्पष्ट प्रतिपादनकर कहरहें हैं।

वेदनायाश्च ॥३२॥

तीव्र दुःखवेदनाके अवसरपर उसके वियोग होजाने के लिये जो बार बार स्मृतियें उठाकर चिन्ताये करते रहना हैं वह तीसरा आर्त्तध्यान है। अर्थात् वात व्याधि, शूल, पित्तज्वर आदि शारीरिकवेदना या अपमान, टोटा, परीक्षा मे अनुत्तीर्ण होजाना, आजीविका नही लगना, आदि मानसिक वेदना का प्रसंग मिलजानेपर उसका प्रतीकार करने मे उद्यमी होरहे अनवस्थित चित्तवाले अधीर जीव का अनेक चिन्ताओं मे एकटक मग्न बने रहना तीसरा आर्त्तध्यान हैं।

स्मृतिसमन्वाहारस्तृतीयमार्त्तमित्यभिसम्बन्धः। प्रकरणात्दुःखवेदनासम्प्रत्ययः। किंनिबन्धनं तदित्याह :—

स्मृतिसमन्वाहार, और आर्त्त पद की अनुवृत्तिकर तथा तृतीय पद का उप-कार कर परली ओर सम्बन्ध कर दिया जाय। अर्थात् शारीरिक या मानसिक कष्ट वेदना का स्मृति समन्वाहार करना तीसरा आर्त्तध्यान है। वेदना शब्द यद्यपि सुखानुभव और दुःखानुभव दोनो मे समानरूप से प्रवर्तता है तथापि यहां आर्त्तध्यान का प्रकरण होने से दुःखवेदना को समीचीन प्रतीति होजाती है, दुःखो को संक्लेश पूर्वक सहते समय तीव्र आर्त्तध्यान होजाता हैं। यहाँ पूर्ववत् प्रश्न उठाया जारहा हैं कि, वह तीसरा आर्तध्यान किसको कारण मानकर उपज बैठता है ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा उपस्थित होनेपर ग्रंथकार समाधानार्थ अग्रिमवार्तिक को कह रहे हैं।

असद्वेद्योदयोपात्त-द्वेषकारणमीरित।
तृतीयं वेदनायाश्चेत्युक्तं सूत्रेण तत्वतः ॥१॥

"वेदनायाश्च" इस ऐसे सूत्र करके वास्तविकरूपसे जो तीसरा आर्त्तध्यान कहा गया है वह असाता वेदनीय कर्म के उदय अनुसार ग्रहण होचुके द्वेष को कारण मानकर उपजा कह दिया गया समझो। भावार्थ — जैसे अनिष्टसंयोग और इष्टवियोग की अशुभ वेदनाओ अनुसार द्वेष, राग हेतुक उक्त दो आर्त्तध्यान उपज जाते हैं उसी प्रकार अनुराग मिश्रित कामुकता, पुन.पुनः विषयसुखगृद्धि आदि के लिये शारीरिक दुःखो से द्वेष रखते हुये जीव के तीसरा आर्त्तध्यान उपजता है।

चतुर्थं किमित्याह —

तीन आर्त्तध्यानो का निरूपण किया सो समझ लिया अब यह बताओ कि चौथा आर्त्तध्यान फिर क्या हैं ? ऐसी जिज्ञासा उठनेपर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र की रचना कर प्रतिपादन करते हैं।

निदानं च ॥३३॥

भोगो की आकाक्षा में आतुर होरहें जीव का भविष्य विषयों की प्राप्ति लिये एकाग्र मनयोग लगाते हुये संकल्प, विकल्पपूर्वक अनेक स्मृतियो का समन्वाहार करना यह निदान नामक चौथा आर्त्तध्यान है। "भोगाकांक्षया नियतं चित्तं दीयते यस्मिन् येन वा तन्निदानं" यह निदानशब्द की निरुक्ति हैं।

निदानविषयः स्मृतिसमन्वाहारः निदानं। विपरीतं मनोज्ञस्येत्येव सिद्धमिति चेन्नाप्राप्तपूर्वविषयत्वान्निदानस्य। किं हेतुकं तदित्याह —

निदान के विषयों मे होरहा जो स्मृतियो का पुनःपुनः अभ्यावृत्त होकर उपजना है वह निदान है अथवा "विषयत्वं सप्तम्यर्थः" निदान मे स्मृतियों का एकाग्र उठते रहना निदान नामका आर्त्तध्यान है। यहाँ कोई आक्षेप उठाते है कि यह चौथा आर्त्तध्यान तो दूसरे आर्त्तध्यान मे ही गर्भित होजायगा जब कि मनोज्ञ पदार्थ का विपरीत अर्थात् मनोज्ञ विषय का संयोग करने के लिये पुनः चिन्तायें रचना दूसरा आर्त्त हैं, निदान मे भी इष्ट विषयों के संयोग होजाने की चिन्तनाये की जाती हैं। अतः दूसरे आर्त्तध्यान से ही चौथे आर्त्तध्यान का ग्रहण होजाना सिद्ध हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना, कारण कि जो विषय अबतक अनेक पर्यायों मे प्राप्त नहीं हुये हैं, उन सुखावह भोग विषयों की प्राप्ति के लिये निदान किया जाता हैं। भविष्य सुख की प्राप्ति मे एकाग्र लटक रहे मन का अपूर्व पदार्थ की प्रार्थना मे अभिमुख बने रहने से निदान होता है और दूसरा आर्त्तध्यान तो कुछ काल तक भोग लिये गये प्राप्त होचुके विषयो का दैवदुर्विपाक अनुसार वियोग होजानेपर पुनः उनका संयोग होजाने की इच्छा अनुसार प्रवर्तता हैं। यों दूसरे और चौथे आर्त्तध्यान में अन्तर है। अब कोई जिज्ञासु पूछ रहा हैं कि वह निदान नामक चौथा आर्त्तध्यान किस पदार्थ को हेतु मानकर उपजता है? बताओ। ऐसे निर्णयकी इच्छा प्रवर्तने पर आचार्य महाराज अग्रिम वार्तिकों को कहकर रचते हैं।

निदानं चेति वाक्येन तीव्रमोहनिबन्धनं।
चतुर्थं ध्यानमित्यार्त्तं चतुर्विधमुदाहृतं ॥१॥
नीलां लेश्यां समासृत्य कापोतीं वा समुद्भवेत्
तदज्ञानात् कुतोप्यात्मपरिणामात्तथाविधात् ॥२॥

सूत्रकार महाराज ने "निदान च, इस सूत्र वाक्य करके चौथा आर्त्तध्यान लक्षणित किया हैं जो कि वर्तमान भोग्यो मे अरति और भविष्य उत्कट भोगों मे गाढ अनुराग यो मोह के तीव्र उदय को कारण मानकर उपज बैठता है। इसप्रकार उक्त चार सूत्रों में चार प्रकार आर्तध्यान का उदाहरण की मुद्रा करके निरूपण करदियरा गया हैं। नीललेश्या अथवा कपोतलेश्या के परिणामों का भला आसरा पाकर

चारो आर्तध्यान उपज जाते है अर्थात् जीव की नीललेश्या अथवा कापोतलेश्या परिणति होजाने पर चारो ध्यानों की उत्पत्ति सम्भवती है। गोम्मटसार मे लिखा है कि

मंदो बुद्धिविहीणो, णिव्विणाणी य विसयलोलो य।
माणी मायी य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य ॥५०९॥
णिद्दावंचणबहुलो धणधण्णो होदि तिव्वसण्णा य,
लक्खणमेयं भणियं समासदो णीललेस्सस्स ॥५१०॥
रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोयभयबहुलो।
असुयइ परिभवइ पर पसंसये अप्पयं बहुसो ॥५११॥
ण य पत्तियइ पर सो अप्पाणं यिव परंपि मण्णंतो,
भूसइ अभित्थुवतो ण य जाणइ हाणिवड्ढि वा ॥५१२॥
मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुग वि थुव्वमाणो दु,
ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स ॥५१३॥

गोम्मटसार जीवकांड

बुद्धिहीनता, आलस्य, आहारादिसंज्ञाओं की तीव्रलालसा, विषय लोलुपता इत्यादिक चिन्ह नीललेश्यावाले के हैं। अपनो, प्रशंसा चाहना, स्तुवि करनेवालोंपर तुष्ट होना, कार्य अकार्य, नही गिनना इत्यादिक लक्षण कपोतलेश्यावाले जीव के है। अतः उक्त दो लेश्याओ के असंख्यात भेदों मे से कतिपय भेदो अनुसार चार आर्त्तध्यान उपज बैठते है। तथा अज्ञानभावसे भी आर्त्तध्यानों की उत्पत्ति हैं एव तिसप्रकार के अन्य भी किसी किसी आत्मीयविभाव परिणाम से आर्त्तध्यान कर लिया जाता है।

पापप्रयोगं निःशेषदोषाधिष्ठानमाकुलं।
भोगप्रसंगनानात्मसंकल्पासंगकारणं ॥३॥
धर्माशयपरित्यागि कषायाशयवर्धनं।
विपाककटु तिर्यक्षु समुद्भवनिबन्धनं ॥४॥

ये चारो आर्त्तध्यान पाप मैं प्रयोग करने से उपजते है और पाप कर्मोका खूब योग कराते तब आत्मीय पुरुषार्थ से उपजते है, सम्पूर्ण दोषो के अधिकरण आर्त्तध्यान हैं। आर्त्तध्यान करते समय आत्मा मे बडी आकुलता उपजती रहती है। भोगों का प्रसंग बनाये रखना, अनेक अनात्मीय पदार्थों मे आत्मपने का संकल्प करना ऐसे

परिणामो के साथ आर्त्तध्यान चारो ओर से परिग्रह इक्ट्ठे करने के कारण होजाते हैं। धर्म्यकार्यों मे मनोवृत्ति लगाने का परित्याग करानेवाले हैं और कषायों के अभिप्रायों को वढानेवाले हैं, इन आर्त्तध्यानो का विपाक भविष्य मे कडुआ है यानी अनेक महान् दुःखों के असाता अनुसार प्रापक हैं तथा तिर्यञ्च गति के जीवो मे नियत उत्पत्ति करावे के कारण आर्त्तध्यान हैं।

केषा पुनस्तत्स्यादित्याह :—

वह आर्त्तध्यान फिर किन जीवों के सम्भवेगा ? ऐसी नम्र शिष्य की जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥

वह पूर्वोक्त आर्त्तध्यान तो इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम को नहीं धार रहे मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, तथा अविरत सम्यग्दृष्टि इन चार अविरतो के एवं त्रसवधविरक्त,स्थावरवधाविरक्त ऐसे देशविरत नामक पाचवे गुणस्थानवाले जीव के किञ्च छठे गुणस्थानवाले, विरत,प्रमत्तसंयत मुनि के होजाता है,पहले गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थानतक संक्लिष्ट जीवों मे आर्त्तध्यान उत्पन्न अर्थात् होजाता है। सर्वदा कोई न कोई ध्यान रहे ही ऐसा कोई नियम नही है, जब कभी चित्तवृतियों को यहाँ वहाँ से हटाकर कुछ देर तक एकाग्र केन्द्रित कर दिया जाता है, तभी ध्यान हुआ समझा जायगा, अन्यसमयों मे मात्र ज्ञान की प्रवृत्तियां है ।

अविरतादयो व्याख्याताः। कदाचित्प्राच्यमार्त्तध्यानत्रयं प्रमत्तानां, तेषां निदानस्यासंभवात्। तत्संभवे प्रमत्तसंयतत्वविघातात्। कुतस्तेषां तद्भवेदित्याह —

पहले गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थानतक के अविरतों का व्याख्यान किया जाचुका है। नौमें अध्याय के प्रथमसूत्र का विवरण करते हुये ग्रन्थकारने गुणस्थानों की व्याख्या कर दी है, पूर्ववर्ती तीन आर्त्तध्यान कभी कभी प्रमाद की विशेष तीव्रता होजाने से उपजजाते हैं, हाँ, चौथे आर्त्तध्यान निदान की उन प्रमत्तसंयमियो के सम्भावना नहीं है। संसारी भोगों की प्रवल आकांक्षाये अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायों के उदय होनेपर होती हैं, यदि छठे गुणस्थान मे उस निदान का उपजना माना जायगा तो प्रमादोपेत संयमीपन का विघात होजायगा, भोगों की अकांक्षा करनेपर जीव सयम से च्युत होजाता है। यहाँ कोई तर्कशील विद्यार्थी तर्क उठाता है कि, उन छठे गुणस्थानतक के जीवो के वह आर्त्तध्यान किस कारण से

होसकेगा ? ऊपर के सातवे आदि गुणस्थानो मे आर्त्तध्यान क्यो नही उपजता है ? यदि नही उपजता है तो पहले आदि छह गुणस्थानो मे भी नही उपजना चाहिये, ऐसा तर्क उपस्थित होने पर ग्रन्थकार इस अगिली वार्तिक को समाधानार्थ कर रहे है।

तत्स्यादविरतादीनां त्रयाणां तन्निमित्ततः ।
नाप्रमत्तादिषु क्षीणतन्निमित्तेषु जातुचित् ॥१॥

वह आर्त्तध्यान (पक्ष) अविरत आदिक तीन प्रकार जीवों के ही सम्भवता हैं। (साध्यदल) उनके उस आर्त्तध्यान के उपजानेवाले निमित्तो का सद्भाव होने से (हेतु) सातमे अप्रमत्त, आठमें अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवालो मे कदाचित् भी वह आर्त्तध्यान नही उपजता हैं, (प्रतिज्ञा) क्योकि वहाँ उस आर्त्तध्यान के निमित्त कारण होरहे कषायो के तीव्र उदय का नाश होचुका है, (हेतु) इस युक्ति से आर्त्तध्यान की अन्यून अनतिरिक्तरूपसे छठे गुणस्थानतक ही सम्भावना है, यही प्रमेय इस सूत्र मे कहा गया है।

अथ रौद्र ध्यानं कुतः कस्य किंस्वरूपमुच्यते ? इत्याह :—

आर्त्तध्यान का प्रकरण समाप्त हुआ। संज्ञा, लक्षण, हेतु और स्वामी की व्याख्या अनुसार आर्त्तध्यान को समझ लिया, अब यह बताओ कि रौद्रध्यान क्या है ? दूसरा अप्रशस्त रौद्रध्यान किन कारणो से उपजता हैं ? रौद्रध्यान किन जीवो के होता हैं ? उसका स्वरूप क्या कहा जाता है ? ऐसी जिज्ञासायें उठने पर कृपाशील उमास्वामी महाराज इस वक्ष्यमाण सूत्र को कह रहे हैं।

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥३५॥

हिंसाकरना, झूठबोलना, चोरीकरना, भोग्य विषयों के संरक्षण करना, इन चार बुरे विचारो से जीव के रौद्रध्यान उपजता है, जोकि चौथे गुणस्थानतक के अविरत जीवो मे और देशविरत गृहस्थो के पाया जाता है। अर्थात् हिंसा करने अनुसार चित्त में स्मृतियो का समन्वाहार करना, झूठ बोलने के अनुकूल अनेक स्मृतियो को एकाग्र उठाना, चोरी के प्रसंग मे अनेक चिन्ताओ की रचना करना, वित्तसंरक्षण के उपयोगी अनेक दुर्ध्यान उठाना ये चार रौद्र ध्यान हैं। ये पांचवे गुणस्थानतक के जीवो मे कदाचित् होरहे सम्भवते हैं।

ध्यानोत्पत्तौ हिंसादीनां निमित्तभावाद्धेतुनिर्देशः । तेन स्मृतिसमन्वाहाराभि-संबन्धः । तत इदमुच्यते ।

रौद्रध्यान की उत्पत्ति मे निमित्तकारण होजाने से हिंसा, अनृत आदि का हेतु अर्थ मे पंचमी विभक्ति कर सूत्र मे कथन कर दिया गया है । हेतु के उस पञ्चम्यन्त निर्देश के साथ स्मृतिसमन्वाहार शब्द का पिछिली ओर सम्बन्ध कर दिया जाय तब तो हिंसा से उपजा स्मृतिसमन्वाहार पहिला रौद्र ध्यान है, इसी प्रकार झूठ आदि से लगा लेना । तिस कारण उच्यमान और अनुवृत्त पदो को जोड देने पर यों वाक्यार्थ बना कर कह दिया जाता है कि –

हिंसादिभ्योतितीव्रमोहोदयेभ्यः प्रजायते ।
रौद्रं ध्यानं स्मृतेः पौनःपुन्यं दुर्गतिकारणम् ॥१॥
तत्स्यादविरतस्योच्चै र्देशसंयमिनोपि च ।
यथायोगं निमित्तानां तेषां सद्भावसिद्धितः ॥२॥

मोह का अत्यंत तीव्र उदय होजानेपर उपजे हिंसा, झूठ,आदि चारपरिणतियोंसे जो स्मृतियों का पुनः पुनः एकाग्र उठाया जाना है, वह रौद्रध्यान है । जोकि नरक आदि दुर्गतियो मे लेजाने वाला कारण है । वह उच्च कोटि का रौद्रध्यान तो पहिले चार गुणस्थानवाले अविरत जीवों के सम्भवता है और छोटा रौद्रध्यान पञ्चम गुण-स्थानवर्ती एक देश सयमो के कदाचित् उपज जाता है । (प्रतिज्ञा) क्योकि उन पांचमे गुणस्थान तक के जोवों के रौद्रध्यान के निमित्त होरहे परिणामों की यथायोग्य सत्ता का पाया जाना सिद्ध होरहा है । अपने अपने कारणो अनुसार कार्यों का उपजना बन बैठता है ।

देशविरतस्यापि हिंसाद्यावेशाद्वित्तादिसंरक्षणतंत्रत्वाच्च रौद्रं ध्यानं संभवति तदनुरूपकथादोषोदयात् । केवलमविरतवन्न तस्य नारकादिनामनिमित्तं सम्यक्त्वसामर्थ्यात्

पांच पापों से एक देश विरक्त होरहे देशविरत पांचवे गुणस्थानवाले श्रावक के भी हिंसा, झूठ आदि का अवेश होजाने से तथा धन, घर, कुटुम्ब, आदि के संरक्षण की अधीनता होजाने से कभी कभी रौद्रध्यान होजाना संभवता है, क्योंकि उस रौद्र-ध्यान के अनुकूल होरहे कथाप्रसंगों का अवसर आजाता है और आत्मा मे राग, द्वेष, हेतुक अनेक दोषों का उदय बन बैठता है । अथवा "कषायोदयात्" पाठ अच्छा

रौद्रध्यान के अनुकूल कषायों का उदय होजाने से गृहस्थ के यह ध्यान कदाचित् पाया जाता है। केवल विशेष वक्तव्य यह है कि मिथ्यादृष्टि या सासादन सम्यग्दृष्टि अविरतो के समान वह रौद्रध्यान उस श्रावक के नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, नरकआयु, तिर्यग्गति आदि नाम कर्मों के आस्रव का निमितकारण नहीं होपाता है, क्योंकि पांचवे गुणस्थानवाले के सम्यग्दर्शन गुण विद्यमान है, अतः प्रथम गुणस्थानवाले का रौद्रध्यान तो नरकायु, नरकगति आदिका बन्ध करायगा। दुसरे गुणस्थानवाले के तिर्यगायु, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, आदि का बन्ध होता है. किन्तु "सम्यक्त्वं च" इस सूत्र अनुसार सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च या मनुष्य के वैमानिक देवायु कर्म का ही आस्रव होता हैं। हां, सम्यग्दृष्टि होरहे देव या नारकियो के मनुष्यायु का आस्रव होता है।

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसिवणभवण सव्वइत्थीणं,
पुण्णिदरे णहि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे (गोम्मटसार जी. कांड)
सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुसकस्त्रीत्वानि,
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रता च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः।
(श्रीसमन्तभद्राचार्यः)

यों सम्यग्दर्शन की सामर्थ्य से श्रावक कदाचित् मात्र रौद्रध्यान कर लेने पर भी नरक नही जासकता हैं।

सयतेपि कदाचिदस्तु रौद्रध्यानं हिंसाद्यावेशादिति चेत् तदयुक्तं, संयते तदावेशे संयमप्रच्युतेः।

यहां कोई आक्षेप उठाता है कि, सकल संयमी मे भी कदाचित् रौद्रध्यान होजाओ, रौद्रध्यान के समय जैसे अणुव्रत रक्षित रहे आते हैं, उसी प्रकार संयम भी रौद्रध्यान वे साथ अक्षुण्ण बना रहसकता है। जैसे कि संज्वलन कषायों के उदय होने पर भी सयम प्रतिष्ठित रहता है, तब तो हिंसादिक का आवेश होजाने से मुनि के भी रौद्रध्यान होजाओ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह आक्षेप तो सर्वथा युक्तियों से रीता है, क्योकि जैनसिद्धात की वसत वायु किधर को बह रही हैं, इसका आक्षेपकर्ता को स्वल्प भी ज्ञान नही हैं। जोकि ज्ञान उक्त रौद्रध्यान के लक्षण सूत्र अनुसार बालक को भी होजाता है। हिंसा आदि खोटे विचारों से रौद्रध्यान की उत्पत्ति कही गयी है। संयमी मे उन हिंसा आदिक का आवेश होजाने पर सयम की सर्वांगच्युति होजाती है, स्वल्प भी रौद्रध्यान का प्रसंग आजानेपर आत्मा मे संयम नहीं ठहर पाता है, जैसे कि प्रचण्ड अग्नि के आजानेपर पारा या शीत दूर होजाता है।

ततश्चतुर्विधं रौद्रध्यानं समुपजायते !
पुंसोतिकृष्णलेश्यस्याविरतस्यैव तत्परं ॥ ३ ॥
तथा कापोतलेश्यस्य विरताविरतस्य च ।
प्रमादानामधिष्ठानं विरतस्य न जातुचित् ॥ ४ ॥

तिस कारणसे सिद्ध हुआ कि वह चारो प्रकारका उत्कृष्ट रौद्रध्यान तो परमकृष्णलेश्यावाले अविरत जीवोके ही सामग्री मिलनेपर खूब उपज जाता है। और कापोतलेश्यावाले जीवके भी उत्पन्न होता है। तथा विकथा ४, कषाय ४ इन्द्रिय ५ निद्रा १ स्नेह १ यो १५ या अस्सो (८०) प्रमादोका अधिष्ठान हो रहा वह रौद्रध्यान कदाचित् विरताविरत नामक पांचवे गुणस्थानवाले पुरुषके भी संभव जाता है। हां, इन्द्रिय सयम और प्राण सयमको पाल रहे विरक्त संयमीके तो कदाचित् भी रौद्रध्यानकी सभावना नही है।

अथ प्रशस्तस्य ध्यानस्य धर्मस्य तावत्प्रतिपादनार्थमाह,—

अप्रशस्त दो ध्यानोका निरूपण हो चुका हैं। अब इसके पश्चात् दो प्रशस्त ध्यानोका प्रतिपादन करना न्यायप्राप्त है। शब्द शक्ति अनुसार दो का युगपत् प्ररूपण करना अशक्य है। अतः प्रशस्तध्यानोमें पहिले कहे गये धर्म्यध्यानकी प्रतिपत्ति कराने के लिये प्रथम ही सूत्रकार इस अग्रिम सूत्रका उच्चारण कर रहे है।

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥ ३६ ॥

आज्ञाविचयके लिये स्मृतियोका समन्वाहार करना, अपायविचयके लिये स्मृतियोंको पौनःपुन्य रूपमे उठाना, विपाकविचयके अर्थ एकाग्र होकर अनेक चिन्तायें रचना और लोककी रचनाके विषयमे अर्थ अनेक आगमोक्त रचनाओका स्मरणपूर्वक ध्यान करना ये चार धर्म्यध्यान है। अर्थात् योग्य उपदेशकोका अभाव हो जानेपर इधर कर्मोदय अनुसार श्रोताओकी मन्दबुद्धि हो जानेसे गम्भीर सिद्धान्ततत्त्वोको साधनेके लिये हेतु, व्याप्ति, दृष्टान्त, युक्तियोके नही मिलते सन्ते सर्वज्ञप्रोक्त आगमको ही सर्वोच्च प्रमाण मानकर "इस ही प्रकार यह तत्त्व है केवलज्ञानी जिनेन्द्र महाराज अन्यथावादी नही है।" यों सूक्ष्मतत्त्वोके गहन अर्थका एकटक अवधारण करना आज्ञाविचय है।

अथवा सूक्ष्मतत्त्वोको स्वयं समझकर अन्य प्रतिपाद्योके प्रति अपने जैनसिद्धांत अनुसार तर्क, नय, प्रमाण, हेतु, क्रियातिपत्ति, उदाहरणद्वारा सर्वज्ञकी आज्ञाका प्रकाश

करनेके लिये स्मृतियोका समन्वाहार करना प्रथम धर्म्यध्यान हैं। जन्मान्धके समान मिथ्यादृष्टि जीवोको श्रेष्ठ मार्गका परिज्ञान नही ह, ये मिथ्यादृष्टि सुमार्गसे बहुत दूर हट रहा है,

अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रोसे ये प्राणी किस प्रकार छुड ये जावे इस प्रकार अनेक स्मृतियोको केन्द्रित करना अपायविचय नामक दूसरा धर्म्यध्यान हैं।

ज्ञानावरण आदि कर्मोका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव अनुसार फलके अनुसार फलके अनुभव करनेमे एकाग्र मन लगाना विपाकविचय है।

लोककी रचना, वहा वहा जीवोका निवास इत्यादि चिन्तनाओके लिये स्मृतियोपर स्मृतिया उठाते रहना लोकविचय है। यो ये उत्तम क्षमा आदि दशधर्मसे अनपेत हो रहे धर्म्यध्यान है।

विचितिर्विवेको विचारणा विचयः। तदपेक्षया आज्ञादीनां कर्मनिर्देशः। अधिकारात् स्मृतिसमन्वाहारसम्बन्धः, आज्ञाविचयायस्मृतिसमन्वाहार इत्यादि। तदेव-

वि उपसर्ग पूर्वक 'चिञ' 'चयने' धातुसे भावमें अच् प्रत्यय कर विचय शब्द बना लिया जाता ह। विचय करना यानी विवेक या अनेक विचारणायें विचय है। "कर्तृकर्मणोः कृति षष्ठी" उस कृदन्त क्रिया शब्द बन गये विचयकी अपेक्षासे आज्ञा, विपाक आदिकोको षष्ठी विभक्तिका प्रयोग कर कर्ममें कथन कर दिया जाय। ध्यानके लक्षणमे विशेष्य हो रहे स्मृति समन्वाहार पदका अधिकार चला आ रहा होनेसे उक्त चारो आज्ञाविचय आदिमें परली ओर सम्बन्ध कर दिया जाय, तब तो आज्ञाकी जो विचारणा उसके लिये स्मृति समन्वाहार करना पहिला धर्म्यध्यान है। इसी प्रकार चारों धर्म्यध्यानोमें सूत्र अर्थ लगा लिया जाय, वह वाक्यार्थ इस प्रकार हो जायगा, उसको अग्रिमवार्त्तिकमें सुनिये।

आज्ञादिविचयायोक्तं धर्म्यं ध्यानं चतुर्विधं।
आर्तरौद्रपरित्यक्तेः कार्यं चिन्तास्वभावकं ॥ १ ॥
तत्राज्ञा द्विविधा हेतुवादेतरविकल्पतः।
सर्वज्ञस्य विनेयान्तःकरणायत्तवृत्तितः ॥ २ ॥

आज्ञा, अपाय, आदिकी विचारणाके लिये इस सूत्रमे धर्म्यध्यान चार प्रकार कहा गया है। आर्तध्यान और रौद्रध्यानसे सर्वथा रीते हो रहे ज्ञानी जीवों करके वह धर्म्यध्यान करना चाहिये, जिस धर्म्यध्यानका स्वभाव अनेक शुभ चिन्तनाये करना हैं।

उन धर्म्यध्यानोमे पहिले आज्ञाविचयमें कही गयी आज्ञा तो हेतुवाद और उससे इतर अहेतुवाद यानी आगमवाद इन भेदोसे दो प्रकार है। भव्य विनीत शिष्योके मानसिक विचारोंके अधीन प्रवृत्ति हो जानेके कारण सर्वज्ञकी आज्ञाका विचय किया जाता है। अर्थात् " भविभागनवश जोगे वसाय " सर्वज्ञकी वचन प्रवृत्तिमें भव्योका भाग्य भी कारण पड जाता हैं। वीतराग, सर्वज्ञ हितोपदेशक, अर्हंत परमेष्ठी अन्यथा भाषण नही करते है। किसी तत्वकी सिद्धिके लिये हेतु या दृष्टान्त मिल जाय तों अच्छा है। नही तो अप्रमित प्रमेय मात्र आगमगम्य है। लोकमें भी प्रत्यक्ष प्रमेयसे अनन्तगुणा प्रमेय आप्त पुरुपोसे गम्य हो रहा हैं। एक अल्पज्ञ प्राणी अपने स्तोक जीवनमें कितने पदार्थोंका प्रत्यक्ष कर सकता हैं। अपने जीवनभरमें थोडेसे पदार्थोंको छूता है। अल्पीयान् पदार्थोंका स्वाद रसनासे लेता हैं, बहुत थोडे दर्तमान पदार्थोंको सूंघ पाता हैं, मोटे मोटे स्वल्प पदार्थोको देख लेता है। अपने पूरे गांम या प्रत्येक घर अथवा स्वशरीर अवयवोको ही नही देख पाता है। कतिपय स्थूल शब्दोंको सुन लेता है, परिमित सुखदुःख, इच्छा आदि आत्मीय पदार्थोंका मानसिक प्रत्यक्ष कर लेता है। अविनाभावी हेतुओंसे अत्यल्प साध्योका अनुमान कर लेता हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान. तर्कंद्वारा कितने ही पदार्थोंको अविशद जान लेता हैं। शेष बहु भाग प्रमेय आगमगम्य हैं। इससे अनन्तगुणा अनभिलाप्य अर्थ मात्र केवलज्ञान गोचर हैं। सर्वत्र प्रत्यक्ष या हेतुवाद लगानेका आग्रह करना विवेकशील पुरुषोंको उचित नही है, आप्तवाक्यको प्रमाण माने विना गमार, गूंगे और व्याख्याता विद्वान्मै कोई अन्तर नहीं माना जा सकता है। यही नियत पुरुष तेरा पिता हैं। इसमैं यथार्थ वक्त्री माताका वाक्य ही प्रमाण है। अल्पज्ञोंके प्रत्यक्ष और अनुमान वहा फेल हो जाते हैं। हाँ, कतिपय प्रमेयोमे प्रत्यक्ष अनुमान, युक्तियाँ, उदाहरण, विज्ञान, (साइन्स) तर्क भी प्रवर्त जाते है। अतः आप्तकी उक्त आज्ञाका विचार करना पडता है। आप्त पुरुष विनम्र शिष्योके हित अनुरूप यथार्थ सत्यतत्त्वका उपदेश करते है। " विनेयविसंवादने तेपा प्रयोजनाभावात् "॥

तद्विचयाय स्मृतिसमन्वाहारो द्विविध इत्याज्ञाविचयध्यानं द्वेधा। तत्रागमप्रामाण्यादर्थावधारणमाज्ञाविचयः, सोयमहेतुवादविषयोननुमेयार्थगोचरार्थत्वात्। आज्ञाप्रकाशनार्थो वा हेतुवादः। सामर्थ्यादयमप्याज्ञाविचयः। कः पुनरपाय इत्याह।

उस आज्ञाविचयके लिये स्मृतियोंका समन्वाहार करना दो प्रकारसे होता है। इस कारण आज्ञाविचय नामक धर्म्यध्यान दो प्रकार है। उनमे पहिला तो सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार प्राप्त आगमकी अक्षरशः प्रमाणता होनेसे सूक्ष्म पदार्थोंका निर्णय करना आज्ञाविचय है। सो यह प्रसिद्ध पहिला धर्म्यध्यान हेतुवादकी प्रधानतासे रहित हो रहे प्रमेयोको विषय करता है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोद्वारा नही जान लेने योग्य अर्थोंको अपने ज्ञानगोचर कर लेना इस ध्यानका प्रयोजन है। अतः इसको तृतीय स्थान संक्रान्त अतीव परोक्ष पदार्थोंको जाननेकी अपेक्षा अहेतुवाद स्वरूप माना है। अथवा दूसरा आज्ञाविचय यह भी है कि सम्यग्दृष्टि जीवका निःशंकित होकर सर्वज्ञ आज्ञा अनुसार सूक्ष्म तत्त्वार्थोंका स्वयं निर्णय करते हुये दूसरे प्रतिवादियोके सन्मुख शास्त्रार्थ या वीतराग कथामे हेतु, नय, प्रमाण, दृष्टान्त, पूर्वक प्रकृष्ट भाषण या आज्ञा प्रकाशन करनेके लिये स्मृतिसमन्वाहार करना पहिला धर्म्यध्यान है। जो कि हेतुवादस्वरूप है। आज्ञाविचय शब्दकी निरुक्ति करनेपर शब्दसामर्थ्यसे यह दूसरा भी अर्थ निकल पडता है। जो कि समुचित होकर विद्वन्मान्य हैं।

यहा प्रश्न उठाया जाता है कि फिर दूसरा अपायविचय नामक धर्म्यध्यान क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा उत्थित होनेपर ग्रन्थकार इस अग्रिमवार्त्तिकको स्पष्ट कह रहे हैं।

असन्मार्गादपायः स्यादनपायः स्वमार्गतः।
स एवोपाय इत्येष ततो भेदेन नोदितः॥ ३ ॥

तीव्रमिथ्यात्व कर्मके उदय अनुसार जिनकी अन्तरंग चक्षुयें नष्ट हो गयी हैं, उन प्राणियोका अप्रशस्त खोटे मार्गसे अपाय (विश्लेष) हो जाय, और आर्हत स्वकीय श्रेष्ठ मार्गमे अनपाय यानी प्रसंग हो जाय ऐसी शुभ चिन्तनायें करना दूसरा धर्म्यध्यान हैं। मिथ्यामार्गसे हटना वह अपने समीचीन मार्गका उपाय ही है। तिस कारण यह सन्मार्ग उपाय सूत्रकारने भेद करके नही कण्ठोक्त किया हैं। जो असन्मार्गसे हटानेकी भावनायें रखता है कि अनायतनोकी सेवा इनसे कैसे छुडाई जाय? परिशेष न्यायसे यह निकल पडता है कि वह जीवोके स्वमार्गका उपाय अवश्य चिन्त रहा हैं।

नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि,
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेदविवक्षया "।

(श्रीसमन्तभद्राचार्यः)

यो निरुक्ति कर दूसरे धर्म्यध्यानके भी दो अर्थ हो जाते है।

तस्य विचयो धर्म्यध्यानं द्वितीयं। अथवा सन्मार्गापायविचयः सर्वज्ञोपदेशपराङ्मुखजनापेक्षया सम्प्रत्येयः असन्मार्गापायसमाधानं वा तदपेक्षयैव। कः पुनर्विपाक इत्याह—

उस असन्मार्गसे अपायका विचय यानी विचारणार्थ करना दूसरा धर्म्यध्यान हैं। अथवा सर्वज्ञद्वारा उपदेशे गये श्रेष्ठ मार्गसे पराङ्मुख हो रहे प्राणियोकी अपेक्षा करके उस सन्मार्गसे अपाय हो रहे पनका विचार भी दूसरा धर्मध्यान हैं। यह समीचीन प्रतीति कर लेना चाहिये। असन्मार्गसे अपाय (वियोग) कर उनको श्रेष्ठ मार्गमें समाधान करना भी उन मिथ्यादृष्टि जीवोकी अपेक्षा करके ही समझा जाय, इस प्रकार दूसरे धर्म्यध्यानकी भी दो प्रक्रिया हो सकती है।

फिर तीसरा विपाक नामक धर्म्यध्यान क्या है ? उसका लक्षण कहो ऐसी आकांक्षा प्रवर्तनेपर विनीत शिष्यके सन्मुख ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकको व्यक्त समाधानार्थ कह रहे है।

विपाकोनुभवः पूर्वं कृतानां कर्मणां स्वयं।
जीवाद्याश्रयभेदेन चतुर्थो धीमतां मतः ॥ ४ ॥

पूर्व कालोमें स्वयं उपार्जन किये जा चुके ज्ञानावरण आदि कर्मोका फलानुभवन विचारते रहना तीसरा विपाक धर्म्यध्यान हैं। तथा जीव, पुद्गल आदि द्रव्योंके अधिकरण हो रहे आकाशके भेद, प्रभेद करके अनादि सिद्धलोक रचनाका चिन्तन करना चौथा सस्थानविचय धर्म्यध्यान है। विचारशील बुद्धिमानोके यहां 'त्रिलोकसार' अनुसार लोकरचना मानी गयी है, उसका एकाग्र होकर ध्यान लगाया जाता है।

ततः कर्मफलानुभवनविवेकं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः। स च प्रपञ्चतो गुणस्थानभेदेन कर्मप्रकृतीनामुदयोदीरणचिन्तनेन परमागमात्प्रत्येतव्यः। लोकसस्थान-स्वभावावधानं संस्थानविचयः। कोऽसौ लोक इत्याह—

उस विपाकविचय ध्यान अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावोंको निमित्त-पाकर हुये कर्म फलके अनुभव विचारोके प्रति एकाग्रचित्त लगाये रहना विपाकविचय है। और वह विपाकविचय तो गुणस्थान, मार्गणाके भेद करके कर्मकी मूल, उत्तर प्रकृतियोके उदय, उदीरणा अनुसार चिन्तन करके हो रहा सन्ता विस्तारके साथ परमो-

त्कृष्ट आगम ग्रन्थोसे समझ लेना चाहिये । अर्थात् कौनसे कर्मका किन किन गुणस्थानोंमें उदय है । कहाँ उदयव्युच्छित्ति है ? मनुष्य आयुका उदय चौदहमे गुणस्थान तक है । किन्तु मनुष्य आयुकी उदीरणा छठे गुणस्थानतक ही हो जाती है, कालप्राप्त हुये विना ही कर्मोंका वर्तमानमें अपक्वपाचन कर लेना उदीरणा हैं । यों बन्ध, बन्धव्युच्छित्ति; अबन्ध और उदय, उदयव्युच्छित्ति, अनुदय, सत्त्व, सत्त्वव्युच्छित्ति, असत्त्व, उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, निधत्ति, निकाचना, सक्रमण आदि व्यवस्थाओको राजवार्तिक, गोम्मटसार आदि सिद्धान्त ग्रन्थोसे समझकर कर्मफलोंका विचार करते रहना चाहिये । यह तीसरा धर्म्यध्यान हैं । तथा लोककी रचना उस लोकके अवयव हो रहे द्वीप, समुद्र, पर्वत, स्वर्ग, नरक आदि स्थानोके स्वभाव चिंतनेमे एकाग्रचित्त लगाना चौथा सस्थान-विचय नामका धर्म्यध्यान हैं । यहा कोई जिज्ञासु स्रोता प्रश्न उठाता है कि वह लोक फिर क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर बढाकर ग्रन्थ लिखनेको उत्सुक हो रहे श्रीविद्या-नन्द आचार्य महाराज अग्रिमवार्त्तिकको कह रहे हैं ।

लोकः संस्थानभेदाद्वा स्वभावाद्वा निवेदितः ।
तदाधारो जनो वापि मानभेदोपि वा क्वचित् ॥ ५ ॥

संस्थान यानी रचनाके भेदसे अथवा लोकमे देखे जा रहे स्वकीयभाव व्यव-स्थासे लोकका विशेषरूपेण तीसरे, चौथे अध्यायोंमें निवेदन किया जा चुका हैं । " लोक्यन्ते यस्मिन् " वह लोकाकाश जिन जीवोंका आधार हो रहा हैं, वे जन भी लोक कहे जाते हे । अथवा कही, कही एकमान यानीं मापका प्रकार भी लोक कहा गया है । अर्थात् आठ प्रकारके उपमा प्रमाणमे लोक (श्रेणीघन) भी गिनाया गया हैं ।

" पल्लो सायर सूई पदरो य घणगुलो य जगसेढी,
लोयपदरो य लोगो उवमपमा एवमट्ठविहा "
(त्रिलोकसार)

ऐसे लोकका विचय पुनः पुनः चीता जाता हैं ।

लोकस्याधोमध्योर्ध्वभेदस्य संस्थानं सन्निवेशः, लोक्यमानस्वभावस्य च लोकस्य सस्थानं प्रतिद्रव्यं स्वाकृतिः तदाधारस्य च जनस्य लोकस्य संस्थानं स्वोपात्तशरीरपरि-माणाकारः, मानभेदस्य च लोकस्य संख्याविशेषाकार. संस्थानं तस्य विचयः संस्थान-विचयः । कः पुनर्विचय इत्याह—

चौदह राजू ऊंचे लोकके अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक, इन तीन भेदोकी रचना यानी सन्निवेश लोक है। तथा लोके जा रहे स्वरूपको धार रहे लोकका संस्थान लोक है। जो कि प्रत्येक द्रव्यकी स्वकीय आकृति हैं। अर्थात् साचेमे जो पोल हैं। वह आकाश द्रव्य है। प्रत्येक पदार्थ आकाशमें ही स्थित हैं। यो अखण्ड आकाश द्रव्यकी आकृति अनुसार खण्डोकी कल्पना कर ली जाती हैं। मुखविवर या नासिकारन्ध्र इत्यादि सब आकाश ही है। सहारनपुर, आगरा, यूरोप, अमेरिका ये सब आकाशके वस्तुभूत कल्पित खण्ड है। यो प्रत्येक मनुष्यमे तदाकारको धारण कर व्याप रहा लोक है। एवं उस लोकको आधार पाकर बस रहे जन (लोकसमुदाय) स्वरूप लोककी रचना तो अपने अपने ग्रहण किये गये शारीरिक परिमाणके आकार हैं। उपमा मानके भेद हो रहे लोकका संस्थान तो श्रेणीका घनस्वरूप एक विशेषसंख्याका आकार है। उस लोकके संस्थानका विचय यानी विचार करना संस्थानविचय है। कोश और आगम अनुसार लोक शब्दके कतिपय अर्थ है। उनमेंसे योग्य चार अर्थोका ग्रहण किया गया हैं। यहां कोई जिज्ञासु पुछता है कि विचयशब्दका अर्थ फिर क्या है? बताओ, ऐसी बभुत्सा उपजनेपर ग्रन्थकार इस अग्रिमवार्तिकको बोल रहे हैं।

विचयस्तत्र मीमांसा प्रमाणनयतः स्थितः।
तस्मिंश्चिन्ताप्रबन्धो नुश्चिन्तान्तरनिरोधतः ॥ ६ ॥
युक्तं ध्यानं तदाध्ययमेकाग्र्येण प्रवृत्तितः, ।
ध्यातुश्चिन्ताप्रबन्धस्य धर्म्यं पापव्यपायतः ॥ ७ ॥

उस ध्यानके प्रकरणमें विचयका अर्थ तो प्रमाण और नयोसे मीमांसा यानी विचार करना व्यवस्थित हो रहा हैं। उस विचयमें आत्माको अन्य चिन्ताओका निरोध कर देनेसे एक अर्थमे ही कतिपय चिन्ताओकी रचना करनी पडती है। तिस कारण उसी ध्यान गोचर हो रहे ध्येयका चारों ओरसे अवलम्बकर एकाग्रपनेसे प्रवृत्ति होनेके कारण वह ध्यान समुचित बन जाता हैं। ध्याता आत्माके पाप परिणतियोंका विनाश हो जावेसे उक्त आज्ञाविचय आदि अनुसार की गयी चिन्ताओकी शुभ रचनाओंको धर्म्यध्यान मानना युक्तिपूर्ण है, यों युक्तियोसे आगमगम्य धर्म्यध्यानको सिद्ध कर दिखाया है।

धर्मादनपेतं धर्म्यं तस्योत्तमक्षमादिमत एव प्रवृत्तेः । अनुप्रेक्षाणां धर्म्यध्यानसजातीयत्वात् पृथगनुपदेश इति चेन्न, ज्ञानप्रवृत्तिविकल्पात् । सर्वानुप्रेक्षाणामनित्यत्वाद्यनुचिन्तनस्य ज्ञानविशेषत्वात् ध्यानस्यानुचिन्तनं निरोधरूपत्वात् ।

कस्य तद्धर्म्यध्यानं स्यादित्याह–

उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, आदि दश प्रकारके धर्मोंसे अनपेत यानी सहित हो रहा धर्म्यध्यान है। धर्म शब्दसे अनपेत अर्थमे यत् प्रत्यय किया जाता है। उत्तमक्षमा आदि धर्मोंको धार रहे ही जीवके उस धर्म्यध्यानके करनेकी प्रवृत्ति होती हैं। अतः दशधर्मोंसे अन्वित बने रहनेके कारण तीसरे ध्यानको धर्म्य कहा गया है।

यहा कोई तर्कशील विद्यार्थी आक्षेप उठाता है कि अनित्यत्व आदि अनुप्रेक्षाओंको धर्म्यध्यानकी समान जातिवाला होनेसे उनका पृथक् उपदेश करना अनुचित है। बारह भावनाओमे भी अनित्यपन,लोक,एकत्व आदिकी विचारधाराये या चिन्तनाये की जाती हैं। अतः "अनित्याशरण" इत्यादि सूत्र करके अनुप्रेक्षाओका व्यर्थ पृथक निरूपण क्यो किया जा रहा है ? । ग्रन्थकार कहते है कि यह आक्षेप तो नही कर सकते हो। क्योकि अनित्यपन आदिका चिन्तन कर रही अनुप्रेक्षाये तो मात्र ज्ञानोकी प्रवृत्तिके विकल्प है, सभी अनुप्रेक्षाओके अनुसार अनित्यपन आदि पुन: पुनः चिन्तनोको विशेषरूपका ज्ञानपना हैं। हा, पीछे एकाग्र होकर चिन्तन करना स्वरूप ध्यान तो निरोधरूप है। अतः भावनायें प्रवृत्तिरूप है। और ध्यान निवृत्तिस्वरूप हैं। जब भावना करते करते एकाग्रचिन्ता निरोध हो जायगा, तब वह धर्म्यध्यान बन जायगा। अतः सूत्रकार करके अनुप्रेक्षाओका पृथक् उपदेश करना न्यायसंगत स्तुत्य प्रयत्न हैं।

अब यहां नवीन प्रश्न उठता है कि वह धर्म्यध्यान किस जीवके उपजेगा ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा होनेपर ग्रन्थकार अग्रिम दो वार्तिकोको कह रहे है।

साकल्येन विनिर्दिष्टं तत्प्रमत्ताप्रमत्तयोः ।
अन्तरंगतपोभेदरूपं संयतयोः स्फुटं ॥ ८ ॥
संयतासंयतस्यैकदेशेनासंयतस्य तु ।
योग्यतामात्रतः कैश्चिद्वैदुर्ध्यानं प्रचक्ष्यते ॥ ९ ॥

वह धर्म्यध्यान अन्तरंग तपका भेद स्वरूप ही रहा सन्ता परिपूर्ण रूपसे तो संयमी हो रहे प्रमत्तसयत और अप्रमत्त दो संयत मुनियोमे स्फुट होकर पाया जा रहा

विशेष रूपेण शास्त्रोंमे कहा गया है। छठे और सातमे गुणस्थानवर्त्ती मुनिके धर्म्यध्यान स्पष्ट रूपेण विद्यमान हैं। हाँ, पाँचमे गुणस्थानवर्त्ती संयतासंयत श्रावकके एक देश करके धर्म्यध्यान हो जाता है। किन्तु चौथे गुणस्थानवर्त्ती असंयतसम्यग्दृष्टिके तो धर्म्यध्यानकी योग्यता मात्र है। जिन किन्ही पण्डितों करके चौथे गुणस्थानमे खोटा ध्यान कहा जा रहा है, वह भी योग्यता मात्रसे हैं। चौथे, पाँचवे, गुणस्थानोंमें रौद्रध्यान और छठे गुणस्थान तक आर्त्तध्यान सम्भावित हैं। यों चौथेमें दुर्ध्यानकी मात्र योग्यता है। कदाचित् प्रमादकी तीव्रता हो जानेसे दुर्ध्यान बन बैठते हे। अतः चौथे, पांचवे, छटे, सातमे गुणस्थानोमें धर्म्यध्यान होना सम्भवता हैं।

धर्म्यमप्रमत्तस्येति चेन्न, पूर्वेषां निवृत्तिप्रसंगात् इष्यते च तेषां सम्यक्त्वप्रभावाद्धर्म्यध्यानं। उपशांतक्षीणकषाययोश्चेति चेन्न, शुक्लाभावप्रसंगात् तदुभयं तत्रेति चेन्न, पूर्वस्यानिष्टत्वात्। धर्म्यश्रेण्योर्नेष्यते ततस्तयोः शुक्लमेव।

यहां कोई अविचारपूर्ण वादी वक रहा रहा हैं कि धर्म्यध्यान तो सातमे गुणस्थानवर्त्ती प्रमादरहित मुनिके ही होता है। चौथे, पांचवे, छठेमें धर्म्यध्यान नही, भले ही आर्त्त, रौद्र हो जाय। आचार्य कहते हैं कि यह तो मन्तव्य उचित नहीं है। क्यों कि सातमेंसे पूर्वके चौथे, पांचवे, छटे, गुणस्थानवालोंके धर्म्यध्यान होनेकी निवृत्तिका प्रसंग आजायगा। जब कि उन असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, और प्रमत्तसंयत आत्माओंके भी सम्यग्दर्शनके प्रभावसे धर्म्यध्यान हो जाना अभीष्ट किया गया हैं। अतः सातमे गुणस्थानवर्त्तीके ही धर्म्यध्यान होनेका एकान्त हठ करना समुचित नही है। पुनः यहां कोई कह रहा है कि अप्रमत्तसे पूर्वोंके समान परली ओरके ग्यारहमे गुणस्थानी उपशांतकषाय और बारहमे गुणस्थानी क्षीणकषाय आत्माओमे भी धर्म्यध्यान ही जाओ सम्यक्त्वका प्रभाव हेतु तो वहां विद्यमान है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, क्योकि ग्यारहमे, बारहमे गुणस्थानोंमे धर्म्यध्यान मान लेनेपर वहां शुक्लध्यानके अभावका प्रसंग आजावेगा। सर्वज्ञ आम्नाय प्राप्त ग्रन्थोंमें छद्मस्थ वीतरागके शुक्लध्यानका होना अभीष्ट किया है।

यदि इसपर कोई वैनयिक सम्प्रदायके समान यों कहे कि वे धर्म्य, शुक्ल दोनों ही वहां ग्यारहमें, बारहमे गुणस्थानोमे मान लिये जांय, आचार्य कहते हे कि यह तो ठीक नही है। क्योकि शुभ दो ध्यानोमे पूर्ववर्त्ती धर्म्यज्ञानको वहां इष्ट नहीं किया गया हैं।

महर्षिप्रोक्त आगमग्रन्थों अनुसार उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी दोनोमे धर्म्यध्यानका सदभाव अभीष्ट नही किया है, आगमविरुद्ध मन्तव्य अपसिद्धान्त हैं। तिस कारण दोनो श्रेणियोमे और उन उपशांतकषाय, क्षीणकषाय, गुणस्थानोंमे अकेला शुक्लध्यान ही पाया पाता है। यह सम्मान्य करना चाहिये।

अथ श्रुतकेवलिनः किं ध्यानमित्याह,–

धर्म्यध्यानका निरूपण हो चुका, अब चौथे ध्यानका प्ररूपण प्राप्त अवसर होनेपर अग्रिम सूत्रको उत्थानिका की जा रही हैं कि श्रुतकेवली महाराजके कौनसा ध्यान हैं। छठे, सातमे गुणस्थानवर्त्ती श्रुतकेवलीके तो धर्म्यध्यान ही संभवेगा, किन्तु वक्ष्यमाण चार प्रकार शुक्लध्यानोंमें श्रुतकेवलीके कौन कौन शुक्लध्यान पाये जा सकते है ? ऐसी विनीत शिष्यकी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर दयापयोनिधि सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्रका स्पष्ट प्रतिपादन कर रहे है।

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥

भविष्यमे कहे जानेवाले शुक्लध्यानके चार भेदोंसे आदिके दो शुक्लध्यान तो चतुर्दशपूर्ववेत्ता यानी सकलश्रुतज्ञानी सयमीके हो रहे हैं। समुच्चय अर्थको कह रहे च अव्यय करके यह अर्थ भी घोतित हो जाता है कि श्रुतकेवली महाराजके धर्म्यध्यान भी पाया जाता है।

पूर्वविद्विशेषण श्रुतकेवलिनस्तदुभयप्रणिधानसामर्थ्यात्। च शब्द पूर्वध्यान-समुच्चयार्थः। किं कृत्वैवमुच्यते सूत्रमाचार्यैरित्याह—

सम्पूर्ण श्रुतज्ञानके धारी श्रुतकेवलीके उन दोनों आद्यशुक्लध्यानों अनुसार एकाग्रचित्त लगाये रहनेकी सामर्थ्य है। अतः पूर्ववित् यह विधेयदलमे विशेषण कहा गया है, जो ग्यारह अंगोमे निष्णात विद्वान् हैं, वही उत्पाद आदि चौदह पूर्वोका वेत्ता हो सकता है। यों अनायाससे सिद्ध हो गया कि पूर्वधारी ज्ञानी अवश्य द्वादशाग वेत्ता है।

भावार्थ—श्रुतज्ञानीके पहिले दो शुक्लध्यान सम्भवते है। पाँच समिति, तीन गुप्ति, इन आठ प्रवचन माताओंका श्रुतज्ञान भी जघन्यरूपेण निग्रन्थोके अभीष्ट किया गया है। राजवार्त्तिकमे "संयमश्रुत" आदि सूत्रकी व्याख्या करते हुये अंतमें श्री अकलंकदेवने " जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु, वकुशकुशीलनिर्ग्रन्थाना श्रुतमष्टै प्रव-

चनमातरः " ऐसा लिखा है । हा, आत्मविशुद्धिके प्रकृष्ट अध्यवसायसे उत्पन्न हुये, उच्च कोटीय अविभाग प्रतिच्छेदोको धार रहे पृथक्त्ववितर्कवीचार, और एकत्ववितर्क वीचारध्यान तो पूर्ववेत्ता श्रुतकेवलीके ही होंगे, ध्यानमे ज्ञानकी बडी आवश्यकता है । जितना ज्ञान अच्छा होगा, उतना ही बढिया ध्यान लग सकेगा । ज्ञान या भावनाये ही चिन्तानिरोधको करती हुई एकाग्र केन्द्रित होकर ध्यानका रूप धार लेती हैं । तभी तो श्रुतकेवली संयमीके उत्कृष्ट श्रेणीके आद्य दो शुक्लध्यानोंका होना इस सूत्रमे कहा गया है । सूत्रमे पडा हुआ च शब्द तो पूर्ववर्त्ती धर्म्यध्यानका समुच्चय करनेके लिये है ।

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि क्या विचार कर श्री उमास्वामी आचार्य महाराजने यह सूत्र इस प्रकार कहा है ? उनको प्रथम शुक्लध्यानके भेद या लक्षण करने चाहिये थे । जैसा कि पहिले ध्यानोंमें क्रम रक्खा गया है । प्रथमसे ही शुक्लध्यानके अधिकारी स्वामीका निरूपण करना हमे अच्छा नहीं जचा । ऐसी सकटाक्ष पृच्छना उपस्थित हो जानेपर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्त्तिकको समाधानार्थ कह रहे हैं ।

मत्वा चत्वारि शुक्लानि प्रोच्यमानानि सूरिणा।
आद्ये पूर्वविदः शुक्ले धर्म्यं चेत्यभिधीयते ॥ १ ॥

निकट भविष्यमे बढिया कहे जा रहे चार शुक्लध्यानोंको मनसे बुद्धिमे चिन्तन कर सूत्रकार आचार्य महोदयने आद्य दो शुक्लध्यान पूर्ववेत्ता श्रुतज्ञानीके हो जानेवाले कह दिये हैं । और चकार पदसे चतुर्दशपूर्वधारीके धर्म्यध्यानका हो जाना भी इसी सूत्रमे द्योतित कर कहा जा रहा हैं ।

विषयविवेकापरिज्ञानमिति चेन्न, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः । श्रेण्यारोहणात्प्राक् धर्म्यध्यानं, श्रेण्योः शुक्लध्यानमिति व्याख्यानं विषयविवेकपरिज्ञाननिमित्तमाधीयते । तथाहि—

यहां कोई चोद्य उठा रहा हैं कि च शब्द करके पूर्वके धर्म्यध्यानका समुच्चय किया जानेपर भी विषय यानी अधिकरणका विवेचन या पृथग्भाव नहीं परिज्ञात हो पाता हैं कि श्रुतज्ञानीके कहापर दो शुक्लध्यान हैं । और किन गुणस्थानोंमे उसके धर्म्यध्यान पाया जाता हैं ? । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, क्योंकि सामान्योक्त गम्भीर शब्दोका व्याख्यान कर देनेसे सामान्यगर्भित अनेक विशेषोंकी प्रतिपत्ति

हो जाती हैं। श्रेणीपर चढनेसे पहिले श्रुतज्ञानीके धर्म्यध्यान हैं। तथा उपशमक-क्षपक, दोनो श्रेणियोमे श्रुतकेवलीके शुक्लध्यान है, इस प्रकार सूत्रके व्याख्यानका आश्रय लिया जाता है, जो कि विशेष विषयोके पृथग्भावका परिज्ञान करानेमें निमित्त हो जाता है। इसी बातको युक्तिपूर्वक समझाते हुये ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकमे स्पष्ट कहे देते है। उसको दत्तावधान होकर सुनलो।

श्रेण्यधिरोहिणः शुक्ले धर्म्ये पूर्वस्य तस्य हि।
अपूर्वकरणादीनां शुक्लारम्भकतास्थितेः ॥ २ ॥

मोहनीय कर्मकी इकईस प्रकृतियोका उपशम या क्षय करनेके लिये श्रेणीपर चढ रहे श्रुतज्ञानीके दो शुक्लध्यान होते है। श्रेणी आरोहणके पूर्ववर्त्ती उस द्वादशांग-वेत्ताके नियमसे धर्म्यध्यान ही होता है। क्योकि श्रेणीके आठमे, नौमे, दशमे अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण, आदि गुणस्थानियोके उस शुक्लध्यानका प्रारम्भ करना आर्ष ग्रन्थों-द्वारा व्यवस्थित हो रहा हैं।

अथावशिष्टे शुक्ले कस्य भवतः इत्याह—

दोनो श्रेणियोमे और उपशम श्रेणी चढ चुके ग्यारहमें गुणस्थानमे पृथक्त्व-वितर्क वीचार तथा क्षपकश्रेणी चढ चुके बारहमें क्षीणमोह गुणस्थानमे दूसरे एकत्व वितर्क अवीचार शुक्लध्यान हो जानेका नियम किया, अब इसके अनन्तर यह बताओ कि बचे हुये अवशिष्ट दो परले शुक्लध्यान भला किस महात्माके हो जाते है? ऐसी जिज्ञासा उठनेपर करुणाब्धि सूत्रकार महर्षि इस अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं।

परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म जिनका नष्ट हो चुका हैं, उन तेरहमे, चौदहमे, गुणस्थानवर्त्ती केवलज्ञानी महाराजके परले दो सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रिया-निवृत्ति नामक शुक्लध्यान यथाक्रमसे होते हैं।

केवलिशब्दसामान्यनिर्देशात्तद्वतोरुभयोर्ग्रहणं। कथमित्याह,—

केवलज्ञानी आत्माको कहनेवाले केवली शब्दका इस सूत्रमे सामान्यरूपसे कथन किया गया हैं। इस कारण उस केवलज्ञानको धारनेवाले सयोग केवली भगवान् और अयोगकेवली शुद्धात्मा दोनोका ग्रहण हो जाता है। किस प्रकार उन दोनोंका ग्रहण

हो जाता है। ? ऐसी जिज्ञासा उठनेपर ग्रन्थकार युक्तिको दिखलाते हुये अग्रिम श्लोकमे वार्तिकको कह रहे है।

परे केवलिनः शुक्ले सयोगस्येतरस्य च।
यथायोगं स्मृते तज्ज्ञैः प्रकृष्टे शुद्धिभेदतः॥ १ ॥

तेरहमें, चौदहमे, गुणस्थानोमे भिन्न भिन्न प्रकारकी विशुद्धि हो जानेसे सयोगकेवली और उनसे न्यारे अयोग केवली भगवान्के योग और अयोग अवस्थाका अतिक्रम नही कर यथाक्रमसे अत्युत्तम परले दो शुक्लध्यान हो जाते है। इस रहस्यको ध्यानसिद्धान्तके परिपूर्ण ज्ञायक ऋषियोने सर्वज्ञ आम्नायपूर्वक स्मरण रखते हुये कहा है। भावार्थ:-सयोगकेवलीके प्रकृष्ट विशुद्धि हैं, और अयोगकेवलीके ततोऽपि अधिक प्रकृष्टतर विशुद्धि हैं। अतः उस सामग्री अनुसार सम्भवनेवाले दो शुक्लध्यान उनके उपज बैठते हैं।

कानि पुनस्तानि चत्वारि शुक्लध्यानानि यानि स्वामिविशेषाश्रयतया विभज्यन्ते इत्याह—

यहां कोई विनीत जिज्ञासु शिष्य शुश्रूषासहित प्रश्न कर रहा हैं कि वे चार शुक्लध्यान फिर कौनसे हैं? बताओ, जिनका कि उक्त दो सूत्रोमे पूर्वधारी और केवलज्ञानी, इन विशेष स्वामियोके आश्रितपने करके दो, दो रूपसे विभाग कर दिया गया हैं। ऐसी जाननेकी तीव्र आकाक्षा प्रवर्तनेपर परमोपकारक सूत्रकार महाराज अगिले सूत्रका विशद निरूपण करते है।

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥ ३९ ॥

पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्क अवीचार सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ती ये शुक्लध्यानके चार प्रकार है। अर्थात् ध्यानका तत्त्व अत्यन्त गम्भीर और सूक्ष्म है। उत्तम कोटिके धर्म्यध्यान और चारो शुक्ल ध्यानोका तो आजकल यहां परिचय मात्र भी नही है। ध्यानोंका बहुभाग स्वयं अनुभव करने योग्य है। शब्दोंद्वारा निरूपणीय नही हैं। अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, परिणामोका प्रतिपादन करना भी दुःशक्य हैं, हां योग्य गुरुद्वारा प्रतिपादन कर देनेपर शिष्यको अपने श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम अनुसार अतीन्द्रिय प्रमेय कुछ अंशोंमें झलक होता है। तभी तो—

पण्णवणिज्जा भावा, अणन्तभागोदु अणभिलप्पाणं ।
पण्णवणिज्जाण पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो " ॥

(गोम्मटसार जीवकाड) कहा गया है ।

अनेक वाच्य प्रमेयोंमें भी शब्द आश्वासक मात्र है । विशेप व्युत्पत्ति तो स्वकीय योग्यतासे ही होती है । ध्यानकी परिपूर्ण सामग्रीसे विराजमान हो रहा संयमी आत्मा वहिरग, अभ्यन्तर सम्बन्धी द्रव्य और पर्यायोका ध्यास करता सन्ता वितर्क यानी शास्त्रज्ञानकी सामर्थ्यसे युक्त होकर जब अर्थ व्यञ्जनों और कायवचनोका पृथकपने रूपसे संक्रमण कर रहे मनःकरके देरमें वृक्ष काटनेके समान मोहकर्मप्रकृतियोका उपशम या क्षय कर रहा है । उस समय वह पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यानमें निमग्न है । तथा मोहनीय कर्म वृक्षको सर्वांग नष्ट करता हुआ अनन्तगुण विशुद्ध हो रहा वीचाररहित क्षीणकषाय जीव अर्थ व्यञ्जन, योगोकी संक्रान्तिको हटाकर जिस एकाग्रतासे ज्ञानावरणादि प्रकृतियोका क्षय कर देता है, वह एकत्व वितर्क अवीचार है । एवं तेरहवे गुणस्थानवर्त्ती केवली भगवान्की आयु जब तीन अन्तर्मुहूर्त शेप रह जाती है, तब वादर योगोका त्यागकर केवली समुद्घात नामक पुरुषद्वारा आयुके वरावर तीन अघातिया कर्मोकी स्थितिको समान करता हुआ, सूक्ष्मयोगी तीसरे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यानको धारता हैं । इस ध्यानमें मनकी एकाग्रता नही है । क्योकि तेरहवें गुणस्थानमें अविचारक केवलज्ञान सूर्यके चमकते हुये मानसिक विचार या इन्द्रियजन्य ज्ञान नही हो पाते है, अतः आत्मीय प्रयत्न परणतिको उपचारसे ध्यान कह दिया गया है । उसके पश्चात् योगक्रियाका नाशकर चौदहवें गुणस्थानमें अयोग केवलीके सम्पूर्ण कर्मोका नाश कर देनेकी सामर्थ्य रखता हुआ, जो आत्मीय पुरुषार्थ होता है । वह व्यवहारसे ध्यान नामको धार रहा व्युपरत क्रियानिवर्त्ती चौथा शुक्लध्यान है । यो चारो शुक्लध्यानोका सक्षेपसे स्वरूप कथन है ।

वक्ष्यमाणलक्षणापेक्षया सर्वेषामन्वर्थत्वं । तत एवाह,--

भविष्यमें कहे जानेवाले लक्षणोकी अपेक्षा करके सभी ध्यानोंका प्रकृति, प्रत्यय, अनुसार अन्वर्थपना जान लेना चाहिये । भावार्थ-सूत्रकार महाराजने ज्ञान, चारित्र, प्रमाण, नय, ज्ञानावरण अनुप्रेक्षा, आदिकपद ऐसे प्रयुक्त किये है जिनकी कि निरुक्ति कर देने मात्रसे अभीष्ट अर्थ निकल पडता है । पृथक्त्ववितर्क आदि ध्यान भी यथार्थ नामको धार रहे है । हां, जिस किसी सम्यग्दर्शन, वितर्क, वीचार, आदि पदोंसे

योगिक अर्थ निकल रहा अभीष्ट नही हैं, उनका पारिभाषिक अर्थ करनेके लिये लक्षण सूत्र बना दिये है। अतः इन ध्यानोंका स्वरूप प्रकृति, प्रत्ययसे ही समझ लिया जाय तिस ही कारणसे ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकको स्पष्ट कह रहे है।

पृथक्त्वेत्यादिसूत्रेणान्वर्थनामानि तान्यपि ।
शुक्लानि कथितान्युक्तस्वामिभेदानि लक्षणैः ॥ १ ॥

चारो शुद्ध ध्यानोके भिन्नभिन्न स्वामी तो पहिले दो सूत्रोमें कहे जा चुके थे। अब इस " पृथक्त्वैकत्व " इत्यादि सूत्र करके अन्वर्थ संज्ञाओको धर रहे उन चारो भी शुक्लध्यानोंका लक्षणोसे भी कथन कर दिया गया हैं। अन्वर्थ संज्ञावाले लक्ष्यका लक्षण वह प्रकृति, प्रत्यय, अर्थ ही बन बैठता है।

अथैतेषु चतुर्षु शुक्लध्यानेषु किं कियद्योगस्य भवतीत्याह,—

यहां कोई प्रश्न उठाता है कि अब यह बताओ कि इन चारो शुक्लध्यानोमें कौन कौनसा कितने कितने योगवाले जीवके हो जाता हैं? ऐसी आकांक्षा उठनेपर परमकारुणिक सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्रको कह रहे है।

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥ ४० ॥

तीनों योगोंवाले जीवके, एकयोगवाले जीवके, काययोगी केवलीके, और अयोग केवलीके यथाक्रमसे उक्त चारो ध्यान हो रहे पाये जाते हैं। अर्थात् पहिला शुक्लध्यान ध्यावते हुये जीवके अन्तर्मुहूर्त स्थायी तीनो योग पलट जा सकते है, तो भी वह ध्यान एक ही अखण्ड लडीबद्ध बना रहता है। हा, दूसरे शुक्लध्यानके लिये एक ही योगमे स्थिर रहना आवश्यक है। तीसरा शुक्लध्यान तो मनोयोग, वचनयोग और बादर काययोगकी अवस्थामे न होकर मात्र सूक्ष्म काययोग हो जानेपर स्वपुरुषार्थसे सम्पादित होता है। और चौथा शुक्लध्यान, योगरहित दशामे धारण किया जाता हैं।

योगशब्दो व्याख्यातार्थः। यथासंख्यं चतुर्णां सम्बन्धः। त्रियोगस्य पृथक्त्ववितर्कं, त्रिषु योगेष्वेकयोगस्यैकत्ववितर्कं, काययोगस्य सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, अयोगस्य व्युपरतक्रियानिवर्तीति। तदाह—

" कायवाङ्मनः कर्मयोगः " इस सूत्रमे योग शब्दका व्याख्यान किया जा चुका हैं। सूत्रमें कहे गये चारो स्वामियोंका चारो ध्यानोके साथ संख्या अनुसार संबन्ध

कर लिया जाय तब तो सूत्रकी व्याख्या यो कर दी जाती है कि मन, वचन काय सम्बन्धी तीनो योगवाले सयमीके पहिला पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान हो जाता है। तीनो योगोमेसे किसी भी एक योगको धार रहे यथाख्यात चारित्रीके दूसरा एकत्व वितर्क अवीचार शुक्लध्यान वन जाता है। केवल काययोगको धार रहे परम गुरुके तीसरा सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती शुक्लध्यान उपजता हैं। तथा योगोसे रहित हो गये अयोगकेवली भगवान्के चौथा व्युपरत क्रियानिवर्त्ती शुक्लध्यान पाया जाता है। उस ही आगम प्रसिद्ध सिद्धान्तको आचार्य महाराज अगिली दो वार्तिकोमें कह रहे है।

तत्र प्राच्यं त्रियोगस्यैकैकयोगस्य तत्परं ।
तृतीयं काययोगस्यायोगस्य च तुरीयकं ॥ १ ॥
योगमार्गणया तेषां सद्भावनियमः स्मृतः ।
एवं त्रीत्यादिसूत्रेण विवादविनिवृत्तये ॥ २ ॥

उन चार शुक्लध्यानोमें पहिला तो तीनो योगवाले एक जीवके सम्भव जाता हैं। उससे पहला, दूसरा शुक्लध्यान एकयोगी जीवके प्रवर्तता हैं। सूक्ष्मकाय योगवाला जिन तीसरेको धारता है। और योगरहित चौदहवें गुणस्थानवाले आत्माके चौथा शुक्लध्यान वर्तता हैं, जो योगोद्वारा जीवोंको ढूंढनेवाली योगमार्गणा करके "त्र्येकयोग" इत्यादि सूत्रद्वारा विवादोकी विशेषरूपेण निवृत्ति करनेके लिये इस उक्त प्रकार उन ध्यानोके सद्भावका नियम सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार स्मरण कर कह दिया गया हैं।

तत्राद्ययोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह,--

उन चारो शुक्लध्यानोमें आदिके दो शुक्लध्यानोकी विशेषतया प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकार स्वय अग्रिमसूत्रको स्पष्टतया कह रहे है।

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥

श्रुतज्ञानी आत्मा करके पहिले दो शुक्लध्यान आरम्भे जाते है, अतः एक श्रुतज्ञानी उन दोनोका आश्रय है। तथा पूर्ववर्त्ती दोनो शुक्लध्यान वक्ष्यमाण लक्षणवाले वितर्क और वीचारसे सहित है। अर्थात् अनुपम श्रुतज्ञानी किसीकी सहायता नही चाहता हुआ दो शुक्लध्यानोको धार लेता है। जिन दोनोमें अनेक शास्त्रीय तर्कणायें विचारी जाती है। पहिले ध्यानमें वीचार भी हैं। दूसरेमे वीचारका रहितपना अग्रिम सूत्रद्वारा कहा जानेवाला हैं।

कुत इत्याह,--

कोई ऊहापोह करनेवाला छात्र पूछता है कि यह इस सूत्रमे कहा गया सिद्धांत किस युक्तिसे निर्णीत कर लिया जाय ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा उठनेपर ग्रन्थकार अग्रिम दो वार्तिकोंको कह रहे हैं।

एकाश्रये परिप्राप्तश्रुतज्ञानाश्रयत्वतः ।
सवितर्के श्रुते तत्वात्सवीचारे च संक्रमात् ॥ १ ॥
अर्थव्यञ्जनयोगेषु सामान्येनोपवर्तिते ।
पूर्वे शुक्ले त्रियोगैक योगसंयतसंश्रयात् ॥ २ ॥

आत्म विशुद्धिके लिये अतीव उपयोगी हो रहे श्रुतज्ञानको चारों अनुयोगोंद्वारा प्राप्त कर चुके एक व्यक्ति श्रुतज्ञानीको आश्रय पाकर प्रारम्भ किये जानेवाले होनेसे पहिले दो शुक्लध्यान एक आश्रयवाले है, ऐसा सूत्रकारने इस सूत्रके आदिमे युक्त कहा हैं। और वितर्कणा यानी अर्थसे अर्थान्तिरोंका उपलम्भ करना स्वरूप श्रुतज्ञानकी प्राप्त हो रहे होनेसे इस सूत्रमे आद्य दो शुक्लध्यानोको वितर्कसहित कहना युक्तिपूर्ण है, तथा अर्थ, व्यञ्जन और योगोंमे सामान्य रूपसे परिवर्तन होते सन्ते ये उपजते रहते हैं। अतः संक्रमण होनेसे इनको वीचारसहित कहना सूत्रकार महोदयका परार्थानुमानपूर्ण है। पूर्ववर्त्ती दोनों शुक्लध्यान यथाक्रमसे तीन योगवाले और एक योगवाले संयमी मुनिका अच्छा आश्रय पालेनेसे उपजते है। यो आप्त प्रोक्त आगमगर्भित युक्तियोंसे परिवेष्टित हो रहा इस सूत्रका रहस्य हैं। आगमानुसारिणी यूक्ति सद्युक्ति है, आगमविरुद्ध युक्तिको कुयुक्ति मानना चाहिये।

पूर्वविदारभ्यत्वादेकाश्रयत्वसिद्धिः। सवितर्कवीचारे इति द्वन्द्वपूर्वोन्यपदार्थनिर्देशः। पूर्वत्वमेकस्यैवेति चेन्न, उक्तत्वात्।

पूर्ववेत्ता विद्वान् करके प्रारम्भ करने योग्य होनेसे आद्य दो शुक्लोका एकाश्रयपना सिद्ध हो जाता हैं। " सवितर्कवीचारे " इस पदमें पहिले वितर्कश्च वीचारश्च वितर्कवीचारौ यों द्वन्द्वसमास किया जाय, पुनः वितर्कवीचाराभ्यां सहवर्तत इति सवितर्कवीचारः, यो विग्रहमे कहे गये पदोके अर्थसे न्यारे अन्य पदार्थका प्रधानरूपेण कथन करते हुये, बहुव्रीहिसमास कर लिया जाय।

यहाँ कोई आक्षेप उठा रहा है कि चाहे हजारो, असंख्यो पदार्थ क्यो न होवे उनमे पूर्ववर्त्ती एक ही होगा। दो, तीन, चार कथमपि आद्य या पूर्ववर्त्ती नही हो सकते है। आप पूर्वपदसे दो ध्यान कैसे पकड रहे है ?

आचार्य कहते है कि यह तो नही कहना, क्योकि इस आक्षेपका उत्तर हम पहिले कह चुके है कि उसके समीपवर्त्तीको भी उपचारसे वही कह दिया जाता है। दुष्ट और शिष्टको संगति करनेवाला पुरुष भी उसी दुष्ट या शिष्ट रूपसे व्यवहार करने योग्य हो जाता हैं। अतः प्रथमका निकटवर्त्ती दूसरा भी पूर्व कहलाने योग्य है। एक बात यह भी है कि प्रथमाद्विवचन औ विभक्तिका नपुसक लिंगमे पूर्वे यह रूप बना है। अत. द्विवचनकी सामर्थ्यसे दो पहिलोंका ग्रहण हो जाना न्यायप्राप्त है।

तत्र यथाप्रसंगे च अनिष्टनिवृत्त्यर्थमिदमारभ्यते,—

यथासख्य उक्त प्रकार उन दोनों धर्म्यध्यानोमे वीचारसहितपना प्रसंग प्राप्त हुआ। और ऐसा हो जानेसे दूसरे शुक्लध्यानको वीचारसहितपना आया, जो कि इष्ट नही हैं। अतः उस अनिष्टकी निवृत्ति करनेके लिये सूत्रकार महाराज लगे हाथ इस अग्रिम सूत्रका प्रारम्भ करते है। अर्थात् सूत्रोंमें शब्दविन्यास अल्पीयान् होना चाहिये। इसी बातका लक्ष्य कर यह प्रशसनीय प्रयत्न सूत्रकारको करना पडा हैं। ऐसा "आरभ्यते" पदमें कर्मणि प्रत्यय करनेसे ध्वनित हो जाता हैं। तन्त्री बजनेसे सगीतकी राग, रागिणी पहिचान ली जाती है।

अवीचारं द्वितीयम् ॥ ४२ ॥

पूर्वके दो शुक्लध्यानोमें दूसरा ध्यान तो वीचारसे रहित है। अर्थात् पहिला तो वितर्क और वीचारसे सहित है। हां, दूसरा शुक्लध्यान वितर्क यानी श्रुतज्ञानीय चर्चाओंसे सहित हैं, किन्तु अर्थ, व्यञ्जन योगोके परिवर्तन स्वरूप वीचारसे रहित है। यह अपवाद सूत्र हैं। इसी सूत्रोक्त मन्तव्यको ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकोंमें स्पष्ट कह रहे है।

अवीचारं द्वितीयं तत्संक्रान्तेरसमुद्भवात्।
एकयोगस्य तद्धातुरिति प्राहापवादतः॥ १ ॥
सवितर्कं सवीचारं पृथक्त्वेन ततः स्थितं।
प्राच्यं शुक्लं तु सवितर्कवीचारबलादिह ॥ २ ॥

तथाऽवितर्कवीचारे परे शुक्ले निवेदिते ।
काययोगाधिनाथत्वादयोगाधिपतित्वतः ॥ ३ ॥

अर्थ और व्यञ्जनका संक्रमण नही कर केवल एक योगको धार रहे उस दूसरे ध्यानके ध्याता जीवके उन अर्थ, व्यञ्जन योगोंके परिवर्तनका उपजना कथमपि नहीं होनेके कारण दूसरा शुक्लध्यान वीचाररहित है, इस सिद्धान्तको अपवाद रूपसे सूत्रकारने इस सूत्रमें बहुत अच्छा कहा है। तिस कारण यह राद्धान्त यहाँ व्यवस्थित हो जाता है कि पूर्ववर्त्ती पहिला शुक्लध्यान तो वितर्क और वीचारसहितपनेकी सामर्थ्यसे ध्याया जा रहा पृथकपने करके वितर्कसहित और वीचारसहित है।

दूसरे शुक्लध्यानका एकपने करके वितर्कसहित होकर वीचाररहितपना इस सूत्रमें कहा गया है। तथा परिशेषन्याय अनुसार यह बात भी इन्ही सूत्रोंसे व्यक्त होकर निवेदन कर दी जाती है कि परले दो शुक्लध्यान तो वितर्क और विचार दोनोसे रहित है। क्योकि तीसरे शुक्लध्यानका पूर्ण अधिकार ले रहा स्वामी सूक्ष्म काययोगी केवलज्ञानी है।

चौथा शुक्लध्यान तो योगरहित चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती केवलज्ञानीको अधिपति मान कर ही उपजता हैं। अतः अन्वय व्यतिरेकको ले रही अन्यथानुपपत्ति अनुसार इस सूत्रका प्रमेय सिद्ध हो जाता हैं।

कोऽयं वितर्क इत्याह,—

यहा कोई प्रश्न उठाता है कि आदिके दो शुक्लध्यान आपने वितर्कसहित बतलाये। वितर्कके कितने ही अर्थ होते है। विशेषेण तर्कण करना वितर्क हैं। वि + तर्क वैशेषिकोंने तर्कको अयथार्थज्ञानोमे गिना है। कही व्याप्तिज्ञानको तर्क माना गया हैं।

गौतम सूत्रमें " अपरिज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः " अन्यत्र " व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः " कही " व्यापकाभाववत्वेन व्याप्याभाववत्त्वसमर्थनं " को तर्क कहा गया है। यदि वन्हि नही होती तो धूम भी नही होता " धूमो यदि वन्हिव्यभिचारी स्यात् तदा वन्हिजन्यो न स्यात् " तथा पर्वतो यदि निर्वन्हिःस्यात् निर्धूमःस्यात् " यो व्याघात, आत्माश्रय, इतरेतराश्रय, चक्रक, अनवस्था, प्रतिबन्धिकल्पना, लाघवकल्पना, गौरव, उत्सर्ग, अपवाद, वैयात्य, ये ग्यारह प्राचीन नैयायिकोंने तर्कके भेद माने है। कोई " प्रमाणनयैरर्थपरीक्षणं तर्कः " कह रहे है। ऐसी अवस्थामे

निर्णय करनेकी इच्छा प्रवर्त्तती है कि यह प्रकरणमें प्राप्त हो रहा वितर्क भला क्या पदार्थ है ? बताओ। ऐसी उत्कट इच्छा जागनेपर कृपानिधान सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

विशेषेण तर्कणा करना अर्थात् एक अर्थसे अनेक अर्थान्तरोका मानसिक विचार करना स्वरूप श्रुतज्ञानका यहाँ वितर्कपदसे ग्रहण किया गया है। अतीन्द्रिय शुक्लध्यानका उपयोगी हो रहा विशिष्ट जातिका श्रुतज्ञान वितर्क है।

किमेतत्सूत्रवचनादभिप्रेतमित्याह,—

यहाँ कोई व्यर्थका लाघव दिखा रहा आक्षेप कर रहा है कि इस सूत्रका निरूपण करनेसे सूत्रकार महाराजके अभिप्रायका क्या वाच्यार्थ विषय हो रहा है ? बताओ, यों आक्षेप प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्त्तिकको स्पष्ट कह रहे हैं।

वितर्कः श्रुतमस्पष्टतर्कणं न पुनर्मतेः।
भेदश्चिन्ताख्य इत्येतत्सूत्रारम्भादभीप्सितं ॥ १ ॥

वितर्कका अर्थ यहाँ श्रुत है। जो कि परोक्षज्ञानरूपेण अस्पष्ट तर्कणा करना है। किन्तु " मतिः स्मृतिः संज्ञा " इत्यादि सूत्रमें मतिज्ञानका भेद जो चिन्ता नामका कहा गया है, वह चिन्ताका अर्थ तर्क फिर यहां नहीं लिया गया है। यों इस सूत्रका प्रारम्भ कर देनेसे सूत्रकारको अभीष्ट अर्थ हो रहा है। अर्थात् अन्य अनिष्टोंकी व्यावृत्ति करना लक्षण करनेका प्रयोजन है।

वितर्कके इस पारिभषिक अर्थ करके चिन्ता मतिज्ञानके समान अन्यदार्शनिकोके तर्ककी भी व्यावृत्ति हो जाती है। इतरोंका अभाव कर देनेसे ही स्वकी अक्षुण्ण रक्षा हो पाती हैं। परापेक्षया नास्तित्व ही स्व अस्तित्वको दृढ बनाये रखता है।

पूज्य महामना ग्रन्थकारके अष्टसहस्री ग्रन्थमें इस परव्यावृत्तिका बहुत अच्छा विवेचन किया हैं। जो कि अन्य ग्रन्थोमें सर्वथा दुर्लभ है। जिस स्थानपर हम निराकुल होकर बैठे हुये हैं, वहां सर्प, व्याघ्र, नक्र, चक्र, सिंह, मत्तगज, वात्या, अग्निदाह, भूकम्प, जलवाढ, विद्युत्पात, राजक्रान्ति आदि उत्पातोका अभाव परिपूर्ण बना रहना चाहिये। एक सर्पके अभावकी भी उपेक्षा कर देनेपर झट क्रोधी, काला भुजंग,

फणा उठाकर उस स्थानपर अधिमकेगा, ऐसी दशामें अध्ययन, अध्यापन, व्यापार, क्रीडन, आदि सब मिट जायेगे, यहातक कि जीवन की आशा भी छोड देनी पडेगी।

अत. जितने भी पररूप या अन्यसम्बन्धी पदार्थ है। उन सबके प्रत्येक प्रत्येक होकर अनन्तानन्त अभाव प्रकृत वस्तुके शिरपर लदे हुये है। जिन प्राणियोकी मृत्यु हो गई है उनके ध्वन्स बने रहने दो। मात्र पाच हजार वर्ष पहिलेके शवोको जीवित कर देनेसे वर्तमान प्राणियोके खानेको एक दाना और ठहरनेको एक अगुल स्थान भी नही मिल सकेगा। भिच्चीमें आकर भूखके मारे वर्तमान प्राणी सब मर जॉयगे।

कः पुनर्वीचार इत्याह,—

यहाँ अग्रिम सूत्रकी उत्थानिका उठायी जाती है कि वीचारका अर्थ फिर क्या है ? बताओ। ऐसे पारिभापिक अर्थ की जिज्ञासा उपस्थित होनेपर सूत्रकार अग्रिम सूत्रको कह रहे है।

वीचारोऽर्थव्यंञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४४ ॥

ध्यान करने योग्य द्रव्य अथवा पर्याय यहॉ अर्थ लिया गया है। व्यञ्जनका अर्थ वचन होता है। मन, वचन, कायद्वारा आत्मीय प्रदेशोका परिस्पन्द होना योग है, यो अर्थ, व्यञ्जन और योगोका सक्रमण यानी परिवर्तन होना यहा शुक्ल ध्यानके प्रकरणमे वीचार है। अर्थात् लौकिक विचार करना या अन्य क्रियाये करना कोई यहॉ वीचार नही लिया गया है। यों अनिष्ट अर्थकी व्यावृत्ति करनेके लिये विचारका भी पारिभाषिक अर्थ सूत्रकारको कण्ठोक्त करना पडा।

कुतोऽन्यो न वीचार इत्याह,—

किस कारणसे यह जान लिया जाय ? कि वीचारका सूत्रोक्त अर्थ ही पकडा जा सके अन्य दूसरे प्रसिद्ध अर्थका नही ग्रहण होवे ? वताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर आचार्य महाराज इन अग्रिम वार्त्तिकोको वखान रहे है।

अर्थव्यञ्जनयोगेपु संक्रान्तिश्चेतसस्तु या।
स वीचारो न मीमांसा चरेर्गत्यर्थनिष्ठतः ॥ १ ॥
एवं निरुक्तितोऽर्थस्याव्यभिचारित्वदर्शनात्।
प्रोक्तं वितर्कवीचारलक्षणं सूत्रतः स्वयं ॥ २ ॥

वह प्रथम शुक्लध्यानमे उपयोगी हो रहा वीचार तो अर्थ, व्यञ्जन, और योगोमें जो परिवर्तन होना है, यही समझा जायगा। यहा वीचारका अर्थ मीमासा यानी तर्कणा करना, सकल्पविकल्प पूर्वक विचार करना (मान–विचारे) या विचार-पूर्वक तत्त्वनिर्णय करना नही है। क्योंकि (चर–गतौ) धातु इस गति यानी गमन, परिवर्तन अर्थमें प्रतिष्ठित हो रही है। " इक्स्तिपौ धातुनिर्देशे " सप्तमी विभक्तिका अर्थ निष्ठत्व (में)होता है। यों वि उपसर्गपूर्वक चर धातुसे घञ्प्रत्यय करनेपर वीचार शब्दकी निरुक्तिद्वारा ही प्राप्त हुये अर्थका व्यभिचारीपना नही देखनेसे सूत्रकारने स्वय इस प्रकार उक्त दो सूत्रो करके वितर्क और वीचारका लक्षण बहुत बढिया कह दिया है। यदि " अर्थस्य व्यभिचारित्वदर्शनात् " ऐसा पाठ माना जाय तो यों अर्थ कर लिया जाय कि प्रकृति प्रत्यय अनुसार निरुक्तिसे प्राप्त हुये, यौगिक अर्थका व्यभिचार देखा जाता है। अतः सूत्रकारको वितर्क और वीचारका योगरूढि अर्थ करना पडा है।

द्रव्य हित्वा पर्याये त त्यक्त्वा द्रव्ये संक्रमणमर्थसंक्रान्तिः, अर्थस्य द्रव्यपर्यायात्म-कत्वात्। एव श्रुतवचनमवलब्य श्रुतवचनान्तरालम्बनं व्यंजनसंक्रान्तिः। काययोगाद्यो-गान्तरे ततोपि काययोगे संक्रमणं योगसंक्रान्तिः। एव परिवर्तनं वीचारस्तेन युतं वित-र्केण च श्रुताख्येन विशिष्टं पृथक्त्ववितर्कवीचार प्रथमशुक्लध्यानं। कीदृग्ध्याता तध्यातु-मर्हतीत्याह —

जैनसिद्धान्त अनुसार अर्थ यानी वस्तु तो इन द्रव्य और पर्यायोका तदात्मक हो रहा अविष्वग्भाव पिण्ड है। अर्थात् वस्तुके द्रव्य और पर्याय दोनों अश है। अतः एक ही ध्यान बना रहकर द्रव्यको छोडकर पर्यायमें और उस पर्यायको छोडकर द्रव्यमें संक्रमण होते रहना अर्थसंक्रान्ति है।

इसी प्रकार एक शास्त्रीय वचनका अवलंब पाकर दूसरे भिन्न शास्त्रीय वच-नोका सहारा ले लेना व्यञ्जन संक्राति है। अर्थात् "अट्ठवियकम्मवियला" का विचार करते हुये, " णठ्ठचदुघाइकम्मो " या " एगो मे सासदो आदा " इत्यादि वचनोंका आलम्बन बदल कर ले लिया जाता है। तथा काययोगसे अन्य दूसरे मनोयोग या वचनयोगमें और उस योगसे भी काययोगमें परिवर्तन हो जाना योगसंक्रान्ति है। इस प्रकार परिवर्तन होना यहाँ वीचार है। उस वीचारसे मिश्रित हो रहा और श्रुतज्ञान नामक वितर्क करके विशिष्ट हो रहा पृथक्त्व वितर्क वीचार सज्ञक पहिला शुक्लध्यान है।

यहां कोई प्रश्न उठाता है कि उस पहिले शुक्लध्यानको ध्यायनेके लिये किन लक्षणोंसे युक्त हो रहा ध्यान करनेवाला आत्मा समर्थ होता है? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार महाराज इन अग्रिम वार्त्तिकोंको विशदतया कह रहे हैं।

कृतगुप्त्याद्यनुष्ठानो यतिर्वीर्यातिशायनः।
अर्थव्यञ्जनयोगेषु संक्रान्तौ पृथगुद्यतः॥ ३॥
तदोपशमनान्मोहप्रकृतीः क्षपयन्नपि।
यथापरिचयं ध्यायेत्क्वचिद्वस्तुनि सक्रियः॥४॥
सवितर्कं सवीचारं पृथक्त्वेनादिमं मुनिः।
ध्यानं प्रक्रमते ध्यातुं पूर्ववेदी निराकुलः॥५॥

जो संयमधारी प्रयत्नशील मुनि पूर्वोक्त गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा आदि आत्मीय शुभ परिणतियोंपर स्वतन्त्र अधिकार रखता हुआ, उनका पालन कर रहा है, तथा आत्मीय पुरुषार्थ हो रहे वीर्य विशेषके अतिशयको धार रहा है, विशेष सामर्थ्यकी कुछ हानि हो जानेसे अर्थ, व्यञ्जन और योगोंमें पृथक्पने करके संक्रमणके निमित्त उद्यत हो रहा है, उपशम श्रेणीमें मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंमे उपशम कर रहा और क्षपक श्रेणीमें उन प्रकृतियोंका क्षय भी कर रहा सन्ता अपने पुरुषार्थ पूर्वक ज्ञानद्वारा पूर्वपरिचय अनुसार किसी एक वस्तुमें ध्यान लगाता है। वह प्रयत्न क्रियासहित हो हो रहा सन्ता पूर्ववेत्ता मुनि निराकुल होकर आदिके पृथक्पने करके वितर्कसहित और वीचारसहित ध्यानको ध्यावनेके लिये प्रथम आरम्भ करता है। अतिरिक्त यह कहना है कि "वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः" इस सूत्रका विवरण करते हुये श्री अकलंकदेव महाराजने इसका तत्त्वार्थ राजवार्तिकमे विशद विवेचन किया है। विशेषज्ञानी उसका अध्ययन, मनन, कर सन्तोष प्राप्त करे।

अथ द्वितीयं को ध्यातुमर्हतीत्याह,—

पुनः प्रश्न उठाया जा रहा है कि इसके पश्चात् अब यह बताओ कि दूसरे शुक्लध्यानको कौन आत्मा ध्यायनेके लिये समर्थ होता है? ऐसी जिज्ञासा उत्थित हो जानेपर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकोंका स्पष्ट प्रतिपादन कर रहे है।

स एवामूलतो मोहक्षपणागूर्णमानसः ।
प्राप्यानंतगुणांशुद्धिं निरुन्धन् बंधमात्मनः ॥ ६ ॥
ज्ञानावृतिसहायानां प्रकृतीनामशेषतः ।
ह्रासयन्क्षपयंश्चासां स्थितिबंधं समंततः ॥ ७ ॥
श्रुतज्ञानोपयुक्तात्मा वीतवीचारमानसः ।
क्षीणमोहो प्रकम्पात्मा प्राप्तक्षायिकसंयमः ॥ ८ ॥
ध्यात्वैकत्ववितर्काख्यं ध्यानं घातघघस्मरं ।
दधानः परमां शुद्धिं दुःप्राप्यां न निवर्तते ॥ ९ ॥

और वही आत्मा जब मूलसहितरूपसे मोहनीय कर्मकी इकईस प्रकृतियोका क्षय करनेमे मनोवृत्ति द्वारा पूर्ण उद्यत हो जाता है। तब आत्माकी प्रतिक्षण अनन्तगुणी विशुद्धिको प्राप्त कर ज्ञानावरण और उसके सहायक हो रही अन्तराय, दर्शनावरण, आदि कर्मप्रकृतियोके बन्धको पूर्णरूपसे रोकता हुआ तथा उनके स्थितिबधोका सब ओरसे ह्रास कर रहा एव घाति कर्मोका क्षय करता हुआ प्रयत्नशील आत्मा आध्यात्मिक श्रुतज्ञानसे उपयुक्त हो जाता है।

जिसके मनसे अर्थ, व्यञ्जन, योगोकी पलटन स्वरूप सक्राति उस श्रुतज्ञान उपयोगसे दूर हो गयी है, क्षायिक चारित्रको प्राप्त हो रहा प्रकम्परहित क्षीणमोह आत्मा घाति कर्म पापोको खा जानेवाले या जीतनेवाले एकत्व वितर्क नामके ध्यानको ध्यायकर बडी कठिनतासे प्राप्त होने योग्य परम विशुद्धिको धारण कर रहा सन्त फिर निवृत्त नही होता है। अर्थात् ससारमे लौटता नही है, मोक्षको चला ही जाता है। या इस ध्यानके अतिरिक्त अन्य किसी भी कारणसे नही प्राप्त करने योग्य परमविशुद्धिको धार लेता है। यो एकपनेसे वितर्कणा कर रहा क्षीणमोही बारहवे गुणस्थानवाला आत्मा दूसरे शुक्लध्यानको ध्यावनेके लिये प्रयत्नवान् हो जाता है।

अनतगुणी विशुद्धि, प्रकृतिक्षय, अनुभाग खंडन, स्थितिकाण्डकघात, निर्जरा आदि विलक्षण प्रकारके अतिशय इस शुक्लध्यानीके प्रवर्त रहे है। इस निर्ग्रन्थ मुनिके अन्तर्मुहूर्त कालपश्चात् केवलज्ञानसूर्यका उदय हो जानेवाला है।

अथ तृतीयं ध्यानं को ध्यायत इत्याह,–

इसके अनन्तर ग्रन्थकार तीसरे शुक्लध्यानको कौन जीव ध्यावता है ? ऐसा प्रश्न उपस्थित हो जानेपर अग्रिम वार्त्तिकोंको स्पष्ट कह रहे है।

ततो निर्दग्धनिःशेषघातिकर्मेंधनः प्रभुः ।
केवली सदृशाघातिकर्मस्थितिरशेषतः ॥ १० ॥
संत्यज्य वाङ्मनोयोगं काययोगं च वादरं ।
सूक्ष्मं तु तं समाश्रित्य मन्दस्पंन्दोदयस्त्वरं ॥ ११ ॥
ध्यानंसूक्ष्मक्रियं नष्टप्रतिपातं तृतीयकं ।
ध्यायेद्योगी यथायोगं कृत्वा करणसंततिं ॥ १२ ॥

उस दूसरे शुक्लध्यान स्वरूप अग्निसे जिस समर्थ पुरुषार्थी योगीने सपूर्ण घातिकर्म स्वरूप ईन्धनको सम्पूर्णरूपेण जला दिया है। वह केवलज्ञानी या तीर्थंकर भगवान् उत्कृष्टतया पौने नौ वर्ष कम कोटि पूर्व वर्ष कालतक या जघन्यरूपेण अन्तमुहूर्त कालतक तेरहवे गुणस्थान की अवस्थामे विराजते है।

यदि आयु, कर्मकी स्थितिसे तीन इतर अघाति कर्मोकी स्थिति अधिक होती है। तो वे योगी आत्मीय पुरुषार्थद्वारा दण्ड, कपट, प्रतर और लोकपूरण नामक केवलि समुद्घात करते है। आठवे समयमें गृहीत शरीर प्रमाण आत्मप्रदेशोको करते हुये नि शेषरूपसे चारो अघाति कर्मोकी स्थितिको समान कर लेते है।

हाँ, जिनकी पहिलेसे ही चारो अघाति कर्मोकी स्थिति समान है। उनके केवलि समुद्घात करनेके पुरुषार्थ नही होते है।

यो जिनके लगे हुये चार अघाति कर्मोकी अवस्थिति समान है। वे केवलज्ञानी जिनेद्र भगवान सपूर्ण रूपसे सत्य, अनुभय, मनोयोग और सत्य अनुभयवचनयोग तथा स्थूलकाययोगका तो भले प्रकार त्याग कर पश्चात् उस सूक्ष्मकाय योगका बढिया आश्रय लेकर शीघ्रही मन्दरूपेण परिस्पन्द (कप) के उदयको धार रहे तेरहवे गुणस्थानवर्त्ती महात्मा जिनेद्र भगवान् प्रतिपातको नाश कर चुके तीसरे सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपातिनामक ध्यानको ध्यावते है। इनका नीचेकी ओर या ससारमे पुन. पतन नही

होता है । ये योगी अपने गृहीत योगका अतिक्रमण नही कर असख्याते सयमोतक परिणामोकी सन्तानको स्वकीय यत्नद्वारा करके तीसरे शुक्लध्यानको ध्यायेंगे ऐसी अनिच्छापूर्वक विधि है।

अथ चतुर्थं शुक्लं को ध्यायतीत्याह,—

तृतीय शुक्लध्यानके अधिकारीका निरूपण कर चुकनेपर अब चौथे शुक्लध्यानको कौन आत्मा ध्यावता है ? ऐसी जिज्ञासा उत्थित होनेपर ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द आचार्य अगली दो वार्त्तिकोका स्पष्ट प्रतिपादन करते है।

ततः स्वयं समुच्छिन्नप्रदेशस्पंदनं स्थिरः ।
ध्वस्तानिःशेषयोगेभ्यो ध्यानं ध्याताप्तसंवरः ॥ १३ ॥
सम्पूर्णनिर्जरश्चान्त्ये क्षणे क्षीणभवस्थितिः ।
मुख्यं सिद्धत्वमध्यास्ते प्रसिद्धाष्टगुणोदयं ॥ १४ ॥

उस तीसरे शुक्लध्यानको ध्यायनेके अन्तर्मुहूर्त पश्चात् चौदहवे गुणस्थानवाला परिस्पन्दरहित स्थिर मुनि स्वय पुरुषार्थी बन रहा आत्मप्रदेशोकी चचलताको पूर्णरूपेण नष्ट कर चुका सन्त चौथे समुच्छिन्नक्रियानिर्वृत्तिनामक शुक्लध्यानको ध्यावता है। तेरहवे गुणस्थानतक योगोद्वारा कर्म आते रहते है, जब चौदहवे गुणस्थानमे योगोका नि शेषरूपेण ध्वन्स कर दिया गया है तो अयोग अवस्थामे पूर्ण सवर प्राप्त हो चुका है। अत परिपूर्ण सवरको धार रहा यह ध्याता चौथे शुक्लध्यानको ध्यावता है, तभी चौदहवे गुणस्थानके अन्तिम समयमे सपूर्ण कर्मोकी निर्जरा करता हुआ ससार स्थितिको क्षीण कर सम्यक्त्व, ज्ञान, आदि आठ प्रसिद्ध गुणोके अभ्युदयको धार रहे मुख्यसिद्धत्व पदपर आरूढ हो जाता है। यो पूर्ण सवर और निर्जराको प्राप्त कर चौदहवे गुणस्थानके अन्तसमयतक ससारमे ठहरता हुआ अगले समयमे अनुश्रेणि इषु गतिद्वारा सात राजु ऊर्ध्व गमनकर सिद्धालयमे विराजमान हो जाता है।

अथामनस्कस्य केवलिनः कथमेकाग्रचिन्तानिरोधलक्षणं ध्यानं संभाव्यते इत्यारेकायामिदमाह, —

अब यहा कोई शका कर रहा है कि मनको एकाग्र कर चिताओका निरोध करना मनवाले जीवोसे हो सकता है। मनके द्वारा विचार करना बारहवे गुणस्थानतक

है। केवलज्ञानी महाराजके जब भावमन नही है तो उनके एकाग्र होकर चिंताओका निरोध कर लेना स्वरूपध्यान किस प्रकार सम्भावित होता है ? जैनोने केवलज्ञानी आत्माके पिछले दो शुक्लध्यानोका होना जो अभी कहा है, उसे सुघटित कीजिये। ऐसी आशका उपस्थित हो जानेपर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिको द्वारा इस समाधानको कह रहे है।

संक्लेशांगतयैकत्र चिंतां चिंतांतरच्युता।
पापं ध्यानं यथा प्रोक्तं व्यवहारनयाश्रयात् ॥ १५ ॥
विशुध्यंगतया चैवं धर्म्यं शुक्लं च किंचन।
समनस्कस्य तादृक्षं नामनस्कस्य मुख्यतः ॥ १६ ॥
उद्भूतकेवलस्यास्य सकृत्सर्वार्थवेदिनः।
ऐकाग्र्याभावतः केचिदुपचाराद्वदन्ति तत् ॥ १७ ॥

कोई मनुष्य अपने इष्ट पुत्रका वियोग हो जानेपर जैसे महान् सक्लेशको धारता हुआ आर्त्तध्यान करता है, और कोई हिसानन्दी जीव हिसाद्वारा रौद्रध्यान कर रहा है। ऐसे दुर्ध्यानोके स्थलोपर अन्य चिताओसे च्युत यानी निरुद्ध हो रही एकही अर्थमे की गयी चिता जैसे सक्लेशकारण या सक्लेशका कार्य अथवा सक्लेश स्वरूप हो जानेसे पापरूप ध्यान हो जाती है। यो ठीक कहा गया है उसी प्रकार व्यवहार नयका आश्रय कर लेनेसे चारो धर्म्यध्यान और कोई शुक्लध्यान भी विशुद्धिकार्य, विशुद्धि-कारण और विशुद्धिस्वरूप यो विशुद्धिके अग हो जानेसे तिस प्रकार मनवाले जीवके ही हो रहे माने गये है। मुख्यरूपसे मनरहित जीवका कोई भी ध्यान नही होता है। अर्थात् आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान जैसे मनस्वी जीवके होते है जो कि संक्लेशके अग है, उसी प्रकार विशुद्धिके अग हो रहे धर्म्यध्यान और दो पहिलेके शुक्लध्यान भी मनवाले जीवके ही सभवते है, असज्ञी जीवके ध्यान नही होते है। तथा भाव मनसे रीते हो रहे तेरहवे, चोदहवे गुणस्थानवाले केवलज्ञानीके भी मुख्य रूपसे ध्यान नही है। जब कि उनको सपूर्ण पदार्थोका युगपत् प्रत्यक्ष करनेवाला केवलज्ञान प्रकट हो गया है। तो वे अन्य विषयोसे चिन्ताओको हटाकर एक अर्थमे चिताको कथमपि नही रोके रह सकते है।

वस्तुत. उनको चिता (मानसिक विचार) होना ही नहीं सम्भवता है,अत' अत केवलज्ञानीका मुख्यरूपसे ध्यान नही है। जब कि केवलज्ञान जिस जीवको प्रकट हो गया है वह एक ही बारमे सपूर्ण अर्थोका साक्षात् ज्ञान कर लेता है। इसके अन्य अर्थोसे हटाकर एक ही अर्थमे मुख्यतया ध्यान लगानेकी एकाग्रताका अभाव है। अत केवलज्ञानियोके वह ध्यान उपचारसे माना गया है ऐसा कोई विद्वान् समाधान कह रहे हैं।

चिंतानिरोधसद्भावो ध्यानात्सोपिनिबंधनं ।
तत्र ध्यानोपचारस्य योगे लेश्योपचारवत् ॥ १८ ॥
सर्वचिंतानिरोधस्तु यो मुख्यो निश्चितान्नयात् ।
सोस्ति केवलिनः स्थैर्यमेकाग्रं च परं सदा ॥ १९ ॥
मुख्यं ध्यानमतस्तस्थं साक्षान्निर्वाणकारणं ।
छद्मस्थस्योपचारात्स्यात्तदन्यास्तित्वकारणात् ॥ २० ॥

उक्त अकलकसमाधान श्रीविद्यानन्द स्वामीको सतोषकर प्रतीत नही होता है। " परे केवलिन " इस सूत्रोक्त रहस्यको ये मुख्य रूपसे साधना चाहते हैं। बात यह है कि ध्यानसे चिंताओके निरोधका सद्भाव हो जाता है। वह चिन्तानिरोध भी उनके केवलज्ञानियोमे ध्यानके उपचारका कारण हो रहा है। जैसे कि तेरहवे गुणस्थानमे कपायके नही होते हुये केवल योगके ही होनेपर लेश्याका उपचार मान लिया गया हैं। भावार्थ–एकाग्र होकर अन्य चिन्ताओका निरोध करना ध्यान है। " कषायोदयानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या " कपायके उदयसे रगी हुआ योगोकी प्रवृत्ति लेश्या हैं। तेरहवे गुणस्थानमे केवल विशेष्य दल योग प्रवृत्ति है। कषायोदयसे रगा हुआ यह विशेपण नही है। अत लेश्या उपचारसे मानी गयी है। तदनुसार एकाग्रता विशेषणके नही घटनेपर मात्र चिन्तानिरोधको उपचारसे ध्यान मान लिया गया है किन्तु निश्चयनयसे विचारनेपर जो सर्व चिन्ताओका निरोध हो जाना ध्यान है वह तो केवलीके मुख्य रूपसे माना ही है। तथा स्थिरतारूप उत्कृष्ट एकाग्रपना भी केवलज्ञानी मुनिके सर्वदा विद्यमान है। इस कारण विशेष्य दल और विशेषणदल दोनो घटित हो जानेसे उस केवलज्ञानीके ध्यान भी मुख्य मानना चाहिये जो कि ध्यान साक्षात् रूपसे मोक्षका

कारण है । अद्यावधि शुक्लध्यान नही होनेसे मोक्ष नही हो सकी थी । परमपुरुषार्थ हो रहे मोक्षका प्रधानकारण ध्यान ही है । उपचरित कारणोसे छोटासा कार्य भी नही होता है, मट्टीकी गाय दूध नही देती है, मट्टीका खिलौना घोडा कभी गाडीको नही खीच सकता है, तो मुक्ति प्राप्त होना इतना बडा कार्य उपचरित ध्यानसे कैसे हो सकता है ? कभी नही । वस्तुत एकाग्रता केवलज्ञानमे भले प्रकार घटित हो जाती है, भलेही छद्मस्थ जीवोके उपचारसे ध्यान कह दिया जाय क्योकि उन छद्मस्थोके चित्तको व्याक्षेप करनेवाले अन्य कारणोका अस्तित्व पाया जाता है । केवलज्ञानीमे तो व्याक्षेप न होकर स्थिरता परिपूर्ण वर्त रही है । अतः केवलज्ञानीका ध्यान भी मुख्य ध्यान ही है ।

यथैकवस्तुनि स्थैर्यं ज्ञानस्यैकाग्र्यमिष्यते ।
तथा विश्वपदार्थेषु सकृत्तत्केन वार्यते । २१ ।
मोहानुद्रेकतो ज्ञातुर्यथा व्याक्षेपसंक्षयः ।
मोहिनोस्ति तथा वीतमोहस्यामौ सदा न किम् ॥ २२ ॥
यथैकत्र प्रधानेर्थे वृत्तिर्वा तस्य मोहिनः ।
तथा केवलिनः किं न द्रव्येऽनन्ताविवर्तके ॥ २३ ॥
इति निश्चयतो ध्यानं प्रतिषेध्यं न धीमता ।
प्रधानं विश्वतत्त्वार्थवेदिनां प्रस्फुटात्मनां ॥ २४ ॥

जिस प्रकार कि एक वस्तुमें स्थिर होकर उपयोग लग जाना ही ज्ञानकी एकाग्रता इष्ट की गयी है । उसी प्रकार केवलज्ञानीकी सपूर्ण पदार्थोमे एक ही बार स्थिर होकर उपयोग लगा रहना ही ज्ञानकी स्थिरता है, यह किसके द्वारा निवारणकी जा सकती है ? अर्थात् केवलज्ञानीके ज्ञानकी भी सपूर्ण पदार्थोमे स्थिरता हो जानाही एकाग्रता है । तब तो केवलज्ञानीके भी मुख्य ध्यान मानना अनिवार्य है । दशवे गुणस्थान तक मोहका उदय पाया जाता है । आठवे, नवमे, गुणस्थानोमे मोही जीवके जिस प्रकार ज्ञानी ध्याताके मोहोदयकी तीव्रता नही होनेसे व्याक्षेपो (यहाँ वहाँ उपयोगका बट जाना) का बढिया क्षय हो जाता है । उसी प्रकार सर्वथा मोहरहित केवलज्ञानीके वह व्याक्षेपका नाश भला क्यो नही होगा ? भावार्थ--ध्यानको बिगाडनेवाले व्याक्षेपोका

क्षय केवलज्ञानीका सदा विद्यमान है जो कि छद्मस्थोसे भी अधिक ध्यान लग जानेकी पुष्टिका कारण है। तीसरी बात यह भी है कि पहिलेसे लेकर दशवे गुणस्थानतकके उन मोहसहित जीवोके जिस प्रकार एक प्रधान अर्थमे ज्ञानधाराकी वृत्ति हो जाती है। जो कि मुख्य ध्यान कहा जाता है उसी प्रकार अनन्त पर्यायोको धार रहे प्रत्येक अनन्ते द्रव्योमे केवलज्ञानीके ज्ञानकी प्रवृत्ति क्यो नही एकाग्रवृत्ति कही जायगी ? अर्थात् एक प्रधान अर्थको जाननेवाला यदि ध्यानी कहा जा सकता है। तो अनन्तानन्त पर्यायोवाले अनन्तानन्त द्रव्योको युगपत् जाननेवाला केवलज्ञानी तो बढिया सुलभतासे ध्यानवान् है। इस प्रकार विचारशील बुद्धिमानो करके निश्चयनयसे भी केवलज्ञानीके ध्यान मानना चाहिये। केवलज्ञानीको मुख्यरूपसे ध्यान हो जानेका निषेध करना योग्य नही है। प्रकर्षरूपेण स्पष्ट स्वरूप सपूर्ण तत्त्वार्थोके वेत्ता केवलज्ञानियोके प्रधान यानी मुख्य ध्यान है, उपचरित नही।

सयोगकेवली ध्यानी यदि धर्मोपदेशना।
कथं ततः प्रवर्तेतेत्येके तत्राभिधीयते ॥ २५ ॥
अन्तर्मुहूर्तकालं वा ध्यानस्यानेकवत्सरं।
नैकाग्र्यं केवलिध्यानं प्रसिद्धं तत्त्वदेशिनाम् ॥ २६ ॥
तत एव च ते सिद्धाः कृतकृत्या जिनाधिपाः।
स्तूयन्ते सिद्धसाधर्म्यात्सदेहत्वेपि धीधनैः ॥ २७ ॥
अयोगित्वसमुद्भूतेः पूर्वमन्तर्मुहूर्तमा।
तृतीयं ध्यानमाख्यातं वाक्प्रवृत्या विवर्जितं ॥ २८ ॥
वाक्कायवृत्तिसद्भावे यथा ध्यानी न मादृशः।
तथार्हन्निति तस्यास्तूपचाराद्ध्यानदेशना ॥ २९ ॥

यहाँ कोई शका उठा रहे है कि तेरहवे गुणस्थानमे सयोग केवलज्ञानी महाराज यदि ध्यान लगा रहे कहे जाते है तो उनके द्वारा भला धर्मका उपदेश किस प्रकार प्रवर्तेगा ? । ध्यान अवस्थामे सामान्य मुनि भी उपदेश नही दे सकते है। तो केवलज्ञानी मुख्यध्यानी होकर धर्मोपदेश कैसे देगे ? । इस प्रकार कोई एक पडित आक्षेप

कर रहे है। उस आक्षेपके प्रवर्तनेपर ग्रन्थकारसे यह उत्तर कहा जा रहा है कि ध्यानकी एकाग्रता अन्तर्मुहूर्त कालतक मानी गयी है। अनेक वर्षोतक ध्यानकी एकाग्रता बने रहना प्रसिद्ध नही है। तत्वोका उपदेश कर रहे केवलज्ञानियोका ध्यान भी अनेक वर्पोतक ठहर रहा नही माना गया है। तेरहमे गुणस्थानके अन्तमे केवलज्ञानीको तीसरा शुक्लध्यान इष्ट किया गया है। अत उपदेश देते समय लाखो, करोडो, वर्पोतक वे मात्र केवलज्ञानीं है। ध्यानी नही है जैसे कि सिद्धभगवान् केवलज्ञानी होकर भी ध्यानी नही है। तिसही कारणसे बुद्धिरूप धनको धारनेवाले विद्वानो करके वे सिद्धस्वरूप हो रहे स्तुति (त) किये जाते है। देहसहित होते सन्ते भी सिद्धोके समान धर्मोके धारनेकी अपेक्षासे तेरहवे गुणस्थानवाले केवलज्ञानियोको सिद्ध कहा जाता है। सिद्ध भी करने योग्य सपूर्ण कार्योको साध चुके है अत कृतकृत्य है तथैव कर्मोको जीतनेवालोके अधिपति हो रहे सयोगकेवली भी कृयकृत्य है। स्तोत्रोमे ऐसा वर्णन है। हाँ, चौदहवे गुणस्थानमे आयोगीपन अवस्थाके उत्पन्न होनेके पहिले अन्तर्मूहूर्त कालतक तेरहवे गुणस्थानमे तीसरा शुक्लध्यान केवल ज्ञानीको हो रहा बखाना गया है जो कि धर्मोपदेश देने या कोई भी वचनकी प्रवृत्तिसे विशेषरूपेण वर्जित है। योगोका निरोध करते हुये तेरहवेके अन्तमे ध्यानी केवलज्ञानीका धर्मोपदेश नही प्रवर्तता है। वचन या कायकी यहा वहाँ अटसट प्रवृत्तिका सद्भाव होनेपर जिस प्रकार हमसरीखे अल्पज्ञानी पुरुष ध्यानी नहीं है। उसी प्रकार तेरहवे गुणस्थानमे वर्षोतक वचन या शरीरकी प्रवृत्ति होनेपर अर्हन्त भगवान् भी ध्यानी नही है। ऐसे उन अर्हन्त भगवान्के भलेही उपचारसे ध्यानका निरूपण कर दिया जाय किन्तु तेरहमे, चौदहवे गुणस्थानोके अन्तिम अन्तर्मूहूर्तोमे केवलज्ञानियोके पाये जा रहे दो शुक्लध्यान मुख्यही मान लेने चाहिये।

तदेतद्व्यवहारनिश्चयनयनिरूपणनिपुणैः प्रमाणांतःकरणप्रवणैः सर्वमालोच्यं परमगहनत्वाच्छद्मस्थास्मादृशजनानामिति निवेदयन्नुपसंहरति,—

तिसकारण व्यवहारनय और निश्चयनयसे प्रतिपादन करनेमे निपुण हो रहे और प्रमाणज्ञानोमे अन्तःकरण (मन) की वृत्तिको लगानेमे प्रवीण हो रहे विद्वानो करके यह सभी ध्यानका प्रकरण विचार कर लेने योग्य है। क्योकि अल्पज्ञानी हमसरीखे अल्पज्ञ मनुष्योके विचारानुसार ध्यानतत्व परमगहन है। इस रहस्यका निवेदन करते हुये ग्रन्थकार प्रकरणका उपसहार (सकोच) करते है, उसकी शिखरिणी छन्दद्वारा प्रतिपत्ति कीजिये।

क्वचिच्चिन्ता ध्यानं नियतविषयं पुंसि कथितं,
क्वचित्तस्याः कात्स्न्र्याद्विलयनमिदं सर्वविषयं,
क्वचित्किंचिन्मुख्यं गुणमपि वदंति प्रतिनयं,
ततश्चिन्त्यं सद्भिः परमगहनं जिनपतिमतम् ॥ ३० ॥

किसी किसी यानी छद्मस्थ अल्पज्ञानी आत्मामे एकही विषयको मुख्य नियत-कर चिन्तन करना ध्यान कहा गया है । और किसी किसी अर्थात् केवलज्ञानी आत्मामे उस चिन्ताका पूर्णरूपसे नाश होकर सपूर्ण विषयोको जान रहा यह ध्यान व्यवस्थित किया गया है। कही कही कोई ध्यान अन्यविषयोंसे चिन्ताओको हटाकर एकही विषयमे रोके रहना मुख्य कहा गया है । और किसी नयके अनुसार उसी ध्यानको गौण भी कह देते है । तिस कारण प्रमाण प्रक्रियाके कुशलवेत्ता और नययोजनिकाके प्रकाड विद्वान् सज्जन पुरुषो करके प्रत्येक नयकी अपेक्षा लगाकर यह ध्यान तत्त्व चिंतन कर लेने योग्य है । चौथे गुणस्थानी जीवोसे लेकर वारहमें गुणस्थानतकके कर्मजेता जिनोके अधिपति हो रहे श्री जिनेद्रभगवान्का शासन अतीव गम्भीर है । प्रमाण और नय विव-क्षाके अन्त प्रविष्ट कुशाग्रवुद्धि ध्यानी पुरुषो करके जिनेद्रोक्त ध्यान तत्त्वका चिरकालीन अनुभव करके सुनिर्णय कर लेना चाहिये । अतीव गूढ विषयोकी विशेष व्याख्या कर देनेसे अल्पज्ञो करके कदाचित् भूल हो जाना सभव है। अत. अनुभवगम्य शुभध्यानके गभीर तत्त्वका विवेचन प्रमाण, नय, निष्ठ पुरुष स्वय कर लेवे ।

इति नवमाध्यायस्य प्रथममान्हिकम् ॥

यहा तक उमास्वामि महाराज विरचित मोक्षशास्त्र महान् ग्रथके नववे अध्यायकी श्रीविद्यानन्द स्वामिविरचित श्लोकवार्त्तिक वृत्तिका पहिला आन्हिक समाप्त हुआ।

सद्गुप्त्यादिसमर्थकारणभव दुष्कर्मणां संवरः
शुद्धात्मात्मकधर्मगर्भिततपोजन्या दधन्निर्जरां,
श्रेणीं धर्म्यपरोधिरुह्य च वहन् शुक्लद्वयं क्षायिकीं,
ध्यानं स्नातकसीमसयम्पिगणः श्रेयो भृशं नः क्रियात् ॥ १ ॥

* * *

अगले सूत्रका अवतरण यह है कि परीषहोके जीतने और तपश्चरणसे कर्मोंकी निर्जरा होना जो कहा गया है । वहाँ यह स्पष्ट नही समझा जाता है कि सभी सम्यग्दृष्टि जीवोके कर्मोंकी निर्जरा होना क्या समान है ? अथवा क्या किसी किसी सम्यग्दृष्टिकी कर्मनिर्जरा न्यून या अधिक भी है ? ऐसी निर्णय करनेकी इच्छा प्रवर्तनेपर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्रको कह रहे है ।

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, चारित्रमोह, उपशमक, उपशातमोह, चारित्रमोहक्षपक, क्षीणमोह और केवलज्ञानी जिनेद्र इन दशो आत्मज्ञानियोकी क्रमसे उत्तरोत्तर असख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती रहती है । भावार्थ-- भव्य, पचेन्द्रिय, सज्ञी, पर्याप्तक, सातिशयमिथ्यादृष्टी जीव, काललब्धि, प्रायोग्यलब्धि, विशुद्धिलब्धि आदिसे सहकृत हो रहा सन्ता परिणामोकी विशुद्धिसे बढ रहा जब पहिले गुणस्थानके अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमे अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन करण करता है । उस अवसरपर अपूर्वकरण अवस्थामे अनन्तानन्त कर्मोकी निर्जरा करता है । यहा मूलमे अनन्तानन्त कर्मोसे असख्यातगुणा गुणाकार लगाया जाय यदि मूलमे असख्यात कर्मोकी निर्जरा मानकर पुन दशस्थानोपर क्या असख्यात स्थानोतक भी असख्यात गुणी निर्जरा की जायगी तो भी जीवमे लग रहे अनन्तानन्त कर्मोकी निर्जरा हो जाना पूरा नही पडेगा । हा, मूलमे सातिशय मिथ्यादृष्टिके अपूर्वकरण दशामे हो रही अनन्तानन्त कर्मोकी निर्जरा माननेसे पुन असख्यात गुणी जो निर्जरा होगी वह अनन्तानन्त कर्मोकी ही निर्जरा होगी । ऐसी दशामे किञ्चित् न्यून डेड गुणहानि प्रमाण सचित द्रव्यकी असख्यात बारोमे ही झटिति निर्जरा हेवर मोक्ष हो जाना सभव जाता है । अपूर्वकरण परिणामोके धारी सातिशय मिथ्यादृष्टिकी कार्मिक निर्जरासे चौथे गुणस्थानवर्ती प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीवके कर्मोकी निर्जरा असख्यात गुणी हो रही है, और काल तो पूर्वसे सख्यात गुणा न्यून है । अर्थात् सम्यग्दृष्टि, श्रावक आदि पूर्व पूर्व जीवोके जितने कालमे जितनी कर्मनिर्जरा हो जाती है । उत्तरोत्तर जीवोकी उससे सख्यात गुणे कमती ही कालमे उन कर्मोसे असख्यात गुणे कर्मोंकी

निर्जरा हो जाती है । सम्यग्दृष्टीकी अपेक्षा पाचवे गुणस्थानवर्ती श्रावककी कर्मनिर्जरा असख्यातगुणी है । श्रावकसे छठे, सातवे गुणस्थानवर्ती विरत मुनिकी कर्मनिर्जरा असख्यातगुणी अधिक होती रहती है । सातवे गुणस्थानवाला मुनि द्वितीयोपशम सम्यक्त्वको धारनेके लिये जब अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभोका विसयोजन करनेमे तत्पर होता है । तब पहिले विरत मुनिसे असख्यातगुणी निर्जरावाला है । चौथेसे लेकर किसी भी सातवे तक चार गुणस्थानोमे क्षयोपशम सम्यग्दृष्टी मनुष्य जब केवली या श्रुतकेवलीके निकट दर्शन मोहनीयकी तीन प्रकृतियोका क्षय करनेके लिये उद्यत हो जाता है । तब पूर्वोक्त अनन्तवियोजकसे असख्यातगुणी कर्म निर्जराका धारी है । एव द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी या क्षायिक सम्यग्दृष्टी होकर वह जब चारित्र मोहनीयकी इकईस प्रकृतियोका उपशम करनेके लिये व्यापार करता है । उपशमक नामको धार रहा पूर्वोक्तसे असख्यातगुणी निर्जराका अधिकारी है । और वही फिर ग्यारहवे गुणस्थानमे मोहनीयको इकईसो प्रतियोका उपशम कर चुका उपशान्तमोह जीव पूर्वोक्त उपशमकसे असख्यातगुणी कर्मनिर्जराको करता रहता है । क्षायिक सम्यग्दृष्टी जीव क्षपक श्रेणीपर चढ रहा जब चारित्र मोहनीयकी इकईस प्रकृतियोका क्षय करनेके लिये समुद्यत होता है । तब मोहक्षपक नामको धार रहा क्षपकश्रेणीसे आठवे, नवमें, दशवे, गुणस्थानोमे ग्यारहवे गुणस्थानवालेसे असख्यात गुणित कर्मोकी निर्जरा कर लेता है । और वही जीव जो कि चारित्र मोहनीयका पूर्णरूपेण क्षय कर चुका क्षीणकषाय नामकधारी होकर पूर्वोक्त क्षपकसे असख्यातगुणी कर्मनिर्जराको करता चला जाता है । वही क्षीणमोह आत्मा जब दूसरे शुक्लध्यान द्वारा घातिकर्मोका समूल नाश कर चुका जिनेद्र मामका धारी होकर तेरहवे, चौदहवे, गुणस्थानोमे पूर्वोक्त क्षीणमोहसे असख्यात गुणी कर्मनिर्जरा कर लेनेका प्रभु है । यो इन दश स्थानोमे क्रमक्रमसे आत्मा कर्मोकी असख्यात गुणी निर्जरा करता हुआ अन्तमे सर्वकर्मोकी मोक्षदशाको प्राप्त कर लेता है । उत्तरोत्तर काल सख्यातगुणा हीन है यह कहा जा चुका है । " तव्विवरीया काला "

किमर्थमिदमप्रस्तुतमुच्यते ? तपसानिर्जरा चेति प्रकृते तपसि बाह्येऽभ्यन्तरे च ध्यानपर्यन्ते व्याख्याते सर्वसम्यग्दृष्टीनां यथासम्भवं बाह्यरूपेणाभ्यन्तररूपेण च तपसा समाननिर्जरात्वप्रसक्तौ तद्विशेषप्रतिपादनार्थं प्रस्तुतमेवेदं युक्तमभिधातुं । कुतः पुनः सम्यग्दृष्टयादयोऽसख्येयगुणनिर्जराः क्रमाद्भवन्तीत्याह; —

यहा कोई आक्षेप करता है कि यहा ध्यानका प्रस्ताव चला आ रहा है। अगले सूत्रमे ध्यान या तपको करनेवाले निर्ग्रन्थोका निरूपण किया जायगा। किन्तु यह प्रस्ताव प्राप्त नहीं हो रहा असख्यातगुणी निर्जराका प्रतिपादक सूत्र किसलिये कहा जा रहा है ? बताओ। ऐसा तर्क उपस्थित हो जानेपर ग्रन्थकार समाधान करते है कि " तपसा निर्जरा च " इस सूत्रसे तपका निरूपण करना प्रकरण प्राप्त चला आ रहा है। बाह्यतप और ध्यानपर्यत अभ्यन्तर तपोका व्याख्यान कर चुकनेपर यह बात विना कहे ही प्रसगसगतिसे प्राप्त हो जाती है कि चौथे गुणस्थानसे प्रारभ कर चौदहवे गुणस्थानतकके सभी जीव सम्यग्दृष्टी है। तथा यथासभव बाह्यरूप और अभ्यन्तररूप तपश्चरणसे भी उनमे यथायोग्य समानता पायी जाती है। ऐसी दशा होनेपर उन दशो- पदोमे कर्मोकी निर्जरा भी समान कोटिकी होती होगी किन्तु प्रसग प्राप्त होनेपर अर्थापन्न हुआ ऐसा सम्भाव्यसिद्धात सूत्रकारको अभीष्ट नही है। अत उस रहस्यकी विशेप प्रतिपत्ति करानेका प्रयोजन रख सूत्रकारका यह " सम्यग्दृष्टिश्रावक. " इत्यादि सूत्र कथन करनेके लिये समुचितही प्रस्ताव प्राप्त समाधान वचन है। अर्थात् सम्यग्दर्शन या तपस्या होते हुये भी आत्मविशुद्धिकी वृद्धि होते रहनेसे कर्मनिर्जरा असख्यातगुणी बढती चली जाती है। यहा कोई पूछता है कि सम्यग्दृष्टी, श्रावक, आदिक उक्त जीव फिर किस कारणसे असख्यात गुणी निर्जरावाले उत्तरोत्तर क्रमसे हो जाते है ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा उत्थित हो जानेपर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्त्तिकको परिभापित करते है।

सम्यग्दृष्ट्यादयः सन्त्यसंख्येयगुणनिर्जराः ।
क्रमादत्र तथा शुद्धेरसंख्येयगुणत्वतः ॥ १ ॥

यहाँ प्रकरणमे सम्यग्दृष्टि, श्रावक, आदि (पक्ष) क्रमक्रमसे असख्यात गुणित निर्जरावाले है (साध्य) तिस प्रकार आत्मशुद्धिको असख्यातगुणी वृद्धि होते रहनेसे (हेतु)। यो अनुमान बनाकर सूत्रोक्त सिद्धान्तको युक्तिपूर्वक साध दिया गया है। अर्थात् जैसे अपने आत्मीय प्रसन्नताकी उत्तरोत्तर वृद्धि होते रहनेसे रोगोत्पादक या चिन्ताकारक पौद्गलिक पर्यायोकी असख्यात गुणी निर्जरा हो जाती है। (अन्वयदृष्टात) उसी प्रकार आत्मीय विशुद्धिके बढते रहनेसे कर्मोकी निर्जरा होना बढता चला जाता है।

प्रथमसम्यक्त्वादिप्रतिलम्भे अध्यवसायविशुद्धिप्रकर्षादसंख्येयगुणनिर्जरत्वं दशाना। प्रथमं हि भव्यस्योपशमसम्यक्त्वं तदादयो वेदकसम्यक्त्वक्षायिकसम्यग्दर्शनश्रावकत्वादयः सूत्रोक्तास्तत्र प्रतिलब्धाध्यवसायविशुद्धिप्रकर्षाद्दशानामपि क्रमादसंख्येयगुणनिर्जरत्वमुपपद्यते। क्षपक इत्यसाधुरन्वाख्यानाभावादिति चेन्न, च शब्देनमित्सञ्ज्ञोपलब्धेः क्षै जै षै क्षये इत्यस्य कृतात्वस्य णौ पुकि कृते जनी–जृषक्नसु–रञ्जोऽमन्ताश्चेति च शब्देन मित्सञ्ज्ञोपलब्धे ह्रस्वत्वात् साधुरेव क्षपकशब्द इत्यर्थः।

प्रथमोपशमसम्यक्त्व, श्रावकपन, आदि प्रशस्त परिणामोकी प्राप्ति हो जानेपर आत्मीय पुरुषार्थ स्वरूप अध्यवसायकी विशुद्धिका प्रकर्ष हो जानेसे उक्त दशो स्थानोके (मे) असख्यात गुणी निर्जराका हो जाना प्रमाणसिद्ध हो जाना है। प्रथमही अनादि मिथ्यादृष्टी भव्यजीवके उपशम सम्यक्त्व होता है। उसको आदि लेकर पुन सम्यक्त्व प्रकृतिका वेदन होते रहने देनेवाला क्षयोपशम सम्यक्त्व उपजता है। क्षयोपशम सम्यग्दर्शनसेही क्षायिक सम्यग्दर्शन होनेका मार्ग है। पाचवे गुणस्थानमे श्रावकपना तीनो सम्यग्दृष्टियोके सभवता है; किन्तु यहा प्रकरणमे उपशम सम्यक्त्व और क्षयोपशम सम्यक्त्वको धारनेवाला सयमासयमी श्रावक लिया जाय। क्योकि दर्शनमोहनीयका क्षय करनेवाला पाचवे स्थानपर कठोक्त हो रहा है। श्रापकपनसे आगे विरतपन और अनतवियोजकपन आदि गुणधारी पुरुषार्थी जीव सूत्रमे कहे जा चुके है। उन उन पुरुषार्थपूर्वक हुये परिणामोमें प्रत्येकमे प्राप्त की गयी प्रयत्नाध्यवसायोकी विशुद्धिका बढनेसे क्रमक्रमसे दशो भी स्थानोका असख्येयगुणी निर्जराका धारीपना युक्तिपूर्वक सिद्ध हो जाता है। यहा कोई अपरिपक्व वैयाकरण आक्षेप कर रहा है कि सूत्रमे कहा गया क्षपक शब्द तो व्याकरण नियमसे साधु सिद्ध नही होता है। क्योकि अन्वाख्यानमे मित् सज्ञा होती है। यहा अन्वाख्यान नही है। " किंचित्कार्य विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तर विधातु पुनरुपादानमन्वादेश "। किसी कार्यका विधान करनेके लिये ग्रहण किये जा चुके का पुन अन्य कार्यका विधान करनेके लिये उपादान करना अन्वादेश है। जैसे कि इसने व्याकरण पढा है, अव इसको न्यायशास्त्र पढाओ। अन्वादेश होता तव तो मित्सज्ञा होकर ऱ्हस्व हो सकता था, यो क्षपक शब्द साधु वन जाता। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि च शब्द करके मित्सज्ञा होना देखा जाता है। भ्वादिगणकी " क्षै, जै, षै, क्षये " क्षै इस धातुको आत्व कर लेनेपर णि प्रत्यय परे रहते मन्ते पुक् करनेपर

" जनी जृष क्नसुरञ्जोमन्ताश्च " इस वार्त्तिकमे पडे हुये च शद्व करके मित्सञ्ज्ञा हो जानेकी उपलब्धि हो रही है। अत " मिता न्हस्व " अनुसार न्हस्व हो जानेसे क्षपक शद्व समीचीन ही है, यह सूत्रोक्त अर्थ ठीक समझ लिया जाय।

अथ तपोभाजां संयतानां परस्परं गुणविशेषाद्भेदेपि नैगमनयान्नैग्रंथ्यसाम्य-मादर्शयन्नाह; —

असख्यातगुणी निर्जराका प्ररूपण समझ चुकनेपर अब यहाँ कोई तर्क उठा रहा है कि सम्यग्दर्शनके होते हुये भी क्रमसे न्यारी न्यारी असख्यातगुणी निर्जरा होनेके कारण जब तपोधारी इन सयमी मुनियोकी परस्परमे समानता नही है। तब तो ग्यारह प्रतिमाओमे विभक्त हो रहे श्रावक जैसे निर्ग्रन्थ नही है। उसी प्रकार ये विरत, अनत-वियोजक आदि तपस्वी भी निर्ग्रथ नही हो सकेगे। हा, बारहवे या तेरहवे गुणस्थान-वालोको भलेही निर्ग्रन्थ कह दिया जाय। क्योकि इनके किसी भी सत्तामे अन्तरग, बहिरग परिग्रह नही है। इसपर आचार्य कह रहे है कि वक्ष्यमाण सयमी तपस्वियोके परस्परमे गुणोकी विशेपता हो जानेसे भेद होते हुये भी नैगमनयकी अपेक्षा निर्ग्रथपनेकी समानता है। इसी रहस्यको स्पष्ट कर दिखला रहे सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्रको कह रहे है। भावार्थ--भात बनानेकी तैयारीमे लग रहा या चावल धो रहा, आचपर चावल चढा रहा ये सब नैगमनयकी अपेक्षा भान बनानेमे समान है। अथवा प्रवेशिका, विशारद, शास्त्रीय, कक्षाके सभी छात्र विद्यार्थीपनेसे समान है। सबको उच्चकोटिके विद्वान् बन जानेका सकल्प लग रहा है। उसी प्रकार ये विरत आदिक और पुलाक आदिक सभी निर्ग्रन्थ है। अतरग, बहिरग परिग्रहोके परित्यागका सबके सकल्प लग रहा है। नैगमनयके अनेक भेद है। भूत, भविष्य, वर्तमान, कालीन विषयोको ग्रहण करती हुई नैगमनय सकल्पित, असकल्पित, अनेक ज्ञेयोपर व्यापक अधिकार जमाये रखती है।

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४६ ॥

पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पांच निर्ग्रन्थ मुनि कहे जाते है। सम्यग्दर्शन इन सबके विद्यमान है। तथा भूपण, वस्त्र, आयुध, आदिसे रहित हो रहा परिग्रहवर्जितपना इन सवमें पाया जाता है।

अपरिपूर्णव्रता उत्तरगुणहीनाः पुलाकाः ईषद्विशुद्धपुलाकसादृश्यात् अखडित व्रताः शरीरसंस्कारर्द्धिसुखयशोविभूतिप्रवणा वकुशाः, छेदशवलयुक्तत्वात् । बकुशशद्बो शबलपर्यायवाचीह ।

मुनियोके चौरासी लाख उत्तर गुणोसे वहुभाग हीन हो रहे, किन्तु उत्त गुणोकी प्राप्तिमे सद्भावनाओको रखनेवाले, तथा कभी कभी किसी किसी अहिंसा महाव्रतोमे भी परिपूर्णताको नही प्राप्त हो रहे मुनि महाराज पुलाक कहे जाते हे पुलाकका अर्थ छोटा धान्य है। जो कि गेहू, चना, चावल आदिसे वहुत छोटा होत हैं। कभी कभी अपने योग्य शरीर अनुसार भी वह नही पूर्ण हो पाता है। पूर्ण विशु भी नही आ पाती हैं, यो स्वल्पविशुद्ध पुलाक नामक धान्यकी सदृशता हो जानेसे इ मुनियोको पुलाक नामसे कहा जाता है। जिन मुनियोके अहिसादिक मूलव्रत त अखडित हे। किंतु जो शरीरसस्कार और पिच्छिका आदि उपकरण तथा शिला शास्त्रवेप्टन आदिको विभूपित करनेमे अनुकूल वृत्ति रखते है, ऋद्धिजन्य सुखकी औ यश प्राप्त करनेकी विभूतिमे प्रवीण रहते है। वे वकुशमुनि हे। छेदना, छेदोपस्थापन या मोहकी शवलता (विचित्र वर्णोंकाधारीपना) से युक्त हो रहनेसे इन विचि चारित्रवाले मुनियोको वकुश कहा गया है । क्योकि यहा प्रकरणमे चित्रवर्णोवाले पदार्थको कह रहे शवल शद्बके पर्यायवाची वकुश शद्बका निरूपण किया गया है।

कुशीला द्विविधाः प्रतिसेवनाकषायोदयभेदात् । कथञ्चिदुत्तरगुणविराधनं प्रतिसेवना ग्रीष्मे जघाप्रक्षालनवत्, सज्वलनमात्रोदयः कषायोदयस्तेन योगात्, मूलोत्तरगुण भृतोपि प्रतिसेवना कुशीला. कषायकुशीलाश्चोच्यते । उदके दण्डराजिवत्सनिरस्त- कर्माणोऽतर्मुहूर्त केवलज्ञानदर्शनप्रापिणो निर्ग्रन्थाः । प्रक्षीणघातिकर्माणः केवलिन स्नातका, स्नात वेदसमाप्ताविति स्वार्थिके के निष्पन्न शद्ब. । कुत एते निर्ग्रन्था पचापि मता इत्याह; —

प्रतिसेवनाकुशील और कपायोदय कुशील इन दो भेदोसे कुशील जातिके मुनि दो प्रकार हे। ग्रीष्मऋतुमे जघा (तिली) का प्रक्षालन कर लेना या शीतवायुके उन्मुख बैठ जाना आदि शिथिलाचार कर्तव्योके समान जो प्रमादाचरण कर बैठते है। यो मूल गुणो और उत्तर गुणोको पालते हुये भी क्वचित्--कथचित् उत्तरगुणकी विराधनाको प्रतिसेवन करनेवाले प्रतिसेवना कुशील है। और जिन मुनियोके अन्य प्रत्याख्यानावरण

आदि कपायोका तो उदय नही है किन्तु मात्र सज्वलन कपायका उदय है। उस कषायो-दयके योगसे ये मुनि कपाय कुशील माने जाते हैं। ये दोदो ही मुनि -मूलगुणो और उत्तरगुणोको धारते हुये भी प्रतिसेवना और कषायकी प्रधानतासे प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील कहे जाते हैं। पानीमे डण्डेकी लकीर खीच देनेसे जैसे व्यक्त नही होती है उसी प्रकार कर्मोका उदय जिनका व्यक्त नही है। मोहनीय कर्मोका जो भले प्रकार नाश कर चुके है। ज्ञानावरण आदि कर्मोका उदय भी जिनके अतीव मन्द है। अन्तर्मुहूर्त कालके पश्चात्ही जो केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त करनेवाले है। वे निर्ग्रन्थ नामके साधु हैं। जिन मुनीन्द्रोने चार घाति कर्मोकी सैतालीस और अघाति कर्मोकी नरकगति आदि सोलह यो त्रेसठि प्रकृतियोका प्रक्षय कर दिया है। ऐसे सयोग-केवली और अयोग केवली भगवान् स्नातक जातिके मुनीश्वर है। "स्नात वेदसमाप्तौ" वेद यानी ज्ञान की पूर्णतया समाप्ति हो जाने अर्थमे स्नातधातु प्रवर्तती है। यो स्नात-धातुसे स्व के ही अर्थको कह रहे स्वार्थमे क प्रत्यय कर देनेपर स्नातक शद्व व्याकरण प्रक्रियासे साधु निष्पन्न हो जाता है। यो, जैन सिद्धात अनुसार ये पाँचो मुनिराज निर्ग्रथ हैं। यहा कोई तार्किक प्रश्न उठाता है कि किस कारणसे या युक्तिसे भिन्न भिन्न हो रहे पाचो भी निर्ग्रन्थ मान लिये गये सिद्ध हो जाते है ? बताओ। ऐसा तर्क उपस्थित हो जानेपर ग्रन्थकार समाधानार्थ इन अग्रिम वार्त्तिकोको कह रहे है।

पुलाकाद्या मताः पंच निर्ग्रन्था व्यवहारतः।
निश्चयाच्चापि नैर्ग्रन्थ्य सामान्यस्याविरोधतः ॥ १ ॥
वस्त्रादिग्रंथसम्पन्नास्ततोन्ये नेति गम्यते।
बाह्यग्रंथस्य सद्भावे ह्यंतर्ग्रंथो न नश्यति ॥ २ ॥

सामान्यरूपसे निर्ग्रन्थपनेका कोई विरोध नही होनेसे पुलाक आदि पाचो मुनीन्द्र व्यवहारनयसे और निश्चयनयसे भी निर्ग्रन्थ माने गये है। तिस कारण उन पुलाक आदि पाचोसे भिन्न हो रहे जो वस्त्र, भूषण, घोडे, हाथी, जागीर, स्त्री, पुत्र, धन आदि परिगहोसे सम्पत्तिशाली बन रहे साधु है, वे निर्ग्रन्थ कथमपि नही है। यह बात समझ ली जाती है। कारण कि वस्त्र, वाहन आदि बाह्य परिग्रहका सद्भाव होने-पर अन्तरग कपाय परिग्रह नही नष्ट हो पाता है। यो जो साधु वस्त्र रखते है या

रुपया, सोना, रखते है। उनके बाह्य परिग्रहके साथ साथ कपाय, मिथ्यात्व, हास्य आदि अन्तरग परिग्रह भी डट रहा है। वस्तुत दिगबर मुनिही निर्ग्रन्थ है।

ये वस्त्रादिग्रहेप्याहुर्निर्ग्रन्थत्वं यथोदितं।
मूर्च्छानुद्भूतितस्तेषां स्त्र्याद्यादानेपि किं न तत् ॥ ३ ॥

जो श्वेतावर या वैष्णव सम्प्रदायवाले यो कह देते है कि वस्त्र, लठिया, पात्र, मठ आदि परिग्रहके होनेपर भी अपने शास्त्र कथित मन्तव्य अनुसार निर्ग्रन्थपना वखाना जा सकता है, क्योकि आदिकोमे उन साधुओकी मूर्च्छाकी प्रकटता नही है। मूर्च्छा होती तो परिग्रह होता। अव आचार्य कहते है कि तव तो उन श्वेतावर या वैष्णवोके यहा स्त्री, रियासत, रत्नभूपण, नृत्य युद्धसामग्री आदिका ग्रहण कर लेनेपर भी वह निर्ग्रन्थपना क्यो नही मान लिया जाय। वे कह सकते है कि मूर्च्छाकी उद्भूति नही है। किसी कारणवश हम स्त्रीको या सेनाको रखते है इत्यादि। तत्त्व यह है कि यदि दात नुकानेके लिये तृण या स्वल्प तन्तु भी रक्खा जायगा तभी वहिरग परिग्रहके साथही अन्तरग परिग्रहकी तीव्रता हो जायगी। ग्रन्थ माने किसी भी परिग्रहका है। गाठ लगाना या सिला हुआ कपडा पहिनना ये ग्रन्थके झूठे कपोलकल्पित लक्षण है।

विषयग्रहणं कार्य मूर्च्छा स्यात्तस्य कारणं।
न च कारणविध्वंसे जातु कार्यस्य संभवः ॥ ४ ॥
विषयः कारणं मूर्च्छा तत्कार्यमिति यो वदेत्।
तस्य मूर्च्छोदयोऽसत्त्वे विपयस्य न सिद्ध्यति ॥ ५ ॥
तस्मान्मोहोदयान्मूर्च्छा स्वार्थे तस्य ग्रहस्ततः।
स यस्यास्ति स्वयं तस्य न नैर्ग्रन्थ्यं कदाचन ॥ ६ ॥

अतरगमें मोह या मूर्च्छाके होनेपर ही वाह्यमें विपयोका ग्रहण किया जाता है। वस्त्र, रुपया, गाय, भोजन, पात्र आदि विपयोका ग्रहण करना कार्य है। और मूर्च्छा उसका अन्तरग कारण है। कारणका विध्वन्स हो जानेपर कदाचित् भी कार्यकी उत्पत्ति नही हो सकती है। अत जिस साध्वाभासने विपयोका ग्रहण कर लिया है। वह उभय ग्रन्थसे सहित हो रहा पूरा सग्रथ है। जो मोही जीव यो कहेगा कि विषय तो

कारण है। और मूर्च्छा हो जाना उसका कार्य है, कारणसे कार्य हो यही जाय ऐसा कोई नियम नही है। "नहि कारणानि अवश्य कार्यवन्ति"। अनेक कारण अन्य सामग्रीके नही मिलनेपर कार्य करनेसे वञ्चित पडे रहते है। अत साधुओके विषय ग्रहण होनेपर भी मूर्च्छा नही मानी जा सकती है। आचार्य कहते है कि उस वादीके यहाँ विषयका सद्भाव नही होनेपर मूर्च्छाका उदय हो जाना सिद्ध नही हो पावेगा। जब कि हम देखते है कि "उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणा मनोरथा" रुपया, पैसा, कोठी, दुकाने नही होते हुये भी दरिद्र जीवोके अनेक झूठे मनोरथ उपजते रहते है, नष्ट होते रहते है। करोडो भूखे पेट रहते है। एतावता क्या उनके ऊनोदर तप कह दिया जायगा ? असख्य पशु, पक्षी, नग्न रहते है। क्या इनको आचेलक्य सयमी कह देवे ? घरमे बैठा हुआ धीवर (मच्छलीमार) क्या अहिंसक है ?। श्मश्रुनवनीतको क्या परिग्रहत्यागी कह सकते है ? बात यह है कि इन सबके अन्तरगमे महामूर्च्छा अग्नि सधुक्षित हो रही है, अत ये सतोषी परिग्रही चक्रवर्तीसे भी अधिक महापरिग्रही है। विषयोके नही होनेपर भी जीवोसे तीव्र मूर्च्छा लग रही है। अत मूर्च्छाही अन्तरग कारण है। तभी बहिरग विषयोके ग्रहणमे प्रवृत्ति हो जाती है। तिसकारण आत्मामे मोहकर्मका उदय हो जानेसे मूर्च्छा परिणाम होता है, और उस मूर्च्छाके हो जानेसे उस मोही जीवकी स्वकीय विषयोमे ग्रहण करनेकी प्रवृत्ति हो जाती है। जिस जीवके स्वय यह विषयोका ग्रहण विद्यमान है। उस मोही जीवके निर्ग्रन्थपना कदाचित् भी नही समझा जायगा। अर्थात् केवल सिर मुडा लेनेसे या तीर्थजल स्नान कर लेने मात्रसे धार्मिकपनका अन्वय व्यतिरेक होवे तो मुडी हुयी भेड या मच्छली, मेंडके बगे धर्मात्मा समझे जावेगे। बात यह है कि अतरग परिग्रहकी पोट उतारे विना और आत्मीय शुद्धिके विना कोई भी मोक्षमार्गमे सलग्न नही हो पाता है। जो परिग्रहोको रखते हुये भी अपनेको उनसे अलिप्त वता रहे है, वे दयनीय है, इससे अधिक उनकी कोई आत्मवचना नही हो सकती है। जैनेद्र सिद्धान्त अनुसार उनको समीचीन बोधि प्राप्त होवे ऐसी सद्भावना है। यो युक्तियोसे परपक्षका निराकरण करते हुये पाचो मुनिवरोका निर्ग्रन्थपना साधकर स्वपक्ष पुष्ट किया गया है।

कश्चिदाह–प्रकृष्टाप्रकृष्टगुणानां निर्ग्रन्थत्वाभावश्चारित्रभेदात् गृहस्थवदिति तं प्रत्याह–न च, दृष्टत्वाद्ब्राह्मणशद्बवत्। न हि जात्याचाराध्ययनादिभेदाद्भिन्नेषु ब्राह्मणत्वं विरुध्यते, सग्रहव्यवहारापेक्षत्वात् निश्चयनयादेव समग्रगुणेषु तद्व्यपदेशसिद्धेः। किं च, दृष्टिरूपसामान्यात् सर्वेषां निर्ग्रन्थता न विरुध्यते।

यहा कोई पडित आक्षेप कर रहा है कि जिस प्रकार पाक्षिक, नैष्ठिक, साधक, नामक श्रावकके या दार्शनिक, व्रतिक आदि ग्यारह प्रतिमावाले श्रावकोका निर्ग्रन्थपना नही है। क्योकि इनका चारित्र भिन्न भिन्न है। कोई सचित्त त्यागी है। कोई सपूर्ण स्त्रियोका त्यागी है। तीसरा आरम्भ त्यागी है, यो देश चारित्रका भेद हो जानेसे कोई भी गृहस्थ निर्ग्रन्थ नही है। उसी प्रकार पुलाक आदिमे भी भिन्न भिन्न प्रकारके चारित्र है। निर्ग्रन्थका चारित्र बहुत बढिया प्रकृष्ट है। कुशील मुनिके मध्यम कोटिका चारित्र है। पुलाकका चारित्र प्रकृष्ट नही है। कदाचित् मूलगुणोमे भी पूर्णता नही हो पाती है। अत प्रकृष्ट गुणवाले और अप्रकृष्ट गुणवाले पाचोको एक स्वरूपसे निर्ग्रथपनका अभाव है। यहातक कोई अपना आक्षेप पूरा कर चुका है। अव उसके प्रति आचार्य महाराज उत्तर कहते है कि यह दोष तो नही उठाना चाहिये क्योकि ऐसा देखा गया है। जैसे कि ब्राम्हण शद्बकी प्रवृत्ति है। कान्यकुब्ज, सनाढच, गौड, शुक्ल आदि अनेक जातियोके ब्राम्हण है। न्यारे न्यारे ब्राम्हणोका आचार भी न्यारा न्यारा है। कोई विष्णुकी उपासना करता है। अन्य शाक्त है। तथा लौकिक आचारोमे भी भेद पाया जाता है। इसी प्रकार अध्ययन, पूजन, दानग्रहण आदि क्रियाओमे भी परस्पर विशेषताये पाई जाती है। कोई वेदपाठी है, दूसरा वैयाकरण हे, तीसरा अनपढ है, चौथा बालक ब्राम्हण है, कोई दक्षिणाको लेता है, कोई दक्षिणासे घृणा करता है, यो जाति आचार, अध्ययन, पद्धति आदिके भेदसे भिन्न हो रहे भी ब्राम्हणोमें जैसे ब्राम्हणपना विरुद्ध नही हो पाता है। उसी प्रकार चारित्रकी अधिकता, न्यूनता होते हुये थी पुलाक आदिमे सर्वत्र निर्ग्रंथ शद्ब प्रवर्तता है। एक बात यह भी है कि सग्रह नयसे जैसे लगडे, लूले, अन्धे,सूझते मूर्ख, पडित सभी मनुष्योका सामान्य रूपसे सग्रह हो जाता है। तथा व्यवहार नयसे अनेक जातिके वैश्योमे वैश्यपनेका व्यवहार है। उसी प्रकार सग्रह और व्यवहारनयकी अपेक्षासे न्यून गुणवाले या अधिक गुणवाले सभी मुनियोको निर्ग्रन्थ कह दिया जाता है। हा, निश्चयनयसेही सपूर्ण गुणवाले केवल निर्ग्रंथ और स्नातक मुनिवरोमे उस निर्ग्रथपनका व्यवहार करना सिद्ध होता है। इसमे एक रहस्य यह भी है कि सम्यग्दर्शनसे सहित और भूषण, वस्त्र,शास्त्र आदिसे रहित निर्ग्रंथ दिगंबररूप ये दोनो स्वरूप सामान्य रूपसे सभी पुलाक आदिमे पाये जाते है। अत सपूर्ण दिगवर मुनिवरोका निर्ग्रंथपना विरोधरहित सिद्ध हो जाता है।

भग्नव्रते वृत्तावतिप्रसंग इति चेन्न, रूपाभावात् । निर्ग्रन्थरूपं हि यथाजातरूपमसंस्कृतं भूषावेशायुधविरहितं गृहस्थेषु न सम्भवतीति । अन्यस्मिन् सरूपेतिप्रसंग इति चेन्न दृष्टयभावात् ।

यहा कोई पुन कटाक्ष करता है कि क्वचित् कदाचित् व्रतोका भग कर चुके मुनिमे भी यदि निर्ग्रन्थ शद्वकी वृत्ति मानी जावेगी जैसे कि " अविद्यो वा सविद्यो वा व्राह्मणो मामकी तनू " चाहे किसान या हत्यारा पण्डा क्यो न हो सभी व्राम्हण मान लिये जाते जाते है । तव तो अतिप्रसग दोष लग वैठेगा अर्थात् श्रावक भी सग्रहनय अनुसार निर्ग्रन्थ वन वैठेगा ग्रन्थकार कहते है कि यह कटाक्ष नही करना क्योकि श्रावकमे ग्रथरहित दिगबर स्वरूपका अभाव है । जब कि वेपकी प्रधानता हे । जैसे तत्काल जन्म लिये बालकका रूप परिग्रह रहित है । उसी प्रकार शारीरिक सस्कारोसे रहित और अभिप्रायपूर्वक भूपण, आवेश, आयुध आदिमे विशेषरूपतया रहित हो रहा निर्ग्रन्थ स्वरूपही गृहस्थोमे नही सम्भवता है । तत्काल उपजे मूर्ख बच्चेमे कीट, पशु, पक्षियोके सदृश मात्र वहिरग ग्रथ नही है किन्तु अन्तरगमे तीव्र परिग्रह विद्यमान है । केवल माग काढना, बाल सम्हालना आदि सस्कारोसे रहित और वस्त्र आदिसे रहित होनेके कारण मुनिको वालक की उपमा दे दी जाती है। श्री समन्तभद्राचार्यने अरनाथ भगवान्की स्तुति करते हुये बृहत् स्वयभूस्तोत्रमे लिखा है कि " भूपावेशायुधत्याग विद्यादमदयापरम्, रूपमेव तवाचष्टे धीरदोपविनिग्रहन् " हे धीर, वीर, भगवान् आपका भूपण आवेश (क्रोध, मान का जोश) हथियारका परित्याग कर रहा और तत्त्वविद्या, इन्द्रियदमन, दयामे तत्पर हो रहा आपका वहिरग रूपही दोपोके विनिग्रहको कह रहा है । यो दिगवर रूप नही होनेके कारण श्रावकोमे निर्ग्रन्थपना नही है । इसपर पुन कोई तर्क उठावे कि यदि वहिरगरूप (वेप) की प्रधानता रक्खी जायगी तव तो अन्य भी नगे परिव्राजको या दरिद्र नग्न पुरुप, पशु, पक्षियोमे भी निर्ग्रन्थपनकी सदृशता हो जानेपर निर्गन्थताके व्यवहार हो जानेका अतिप्रसग हो जायगा । आचार्य कहते है कि यह तो न कहना क्योकि उन नंगे पुरुप, पशु पक्षियोमे सम्यग्दर्शनका अभाव है । सम्यग्दर्शनके साथ जहा दिगवर दीक्षापूर्वक नग्नरूप विद्यमान है । उनमे निर्ग्रन्थपनका व्यवहार है । केवल नग्नवेशीको ही निर्ग्रन्थ नही मान वैठना चाहिये । " विशिष्टवुद्धि. विशेष्यविशेपण

सबधविषया " विशेष्य और विशेषण दोनोके विवक्षित सबधद्वारा घटित हो जानेपर ही विशिष्ट बुद्धि हुयी कही जायगी ।

चारित्रपरिणामोत्कर्षापकर्षभेदेपि सतिनैगमसंग्रहव्यवहारनयाधीनतया पंचापि निर्ग्रन्थाः कथ्यन्ते जात्याचाराध्ययनादिभेदेपि द्विजन्मवत् ।

उक्त प्रकार पुलाक आदि सयमियोमे उत्तरोत्तर विशुद्ध चारित्र परिणतियोका बढते जाना और पूर्व पूर्वके चारित्र परिणामका ऱ्हास होते जाना यो परस्परमे भेद होते सन्ते भी नैगम, सग्रह और व्यवहारनयकी अधीनता करके पाचो भी पुलाक आदिक मुनि निग्रन्थ कहे जाते है । जैसे कि जाति, आचार, अध्ययन तिलकपद्धति आदि भिन्न भिन्न होते हुये भी जन्म और सस्कार दो से उत्पन्न हुये द्विजन्मा सभी ब्राम्हणोको ब्राम्हण कह दिया जाता है । यो परार्थानुमान बनाकर सूत्रोक्त सिद्धातको पुष्ट कर दिया गया है ।

तेषां पुलाकादीनां भूयोपि विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह;—

उन पुलाक, वकुश आदि तपस्वियोकी पुनरपि शिष्योको विशेषप्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकार महाराज इस अगले सूत्रको कह रहे है । लिखित पुस्तकमे इस सूत्रके अवतरणमें ऐसा पाठ है । " अथ पुलाकादीना पचाना विशेषतयावबोधार्थ कथयति " अब श्री उमास्वामी महाराज पुलाक, वकुश आदि पाचो मुनिवरोका विशेषरूपेण परिज्ञान करानेके लिये अग्रिम सूत्रको कह रहे है ।

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥

इन पुलाक आदि पाच तपस्वियोको सयम, श्रुत, प्रतिसेवना तीर्थ, लिंग लेश्या, उपपाद और स्थान, इन आठ अनुयोगोके भेदोसे साध लेना यानी बखान लेना चाहिये । जैसे कि पुलाक मुनि सामायिक सयम, और छेदोपस्थापना सयममे वर्तते है । इसी प्रकार इनका शास्त्रज्ञान कितना है ? यह भी विचारणीय है । क्यो कि मोक्ष पुरुषार्थके लिये ध्यानकी आवश्यकता है । और ध्यान तो नयज्ञान और श्रुतज्ञानके विशेष अनुभवी विद्वान्को हुये पाये जाते है । एव सयम आदिसे मुनिवरोका विशेष परिचय स्वय ग्रथकार कठोक्त कर दिखावेगे ही ।

आभ्यन्तर विराधने सति स च सेवना प्रतिसेवना दोषविधानमित्यर्थः । ततश्च संयमादिभिरनुयोगैः साध्याः व्याख्येयाः । संयमश्च श्रुतश्च प्रतिसेवना च तीर्थं च लिंगं च लेश्याश्चोपपादश्च स्थानानि च संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानानि तेषां विकल्पाः भेदाः संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पाः तेभ्यस्ततः पुलाकादय इति पचभेदा महर्षयः । संघमादिभिः अप्टभिः भेदैरन्योन्यभेदेन साध्या व्यवस्थापनीया इत्यर्थः । तथाहि;—

अभ्यन्तरके नियमोमे विराधना (बिगाड) होते सन्ते जो सेवना है। वह प्रतिसेवना कही जाती है । इसका अर्थ दोषोका विधान है। तिस कारण सयम आदिक आठ अनुयोगो करके पुलाक आदिक मुनि साध लिये जाय। अर्थात् इनकी विशेष प्रतिपत्ति करनेके लिये व्याख्या कर ली जाय, इस सूत्रमे पहले द्वन्द्व समास किया जाय पुन. षष्ठी तत्पुरुप करते हुये पञ्चम्यन्त तस् प्रत्यय कर लेना चाहिये । सयम और श्रुत तथा प्रतिसेवना एव तीर्थ तथा लिग और लेश्या तथा उपपाद एव स्थान यो द्वन्द्ववृत्ति करनेपर "सयमश्रुतप्रतिसेवना तीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानानि" ऐसा पद बन जाता है। उनके जो विकल्प यानी भेद प्रभेद है। सो "सयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्प" है। उनसे इस अर्थमे तत यानी "सयमादिविकल्पत" यह पद बन जावेगा। यो उन सयम आदि आठ भेदो करके परस्पर भेदके साथ पुलाक आदिक पाच भेदवाले महान् ऋषिराज साधने योग्य है। यानी इनकी व्यवस्था कर लेनी चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे किसी पदार्थका सत्, सख्या, क्षेत्र, आदिके अनुसार व्याख्यान किया जाता है; दूसरे किसी तत्त्वकी निर्देश, स्वामित्व आदि करके व्याख्या की जाती है, इसी प्रकार पुलाकादि महर्पियोकी व्याख्या सयम, श्रुत आदिके द्वारा ठीक होती है। उनके शरीरकी ऊचाई, शरीरका रग, गृहस्थ अवस्थाका धन, निवासस्थान, विषयरति, आयु, आदि करके पतिवरोका व्याख्यान नही हो पाता है। अब स्वय ग्रथकार प्रत्येकमे उन आठों अनुयोगोको स्पष्ट कर कण्ठोक्त दिखलाते है।

पुलाको वकुशश्चैव कुशीलाः प्रतिसेवना,
छेदोपस्थापनासामायिकयोरुभयोः स्थिताः ॥ १ ॥

चतुर्षु ते भवंत्येते कषायसकुशीलकाः ।
निर्ग्रन्थस्नातकौ द्वौस्तः तौ यथाख्यातसंयमे ।। २ ।।

पुलाक मुनि और वकुश पति तथा प्रतिसेवनाकुशील ये तीनो तपस्वी छेदोपस्थापना नामक सयम और सामायिक सयम इन दोनोमे स्थित रहते है । वे ये प्रसिद्ध हो रहे कुशीलसहित कषायकुशील सज्ञावाले साधु तो चारो सयमोमे वर्तते है । अर्थात् सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, और सूक्ष्मसापराय इन चारो चारित्रोमे यथायोग्य ठहरे हुये है । तथा वे निर्ग्रन्थ और स्नातक दो ऋषिवर तो यथाख्यात सयममे सलग्न है ।

पुलाक, वकुश, प्रतिसेवना, कुशीलाः सामायिकछेदोपस्थापना नामसंयमद्वये वर्तन्ते । सामायिक छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपरायनाम संयमतुर्यके कषायकुशीला भवन्ति । निर्ग्रन्थस्नातकौ च यथाख्यातसंयमे स्तः । पुलाकवकुशप्रतिसेवना कुशीलेषु उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वाणि श्रुत कोर्थः ।

पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील तो सामायिक और छेदोपस्थापना नामक दोनो सयमोमे प्रवृत्ति कर रहे है । तथा कषायकुशील साधु तो सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसापराय नामके चारो सयमोमे प्रवर्त रहे है । हा, निर्ग्रन्थ स्नातक दोनो पतीश्वर यथाख्यातसयममे प्रवृत्ति रखते है । अब इन मुनियोको श्रुतज्ञान कितना होता है ? इसका परामर्श किया जाता है। पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील मुनियोमे उत्कृष्टपने करके अभिन्नाक्षर दशपूर्वोका परिज्ञान हो जाना इतना श्रुतज्ञान है । इस अभिन्नाक्षरका अर्थ क्या है ? इसको अगली वार्त्तिकमे सुनिये ।

सन्त्येकेनाप्यक्षरेणाभिन्नानि साक्षराणि वै,
दशपूर्वाणि-सन्त्येव तैरन्यूनानि तानि चेत् ।। ३ ।।
ते कषायकुशीलाश्च निर्ग्रन्थाश्चेति साधवः ।
तच्चतुर्दशपूर्वाणि धारयन्ति श्रुतं सदा ।। ४ ।।

एक भी अक्षर करके नही भिन्न हो रहे ऐसे अक्षरोसे सहित दशपूर्व ही नियम करके साक्षर दशपूर्व है । भावार्थ, गोम्मटसारमे " एयक्खरादु उवरिं एगेगेणक्खरेण

वड्ढतो। सखेज्जेखलु उड्ढे पदणाम होदि सुदणाणं " "एय पदादो उवरिं एगेगे णक्खरेण वड्ढतो, सखेज्ज सहस्सपदे उड्ढे सघाद णामसुद " यों एक एक वर्णकी वृद्धि करते हुये पद नामक श्रुतज्ञान और सघात आदि श्रुतज्ञानोका उपजना समझाया है। वस्तु श्रुतज्ञानमे भी " एक्केक्क वण्ण उड्ढी कमेण सव्वत्य णायव्वा " यो कहकर सर्वत्र एक एक अक्षर नामक ज्ञानकी वृद्धिके क्रम अनुसार अगले श्रुतज्ञानोंका होना अभीष्ट किया है। अत दश, चौदह, आदि वस्तु नामक श्रुतज्ञानोके पिण्डरूप उत्पाद पूर्व, आग्रायणी पूर्व, आदि पूर्वोमे अक्षरश्रुत अनुसार क्रमसे ज्ञानवृद्धि होती है। पूर्ण श्रुतज्ञानके एक कम एक द्विप्रमाण (अठारह आदि वीस अक्षरकी सख्या (१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५) अपुनरुक्त अक्षर है। यो एक भी अक्षर श्रुतसे नही टूट रहे दश पूर्वोका ज्ञान होता है। वे दशपूर्व उन अक्षरोसे न्यून नही होने चाहिये इस बातका ख्याल रक्खो। तथा वे कषायकुशील और निर्ग्रन्थ इस नामके धारी साधुवर्य तो तिस ही प्रकार सर्वदा चौदह पूर्व नामक श्रुतज्ञानको उत्कृष्टतया धारते हैं।

जघन्यतया पुलाकः आचारं वस्तुस्वरूपनिरूपकं श्रुतं धरति । वकुशकुशील-निर्ग्रन्थाश्च प्रवचनमातृकास्वरूपनिरूपकं श्रुतं निकृष्टत्वेन धरंति । प्रवचनमातृका इति कोर्थः ।

जघन्य रूपसे पुलाक मुनि आचारवस्तुके स्वरूपका निरूपण करनेवाले श्रुतज्ञानको धरता है। तथा वकुश, कुशील और निर्ग्रन्थ मुनि तो आठ प्रवचनमातृकाके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रज्ञानको जघन्यपने करके धारते है। " प्रवचन मातृका " इसका अर्थ क्या है ? इसके लिये ग्रथकार अग्रिम वार्त्तिकको कह रहे हैं।

पंचसमितयस्तिस्त्रो गुप्तयश्चेति मातरः।
प्रवचनमातरोष्टौ कथ्यंते मुनिभिः परैः ॥ ५ ॥

ईर्यासमिति आदि पाच समितिया और मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तिया ये मातायें है। जैसे माता पुत्रकी जननी है, सतानकी रक्षा करती है। उसी प्रकार ये मोक्षकी जननी और रक्षिणी हैं। उत्कृष्ट मुनिवरो करके ये ही आठ प्रवचन मातायें कही जाती हैं। अर्थात्--न्यारे न्यारे प्रकारका निर्वचन कर देनपर देव, शास्त्र, गुरु, तीनोंको प्रवचन कह सकते है। श्रुतज्ञानके भेद प्रभेदोमे कोई ऐसा प्रकरण है जो कि मुख्यरूपेण

पंच समितियोका और तीन गुप्तियोका प्रतिपादक है। गौणरूपसे अन्य आचार या द्रव्यानुयोग आदिकी भी प्रतिपत्ति कराता होगा। जैसे कि चारो गतियोके स्वरूपका निरूपण करनेवाला प्रतिपत्ति नामका श्रुतज्ञान है।

समितिगुप्तिप्रतिपादकमागमं जानातीत्यर्थः। स्नातकानां केवलज्ञानमेव। तेन तेषां श्रुतं नास्ति। उक्तं च–पुलाकः सर्वशास्त्रज्ञो वकुशो भव्यबोधकः, कुशीलस्तोकचारित्रो निर्ग्रन्थो ग्रन्थहारकः। स्नातकः केवलज्ञानी शेषा सर्वे तपोधना। पंचमहाव्रतलक्षणमूलगुणाष्टाविंशति रात्रिभुक्तिविरहितेषु चान्यतमं बलात्परोपरोधात्प्रतिसेवमानः पुलाको विराधको भवति। रात्रिभोजनविराधकः कथमिति चेदुच्यते। श्रावकादीनामुपकारोऽनेन भविष्यतीति वा अन्नादिकं रात्रौ भोजयतीति विराधक स्यात्।

अष्ट प्रवचन माताका अर्थ यह है कि पाच समिति और तीन गुप्तियोके प्रतिपादक आगमको वकुश आदिक जानते है। हा, स्नातक मुनिवरोका ज्ञान तो केवलज्ञानही है। तिस कारण उन स्नातकोके श्रुतज्ञानकी प्ररूपणा नही है। अन्य ग्रन्थमे भी ऐसा कहा गया है कि पुलाक मुनि प्राय सपूर्ण शास्त्रोको जानता है। वकुश मुनि तो भव्योको प्रबोध करानेवाले शास्त्रोका ज्ञाता है। कुशील यति स्वल्प चारित्रको धार रहा भव्योको तत्त्वज्ञान कराता है। और निर्ग्रन्थ मुनि महाराज तो समाधिस्थ हो रहे सन्ते नयात्मक ज्ञानोद्वारा अन्तरग परिग्रहोका नाश कर रहे है। स्नातक केवलज्ञानके धारी है। शेष सपूर्ण मुनि महाराज तपश्चरणको परमधन मानकर योग्य शास्त्राभ्यासी है। अब प्रतिसेवनाको यो समझिये कि पच महाव्रत स्वरूप मूलको धार रहे ऐसे अट्ठाईस मूलगुण और रात्रिभोजन त्याग यो पच महाव्रत, अठ्ठाईस मूलगुण और रात्रिभोजन त्याग इन तीन व्रतोमेसे किसी एकको दूसरोके उपरोधवश बलात्कारसे प्रतिसेवन कर रहा पुलाक मुनि विरोधक हो जाता है। अर्थात् उक्त तीन व्रतोमेसे क्वचित्, कदाचित्, एक व्रतका विनाश कर बैठता है। यदि यहा कोई यो शका करे कि रात्रिभोजन त्यागव्रतकी विराधना किस प्रकार कर देगा ? क्या पुलाक रातको कुछ खा लेगा ? इसपर यही समाधान कहा जाता है कि श्रावक, पशु, पक्षी, बालक, आदि जीवोका इस रात्रिभक्षणसे उपकार हो जावेगा। यो विचार कर रात्रिमे अन्न, दुग्ध, जल, औषधि आदिका भोजन करा देता है। यो किसी श्रावक आदिके जीवन, मरणकी कठिन समस्या उपस्थित हो जानेपर

करुणावश पुलाक मुनि कारित या अनुमोदनासे रात्रिभोजन त्यागव्रतका अक्षुण्ण पालन नही कर सका है। अत व्रतका बिगाड देनेवाला कह दिया है।

वकुशो द्विप्रकारश्चेदुपकरणशरीरतः ।
तत्र नाना विधा ज्ञेया उपकारणविन्मता ॥ ६ ॥
ते संस्कारप्रतीकाराकांक्षणा प्रतिभण्यते ।
वपुरभ्यंग संमर्द्दन क्षालन विलेपना ॥ ७ ॥
इत्यादिसंस्कारभागी शरीरवकुशोस्ति वै ।
एनयोरुभयोर्मध्ये कषायप्रतिसेवना ॥ ८ ॥
द्वयोर्मूलगुणान्नैव विराधयति सर्वदा ।
विराधयत्यन्यतमं उत्तरं गुणसंश्रितं ॥ ९ ॥

उपकरण वकुश और शरीर वकुश इस प्रकार वकुश जातिके निर्ग्रन्थ तो दो प्रकार हो सकते है। उनमे उपकरणोका विचार अनेक प्रकार माना गया समझने योग्य है। पुस्तक, शास्त्र, पिच्छिका आदि अनेक प्रकारे सुन्दर उपकरणोमे जिसका चित्त सलग्न हो रहा है। सुन्दरशिला, काष्ठासन, शिष्यमडल आदि विचित्र परिग्रहोसे युक्त हो रहा सन्ता सयमीके योग्य हो रहे कतिपय उपकरणोकी आकाक्षा रखता है। वे उपकरण वकुश मुनि उन उपकरणोके सस्कार करने और लगे हुये मलोके प्रतीकार करनेमे आकाक्षित रहते कहे गये है। दूसरे शरीरवकुश मुनि तो नियमसे शरीरका अभ्यङ्त (तैलानुलेपन) वैयावृत्य करनेवालोके द्वारा शरीरका अच्छा मर्दन किया जाना, शरीरका प्रक्षालन करना, विलेपन, किया जाना, धूल झाडना इत्यादिक शारीरिक सस्कारोकी सेवाको धार रहा है। यो इन दोनो वकुशोके मध्यमे कपायवश प्रतिसेवना लग रही है। कुशील मुनिके कषाय कुशील और प्रतिसेवना कुशील ये दो भेद है। उन दोनोमे प्रतिसेवना कुशील तो अट्ठाईस मूलगुणोकी सर्वथा विराधना नही करता है, हा उत्तर गुणोमे आश्रित हो रहा कदाचित् उत्तरगुणोमेसे किसी एक उत्तर गुणकी विराधना कर डालता है।

अस्यैषा प्रतिसेवना य कषायकुशीलो निर्ग्रन्थ. स्नातकश्च तेषां विराधना काचिन्न वर्त्तते अप्रतिसेवना । सर्वेषां तीर्थंकराणां तीर्थेषु पंच प्रकारा अपि निर्ग्रन्थाः भवन्ति । लिंगं द्विविधं द्रव्यभावभेदात्तत्र पंचप्रकारा अपि निर्ग्रन्था द्रव्यपुल्लिगिनो भवन्ति भावलिगं तु भाज्यं व्याख्येयमित्यपि न कि केचित्समास्तद्वदसमर्था महर्षय. ।

इस प्रतिसेवना कुशीलके यही प्रतिसेवना है कि कदाचित् उत्तर गुणोकी विराधना हो जाती है । दूसरा जो कषायकुशील है, तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक मुनिवर है। उनके कोई भी विराधना नही वर्त रही है । इस कारण वे प्रतिसेवनारहित है। पुलाक आदिके सयम, श्रुत प्रतिसेवनाका विचार कर दिया है। इनके तीर्थ और लिंगकी मीमासा इस प्रकार है कि--सपूर्णही तीर्थकरोके तीर्थोमे पाचो भी प्रकारके निर्ग्रथ मुनि होते है। अर्थात् वृषभ आदि तीर्थंकरोके या भूत भविष्य कालीन तीर्थकरोके समयमे अथवा उनके मध्यवर्ती वारोमे पुलाक आदि पाचो निर्ग्रथोका होना सभवता है। द्रव्य-लिग और भावलिगके भेदसे लिग दो प्रकार है। उन लिंगोकी अपेक्षा करनेपर पाचो भी प्रकारके निर्ग्रन्थ मुनि द्रव्यरूपसे पुरुषलिगी होते है। द्रव्य स्त्री और द्रव्य नपुसकोके पाचवे तक गुणस्थानही होते है। छठा, सातवा, गुणस्थान द्रव्य पुरुषोके ही सभव है। हा, भावलिगकी अपेक्षा तो भजनीय है। नौवे गुणस्थानतक वेदका उदय है। अत नौवे गुणस्थानतकके मुनियोमे भाववेदकी अपेक्षा किसीके पुवेदका उदय है, अन्यके स्त्रीवेदनोकषायका उदय है। क्वचित् नपुसक वेद भी उदयापन्न है। यहा यह भी व्याख्या कर लेने योग्य है कि--पुलाक आदि कोई भी मुनिसमान नही है। कुछ न कुछ सभीमे परस्पर अन्तर है। उसीके समान सभी महर्षि समर्थ भी नही है। कोई कोई परीषह, उपसर्ग, सहनेमे पूर्ण समर्थ है। अन्य उपसर्ग झेलनेमें असमर्थ हो रहे हैं।

शीतकालादिके वाच्यं शब्दं तत्कम्बलाभिधं।
कौशेयादिकमित्यत्र गृहन्ति न च वेश्मनि ॥ १० ..
क्षालयन्ति न सीव्यन्ति न प्रयत्नादिकं तथा।
परकालेन कुर्वन्ति हरंति परिहारका: ॥ ११ ॥

केचिच्छरीरमुत्पन्नदोषा लज्जित कारणात् ।
तथा कुर्व्वन्ति व्याख्यानं भगवदाराधनोदितं ॥ १२ ॥

प्रोक्तामहर्षिभिस्तेयत्सर्वेषामुपकारिणः ।

स्वाध्याय करनेवाले भद्र प्रकृति श्रोताओके प्रति मुझ भाषा टीकाकारका यह प्रज्ञापन है कि इस " सयमश्रुतप्रतिसेवना " इत्यादि सूत्रका विवरण कुछ अशुद्ध प्रतीत हो रहा है। जो पुस्तक उपलब्ध हो रहा है उसी परसे कुछ स्वमनीषा अनुसार न्यून, अधिक कर देशभाषा कर दी गई है। विशेपज्ञ विद्वान् आम्नाय अनुसार शुद्ध कर लेवे, दिगबर सप्रद्राय अनुसार किसी भी निर्ग्रन्थ साधुके वस्त्रका रखना नही सभवता है। वस्त्र तो बडा परिग्रह है। मुनि एक डोरा या तृण भी अपने पास नही रख सकते है। हां, श्वेताबर या वैष्णव सम्प्रदायवालोने वस्त्र का रखना साधुके अभीष्ट किया है। किसी किसी ग्रन्थमे बलवत्तर राजा या राष्ट्र अथवा एकान्त धर्माग्रही गुरुओका अनुचित प्रभाव डालनेकी दशा हो जानेपर यहां वहा का अनार्ष क्षेपक विषय लिखा पाया जाता है। श्री विद्यानन्द स्वामी महान् दिगबर आचार्य थे। ये श्वेताबर मतानुसार साधुके कम्बल, कोशा आदिका ग्रहण करना पुष्ट नही कर सकते है। तथा भगवती आराधनाके कर्ता शिवकोटि दिगम्बर मुनीन्द्र भी साधुके वस्त्र रखनेकी पुष्टी नही करते है। आचेलक्य यानी वस्त्ररहितपनको सर्वत्र दिगबर आर्षशास्त्रोमे पोषा गया है। हा, भगवती आराधनासार ग्रथकी सस्कृत टीकाको बनानेवाले यदि श्वेताबर है तो वे अपने सप्रदायको पोपनेके लिये कुछ भी लिख देवे वह अक्षुण्ण दिगम्बर सिद्धात नही माना जा सकता है। असली रत्नोमे नकली काच छिपाये छिप नही सकते है आस्ता। यहा श्लोकवार्त्तिक शास्त्रके उपलब्ध पुस्तकमे जो लिखा हुआ है। उसका अर्थ इस प्रकार है कि--शीतकाल, शीतव्याधि आदिके अवसरपर कम्बल नामके वस्त्रको अथवा कोशा' रेशमके, बने हुये कौशेय या सनिया आदिक पटोको यहा ग्रहण कर लेते है। घरमे ग्रहण नही करते है। न वस्त्रको परवारते है। और सीवते भी नही है, तथा अन्य कोई सुखाने आदि व्यापारोका प्रयत्न नही करते है। गाढ शीतवेदनासे अतिरिक्त अन्य कालोमे ग्रहण नही करते है। मुनिके वस्त्रोको लानेवाले ला देते है। और ले जानेवाले ले जाते है। कोई कोई यहा यह कह रहे है कि शरीरमे पीडा, गुप्त अवयवोमे दोप आदि उपज

जानेपर मुनि लोग लज्जित हो जानेके कारणसे तिस प्रकार वस्त्र,पात्र आदिको ग्रहण कर लेते है, ऐसा भगवती आराधना ग्रथमे व्याख्यान कहा गया है। ग्रथकार कहते है कि महर्षियोके कहे गये ऐसे कथन भी वढिया है। जिस कारणसे कि वे महर्षि सभी रोगी, दोषी, प्रमादी, जीवोका उपकार करते है। अर्थात् कोई अतीव कष्ट वेदनाको भुगत रहा है। उस मुनिका आत्मध्यानमें मन नही लगता है, समाधिमरणके अवसरपर शारिरिक व्याधिया सता रही है। उस समय जंके खाद्य पदार्थ दिखला दिया जाता है। इसी प्रकार कम्वल, कौशेय वस्त्र, पात्र आदि भी दिखला दिये जाय, वलात्कारसे समाधिमरण कराकर अधोगति प्राप्त कराना महर्षियोको इष्ट नही है। यदि एक, दो वार सयमसे च्युत भी हो जाय किन्तु सम्यग्दर्शन निर्दोष वना रहे तो समन्तभद्र, माघनन्दी, आदि मुनियोके समान पीछे सयममे निष्णात सयमी भी हो जायगा। ऐसा विचार कर किसी अवसरपर सयम के शैथिल्यका उपदेश दे दिया गया है। यहा मुझ भाषाकारका यह प्रज्ञापन है कि--दिगवर सप्रदाय अनुसार मुनि जव एक कपास निर्मित डोरा भी नही रख सकता है तो भला ऊर्णामय कम्वल कैसे ग्रहण कर लेगा ? आश्चर्य है, और ऐसी दशामे वह उपकरण वकुश या उपकरण कुशील जातिका मुनि कैसे प्रतिष्ठित रह सकता है ? कम्वल तो मूलमे ही ऊनका वनाया हुआ अत्यधिक अशुद्ध है। श्वेतावर या वैष्णव एव यवन आम्नायवाले भले ही कम्वलको शुद्ध वतावे किन्तु कुदकुद मुनीद्रकी पवित्र दिगबर सम्प्रदायसे ऊनी वस्त्र अत्यन्त अपवित्र है। ऊन, चर्म, हड्डी इनमे सदा त्रस जीवोकी उत्पत्ति, मरण, होता रहता है। अत ये ऊन, शख, सीप, चमरीरुह आदि पदार्थ अपवित्र है। लोकशुद्धिसे शास्त्रीयशुद्धि न्यारी है। कोई मुनि कम्वल या पात्रको मोहवश ग्रहण कर लेगा तो वह मुनिपदसे भ्रष्ट हो जायगा। श्री विद्यानद आचार्य दिगबर सप्रद्रायमे महान् उद्भट विद्वान् हुये है। ये मुनियोके वस्त्र पात्र रखनेको भी कभी नही पुष्ट कर सकते है। इस सूत्रके विवरणकी सस्कृत लेख पद्धति भी अशुद्ध प्रतीत हो रही है, गाम्भीर्य भी नही है। पहले लेखोसे इन पक्तियोका साहित्य सादृश्य भी नही मिलता है। सभव है। किसी दिगबर सिद्धातवाह्य पडितने कल्पित भाष्यको इस ग्रथमे प्रक्षिप्त कर दिया है। आम्नायविधिज्ञ दिगबर विद्वान् इस रहस्यका परामर्श कर लेवे। श्री महावीर स्वामीके त्रिलोक, त्रिकाल अवाधित दिगम्वरत्व सिद्धातकी सर्वांग प्रतिष्ठाका लक्ष्य रखना चाहिये। इन कारिकाओमें अशुद्धिया भी

कतिपय है। वाचक ओर वाच्य प्रमेय दोनोही हमको जचे नही है। स्याद्वादनीति अनुसार कोई अपेक्षावाद भी साधुके कम्वल रखनेका समर्थक नही प्रतीत होता है। हा, यदि मुनित्व हटा दिया जाय तो मिथ्यादृष्टि कम्बलको रखे, कुछ भी खावे, चुरावे, कोई भी क्रिया करे, इस पर हमे कुछ कहना नही है। असयत सम्यग्दृष्टि हो कर भी भले ही कम्बल रक्खे, खाद्य रक्खे, कोई आपत्ति नही है, हा साधुके कम्बलका वेष स्वीकार किया जायगा तो साधु या उसका समर्थक अवश्य श्रद्धानसे च्युत हो रहा पक्का मिथ्यादृष्टि है। उक्त शुद्ध, अशुद्ध कारिकाओका केवल अर्थ लिख दिया है। यह विद्यानद स्वामीकी कृति है, हमे तो इसमे भी सन्देह है। अलम् कृतधिय सुविचार्य प्रवर्तिष्यन्ते ।

तथैव व्याख्यानमाराधनाभगवतीप्रोक्ताभिप्रायेणापवादरूपं ज्ञातव्यं। उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलीयानित्युपसर्गेण यथोक्तमाचेलक्यं च प्रोक्तमास्ते तावदार्यासमर्थदोषवच्छरीराद्यपेक्षयाऽपवादव्याख्याने न दोषः। अमुमेवाधारं गृहीत्वा जैनाभासः केचित्सचेलत्व मुनीनां ख्यापयन्ति तन्मिथ्या। साक्षान्मोक्षकारणं निर्ग्रन्थलिंगमिति वचनात्। अपवादव्याख्यानमुपकरण कुशीलापेक्षया कर्तव्यम्।

"आराधना भगवती" ग्रथकी टीकामे कहे गये अभिप्राय करके तिस ही प्रकार मुनिके कम्बल आदि रखनेका व्याख्यान करना अपवाद रूप समझना चाहिये उत्सर्गविधि और अपवाद मार्गमे अपवादकी विधि बलवान् होती है। इस कारण उत्सर्गरूपसे शास्त्रोमे कहा गया ही वस्त्ररहितपना आचेलक्य संयम तो बहुत बढिया आचरण कहा गया है। हा, जब तक आर्य यानी मुनि या ऐलक असमर्थ है। या बात आदि दोषोवाले शरीरसे ग्रस्त है। शीत, रोगको सहन नही कर सकता है। इत्यादिकी अपेक्षा करके अपवादरूपसे व्याख्यान करनेमे कोई दोष नही है। अर्थात् सपूर्ण मुनियोके लिये राजमार्ग तो उत्सर्गरूपेण वस्त्ररहितपन ही है। हा, किसी आपत्तिकालमे वस्त्र रखनेकी अपवादविधी भी लागू हो जाती है। उस भगवती आराधनामे कहे गये वस्त्र रखनेके आधारको ही ग्रहण कर कोई कोई जैनसारिखे दीख रहे श्वेताबर जैनाभास पडित मुनियोके वस्त्ररहितपनको प्रसिद्ध रूपसे बखान रहे है। तभी तो वे ऊनी, सूती, वस्त्रोका रखना, दण्ड रखना, पात्र रखना आदि रूपसे परिग्रही वने हुये है। ग्रन्थकार कहते है

कि यह सचेलसयमीपना सर्वथा मिथ्या है । क्योकि साक्षात् मोक्षका कारण तो निर्ग्रन्थ-लिंग ही है । आचेलक्य सयमसेही मोक्ष होती है । ऐसा आगम ग्रन्थोका निर्दोष वचन है । अपवाद रूपसे वस्त्र रखनेका ग्रन्थका व्याख्यान तो उपकरण वकुश नामक मुनिकी अपेक्षासे करना चाहिये । भावार्थ--उच्चमार्ग तो वस्त्ररहितपना ही है । हा, कोई उपकरण वकुश कम्बल आदिमे अत्यासक्ति रखता हो और समाधिमरणमे भी उसका उपयोग नही लगता हो तो ऐसी दशामें वैष्णवसम्प्रदाय अनुसार काशीकरो तया जीवित गगाप्रवाह, गिरिपात, अग्निपात आदिके समान हम जैनोके यहा बलात्कारसे मार देना अभीष्ट नही किया गया है । उक्त क्रियाओको करनेवाले और करानेवाले दोनोही आत्मघाती है । आत्मघातीको कथमपि मोक्षमार्गमे लगा हुआ नही माना जा सकता है । यो ऐसे उपकरणोमे आसक्त हो रहे वराक जीवको दया कर कम्वल दे दिया जाय । धर्म्यध्यानके विना व्यर्थ मार देना या कष्ट सहाते रहाना, कृपालु महर्षियोकी शासन-पद्धति नही है । यहा मुझ भाषाकारको मात्र यही कहना है कि--वस्त्रको ग्रहण कराना मुनियोका धर्म नही कहा जा सकता है । इसी प्रकार वस्त्र ग्रहण कर रहा लोलुप रक जीव भी मुनि बना नही रक्षित रह सकता है । इस दिगबरीय तत्त्वका पूर्ण लक्ष्य रखा जाय । उद्भट विद्वान् " श्री शिवकोटि आचार्य " की बनाई हुई मूलाराधना (भगवती आराधना) की चार सौ इक्कीसवी गाथा यो है कि " आचेलक्कुद्देसिय सेज्जाहरराय-पिंड किरियम्मे, जेट्ठपडिक्कमणे वियमास पज्जो सवण कप्पो ।। ४२१ ।। इस गाथा अनुसार दश प्रकारके स्थितिकल्पोमे पहिला आचेलक्य माना है । श्री अपराजित सूरि की बनाई हुई " विजयोदया " टीकामे आचेलक्यका विशद व्याख्यान इस प्रकार किया है कि--" आचेलक्कुद्देसिय " चेलग्रहण परिग्रहोपलक्षण, तेन सकलपरिग्रहत्याग आचेलक्य-मित्युच्यते । दशविधे धर्मे त्यागो नाम धर्म । त्यागश्च सर्वसगविरतिरचेलतापि सैव । तेनाचेलो पतिस्त्यागाख्ये धर्मे प्रवृत्तो भवति । अकिञ्चनाख्येऽपि धर्मे समुद्यतो भवति निष्परिग्रह । परिग्रहार्था ह्यारम्भप्रवृत्तिर्निष्परिग्रहस्या सत्यारम्भे कुतोऽसयम । तथा सत्येऽपि धर्मे समवस्थितो भवति । पर परिग्रहनिमित्त व्यलीक वदति। असति बाह्ये क्षेत्रा-दिके अभ्यन्तरे च रागादिके न निमित्तमस्त्यनृताभिधानस्य ततो ब्रुवन्नेवमचेल सत्यमेव ब्रवीति । लाघव च अचेलस्य भवति । अदत्तविरतिरपि सपूर्णा भवति । परिग्रहाभिलाषे सति अदत्तादाने प्रवर्तते नान्यथेति । अपि च रागादिके त्यक्ते भावविशुद्धिमय ब्रम्हचर्य-

मपि विशुद्धतम भवति । सगनिमित्तो हि क्रोधस्तदभावे चोत्तमा क्षमा व्यवतिष्ठते । सुरूपोहमाढ्य इत्यादिको दर्पस्त्यक्तो भवति अचेलेनेति। मार्दवमपि तत्र सन्निहित। अजिह्मता चास्य स्फुटमात्मीय भावमादर्शयतोऽचेलस्यार्जवता भवति । मायाया मूलस्य परिग्रहस्य त्यागात् । चेलादिपरिग्रह परित्यागपरो यस्मात् विरागभावमुपगत. । शब्दादि विषयेष्वासक्तो भवति ।ततो विमुक्तेश्च शीतोष्णदशमशकादिपरिश्रमा., सुरासुरोदीर्णा , षोढाश्चोपसर्गा निश्चेलतामभ्युपगच्छता । ततोपि घोरमनुष्ठित भवति ।एवमचेलत्वोपदेशेन दशविधधर्माख्यान कृत भवति सक्षेपेण ।

इसका सक्षेप अर्थ इस प्रकार है कि "न चेलो विद्यते यस्य असौ अचेलक , अचेलकस्य भाव कर्म वा आचेलक्य " । चेलका अर्थ वस्त्र है । जिसके पास वस्त्र नही है वह अचेलक है । अचेलकके भाव या कर्तव्यको आचेलक्य कहते है । चेलका ग्रहण सपूर्ण परिग्रहोका उपलक्षण है, तिस कारण सपूर्ण परिग्रहोका परित्याग कर देना आचेलक्य यह कहा जाता है । उत्तमक्षमा आदि दशधर्मोमे एक त्याग नामका धर्म भी है । सपूर्ण परिग्रहोसे विरक्त हो जाना त्याग धर्म है । अचेलता भी वही त्याग रूप है । तिस कारण वस्त्ररहित हो रहा मुनि त्याग नामक धर्ममे प्रवर्त रहा है । नौमे आकिञ्चन्य नामके धर्ममे भी वह निर्वस्त्र मुनि परिग्रहरहित होकर अच्छा उद्यमी हो रहा है । जगत्मे परिग्रहके लिये ही कृषि आदि आरम्भोमे प्रवृत्ति की जाती है किन्तु परिग्रहरहित मुनिके सेवा, वाणिज्य आदि आरम्भ नही होनेपर किस कारण असयम होगा ? अर्थात् वस्त्ररहित मुनि छठे सयम धर्मको भी पालता है । तिसी प्रकार दिगबर मुनि सत्यधर्ममे भी भले प्रकार अवस्थित रहता है । क्योकि परिग्रहके कारण ही जीव दूसरोसे झूठ बोलता है । अब क्षेत्र, वास्तु आदि बहिरग परिग्रह मुनिके नही है, और रागादिक अतरग परिग्रह भी नही रहे है । तो झूठ बोलनेका निमित्त कारण ही नही रहा तब तो इस प्रकार परिग्रहरहित होकर बोल रहा मुनि सत्यही बोलता है । वस्त्ररहित मुनिके लाघवगुण भी होता है । वस्त्रवालेको बोझ लादना पडता है किन्तु वस्त्ररहित मुनि बोझसे रीते होकर वायुके समान लघु होकर स्वच्छद गमन करते है । वस्त्र यानी परिग्रहके त्याग देनेसे मुनिके अदत्तविरति यानी अचौर्य महाव्रत भी परिपूर्ण होता है । क्योकि परिग्रहकी अभिलाषा होते सन्तेही नही दान किये गये पदार्थको ग्रहण करनेमे जीव प्रवर्तता है, अन्य कारणोसे चोरी नही की जाती है । लाघव या अचौर्यही

शौचधर्म है। एक बात यह भी है कि राग आदिका त्याग कर चुकनेपर मुनिके भावविशुद्धियोसे तन्मय हो रहा ब्रम्हचर्य धर्म भी अतीव उत्कृष्ट विशुद्ध हो जाता है। क्रोध भी परिग्रहको निमित्त पाकर उपजता है। उस परिग्रहका अभाव हो जानेपर उत्तमक्षमा स्वय व्यवस्थित हो जाती है। यो अचेल मुनिके ही उत्तमक्षमा पाई गई। मार्दव धर्म भी उस आचेलक्यके होनेपर ही निकटमे आ बैठता है। क्योकि " मै सुन्दर हू, मै धनिक हू " इत्यादिक गर्वका वस्त्ररहितपने करके त्याग हो चुकता है। स्पष्ट रूपसे आत्मीय सहज भावको चारो ओर दिखला रहे अपरिग्रह मुनिके मायाचार रहितपन स्वरूप आर्जवता धर्म होता है। क्योकि मायाके मूल कारण हो रहे परिग्रहका मुनिने त्याग कर दिया हैं। परिग्रही जीव इन्द्रियोके शब्द, रूप आदि विषयोमे आसक्त हो जाता है। जिस परिग्रहसे विरागभावको प्राप्त हो चुका मुनि चीर आदि परिग्रहके त्यागमे तत्पर हो रहा सन्ता उस परिग्रहसे विमुक्ति हो जानेके कारण शीत, उष्ण, डास, मच्छर आदिके परिश्रमको सह लेता है। निष्परिग्रहपनको प्राप्त हो रहे मुनि करके परीषहे तथा देव, असुरो करके उदीरणा किये गये उपसर्ग सब सह लिये जाते है। वस्त्र ओढे हुये को डास, मच्छर आदि परीषहे क्या सतावेगी ? परिग्रहरहित मुनिकेही घोर तपश्चरणका अनुष्ठान किया जाना है। इस प्रकार मुनिके वस्त्ररहितपनका उपदेश कर देनेसे सक्षेप करके दशो प्रकारके धर्मोका निरूपण कर दिया गया हो जाता है। इसके आगे विजयोदया टीकामें अन्य भी अचेलत्वका समर्थन यो किया है कि--

अथवा न्यथा प्रक्रम्यते अचेलता प्रशसा। सयमशुद्धिरेको गुण. स्वेदरजोमलावलिप्ते चेले तद्योनिका तदाश्रयाश्च त्रसा सूक्ष्मा स्थूलाश्च जीवा उत्पद्यन्ते, ते बाध्यन्ते चेलग्राहिणा। ससक्त वस्त्र तावत्स्थापयतीति चेत्तर्हि हिसा स्यात्। विवेचने चम्रियन्ते ससक्ता। चेऽवत स्थाने, शयने, निषद्यायां, पाटने, छेदने, बधने, वेष्टने, प्रक्षालने, सघट्टने, आतपप्रक्षेपणे च जीवाना वा बाधेति महानसयम। अचेलस्यैवविधासयमाभावात् सयमविशुद्धि। इन्द्रियविजयोद्वितीय। सर्पाकुले वने विद्यामन्त्रादिरहितो यथा पुमान दृढप्रयत्नो भवति। एवमिन्द्रियनियमने अचेलोपि प्रयतते। अन्यथा शरीरविकारो लज्जनीयो भवेदिति। कपायाभावश्च गुणोऽचेलताया स्तेनभयाद्गोमयादिरसेन लेप कुर्वन्निगूहयित्वा कथचिन्माया करोति। उन्मार्गेण वा स्तेनवञ्चना कर्तुयायात्। गुल्मवल्याद्यन्तर्हितो वा स्यात् चेलादिर्ममास्तीति मान चोद्वहते। बलादपहरणात् स्तेनेन सह कलह

कुर्यात् । लाभाद्वालोभ प्रवर्तते । इति चेलग्राहिणाममीदोषा अचेलताया पुनरित्थभूत-दोपानुत्पत्ति । ध्यानस्वाध्याययोरविघ्नता च । सूचीसूत्रकर्पटादिपरिमार्गणसीवनादि व्याक्षेपेण तयोर्विघ्नो भवति । नि सगस्य तथाभूतव्याक्षेपाभावात् । सूत्रार्थपौरुषीपु निर्विघ्नता । स्वाध्यायस्य ध्यानस्य च भावना । ग्रथत्यागश्च गुण । बाह्यचेलादिग्रन्थत्यागोऽभ्यन्तरपरिग्रहत्यागमूल । यथा तुषनिराकरणमभ्यन्तरमलनिरासोपाय । अतुषं धान्य नियमेन शुद्धति । भाज्या तुपस्य शुद्धि । एवम् चेलवति नियमादेव भाज्या। सचेले वीतरागद्वेपता न गुण । सचेलोहि मनोज्ञे वस्त्रेरक्तो भवति, दुष्यत्यमनोज्ञे । बाह्य-द्रव्यालम्बनौ हि रागद्वेपौ तावसति परिग्रहे न भवत । किं च शरीरे अनादरो गुण शरीर-गतादर वशेनैव हि जनोऽसयमे परिग्रहे च वर्तते । अचेलेन तु तदादरस्त्यक्त. वातातपादि-बाधा सहनात् । स्ववशता च गुण । देशातरगमनादौ सहायाप्रतीक्षणात् । पिच्छमात्र गृहीत्वाहि त्यक्तसकलपरिग्रह पक्षीव यातीति । सचेलस्तु सहायपरवशमानसश्च कथ सयम पालयेत् । चेतोविशुद्धिप्रकटन च गुणो चेलताया कौपीनादिना प्रच्छादयतो भाव-शुद्धिर्न ज्ञायते । निश्चेलस्य तु निर्विकारदेहतयास्फुटा विशमता निर्भयता च गुण - ममेदं किमपहरन्ति चौरादय , किं ताडयन्ति, बध्नतीति वा भयमुपैति सचेलो भयातुरो वा किं न कुर्यात् । सर्वत्र विश्रब्धता च गुण निष्परिग्रह न किंचनापि शकते । सचेलस्तु प्रति-मार्गयायिन अन्य वा दृष्ट्वा न तत्र विश्वासं करोति । को वेत्यय, किंवा करोति । अप्रति-लेखनता च गुण· । चतुर्दशविध उर्पाधि गृह्णता बहुप्रतिलेखनता न तथा चेलस्य । परिकर्म-वर्जन च गुण. । उद्वेष्टन, मोचन,सीवन,वन्धन रञ्जन इत्यादिकमनेक परिकर्म सचेलस्य । स्वस्य वस्त्रप्रावरणादे स्वय प्रक्षालन, सीवन वा कुत्सितत कर्म, विभूषा, मूर्च्छा च, लाघवं च गुण । अचेलोऽल्पोपधि स्थानासनगमनादिकासु क्रियासु वायुवदप्रतिवद्धो लघु-र्भवति नेतर । तीर्थकराचरित त्व च गुण, सहननबलसमग्रा मुक्तिमार्गप्रख्यापनपर-जिना· सर्व एवाचेला भूता भविष्य तश्च यथामेर्वादिपर्वतगता प्रतिमास्तीर्थकरमार्गानुयायि-नश्च गणधरा इति तेऽप्यचेलास्तच्छिष्याश्च तथैवेरिसिद्धमचेलत्व । चेलपरिवेष्टितागो न जिनसदृग । व्युत्सृष्टप्रलवभुजो निश्चेलो जिनप्रतिरूपता धत्ते । अतिगूढवलवीर्यता च गुणः । परीपहसहनशक्तोऽपि सचेलो न परीपहान् सहते । एवमेतद्गुणावेक्षणादचेलता जिनोपदिष्टा । चेलपरिवेष्टिताग आत्मान निर्ग्रथ यो वदेत्तस्य किमपरे पापण्डिनो न निर्ग्रन्था ? वयमेव न ते निर्ग्रन्था इति वाङ्मात्र नाद्रियते मध्यस्थैः । इत्थ चेले दोपा अचेलतायां अपरिमिता गुणा इति अचेलता स्थितिकल्पत्वेनोक्ता ।

अथवा वस्त्ररहितपन या पात्र आदि रहितपनकी प्रशसाका दूसरे प्रकारोसे भी प्रक्रम उठाते है। बात यह है कि साधुका एक प्रधानगुण सयमकी शुद्धि रखना है। अचेलतासे ही सयमशुद्धि हो पाती है। स्वेद (पसीना) और धूलके मलसे चारो और लिप्त हो रहे वस्त्रमे उस पसीना मैलको योनिस्थान पाकर उपजे त्रस जीव और स्थूल, सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव उस वस्त्रका आश्रय पाकर उपजते रहते है। वस्त्रको ग्रहण करनेवाले पुरुप करके वे बाधाको प्राप्त होते है। जीवोसे ससक्त हो रहे वस्त्रको तबतक स्थापन कर दिया जायगा तो भी हिंसा अवश्य होगी क्योकि वायु, घाम शरीरकी उष्णतासे वे जीव मर ही जायेगे। यदि जीवोको पृथक किया जाता है। तो वस्त्रसे दृढ चिपक रहे जीव मर जाते है। चेलधारी पुरुषको महान् असंयम होता है। क्योकि उसके स्थित होने, सोने, बैठने, फाडने, छेदने, बाधने लपटने, परवारने, मलने निचोडने, धूपमे डालने आदिमे जीवोको महती बाधा उपजती है। यो सवस्त्र मुनिके प्राण सयम नही पला। हा, वस्त्ररहित दिगबर मुनिके इस प्रकार असयम हो जानेका अभाव है। अत सयमकी विशुद्धि हो रही है। साधुका दूसरा गुण या दूसरा सयम इन्द्रियोपर विजय प्राप्त करना है। सर्पोसे आकुलित हो रहे बनमे जिस प्रकार सर्पविद्या, नागमत्र, नागदमनी औषधि, गरुड आदिसे रहित हो रहा पुरुप अतीव दृढ प्रयत्नशाली होता है, सदा चौकन्ना रहता है, इसी प्रकार इन्द्रियोके नियत्रण करनेमे वस्त्ररहित मुनि भी सचेष्ट होकर प्रयत्न करता है। अन्यथा यानी सवस्त्र होकर इन्द्रियविजयमे असावधानी की जायगी तो शरीरमे विकार उपजेगा और लोकमे लज्जास्पद होना पडेगा। यो वस्त्ररहित मुनिही इन्द्रिय सयमको पाल सकता है। अचेलतासे तीसरा गुण कपायोका अभाव हो जाना भी प्राप्त होता है। कारण कि वस्त्रधारी पुरुष वस्त्रका चोरोके भयसे गोबर, मट्टी आदिके रससे लेप करता हुआ वस्त्रको छिपाकर किसी भी प्रकार मायाचार करता है अथवा अनुचित मार्ग करके चोरको ठगने या धोका देनेके लिये प्रवृत्ति करेगा और स्वय झाडी, वेल, वृक्षकोटर आदिमें छिप जायगा यह तीव्र मायाचार है। मेरे पास वस्त्र, कम्बल आदि है। यो विचार कर मानकषायको भी धारण करता है। बलात्कारसे डाकू लोग छीनते है। तो अवश्य उनके साथ कलह करेगा। वस्त्रका लाभ हो जानेसे लोभकषायकी प्रवृत्ति होती है यो वस्त्रको ग्रहण करनेवाले जनोके वे दोप पाये जाते है। किन्तु फिर वस्त्ररहित अवस्थामे मुनिके इस प्रकार माया, मान

आदि दोषोकी उत्पत्ति नही हो पाती है। वस्त्ररहित मुनिके ध्यान और स्वाध्यायमे कोई विघ्न नही पडता है जब कि वस्त्रधारीके सुई, डोरा कपडा, रेअ; साबुन आदिके रखने, ढूढने या सीवने, धोने आदि क्रियाओमें व्यग्रता हो जानेसे उन ध्यान और स्वाध्यायमे विघ्न हो रहा है। परिग्रहरहित मुनिके तिस प्रकार चित्तमे आकुलता उपज जानेका कोई कारण नही है । दिगबर मुनिके आगमसूत्र और अर्थकी पुरुपार्थपूर्वक विचारणाओमें कोई विघ्न नही पडता है। स्वाध्याय और ध्यानकी भावना प्रकृष्ट बनी रहती है। अचेलतामे चौथा गुण परिग्रहका त्याग हो जाना भी प्राप्त हो जाता है। देखिये, अन्तरग लोभ आदि परिग्रहके त्यागको मूल कारण पाकर वहिरग वस्त्र, दण्ड आदि परिग्रहका त्याग हुआ करता है। जिस प्रकार धान्यसे भीतरी तुप (भुसी) का निराकरण करना अभ्यन्तर मलके दूर होनेका उपाय है। भीतरकी तुपसे रहित हो रहा धान नियमसे शुद्ध हो जाता है। हा, बाहरकी भुसी निकल जानेपर भी अन्तरग भुसी का निकलकर धान्यकी शुद्धि होना विकल्पनीय है। यो वस्त्रधारीके अन्तरंग और वहिरग दोनों शुद्धिया नही हैं। किन्तु वस्त्ररहित मुनिके नियमसेही इस प्रकार त्रिशुद्धि होना भजनीय है। भावार्थ--वस्त्ररहितके बहिरग शुद्धि तो है ही अन्तरग शुद्धि होय भी नही भी होय, परन्तु सवस्त्र परिग्रहहीके दोनो शुद्धिया नियमसे नही हैं। वस्त्रसहित मनुष्यमे रागद्वेषरहितपना गुण नही पाया जाता है। क्योकि वस्त्रधारी जीव मनोनुकूल सुन्दर वस्त्रमे अनुरागी हो जाता है। और मन प्रतिकूल असुन्दर वस्त्रमे द्वेप करने लग जाता है। वहिरग द्रव्योका अवलम्ब पाकर जीवोके राग, द्वेप उपज जाते हैं। परिग्रहके नही होनेपर वे रागद्वेप नग्न साधुके नही उत्पन्न होते हैं। पाचवी वात एक यह भी है कि साधुका शरीरमे आदर नही करना वढिया गुण है। क्योकि शरीरमे आदर करनेकी अधीनतासे ही जीव नियमसे असयम और परिग्रह पकडनेमे प्रवर्त्तते हैं। किन्तु वस्त्ररहित मुनिने उस शरीरका आदर छोड दिया है। वायु, घाम, शीत, वर्पा आदि की परीपहे सहनेसे वे धीर, सहनशील हो गये हैं। अपनी आत्माको वशमे रखना भी साधुका छठा महान् गुण है। देशान्तरको गमन करना, यात्रार्थ जाना, आदि कर्तव्योमे किसी सहायककी प्रतीक्षा नही करनी पडती है। जिस मुनिने सपूर्ण परिग्रहोको छोड दिया है। प्रतिलेखन केवल पिच्छिकाको ग्रहणकर पक्षीके समान निर्द्वन्द चला जाता है। जो वस्त्र या परिग्रहोसे सहित है। वह मनमे सहायकोका अभिलापुक होकर किस

प्रकार सयमका पालन कर सकेगा ? । वस्त्ररहितपनमे सातवा गुण चित्तकी विशुद्धिका प्रकट करना भी है। जो कौपीन धोती, दुकूल आदि वस्त्रोसे अगोको ढक रहा है। उसके भावशुद्धि नही जानी जाती है। " कूपे पातितु योग्य कौपीन = पाप " तद्विशेष-कारणत्वात् लिगमपि कौपीन तदाच्छादनवस्त्रत्वाद्वस्त्रमपि कौपीन " कौपीन शद्वकी निरुक्ति यो की गई है कि कूप+ खञ् कुअेमे गिरा देने योग्य जो पदार्थ है। वह कौपीन है, जो कि पाप है। पापका विशेष कारण होनेसे लिंगको भी कौपीन कहा गया है। और लिगके आच्छादनका वस्त्र होनेसे लगोटीको भी उपचरितोपचार या लक्षितलक्षणासे कौपीन कह दिया गया है। यो कौपीनधारीका अन्तरग विशुद्ध नही है। किन्तु निष्प-रिग्रही साधुके शरीर या शरीरके गुह्य अगोमे कोई विकार नही होनेके कारण वैराग्य-भाव स्पष्ट है। इस अचेलतासे आठवा निर्भयता गुण भी मुनिके हो जाता है। मुनि विचारता है कि ये चोर, डाकू उठाईगीरे मेरा यह क्या अपहरण कर सकते है, परिग्रह होता तो मुझे ताडते, बाधते, किन्तु मुझ परिग्रहत्यागीको ये क्या ताडेगे ? अथवा क्या बाधेगे ? यो निर्भयपनको प्राप्त हो रहा है । किन्तु वस्त्रसहित पुरुष तो भयातुर हो जाता है। और परिग्रहकी रक्षाके लिये क्या क्या पाखड नही करता है। अचेलतासे सब जीवोमे विश्वास बना रहना गुण भी नौमा प्रकट हो जाता है। परिग्रहरहित हो रहा मुनि किसीकी भी शका नही करता है। सबके साथ विश्वास रखता हुआ बेखटके प्रवर्तता है। हा, वस्त्रधारी तो प्रत्येक अपने साथ मार्गमे चलनेवाले सहचरको अथवा अन्य किसी भी तटस्थ मार्गगामीको देखकर उनमे विश्वास नही करता है। यह कौन है, चौर है, उठाईगीरा है, क्या करेगा ऐसा अविश्वास उसके मनमे शल्यके समान चुभता रहेगा। निर्वस्त्र मुनिका एक अप्रतिलेखना दशवा गुण भी पाया जाता है। अर्थात् निकटमें किञ्चित् भी परिग्रह नही होनेसे पिच्छिका द्वारा अधिक शोधना नही करनी पडती है। कम्वल, दण्ड, पात्र आदि चौदह प्रकार उपाधियोको ग्रहण कर रहे श्वेताम्बर साधुको उनके धरने, उठने आदिमें बहुत प्रतिलेखना करनी पडती है। तिस प्रकार निष्परिग्रह नग्न मुनिको इतना झझट नही करना पडता है । परिकर्मवर्जन भी अपरिग्रही साधुका ग्यारहवा गुण पाया जाता है । वस्त्रधारीको खोलना, लपेटना, छोडना, सीवना, बाधना, रगना, झाडना आदिक अनेक परिकर्म करने पडते है। अपने वस्त्र, दोहर, डुपट्टा आदिको स्वय परवारना अथवा धोना, सुखाना, ये खोटे कर्म और

भूपित होना, मोहित हो जाना आदि खोटे भावकर्म भी परिग्रहीके विद्यमान है। वस्त्र-रहित्पनेमे बारहवा गुण लाघव भी है। वस्त्रो या परिग्रहोसे रहित हो रहा मुनि केवल पिच्छिका और कमण्डलु इन अल्प उपधियोको धारकर खडे होने, बैठने गमन करने आदि क्रियाओमे वायुके समान प्रतिबन्धको रहित हो रहा सन्ता लघु हो जाता है। किन्तु अन्य कोई परिग्रही लघु नही होता है। परिग्रहको पोटको लादकर भारी बना रहता है। अचेलता रहनेसे तेरहवा गुण तीर्थकराचरितत्व भी पाया जाता है। सहन-नोकी सामर्थ्यसे परिपूर्ण हो रहे और मोक्षमार्गसे प्रकाशन करनेमे तत्पर हो रहे ऐसे तीर्थंकर जिनेन्द्र जितने भी हो चुके है, और होगे वे सभी वस्त्ररहित ही है। जिस प्रकार सुमेरु पर्वत, नन्दीश्वरद्वीपस्थ गिरी विजयार्ध, कुलाचल आदि पर्वतोमे चैत्यालयस्थ विराजमान हो रही जिनप्रतिमाये है। वे सब वस्त्रादि परिग्रहरहित है। तीर्थकरोके मार्गका अनुसरण करनेवाले जो गणधर है वे भी सब वस्त्र रहित है। तिसही प्रकार उनके शिष्य-प्रशिष्य भी अचेल है। यो अचेलपना सिद्ध हो जाता है। जिसने अपने शरीरको वस्त्रसे वेष्टित कर लिया है। वह जिनेद्रसरीखा नही है। जिन रूपधारी साधु भी नही है। जिसने अपनी लम्बी भुजाओको छोडकर नीचे लटका रक्खा है। वह निश्चल या निश्चेल होकर जिनेन्द्र प्रतिमाके रूपको धारण कर लेता है। अचेलतामे अत्यन्त गूढवलसहितपना और अत्यधिक वीर्यसहितपना भी गुण है। नग्नपुरुषही परी-षहोंके सहनेमे समर्थ भी होता है। वस्त्रसहित हो रहा जीव परीषहोको नही सहता है। इस प्रकार इन गुणोका स्पष्ट दर्शन होनेसे जिनेन्द्र भगवान्ने अचेलताका उपदेश किया है। जिसका शरीर चारो ओरसे वस्त्रवेष्टित हो रहा है। वह यदि अपनेको निर्ग्रथ कहेगा तो उसके समान और भी पाषडी निर्ग्रन्थ क्यो न हो जायेगे। " हम ही निर्ग्रन्थ है। ये पाषंडी निर्ग्रन्थ नही है। " ऐसे युक्तिरहित कोरे वचनमात्र मध्यस्थ परीक्षको करसे आदर नही पाते है। इस प्रकार वस्त्रधारण करनेमे अनेक दोप है। हा, अचेलतामे अप-रिमित गुण है। इसही कारण सर्वज्ञ भगवान्ने अचेलताको स्थितिकल्प स्वरूप करके कहा है। अब अपराजित सूरि पूर्वपक्षपूर्वक सचेलत्वका खंडन करते है।

अथैव मन्यसे पूर्वागमेपु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्ट तथाह्याचारप्रणिधौ भणित " प्रतिलिखेत्पात्रकम्वल ध्रुवमिति। असत्सु पात्रादिपु कथं प्रतिलेखना ध्रुव क्रियते "। आचारस्यापि द्वितीयाध्यायो लोकविचयो नाम तस्य पञ्चमे उद्देशे एवमुक्त " पडिलेहण

पादपुछणं, उग्गह, कडासण, अण्णदर, उवधिं पापावेज्ज " इति । तथा वत्थेसणाए "वुत्त तत्थ एसे हिरिमणे सेग,वत्थ वा धारेज्ज पडिलेहणग विदिय,तत्थ एसे जुग्गिदे सेदे दुवे वत्थाणि धारिज्ज पडिलेहणग तदिय । तत्थ एसे परिस्सह अणधिहासस्स तओ वत्थणि धारेज्ज पडिलिहण च उत्थ । " तथापायेसणाए कथित " हिरिमणेवा जुग्गिदे चावि अण्णगे वा तस्सण कप्पदि वत्थादिक पादचारित्तए इति " पुनश्चोक्त तत्रैव " अलावु पत्त वा दारुगपत्त वा मट्टिग पत्त वा अप्पपाण अप्पवीज अप्पसरिद तथा अप्पकार पात्रलभे सति पडिग्गहिस्सामीति । " वस्त्रपात्रे यदि न ग्राह्ये कथमेतानि सूत्राणि नीयन्ते । भावनाया चोक्त " चरिम चीवर धारितेन परमचेलके तु जिणे " इति । तथा सूत्रकृतस्य पुण्डरीके अध्याये कथित " णकहेज्जो धम्मकह वत्थपत्तादि हेदुमिति । " निषेधेप्युक्त--'कसिणाइ वत्थकम्बलाइ जो भिक्खु पडिग्गहिदि पज्जदि मासिग लहुग '। इति एव सूत्रनिर्दिष्टे चेले अचेलता कथ इत्यत्र उच्यते--आर्यिकाणामागमे अनुज्ञात वस्त्र कारणापेक्षया । भिक्षूना ह्रीमान योग्य शरीरावयवो दुश्चर्मातिलम्बमान वीजो वा परीषहसहने वा अक्षम स गृह्णाति । तथाचोक्तमाचारागे ' सु दमे आउस्सत्तो भगवदा एवमक्खाद इह खलु सयमाभिमुखा दुविहा इत्थी पुरिसा जादा भवन्ति । ते जहा--सव्वसमण्णा गेद णोसव्व समागदे चेव तत्थ जे सव्वसमण्णागदे थिरोगहत्थ पाणिपादे सव्विन्दिय समण्णागदे तस्स ण णोकप्पदि एगमवि वत्थ धारिउ एव परिउ एव अण्णत्थ एगेण पडिलेहगेण इति ' तथाचोक्त कल्पे " हरिहेतुक व होइ देहदु गुच्छति देहे जुग्गि दगे धारेज्जसिय वत्थ परिस्सहाण च ण विहासीनि " द्वितीयमपि सूत्र कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमित्यस्य प्रसाधकमाचारे विद्यते " अहपुण एव जाणेज्ज उपातिक ते हेमे तेहिं सुपडि वण्णे से अथ पडिजुण्ण मुवधि पदिट्ठावेज्ज " इति । हिमसमये शीतबाधासह परिगृह्य चेल तस्मिन्निष्क्रान्ते ग्रीष्मे समायाते प्रतिष्ठापयेदिति । कारणापेक्ष ग्रहणमाख्यात । परिजीर्णविशेषोपादानाद्दृढानामपरित्याग इति चेत् अचेलतावचनेन विरोध । प्रक्षालनादिक सस्कारविरहात्परिजीर्णता वस्त्रस्य कथिता नतु दृढस्य त्यागकथनार्थं पात्रप्रतिष्ठापना सूत्रेणोक्तेति । सयमार्थ पात्रग्रहण सिध्यति इति मन्यसे नैव, अचेलतानाम परिग्रहत्याग. पात्र च परिग्रह इति तस्यापि त्याग सिद्ध एवेति । तस्मात्कारणापेक्ष वस्त्रपात्रग्रहण । यदुपकरण गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधिर्गृहीतस्य च परिहरणमवश्य वक्तव्यमेव तस्माद्वस्त्र पात्र चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु, वहुषु यदुक्त तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्य ।

यच्च भावनायामुक्त " वीरस चीवरधारी तेण परमचेलगो जिणोत्ति । तदुक्त विप्रतिपत्तिबहुलत्वात् । कथ ? केचिद्वदन्ति " तस्मिन्नेवदिने तद्वस्त्र वीरजिनस्य विलबन कारिणा गृहीतमिति "। अन्ये षण्मासाच्छिन्न तत्कटकशाखादिभिरिति । ' साधिकेन वर्षेण तद्वस्त्रखण्डलकब्राम्हणेन गृहीतमिति केचित्कथयन्ति ' केचिद्वातेन पतितमुपेक्षित जिनेनेत्यपरे वदन्ति । ' विलम्बनकारिणा जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति '। एव विप्रतिपत्तिबाहुल्यान्न दृश्यते तत्त्व सचेललिगप्रकटनार्थ । यदि चेलग्रहण जिनस्य कथ तद्विनाश इष्ट । सदा तद्धारयितव्य । कि च यदि नश्यतीति ज्ञान निरर्थक तस्य ग्रहण । यदि न ज्ञातमज्ञानमस्य प्राप्नोति । अपि च चेलप्रज्ञापना वाछिता चेत् " आचेलक्को-धम्मो पुरिमचरिमाण " इति वचो मिथ्या भवेत् । तथा नवस्थाने यदुक्त " यथाहमचेली तथाहोउ पच्छिमो इदि होक्खदित्ति " तेनापि विरोध. । कि च जिनानामितरेषा वस्त्र-त्यागकालो वीरजिनस्येव कि न निर्दिश्यते, यदि वस्त्र तेषामपि भवेत्, एव तु युक्त वक्तु । सर्वत्याग कृत्वा स्थिते जिने केनचिद्वस्त्र वस्तु निक्षिप्त उपसर्ग इति । --इद चाचेलताप्रसाधनपर शीतदशमशकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचन परीपहसूत्रेषु । न हि सचेल शीतादयो बाधन्ते । इमानि च सूत्राणि अचेलता दर्शयन्ति " परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए । अचेलपवरे भिक्खू जिणरूपधरे सदा । सचेलगो सुखीभवदि, असुखी चावि अचेलगो । अह तो सचेलो होक्खामि इदि भिक्खूण चिन्तए ।। आचेलगस्स लूहस्स सीद भवदि एगदा । णातपसे विचिन्तेज्जो अधिसिज्ज अलाइसौ ।। ण मे णिवारण अत्थि छाइय ताण विज्जदि । अह तावग्गिसेवामि इदि भिक्खू ण चिन्तए ।। आचेलगाण लूहस्स सजदस्स तवस्सिणो, तणेसु असमाणस्से ण ते होदि विराधिदा । एगेण तावकप्पेण सवुड-गति णसितदसावाए जोसपसिद्ध किमगपुण दीहकप्पेहि "। एतान्युत्तराध्ययने--आचेल-क्कोय जो धम्मो जो वाय पुणरुत्तरो, देसिदो वड्ढमाणेण पासेण अमहप्पणा । एगधम्मे पवत्ताण दुविधा लिगकप्पणा, उभएसि पदिठ्टाणमह ससयमागदा । " इतिवचनाच्चरम-तीर्थस्यापि अचेलता सिध्यति । -णग्गसय मुण्डसय दीह लोमणक्खस्सय, मेहुणादो वि(र)त्तस्स कि विभूसा करिस्सदि । इति दशवैकालिकायामुक्त । एवमाचेलक्य स्थितिकल्प. ।

इसका अर्थ यो है कि इसके अनन्तर अब तुम श्वेताम्बर सम्प्रदायवाले यदि इस प्रकार मानोगे कि फिर पूर्व आचार्य प्रणीत आगमोमे वस्त्र, पात्र, दण्ड आदिकोमे ग्रहण करनेका उपदेश किया गया है । तिसी प्रकार " आचारप्रणिधि " नामक ग्रन्थमे यो

कहा है कि साधु आवश्यक रूपसे पात्र, और कम्बलकी प्रतिलेखना करे यानी पिच्छीसे उनको शुद्ध करे। यदि दिगम्बरमन्तव्यानुसार साधुके पास पात्र आदिक नही होगे तो निश्चित प्रतिलेखना किस प्रकार की जायगी। आचारागका दूसरा अध्याय लोकविचय नामक है। उसके पाचवे उद्देश्यमें इस प्रकार कहा है कि प्रतिलेख पादपोछण, उग्गाह, चटाई आसन और भी दूसरे परिग्रहोको साधु प्राप्त करे इत्यादि। तथा वत्थेसणा (वस्त्रेपणा) प्रकरणमे कहा गया है कि " जिस साधुके मनमे लज्जा है। वह एक वस्त्र धारण करे और दूसरा वस्त्र प्रतिलेखनाके लिये रक्खे, किसी योग्य देशमे साधुका दो वस्त्र भी धारण करे और प्रतिलेखनके लिये तीसरा वस्त्र धारण करे। यदि शीत आदि परीषहोको सहन नही कर सके तो तीसरा वस्त्र भी धारण करे। साथही प्रतिलेखनाके लिये चौथा वस्त्र रक्खे। तथा पादेषणा प्रकरणमे यो कहा गया है कि लज्जाशील साधुको वस्त्रादि ग्रहण करने चाहिये। अथवा जिसके लिग या वृषण अण्डकोशमे दोप हो उसको भी वस्त्र धारना चाहिये फिर भी वही यो कहा गया है कि पात्रलाभ होय तो मै तूम्बीपात्र या लकडीका पात्र या मिट्टीके पात्रको अपने पास रक्खूगा जिसमे कोई जीव नही रहा है। यानी अचित्त हो चुका है, और जो पात्र फैला हुआ नही है। छोटा आकार है, ऐसे पात्रका लाभ होनेपर मै उसको ग्रहण करूगा। हम श्वेताम्बर कह रहे है कि साधु करके यदि वस्त्र और पात्र यदि नही ग्रहण किये जाते तो उक्त इन सूत्र-वाक्योको कैसे सार्थकपने पर लिया जा सकता है। भावनामे भी यो कहा गया है कि " अन्तिम तीर्थकर महावीर स्वामीने वस्त्रधारण किया था फिर भी वे अचेलक जिनेन्द्र तो रहे ही तथा सूत्रकृतागके पुण्डरीक नामक अध्यायमे कहा जा चुका है कि " वस्त्र, पात्र, आदिका प्रयोजन रखकर साधु धर्मोपदेश नही करे। " निषेध या निशीथ ग्रन्थमें ऐसा निरूपण है कि " जो साधु वस्त्र, कम्बल आदिको ग्रहण करता है उसको लघु मासिक प्रायश्चित्त करना पडता है। " इस प्रकार आगम सूत्रोमे जब चेलका बढिया निरूपण किया गया हे तो फिर दिगम्बरोकी अचेलता किस प्रकार ठहर सकती है ? । इस प्रकार कह चुकनेपर अब अपराजित सूरि द्वारा यहा खडन पक्षमें उत्तर कहा जा रहा है कि आगममे आर्यिकाओको वस्त्र धारण करनेकी आज्ञा दी है। कारण की अपेक्षासे भिक्षुकोको वस्त्रधारणकी आज्ञा है। जो भिक्षुक लज्जावान् है अथवा जिसके शरीरके अवयव योग्य नही है, अथवा जिसके पुरुषलिंगपर चर्म नही है,

अण्डकोष या चिन्ह् अधिक लम्बे है। यो या जो शीत आदि परीषहे सहनेमे समर्थ नही है। वह वस्त्र ग्रहण कर लेता है। इन पक्तियो द्वारा मुक्त देशभाषाकार को श्री अपराजितसूरिका यह अभिप्राय प्रतीत हुआ कि वह वस्त्रधारी मात्र भिक्षुक है। यो श्वेताबर मतानुसार भी वस्त्रग्रहण करना सभी साधुओको आज्ञापित नही किया गया है। केवल जो लज्जाशील है, घृणायुक्त है, त्रिस्थानदोषसहित है। अथवा परीषहजयी नही है वही वस्त्रधारण कर सकते है। ऐसाही उन श्वेताबरोंके ग्रथोमे उल्लेख है। सभी साधुओको वस्त्रग्रहण करना अनिवार्य नही है। दिगबर सप्रदाय अनुसार उक्त दोषवालो को दीक्षा ही नही दी जाती है। मुनि अवस्थामे कोई भी वस्धोको धारण नही कर सकता वस्त्रसहित दशामे मुनि या साधु बना नही रह सकना है। छठे या सातवे गुणस्थानसे वह गिर जायगा उसके अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोका उदय है। इसके आगे अपराजित सूरि कह रहे है कि तुम्हारे आचारागमे तिस प्रकार कहा गया है कि दीर्घ जीवी भगवान्‌ने इस प्रकार मेरे लिये श्रुत कहा है कि इस संसारमे दो प्रकारके स्त्री और पुरुप सयमको धारनेवाले हुये होते है। वे यो समझो कि जिनके सपूर्ण अवयव परिपूर्ण है। और दूसरे जिनके सम्पूर्ण अग परिपूर्ण नही है। तिनमे जो निर्दोष सपूर्ण परिपुष्ट अगवाले है, अग हाथ, कुहनी, पाव जिनके स्थिर है। सपूर्ण इद्रिया निर्दोष है। उनको एक भी वस्त्र नही पहनना चाहिये केवल एक प्रतिलेखन यानी पिच्छिकाके सिवाय सबका परित्याग कर देना चाहिये। तिसी प्रकार कल्पसज्ञक ग्रन्थमे भी यो कहा गया है कि जिसका शरीर ही हेतुक है। यानी अपने शरीरके अवयवो अनुसार जिसको अनुक्षण लज्जा लगती है। अथवा जिसका शरीर घृणायुक्त है। या तीन स्थानोमें दोषोसे युक्त है। परीपहोको जीत नही सकता है। वह साधु जनतामे श्वेत वस्त्रको धारण करे। कारणकी अपेक्षा कर वस्त्रको ग्रहण करना चाहिये यो इस सिद्धान्तको बढिया सिद्ध करनेवाला आचारागमे दूसरा सूत्र भी विद्यमान है। अब फिर इस प्रकार समझ लो कि शीतरोगसे आक्रान्त होनेपर या असह्य जाडेकी हेमन्त ऋतु प्राप्त होनेपर साधु वस्त्र उपधिको प्राप्त करे इस प्रकार शीतकालके समयमे शीतबाधाको नही सहन करनेवाला वस्त्रका परिग्रहण करके उस शीत ऋतुके निकल जानेपर और ग्रीष्म ऋतुके आ जानेपर वस्त्रको दूर रख देना चाहिये। यानी कपडेका त्याग कर देना चाहिये। यो कारणकी अपेक्षाकर वस्त्रका ग्रहण बखाना गया है। यदि तुम

श्वेताम्बर यो कहोगे कि चारो ओरसे जीर्ण हो चुके विशेष वस्त्रका ग्रहण कर लेनेसे यह बात ध्वनित हो जाती है कि दृढ वस्त्रोका तो परित्याग करना ही नही चाहिये। ऐसा कहनेपर तो हम दिगम्बर सम्प्रदायवाले कहते है कि तब तो अचेलताके कथनके साथ विरोध आ जावेगा जो अचेलताको मान चुका है। वह सचेलताको पुष्ट नही कर सकता है विरोध है। धोना, सुखाना, पोछना आदि सस्कारोके नही होनेसे वस्त्रका जीर्ण हो जाना कहा गया है। किन्तु दृढ वस्त्रका त्याग कहनेके लिये नही कहा गया है। पुन श्वेतावर यो कहे कि सूत्रमे पात्रकी प्रतिष्ठापना भी कही गयी है। सयमके लिये पात्र (थापडा) का ग्रहणसिद्ध हो जाता है। आचार्य कहते है कि यदि तुम यो मानो सो ठीक नही है क्योकि चेल परिग्रहका उपलक्षण है। अचेलताका लक्षण परिग्रह-त्याग है। पात्र भी परिग्रह है। इस कारण उसका भी त्याग कर देना सिद्ध ही हो जाता है। तिस कारण वस्त्र और पात्रका ग्रहण करना तुम्हारे यहा विशेष कारणकी अपेक्षा कर कहा गया है। जो भी कोई उपकरण ग्रहण किया जाता है कारण को अपेक्षा कर ही उसके ग्रहणकी विधि है। पुन गृहीतका परित्याग करना भी अवश्य कहने योग्य ही है। तिस कारण अर्थके अधिकारकी अपेक्षा कर, बहुतसे सूत्रोमे वस्त्र और पात्रका ग्रहण जो कहा गया है वह कारणकी अपेक्षा कर ही निरूपित है। यो श्रेष्ठ मन्तव्य ग्रहण करना चाहिये। जो भावनामे यो कहा गया है कि अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामीने एक वर्षतक वस्त्रधारण किया था उसके पश्चात् वे वस्त्रका त्याग कर अचेलक जिन हो गये। उस कथन पर हम दिगबरोका यह कहना है कि उसमे बहुलतासे विवाद पडे हुये है। महावीर स्वामीके वस्त्रग्रहणका तुम्हारे यहा निर्णय नही हो सका है। क्योकि उस विषयमे कोई यो कह रहे है कि जिस दिन वीर स्वामीने दीक्षा ली थी उसही दिन वीर जिनेन्द्रके उस वस्त्रको विलम्बन करनेवाले पुरुषने ले लिया था तुम्हारे यहा दूसरे विद्वान् उसी विषयमें यो कह रहे है कि छ महीने पश्चात् वह वस्त्र काटो या शाखाओ करके छिन्न--भिन्न, हो गया था। कोई तुम्हारे आचार्य यो कह रहे है कि कुछ अधिक एक वर्ष व्यतीत होनेपर वह वस्त्र खडलक नामक ब्राम्हणने ग्रहण कर लिया था, कोई यो भी बखान रहे है कि वायुके द्वारा गिरा दिये गये उस वस्त्रकी वीर नाथने उपेक्षा कर दी यानी त्याग दिया। विलम्बनको करनेवाले पूजकने फिर उस वस्त्रको वीरभगवान्के कन्धेपर रख दिया इत्यादि कोई कोई कहते

है। इस प्रकार बहुतसी विप्रतिपत्तिया होनेसे मुनिके सचेल लिगका प्रकट करनेके लिये कोई ठोस तत्त्व नही दीखता है। सदिग्ध तत्त्वको विद्वान् लोग नही मानते है। यदि वीरनाथने वस्त्रका ग्रहण किया था तो फिर उसका विनाश क्यो इष्ट किया गया है। वे वस्त्रको सदा ही पहिरे रहते। जैसे, कि जन्मसे लेकर दीक्षाके पहिले तक देवोपनीत वस्त्रोको धारण करते थे। एक बात यह भी है कि " वस्त्र नष्ट हो जायगा। " इस प्रकार प्रभुको यदि ज्ञान था तो उस वस्त्रका ग्रहण उन्होने व्यर्थ किया यदि ज्ञान नही था, तो इस भगवान्के अज्ञानभाव प्रकट होता है जो कि इतना अज्ञान अवधिज्ञानी भगवान्को होना नही चाहिये। यदि तुम श्वेताबर यो भी कहो कि वीरनाथने मुनिका लिंग वस्त्र है ! इसको प्रज्ञापित करनेके लिये वस्त्र ग्रहण इष्ट किया था। तब तो हम कहते हैं कि " पहिले तीर्थकर और पिछले तीर्थकरके यहा आचेलक्य यानी वस्त्ररहितपना धर्म माना गया है। " यह वचन झूठ पड जावेगा। तिसी प्रकार नवस्थानमे जो यह कहा गया है कि " जिस प्रकार मै आदिनाथ भगवान् वस्त्ररहित हू उसी प्रकार पिछला तीर्थकर महावीर स्वामी भी अचेलक होवेगा। " उस वचनके साथ भी तुम्हारे कथनका विरोध हो जावेगा। एक बात यह भी है कि यदि आप तीर्थकरोके साधु अवस्थामे वस्त्रधारण मानते है। तो वीर जिनेन्द्रके समान अन्य तेईस तीर्थकर जिनेन्द्रोके भी वस्त्रके त्यागका समय क्यो नही आप लोगोने कहा है। यदि उनका भी वस्त्र होता तो इस प्रकार वस्त्रके त्यागके कालको करना समुचित था। हा, यह कहना तो ठीक है कि सपूर्ण परिग्रहोका त्याग कर तीर्थकर जिन जब ध्यानमे स्थिर हो जाते है, तो किसीने पहनानेके लिये वस्त्रको डाल दिया वह उपसर्ग हुआ कहा जायगा। यहातक अचेलताही पुष्ट होती है। देखो, यह युक्ति भी अचेलताको भले प्रकार सिद्ध करनेमे तत्पर हो रही है कि परीषहके सूत्रोमे शीत, देश मशक, तृणस्पर्श, परीषहोको सहनेका निरूपण किया है। मोटे वस्त्रोको पहने हुये साधुको शीत आदि परीषहे नही बाध पाती है। अत ये परीषह सहनेके सूत्र अचेलताको ही दिखलाते है। निर्वस्त्रताको पुष्ट करनेके लिये आपके यहा अन्य भी आगम वाक्य है। साधु विचारता है कि " वस्त्रोका परित्याग कर चुकनेपर फिर मै वस्त्रोको ग्रहण नही करूगा। " जो वस्त्रोका त्यागकर अचेलकोमे श्रेष्ठ है वह सदा जिनरूपका धारी है। वस्त्रसहित साधु लौकिक सुखमे मग्न हो जाता है। और वस्त्ररहित तो ऐन्द्रियिक सुखी नही होता है। मै वस्त्रसहित

हो जाऊगा । " इत्यादिक बातोको भिक्षुक मनमे नही विचारे । और यो भी मनमे नही विचारे कि " वस्त्ररहित हो रहे रूखे मुझको एक समयमे शीत सतावेगा इस कारण मै घामका सेवन करूगा " ऐसी निर्बलताप्रयुक्त चिन्तनाये साधु न करे । शीत आदि परीषहोको साधु सहे यो बहुत सा आपके यहा प्राकृत, अपभ्रंश, भाषाओमे अन्य भी कहा गया है। उत्तराध्ययनमें लिखा है कि सबसे पहले महात्मा पार्श्वनाथ और वर्द्धमान भगवान्ने एक निर्वस्त्रपनाही धर्म कहा है । पीछे मुनिधर्ममे प्रवृत्ति कर रहे साधुओने दो प्रकार लिंगोकी कल्पना कर ली है। अत मै दोनो सचेल, अचेल, लिंगमे सशयको प्राप्त हुआ हू । इस प्रकार कथन करने से अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामीकी अचेलता सिद्ध होती है। दशवैकालिक ग्रन्थमे भी यो कहा गया है कि जो नग्न है, मुण्ड है, जिसके नख, केश, बढे हुये है, जो मैथुनसे विरक्त है। ऐसे साधुको भूषण क्या करेगे ? यो आपके ही अनेक प्रमाणोसे अचेलताका समर्थन होता है। इस प्रकार अपराजित सूरिने आचेलक्य स्थितिकल्पका निरूपण किया है। इस आचेलक्यपर भगवती आराधना ग्रथकी विद्वद्वरेण्य आशाधर कृत मूलाराधना टीकामे कथन किया गया है--आचेलक्य वस्त्रादिपरिग्रहाभावो नग्नत्वमात्र वा । तच्च सयमशुद्धीन्द्रियजय कषायाभाव ध्यानस्वाध्यायनिर्विघ्नता निर्ग्रन्थता वीतरागद्वेषता शरीरानादर स्ववशचेतोविशुद्धि प्राकटच निर्भयत्व सर्वत्र विस्रब्धत्व प्रक्षालनोद्वेष्टनादिपरिकर्मवर्जन विभूषामूर्च्छत्व लाघव तीर्थकराचरितत्वानिगूढबल वीर्यताद्यपरिमित गुण ग्रामोपलम्भात् स्थितिकल्पत्वेनोपदिष्टम् । तद्गुण समर्थन टीका दृष्टचा किंचिदुच्यते यथा--चेले हि स्वेदादियोनिक प्राणिना प्रक्षालनादिना बाधा स्यात् इति तत्त्यागे सयमशुद्धिः । लज्जनीय शरीरविकारनिरोधनाय प्रयत्नदार्ढ्येन्द्रियजय । चोरादि वञ्चनाद्यभावात्कषायाभाव । सूचीसूत्रकर्पटादिमार्गणा सेवनाद्यभावात्स्वाध्यायध्याननिर्विघ्नता । अभ्यन्तर ग्रथस्य चेलादि परिग्रहमूलस्य त्याग । मनोज्ञामनोज्ञवस्त्रत्यागात् वीतरागद्वेषता वातातपादिबाधासहनाच्छरीरेऽनादर । देशान्तर गमनादौ सहायानपेक्षणात्स्ववशता, कौपीनादिप्रच्छादना करणाच्चेतोविशुद्धि प्रकटन । चौरादि ताडनादिभयाभावान्निर्भयत्व, अपहार्यस्य अर्थस्याभावात्सर्वत्र विश्रब्धता, चतुर्दशविधोपकरणपरिग्राहिणा सितपटानामिध बहुप्रतिलेखनत्व प्रक्षालनादि व्यामग भार वाहित्वानि च न सन्तीत्यादि । उक्त च--

म्लानेक्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो ।
नष्टे व्याकुलचित्तता थ महतामप्यन्यत प्रार्थनम्
कौपीनेपि हृते परैश्च झगिति क्रोधः समुत्पद्यते ।
तन्नित्यं शुचि रागहृच्चमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ॥

अपिच-- विकारे विदुषां द्वेषो नाविकारानुवर्तने ।
तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ॥
नैष्किञ्चन्यमहिंसाच कुतः संयमिनां भवेत् ।
ते संगाय यदीहन्ते बल्कलाजिनवाससाम् ॥

इसका सक्षेपमे अर्थ यह है कि वस्त्र, दण्ड आदि सभी परिग्रहोंका अभाव कर देना अथवा केवल नग्न हो जाना आचेलक्य है वह आचेलक्य तो सयमकी शुद्धि होना, इन्द्रियोंका जय करना, कषायोका अभाव हो जाना ध्यान और स्वाध्याय करनेमे निर्विघ्न रहना, निर्ग्रन्थता, रागद्वेष रहितपन, शरीरमें आदर न होना, पराधीन न होकर स्ववश रहना, चित्तकी विशुद्धिका प्रकट होना, भयरहित होना, सबमे विश्वास करना, परवाह न करना, धोना, लमेडना आदि परिक्रियाओका छूट जाना, विभूषित करनेमे मूर्च्छा नही होना, लघु बने रहना तीर्थकरोसे आचरित किया जाना बलवीर्यका नही छिपा सकना, मार्दव आदिक अपरिमित गुणसमुदायका उपलम्भ होनेमे स्थितिकल्प पने करके उपदेश गया है । उस अचेलकत्व गुणके समर्थनको विजयोदया टीकाकी दृष्टिसे कुछ कहा जा रहा है । उस प्रकार सुनिये । पसीना आदि योनिको पाकर उपज गये त्रस प्राणियोको वस्त्रके धोने सुखाने आदिसे बाधा उपजेगी अत उस वस्त्रका त्याग करनेपर सयमकी शुद्धि होगी । लज्जा करने योग्य शरीरके विकारोका निरोध करनेके लिये प्रयत्नकी दृढता हो जानेसे इन्द्रियोका जय होगा । चोर आदि द्वारा ठगने, लूटने आदिका अभाव हो जानेसे कषायोका अभाव हो जाता है । सुई, सूत, कपडा आदिके ढूढने, सीवने, सेवा करने आदि झझटोंका अभाव हो जानेसे स्वाध्याय और ध्यानमे निर्विघ्नता रहती है । चेल आदि बहिरग परिग्रहको मूल मान कर अभ्यन्तर परिग्रह उपज जाते है । वस्त्रका त्याग कर देनेसे उनका त्याग हो जाता है । मनोज्ञवस्त्रका त्याग करनेसे राग छूटता है । और असुन्दर वस्त्रका त्याग कर देनेसे द्वेष छूटता है । वायु, घाम, डास आदिकी बाधा सहनेसे शरीरमें आदुर नही हो पाता है । देशान्तरकी जाने आदिमें सहायककी अपेक्षा नही होनेसे स्वतत्रता हो जाती है । कौपीन आदि द्वारा प्रच्छादन नही करनेसे चित्तकी विशुद्धि प्रकट होती है । चोर आदि द्वारा मारना, पीटना आदिका भय नही होनेसे नग्नदिगम्बर मुनिको नग्नत्व प्राप्त होता है । चुराने योग्य कोई पदार्थ नही होनेसे सभी जीवोमे मुनिका या मुनिमे सब जीवोका विश्वास हो जाता है । चौदह प्रकारके उपक-

रणोको रख कर बडे परिग्रही हो रहे श्वेताम्बरोके यहा जैसे बहुतसे प्रतिलेखन रखना, परवारना, सुखाना, आदिक और बहुतसे परिग्रहकी पोट लादना, रखना आदिक दोष है। वैसे दिगम्बर मुनियोके नही है इत्यादिक टीकामे बहुत लिखा है। अन्यत्र भी ग्रन्थोमे वस्त्रके दोप दिखलाते हुये यो कहा गया है कि वस्त्रोके मलिन हो जानेपर उनको पखारना पडेगा। धोनेके लिये जल लाना, पात्र लाना, आदि आरम्भ किया जायगा, ऐसा करनेसे भला सयम कहासे पल सकता है ? वस्त्रके धोनेपर इन्द्रियसयम और प्राणसयम दोनो नही पलते है। और वस्त्रके नष्ट हो जानेपर साधुका चित्त व्याकुल हो जायगा। इसके अनन्तर महान् पूज्य पुरुषोको भी अन्य जनोसे वस्त्रकी प्रार्थना करनी होगी। मात्र कौपीनके भी दूसरो द्वारा चुराये जानेपर शीघ्र क्रोध उपज बैठता है। तिस कारण अनेक दोषोकी खानि हो रहे वस्त्रका मुनिको ग्रहण करना उचित नही है। शातिकी उपासना करनेवाले मुनियोका वस्त्र तो दिशामण्डल ही है। वह दिशारूपी वस्त्र नित्य है, कभी फटता नही है। शुद्ध है, कभी मैला नही होता है, राग परिणतिको हरनेवाला है। और भी ग्रथोमे इस विपयपर कहा गया है कि परनिमित्तजन्य विकारोमें विद्वान् पुरुषोको द्वेष उपजता है हा, अविकार यानी स्वाभाविक परिणतिके अनुकूल प्रवर्तनेमे किसीका कोई द्वेष नही होता है। तिस कारण स्वभावसे उत्पन्न हुये नग्नपनेमे भला क्या द्वेष या पापका ससर्ग हो सकता है ? परिग्रहोका सर्वथा त्याग कर देनेसे मुनियोका आकिञ्चन्य धर्म पलता है और अहिंसा भी सधती है। उन सयमियोकी निष्किञ्चनता और अहिंसा धर्म कैसे होगे जो साधु छाल और चमडा तथा वस्त्रोका सग यानी परिग्रह करनेके लिये इच्छा रखते है। अर्थात् वकला, चमडा, कपडा इन परिग्रहोके चाहनेवाले पुरुष सयमी नही है। निष्परिग्रहत्व और अहिसाको नही धारते है। यो आशाधरजीने टीकामे साधुओके वस्त्रादिरहितपनेको पुष्ट किया है। श्री वीर भगवान् या श्री कुन्दकुन्द स्वामीके आम्नाय अनुसार मुनियोके वस्त्रादि परिग्रहोका रखना निषिद्ध है। स्वय ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी दशमे अध्यायके अन्तिम सूत्रका व्याख्यान करते हुये लिखेगे कि—

पुल्लिगेनैव तु साक्षाद्द्रव्यतोन्या तथा गम—
व्याघाताद्युक्तिबाधाच्च स्त्र्यादिनिर्वाणवादिनां ।
साक्षान्निर्ग्रन्थलिंगेन पारंपर्यात्ततोन्यतः ।
साक्षात्सग्रन्थलिंगेन सिद्धौ निर्ग्रन्थता वृथा ॥ १३ ॥

इसका अभिप्राय यही है कि द्रव्य-पुरुषही मोक्षको प्राप्त करता है। स्त्री या नपुसक तद्भवसे मोक्ष नही जाते है। इनको वस्त्र रखना अनिवार्य है। निर्ग्रन्थलिगसे ही साक्षान्मोक्ष प्राप्त होगा सग्रन्थलिग करके अव्यवहित रूपसे मोक्ष नही हो सकती है। यों सयमीका उत्सर्ग मार्ग आचेलक्यही समझा जाय। वस्त्रसहित हो जानेपर जीवकी देश-सयम या असयम अवस्था समझी जायगी। मुझ देशभाषाकारको यह विश्वास नही हुआ कि श्लोकवार्त्तिक महान् ग्रन्थमे शीतकाल, लज्जा आदिके अवसरपर उपकरण वकुश मुनि कम्बल, कौशेय वस्त्रको रख सकते है। अनगारधर्मामृतको रचनेवाले उद्भट पण्डित आशाधरजीने अपराजित सूरिकी टीकाका आश्रय लेकर मूलाराधना टीकामे अचेलत्वको पोपा है। इससे श्री अपराजित सूरिका दिगम्बरत्व और प्रकाड विद्वत्त्व प्रकट हो जाता है। तभी तो आशाधरजी विजयोदया टीकाका सहारा ले रहे है। कोई भी दिगम्वर आम्नायका विद्वान् मुनिको वस्त्र रखना पुष्ट नही कर सकता है। भगवती आराधना और उसकी टीकामे भी वस्त्रका समर्थन नही है। प्रत्युत प्रबल युक्तियोसे वस्त्र, पात्र रखनेका खण्डन किया है। ऐसी आचेलक्यकी पुष्टि अन्य ग्रन्थोमे दुर्लभ है।

पीतपद्मशुक्लास्तिस्रो लेश्या पुलाकस्य भवन्ति।

पुलाक आदि पाचो निर्ग्रन्थोके सयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, इन पाचो अनुयोगोका व्याख्यान कर दिया गया है। अव पाचो मुनिवरोमे छठे लेश्या अनुयोगको घटित करते है। प्रथमोक्त पुलाक मुनिके पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याये पाई जाती है।

कृष्णो नीलश्च कापोतः पीताः पद्मश्च शुक्लगः,
लक्षणाः षडपि लेश्या वकुशप्रतिसेवना ॥
कुशीलयोर्भवन्त्येव कथितेयं महर्षिभिः ॥ १४ ॥

तथा वकुश और प्रतिसेवना कुशील नामक मुनियोके कृष्ण, नील और कापोत ये तीनों अशुभ लेश्याये तथा पीत, पद्म लेश्या और शुक्लवर्णोचित कर्तव्यको प्राप्त हो रही शुक्ल लेश्या यो स्वकीय वर्णोचित आचरणो स्वरूप हो रही छओ भी लेश्यायें पाई जानी ही है। इस प्रकार महान् ऋषिवरोने इस लेश्याको कहा है।

ननु कृष्णनीलकापोतलेश्यात्रयं वकुशप्रतिसेवना व कुशीलयोः कथं भवति। सन्त्येव तयोरूपकरणासक्तिसंभवादार्त्तध्यानं कादाचित्कं संभवति, तत्संभवादादिलेश्या-त्रयं संभवन्त्येवेति मतान्तरं, परिग्रहसंस्काराकांक्षा, स्वयमेवोत्तर गुणविराधनायामार्त संभवादार्ताविनाभावि च लेश्याषट्कं पुलकस्यार्तकारणाभावान्न षट् लेश्याः। किन्तूत्त-रास्तिस्त्र एव।

यहां कोई शका उठाता है कि--वकुश और प्रतिसेवना कुशील दोनो मुनियोके कृष्ण, नील और कापोत तीनो अशुभ लेश्याये किस प्रकार हो सकती है ? अर्थात् ग्रन्थोमें इस प्रकार लिखा है कि--" अयदोत्तिछलेस्साओ सुहतिय लेस्साहु देस विरदतिये, तत्तो सुक्का लेस्सा अजोगिठाण अलेस्स तु " यो पाचवे, छठे, सातवे गुणस्थानोमें तीन शुभ लेश्यायें मानी है। वकुश और प्रतिसेवना कुशील जब निर्ग्रन्थ है तो कमसे कम छठे सातवे गुणस्थानमे अवश्य रहेगे इससे निचले गुणस्थानोमें निर्ग्रन्थोकी गति ही नही है। तो फिर छठे, सातवे, गुणस्थानवालोके अशुभ लेश्यायें कैसे कही गई है ? बताओ। इसके उत्तरमें ग्रन्थकार कहते है कि--इन दोनोके अशुभ लेश्यायें भी हो जाती ही है कारण कि उन वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनियोके शास्त्र, शिला, पटा आदि उपकरणोमे रागपूर्वक आसक्ति हो जाना सभवता है। कभी कभी आर्त्तध्यान हो जानेकी सभावना है। उस आर्त्तध्यानके सम्भव जानेसे पहली तीनो अशुभ लेश्यायें भी सभव जाती ही है। यो कतिपय आचार्योंके मतान्तर है। नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्त्तीके मतानुसार मुनियोके तीन अशुभ लेश्याये नही पाई जाती है किन्तु अन्य आचार्योंका मन्तव्य ऐसा है कि--मुनियोके बहुभाग शुभ लेश्याये ही रहेगी किन्तु कदा-चित् आर्त्तध्यानके हो जानेपर वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनियोके अशुभ लेश्यायें भी हो सकती है क्योकि इनके परिग्रहके सस्कारका क्षय नही हुआ है। पूर्वदशामे जो परिग्रहका सबध लगा हुआ था। उसकी स्वल्पवासना मुनिपदमे चली आ रही है। वे मुनि मूलगुणोको भलेही अक्षुण्ण पालते रहे किन्तु अपने आपही पुरुषार्थ द्वारा जब उत्तर गुणोकी विराधना करनेमें रतिकर्म वश होकर प्रवर्त जाते है तब इनका आर्त्त-ध्यान सम्भव जाता है। आर्त्तध्यानके साथ छहो लेश्याओ का अविनाभावी सम्बन्ध है। यानी आर्त्तध्यानके अवसरपर जीवके शुभ, अशुभ सभी लेश्यायें पाई जाती है। पुलाक मुनिके तो आर्त्तध्यान हो जानेका कारण तीव्र अनुराग या आसक्ति नही है,

अत छहो लेश्याये नही मानी गई है किन्तु परली ओरकी तीन शुभ लेश्यायें ही है। भावार्थ--कोई छोटे अल्प पढे हुये छात्र भी बडे और अधिक पढें हुयें छात्रकी अपेक्षा मन्दकषाय देखे गये है, कोई कोई अजैन भी जैनोकी अपेक्षा अल्पकषाय समझे गयें हे। परिणामोकी विचित्र जातिया है। धन, ज्ञान, बल आदिकें आधिक्यको धार रहे जीवोसे किसी किसी निर्धन, मूर्ख, निर्बलकी आत्मा उन्नत कार्योंको कर रही देखी गई है। यों विचार कर परिणामोकी व्यवस्थाको अतर्क्य समझ लिया जाय।

कपोततेज पद्मशुक्ललेश्याचतुष्टयं कषायकुशीलस्येदं ज्ञातव्यं। दातव्यं दानीय-मितियावत्। कषायकुशीलस्य या कापोतलेश्या दीयते सापि पूर्वोक्तन्यायेन वेदितव्या तस्याः संज्वलनमात्रान्तरंगकषायसद्भावात् परिग्रहः। शक्तिमात्रसद्भावात्सूक्ष्मसांप-रायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च केवला शुक्लैव लेश्या वेदितव्या। अयोगिकेवलिनां तु लेश्या नास्ति।

कषायकुशील सामक मुनिके कपोत, तेज, पद्म, और शुक्ल यो चारोही लेश्याये सम्भव रही समझनी चाहिये। इसका फलितार्थ यह निकला कि कषायकुशीलके लिये उक्त चारो लेश्याये दातव्य है, यानी देने योग्य है। कषायकुशील मुनिको जो जो कापोत लेश्या दी जाती है। वह भी पूर्वोक्त नीति अनुसारही समझ लेनी चाहिये। अर्थात् परिग्रहके सस्कारका परिपूर्ण क्षय नही हुआ है। अतः शुभ रागपूर्वक कदाचित् कपोत लेश्या बन बैठती है। केवल तीव्र सज्वलन अन्तरग कषायका सद्भाव रहनेसे उस कपोत लेश्याके योग्य परिग्रह है। बहिरग द्रव्य रूपसे कोई परिग्रह नही पाया जाता है। फिर भी " कषायो दयानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या " असख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानो मे से कतिपय कपोतलेश्या योग्य परिणाम हो जानेके कारण शक्तिमात्रका सद्भाव है। परिहारविशुद्धि सयमवाले मुनिके भी पिछली चार लेश्याये हो सकती है। सूक्ष्म सापरायसयमी तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक मुनियोके केवल अकेली शुक्लही लेश्या समझनी चाहिये। चौदहवे गुणस्थानवर्त्ती अयोगकेवलज्ञानियोके तो लेश्या नही है जब कि उनके कषाय और योगका सर्वथा अभाव हो चुका है। " विशेष्यविशेषणोभयाभावप्रयुक्तो विशिष्टाभाव. " ॥

उत्कृष्टस्थितिष्वुत्कृष्टतया पुलाकस्य सहस्रारदेवेष्वष्टादशसागरोपमजीवितेषूपपादो भवति। वकुशप्रतिसेवना कुशीलयोर्द्वाविंशति सागरोपमस्थितिषूपपाद आरणाच्युत स्वर्गयोर्भवति। सर्वार्थसिद्धौ तु कषायकुशीलनिर्ग्रन्थयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागररोपमस्थितिषु देवेषूपपादो भवति। जघन्योपपादोऽशेषाणामपि सौधर्म्मकल्पे। द्विसागरोपमस्थितिषु देवेषु वेदितव्य। स्नातकस्य परमनिर्वृत्तत्वादुपपादो निर्वाणं।

सूत्रोक्त छह अनुयोगोकी विचारणा हो चुकी है। अव ग्रन्थकार पुलाक आदि मुनियोके सातवे उपपादका विचार करते हैं। मरकर उत्तरभवकी उत्पत्तिको यहा उपपाद माना गया है। पुलाक मुनिका उत्कृष्टपने करके उपपाद तो उत्कृष्ट स्थितिवाले अठारह सागरोपम कालतक वहा जीवित बने रहनेवाले सहस्रार स्वर्गोपदेवोमे होता है। तथा वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनियोका आरण और अच्युत स्वर्गोंमे बाईससागरोपम स्थितिको धारनेवाले देवोमे उपपाद होता है। सर्वार्थसिद्धि विमानमे तो कषायकुशील और निर्ग्रन्थ मुनियोका तेतीस सागरोपम स्थितिवाले देवोमे उपपाद (प्रेत्यभाव) होता है। शेपरहित सम्पूर्ण पाचो भी पुलाकादि मुनिवरोका जघन्य रूपसे उपपाद हो जाना तो सौधर्म ऐशान दो कल्पोमे दो सागरोपम स्थितिवाले देवोमे समझ लिया जाय। क्योंकि--सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर कल्पोपपन्न या कल्पातीत वैमानिक देवोमे ही उपजता है। जघन्य कोटिके वैमानिक भला सौधर्म ऐशान स्वर्गवासी देवही हो सकते हैं। पूर्वमे मनुष्य आयुःको बाध चुका जीव तो महाव्रतही नही ले पायेगा। अव्रती मरकर भोगभूमिमे जावेगा, स्नातक मुनि तो परमनिर्वाणको प्राप्त हो चुके हैं। इस कारण उनका उपपाद निर्वाण यानी मोक्ष हो जाना ही है। ससारमें उपजनाही इनका वर्जित हो गया है।

स्थानान्यसंख्येयानि संयमस्थानानि तानि तु कषायकारणानि भवन्ति। कषायतमत्वेन भिद्यन्ते। इति कषायकारणानि, तत्र सर्वनिकृष्टानि लब्धिस्थानानीति कोर्थः। संयमस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोर्भवन्ति। तौ च समकालमसंख्येयानि संयमस्थानानि व्रजतः। ततस्तदनन्तरं कषायकुशीलेन सह, गच्छन्नपि पुलाको व्युच्छिद्यते निवर्तत इत्यर्थः। ततः कषायकुशील एकाक्येवाऽसंख्येयानि सयमस्थानानि गच्छति। तदनन्तरं कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलवकुशाः संयमस्थापनान्यसंख्येयानि युगपत्सह गच्छन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थ.। तत्पश्चाद्वकुशो निवर्तते व्युच्छिद्यत इत्यर्थ। ततोऽपि प्रतिसेवनाकुशील

संयमस्थानानि असंख्येयानि व्रजित्वा व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते सोप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते। तदुपरि एकं संयमस्थानं स्नातको व्रजित्वा परं निर्वाणं लभते। स्नातकस्य सयमलब्धिरनन्तगुणा भवतीति सिद्धम्।

अवस्थान नामक आठवे अनुयोगका विचार करते है--मुनियोके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोका उदय नही है। केवल सज्वलन कषाय और नोकषायोका उदय छठेसे दशमे गुणस्थानतक यथायोग्य पाया जाता है। नोकषायका उदय नौमे गुणस्थानतक ही है। मुनियोके सम्भव रहे कषायोका उदय हो जानेपर भी पुरुषार्थपूर्वक हो रहे आत्मविशुद्धिस्वरूप लब्धिस्थानोको यहा प्रकरणमे "स्थान" माना गया है। जो कि गिनतीमे असख्यात लोक प्रमाणस्वरूप असख्याता सख्यात है। अत जातिकी अपेक्षा सयमके स्थान असख्यात है। एक सयमी मुनिके एक भवमे कतिपय अन्तर्मुहूर्तोके समयसख्याप्रमाण असख्याते सयमस्थान हो जाते है। अनादिभूत कालीन अनन्तानन्त सयमियो (जो अब सिद्धालयमे विराजमान है) ने व्यक्तिरूपसे अनन्तानन्त सयमस्थान लिये थे किन्तु उनकी जातिया असख्यात लोकप्रमाण असख्याती ही थी। एक जीव पर्यायमे उत्कृष्टतया पोने नौवर्ष कमती एक कोटि पूर्ववर्ष तक सयम धार सकता है। इतने कालमे आवलि या मुहूर्त सख्यातगुणे स्वरूप असख्याते सयमस्थान हो रहे सभव जाते है। कितनेही सयमस्थान अनेक बार भी हो सकते है। ये सयमस्थान तो कपायोको निमित्तकारण मानकर हो जाते है। सज्वलनकषाय और नोकषायके उदयका तरतमपने करके स्थानोंका भेद हो जाता है। अत इन स्थानोके कारण कषाय माने गये है। उत्तरोत्तर बढ रही आत्मविशुद्धिको धार रहे असख्यातासंख्यात सयमस्थानोको पक्तिवद्ध ऊपर नर ऊपर विराजमान कर दीजिये उनमे सबसे जघन्य कोटिके लब्धिस्थान तो पुलाक और कषायकुशील मुनिके होते है। लब्धिस्थानका अर्थ क्या है ? इसका उत्तर यही है कि सयमके उपयोगी हो रहे पुरुषार्थद्वारा आत्मविशुद्धिरूप सयमस्थान ही यहा लब्धिस्थान है। वे पुलाक और कषाय कुशील दोनो मुनि जिनदृष्ट असख्याते सयमस्थानो तक साथ साथ युगपत् गमन करते है। अर्थात् समानरूपसे सयमके उपरितन स्थानोको पकडते हुये चले जाते है। वहांसे उसके अनतर कषायकुशीलके साथ गमन कर रहा भी पुलाक मुनि व्युच्छिन्न हो जाता

है। इसका अर्थ यह है कि पुलाक मुनि निवृत्त हो जाना है। ऊपरले संयमस्थानोको नही ग्रहण कर पाता है। वहासे ऊपर कपायकुशील अकेलाही सयमस्थानोपर गमन करता है, इन स्वल्प असख्याते सयम स्थानोपर इस कषायकुशीलकाही अधिकार है। उसके अनन्तर असख्याते उपरितनवर्त्ती सयमस्थानोपर कषायकुशील, प्रतिसेवना कुशील और वकुश मुनि युगपत् साथ साथ गमन करते है। इसका अर्थ यह है कि-ऊपरले जिनदृष्ट असख्याते सयमस्थानोको उक्त तीनो मुनि प्राप्त कर लेते है। उसके पश्चात् वकुश मुनिका ऊपर सयमस्थानोपर जाना निवृत्त हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि वकुश मुनिकी इतनेही मध्यवर्त्ती सयमस्थानोतक गति है। इसके आगे वकुशकी व्युच्छित्ति हो जाती है। उस वकुशकी गतिसे भी ऊपर प्रतिसेवना कुशील असख्याते सयमस्थानोको चलकर व्युच्छिन्न हो जाता है। उससे भी असख्याते स्थान ऊपर चलकर कषायकुशीलकी व्युच्छिति हो जाती है। भावार्थ-- कषायकुशील इनसे ऊपरले सयमस्थानोका अधिकारी नही है। अब इससे ऊपर ग्यारहवे, बारहवे, गुणस्थानोमे मोहनीयके उपशम या क्षयसे हो जानेवाले अकषायसयम स्थानोको निर्ग्रन्थ मुनिवर प्राप्त करते है। वे भी असख्याते सयमस्थानोतक चलकर व्युच्छिन्न हो जाता है। उससे ऊपर एकही सयमस्थानको प्राप्त होकर स्नातक जिनेंद्र परमनिर्वाण पदको प्राप्त कर लेता है। यो पुलाक आदिकी सयम लब्धियोंसे स्नातककी सयमलब्धि अनन्तगुणी हो जाती है। यह वात युक्ति और आगमसे सिद्ध हो चुकी समझ लेनी चाहिये।

शास्त्रोक्ताः शरसंख्यकाः ऋषिवराश्चारित्रसंसाधकाः,
भव्याम्भोजविकासने दिनकरास्ते वै पुलाकादयः,
दृक्शुद्ध्यादिषु तत्पराः सुरनुताः ज्ञानाब्धि संभाविता,
स्तेमे भूरि दुरन्तदुर्गहरणे किन्न क्षमाः क्षेमदाः ॥ १५ ॥

सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार ग्रन्थित किये गये शास्त्रोमे ऋषि श्रेष्ठ मुनि पाच प्रकार माने गये है। कामके बाण पाच है। अत चारित्रका भले प्रकार साधन कर रहे ऋषि महाशय शर यानी वाणोकी पाच सख्याको धार रहे है। वे पुलाक आदिक पाचो प्रकारके साधु नियमसे भव्यजीव स्वरूप कमलोके विकासनेमें सूर्यके समान है।

दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओमे तत्पर हो रहे है। इन्द्र बृहस्पति आदि देवो करके स्तुति किये जा चुके है तथा जो ऋषिवर ज्ञानसमुद्रमे अवगाह कर रहे है। वे पुलाक आदि ऋषि मेरे बहुतसे अनन्त दुष्ट कर्म रूप गढके हरनेमे क्या समर्थ नही होगे ? अपितु कल्याणोको देनेवाले वे महर्षि मेरे दु खसे अन्त हो जाने योग्य अनन्त कर्मोका विनाश कर ही देगें। सयमियोका प्ररूपण करते हुये ग्रन्थकारने नौमे अध्यायके अन्तमे यह मगलाचरणश्लोक कह दिया गया है।

इति नवमाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम् ॥

यहा तक श्री उमास्वामिविरचित तत्त्वार्थसूत्रके नौमे अध्यायका श्री विद्यानन्द स्वामी सदर्भित श्लोकवार्त्तिक महान् ग्रन्थमे नवम अध्याय सम्बन्धी द्वितीय आन्हिक समाप्त हो चुका है। --इस विपयकी उत्कट गवेषणासे प्रेरित होकर मैने स्वकीय शिष्य पंडित लोकनाथ शास्त्रीद्वारा मूडबिद्रीसे ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन प्रतिसे उद्धृत की गई " सयम श्रुतप्रतिसेवना " सूत्रकी श्लोकवार्त्तिक नामक टीका मगायी वहाकी अतिप्राचीन दो, तीन ताडपत्रकी प्रतियोमे उपकरणवकुश मुनिके शीतकाल आदिमे कम्बल, कौशेय, आदि वस्त्र ग्रहण कर लेनेका विधान सर्वथा नही है। न जाने उत्तर प्रान्तकी कतिपय प्रतियोमे यह सदोष प्रकरण किसने प्रक्षिप्त किया है ? श्री विद्यानन्द स्वामीकी मूल कृति ताडपत्रीय प्राचीन लिखित ग्रन्थोमे इस प्रकार है। उसको अविकल उद्धृतकर हम लिखते है। वस्तुत गम्भीर विद्वान् श्री विद्यानन्द स्वामीजीका लेख ऐसाही होना चाहियें।

" संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंग " इत्यादि-तसोऽलक्षणत्वादनिर्देश इति चेत् नान्यतोपीति वचनात्सिद्धे । भवदादि योगें स इति चेत् नान्यत्रापि दर्शनात् । नार्थतो न शद्वतोऽभिधानत समध्यम इति यथा । प्रतिसेवनेति षत्वाभाव: क्रियान्तराभिसंम्बन्धात् । प्रतिगता सेवनेति, विगता सेवका यतो ग्रामादसौ विसेवको ग्राम इति यथा । पुलाकादय: संयमादिभि: साध्या व्याख्येया त्यर्थ: कथमित्याह —

संयमादिभिरष्टाभिरनुयोगैर्यथाक्रमम्,
साध्यास्तेऽत्र पुलाकाद्यास्तज्ज्ञैर्भेदप्रभेदतः ॥ १ ॥
संयमाः पंच निर्दिष्टाः श्रुत च बहुभेदभृत् ।
सतो विराधने पश्चात्सेवना प्रतिसेवना ॥ २ ॥

तीर्थं तीर्थंकरापेक्षं धर्ममार्गप्रवर्तनं ।
लिंगं तु द्रव्यभावाभ्यां द्विधा सयतलक्षणं ॥ ३ ॥

योगप्रवृत्तिराख्याता कषायैरनुरञ्जिता ।
लेश्या षोढात्र कृष्णादि द्विधा शुद्धेतरत्वत ॥ ४ ॥

उपपाद पुनर्जन्मस्थानानि स्युर्यथात्मनां ।
संयमस्येहसामर्थ्यादन्यस्याप्रस्तुतत्वतः ॥ ५ ॥

कषायोत्थान्यसख्येया न्यकषायोत्थितानि च ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्वभावानि व्यपेक्षया ॥

तत्र पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीला सामायिकछेदोपस्थापनयोर्वर्तन्ते । कषायकुशीलाः परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययो पूर्वयोश्च निर्ग्रन्थस्नातका यथाख्यात संयमे । श्रुते पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वमात्रे, कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्च चतुर्दशपूर्वप्रमाणे । जघन्येन पुलाकानां श्रुतमाचारवस्तु, वकुशादीनामष्टौ प्रवचनमातर, अपगतश्रुताः स्नातका· केवलित्वात् । प्रतिसेवना पुलाकस्य पंचसु मूल· व्रतेषु रात्रि (राज्य) भोजनषष्ठेषु (वर्जेषु) पराभियोगात् बलात्संभवति । उपकरण· वकुशस्योपकरणसस्कारप्रतिसेवना । शरीरवकुशस्य शरीरसस्कारप्रतिसेवना । उत्तर· गुणेष्वेव प्रतिसेवना कुशीलस्य, कषायकुशीलादयः प्रतिसेवनारहिताः । तीर्थं सर्वतीर्थं करेषु । सर्वेषां द्रव्यलिंग सर्वे निर्ग्रन्थाः भावलिंग प्रतीत्य भाज्या । लेश्या पुनस्तस्योत्तरास्तिस्रः । वकुशप्रतिसेवना, कुशीलयोः षडपि । कषायकुशीलस्योत्तरास्तिस्र_ परिहारविशुद्धिश्च । सूक्ष्मसापरायस्य निर्ग्रंथस्नातकयोश्च शुक्लेव, अयोगिनोऽलेश्या । पुलाकस्योत्कृष्टोपपादा देवेषूत्कृष्टस्थितिकेषु सहस्रारे । वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंशति सागरोपमस्थितिकेषु, आरणाच्युतकल्पयो कषायकुशीलयोर्निर्ग्रन्थयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकेषु सर्वार्थसिद्धौ सर्वेषामपि जघन्योपपाद सौधर्मे द्विसागरोपमस्थितिषु । स्नातकस्य निर्वाणं । संयमस्थानेष्वसंख्येषु कषायनिमित्तेषु सत्सु सर्वजघन्यानि लब्धि– स्थानानि पुलाककषायकुशीलयोस्तौयुगपदसंख्येयस्थानानि गच्छतः । तत पुलाको व्युच्छिद्यते । ततः कषायकुशीलो गच्छत्येकाकी । ततः कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशील– वकुशाः महासंख्येयस्थानानि गच्छन्ति ततो वकुशो व्युच्छिद्यते ततो संख्येयस्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते । ततोप्यसख्येयस्थानानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते ।

तत ऊर्ध्वमकषाय थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते । सोप्यसख्येयस्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते, तत ऊर्ध्वमेकं स्थानं गत्वा स्नातको निर्वाणं प्राप्नोति । तदा संयमलब्धिरनन्तगुणा भवति, एवं नवमाध्यायसूत्रितां संवरनिर्जरासिद्धिमुपसहरन्नाह,—

सिध्द्यत्येवमुदीरितक्रमवशाद्गुप्त्यादिभि. संवरो ।
विभ्राणैः प्रतिपक्षतागुरुबलैः कर्मास्रवाणां यथा ॥
तद्वत्सत्तपसोदितेनविविधा कारेण नुन्निर्जरा ।
नानात्मीयविशुद्धिवृद्धिवशतो धीरस्य निःसशयम् ॥

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकारे नवमस्याध्यायस्य द्वितीयमान्हिकं ।

इसका अर्थ इस प्रकार है कि सयम श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन विकल्पोमे या विकल्पो करके पुलाक आदिको साध लेना चाहियें । इस सूत्रोक्त मन्तव्यमे किसीको शका उपजती है कि कोई व्याकरणका सप्तमी या तृतीया विभक्तिके अर्थमे तस् प्रत्ययको करनेवाला लक्षणसूत्र नही है । अतः इस सूत्रमे विकल्पत यो तस् प्रत्ययान्त निर्देश नही करना चाहिये । ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि व्याकरणमे तस् प्रत्ययके प्रकरणपर " अन्यतोपि " ऐसा वचन कहा गया है । यानो पचमी विभक्तिके अतिरिक्त अन्य विभक्तियोके अर्थमे भी तस् प्रत्यय हो जाता है । इस कारण यहा सप्तम्यर्थ या तृतीयार्थ अनुसार "विकलपत" पदकी सिद्धि हो जाती है । पुन शकाकार कहता है कि वह " अन्यतोऽपि " जो कहा गया है । उसका व्याख्यान यह है कि भवत् युष्मत्, आदिका योग हो जानेपर अन्य विभक्तियोसे भी वह तस् प्रत्यय कर दिया जाता है । आचार्य कहते है कि यह भी तो नही कहना क्योकि भवत् आदिका योग नही भी हो जानेपर अन्य स्थानोमे भी तस् प्रत्यय हुआ देखा जाता है । जैसे कि प्रसिद्ध ग्रन्थमे ऐसा प्रयोग है कि अर्थमे, शद्बम तथा सज्ञाधारनेमे या अर्थ करके, शद्ब करके अथवा सज्ञा करके जो नही है वह मध्यम है । यहा भवत् आदिका योग नही है, फिर भी तस् प्रत्यय हो रहा देखा जाता है । अव सूत्रोक्त प्रतिसेवना पदमे शका उठाई जा सकती है कि " प्रतिसेवना " शद्बम दन्त्य सकारके स्थानपर मूर्धन्य षकार होना चाहिये । जैसे कि प्रतिषेध परीषह आदि शद्ब है । इसके समाधानार्थ ग्रन्थकार कहते है कि " प्रतिसेवना " इस पदमे मूर्धन्य षकार हो जानेका अभाव है कि अन्य क्रियाका मध्य मे सवध हो रहा है, जैसे कि जिस

ग्रामसे सेवक विगत यानी दूर चले गये है वह गाव " विसेवक " कहा जाता है। यहा विसेवक पदमे " आदेशप्रत्यययो " इस सूत्र करके प नही हो पाता है। क्योकि दूसरी गत क्रियाका सबध हो गया है । उसी प्रकार " प्रतिगतासेंवना " यो मध्यमे अन्य क्रियाका सम्बन्ध हो जानेसे प नही होने पाता है। उसी क्रियाका सम्बन्ध बना रहता तो अखण्डपदकी रक्षा हो जानेके अनुसार मूर्धन्य ष हो सकता था। यो पुलाक आदिक मुनिवर "सयम श्रुत" आदि करके साध्य यानी व्याख्यान करने योग्य है। यह सूत्रका अर्थ निकला। किस प्रकार वे साध लिये जाय ? ऐसी जिज्ञासा उत्थित होनेपर ग्रन्थकार अग्रीम वार्त्तिकोको कह रहे है। उस मुनिपदवीको जाननेवाले विद्वानो करके, सयम आदि आठ अनुयोगो करके क्रम अनुसार वे पुलाक आदि ऋषि स्वकीय भेद-प्रभेदो द्वारा यहा साध लेने योग्य है ॥ १ ॥ सामायिक, छेदोपस्थापना, आदि भेदोवाले सयम पाच कहे जा चुके है। दूसरा श्रुत भी बहुत भेद--प्रभेदोको धार रहा है। विद्यमान व्रतोकी विराधना हो जानेपर पीछे तदवस्थित होनेके लिये सेवा करना तीसरी प्रतिसेवना कही जाती है ॥ २ ॥ चौथा तीर्थ तो तीर्थकर महाराजोकी अपेक्षा रखता हुआ धर्ममार्गका प्रवर्तन करना है, पाचवा लिंग तो द्रव्य और भाव करके दो प्रकार हो रहा सयमीका लक्षण है ॥ ३ ॥ कषायो करके पीछे पीछे रगी जा रही योगोकी प्रवृत्ति छठी लेश्या बखानी गई है। कृष्ण आदि भेदसे छ प्रकार हो रही वह लेश्या यहा शुद्ध और उससे न्यारी अशुद्ध रूपसे दो प्रकार मानी गई है ॥ ४ ॥ उपपादके कतिपय अर्थ है। किन्तु यहा सयमकी सामर्थ्यसे जन्मस्थान रूप उपपाद लिया गया है। ससारी जीवोके मरकर कर्मानुसार पुन जन्म लेनेके जो स्थान है। वह उपपाद है, अन्य उपपाद यहा प्रस्ताव प्राप्त नही है ॥ ५ ॥ इसी प्रकार स्थानके भी अनेक अर्थ है। किन्तु सयमका प्रकरण होनेके कारण यहा कषायोसे उत्पन्न हुये और नोकषायोसे उपजे अथवा ग्यारहमेसे ऊपर गुणस्थानोमे अकषाय भावोसे भी उत्पन्न हुये असख्यात लोकप्रमाण सयमस्थान यहा स्थान माने जाते है, जो कि विभिन्न अपेक्षाओ करके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्वरूप होकर नियत है ॥ ६ ॥ इसके आगे ग्रन्थकार स्वनिर्मित अलकार ग्रन्थमें कह रहे है कि उन मुनियोमेसे या आठ अनुयोगोमेसे पुलाक, वकुश, और प्रतिसेवनाकुशील मुनि तो सामायिक और छेदोपस्थापना सयमोमे वर्त रहे है। हा, कषायकुशील ऋषिवर तो परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसापराय सयममे तथा

पूर्ववर्त्ती सामायिक, छेदोपस्थापना इन दोनो संयमोमें भी प्रवर्त रहे है। निर्ग्रन्थ और स्नातक साधुवर्य तो अकेले यथाख्यात सयममे प्रवृत्ति करते है। उक्त पाचो निर्ग्रन्थोका यदि श्रुत अनुयोगमे विचार किया जाय तो यो व्यवस्था है कि पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील ये उत्कर्ष करके अभिन्नाक्षर दशपूर्व मात्रमे प्रवृत्ति करते है। ये ग्यारह अग दशपूर्वसे अधिक नही जान पाते है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ तो उत्कर्षेण ग्यारह अग और चौदह पूर्वपरिमित शास्त्रज्ञानमें प्रवेश कर जाते है। जघन्य रूपसे पुलाकोका श्रुतज्ञान आचारवस्तु नामका विशेष प्रकरण है। वकुश आदि यानी वकुश, कुशील और निर्ग्रन्थोका जघन्य श्रुतज्ञान आठ प्रवचनमातायें है। स्नातक मुनिवर्य तो श्रुतज्ञानको पारकर दूरकर चुके है क्योकि केवलज्ञान दशामें दूसरा ज्ञानस्थान नही पाता है। तीसरी प्रतिसेवनाका व्याख्यान यो है कि पुलाक मुनिके अहिंसादि पाच मूल गुण महाव्रतोमे और छठे रात्रिभोजन त्यागव्रतमे दूसरोंके अभियोगसे बलात्काररूपेण प्रतिसेवना कदाचित् सभव जाती है। उपकरणवकुश मुनिके उपकरणोके सस्कार करनेसे प्रतिसेवना हो जाती है। शरीर वकुश यतिके शरीरके सस्कार करनेके अनुसार प्रतिसेवना हो जाती है, प्रतिसेवना कुशीलके नो मूलगुणोमे नही होकर उत्तर गुणोंमेही प्रतिसेवना होती है। कषायकुशील आदिक अर्थात् कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये प्रतिसेवनासे रहित है। इनको कोई दोष नही लग पाता है। चौथे तीर्थको यों बखानिये कि संपूर्ण तीर्थंकरोके समयमे और उनके वारोमे ये पाचो प्रकारके निर्ग्रन्थ हो जाते है। पांचवे लिंग अनुयोगकी यो व्याख्या है कि सपूर्ण मुनियोका द्रव्यलिंगही है, द्रव्य स्त्री या नपुंसक कथमपि महाव्रतोको नही धारते है, अत सभी निर्ग्रन्थ द्रव्यलिंगी प्रतीति कर पुल्लिगी है। हा, भावलिंगकी प्रतीति अनुसार विकल्पनीय है। किसीके भाववेद पुल्लिगका उदय है, अन्य मुनि भाववेदकी अपेक्षा स्त्रीवेदी है, तीसरेके कार्यरहित होकर नपुसक वेदका उदय भी सभवता है जो कि नौमे गुणस्थानके सवेद भागतक पाया जा सकता है। लेश्या तो फिर उस पुलाक मुनिके उत्तरवर्तिनी पीत, पद्म, शुक्ल तीन है। वकुश और प्रतिसेवनाकुशील मुनियोके छहो भी लेश्याये है। कषायकुशील और परिहारविशुद्धिसयमवालेके परली ओर की तीन शुभ लेश्याये है। सूक्ष्मसापराय सयमी और निर्ग्रन्थ स्नातक मुनियोके शुक्लही लेश्या होती है। चौदहवे गुणस्थानवर्त्ती अयोगी महाराज तो लेश्यारहित है। सातवे उपपाद अनुयोगकी विकल्पना

यो है कि पुलाक मुनिका मरकर जन्म होना स्वरूप उपपाद उत्कृष्ट रूपसे उत्कृष्ट-स्थितिवाले देवोमें सहस्रार स्वर्गमे होता है । वकुश और प्रतिसेवना कुशील साधुओका आरण, अच्युत, स्वर्गोमे बाईससागरोपमस्थितिवाले देवोमे उत्कृष्टतया होगा । कषाय-कुशील और निर्ग्रन्थ मुनिवरोका उपपाद तो तेंतीस सागरोपम स्थितिको धारनेवाले देवोमे सर्वार्थसिद्धि विमानमे होगा । सभी पुलाक वकुश कुशील मुनियोका जघन्य रूपेण उपपाद तो दो सागरोपम स्थितिवाले देवोमे सौधर्म कल्पमे होगा । स्नातक मुनिका तो पडितपडितमरण निर्वाण है । निर्ग्रन्थ और स्नातकोका पुनर्जन्म होता ही नही है । आठमे स्थान अनुयोगका मुनियोमे परामर्श कीजिये कि कपायके उदय, उपशम, क्षयको निमित्त पाकर हो रहे सन्ते असख्याते सयम स्थानोमे पुलाक और कषाय-कुशील मुनियोके सम्पूर्ण जघन्य विशुद्धिको लिये हुये लब्धिस्थान होते है । वे दोनोही ऊपर ऊपर रची हुयी लब्धिस्थानोमें कुछ दूरतक दोनों साथ साथ युगपत् चलते है । इसके पश्चात् पुलाककी व्युच्छित्ति हो जाती है । यानी पुलाक इससे अधिक ऊचा सयमस्थानोपर नही चढ पाता है । उससे ऊपर कषायकुशील (वकुश होना चाहिये) अकेलाही जाता है, कतिपय स्थानोपर चढकर उससे ऊपर कषायकुशील, प्रतिसेवना कुशील और वकुश मुनिवर्य साथ साथ असख्याते लब्धिस्थानोपर चलते है । पहिले वकुशकी व्युच्छित्ति हो जाती है । उससे भी ऊपर असख्याते सयमस्थानोपर जाकर वहासे प्रतिसेवना कुशीलकी व्युच्छित्ति हो जाती है । उससे भी अधिकतर असंख्याते सयमस्थानोपर चलकर कषायकुशील व्युच्छिन्न हो जाता है । उनसे ऊपर निर्ग्रन्थ मुनि कषायरहितजन्य सयमस्थानोको प्राप्त करता है । वह भी बारहमे गुणस्थानमें पाये जानेवाले असख्याते लब्धिस्थानोतक जाकर व्युच्छिन्न हो जाता है । उसके ऊपर अन्तिम एक सयम स्थानको चलकर स्नातक मुनिवरेण्य निर्वाणको प्राप्त हो जाता है । उस समय सयमलब्धि अनन्तानन्त गुणी हो जाती है । इस प्रकार नौमे अध्यायमे श्री उमा-स्वामी करके सूत्रोद्वारा रची गयी संवर और निर्जराकी सिद्धिका प्रकरण सकोच करते हुये ग्रन्थकार श्री विद्यानन्दस्वामी अग्रिम शार्दूलविक्रीडित छन्दमें निरूपण करते है कि " इस प्रकार नौमे अध्यायमें कहे जा चुके क्रमके वशसे जिस प्रकार कर्मास्रवोके प्रतिपक्षीपनको धार रहे और मोटी सामर्थ्यको रखनेवाले गुप्ति, समिति आदि परिण-तियो करके सवर होता सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार धीर वीर तपस्वी आत्माका

विविध आकारवाले कहे जा चुके तप, करके शुद्धात्मसबधी अनेक संयम विशुद्धियोकी वृद्धिके वशसें निर्जरा हो जाती है। इस सिद्धान्तको सशयरहित होकर स्वीकार कर लेना चाहिये। इस प्रकार यहातक तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालकार नामक महान् ग्रथमे नौमे अध्यायका दूसरा प्रकरण समुदाय स्वरूप आन्हिक समाप्त हो चुका है। **कृतधियः संवरनिर्जरानिःश्रेणीमासाद्याग्रिम मोक्षप्रासादमारोहन्तु।**

इति श्री विद्यानन्द आचार्य विरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे

नवमोऽध्याय समाप्तः ॥ ९ ॥

इस प्रकार यहा तक श्री विद्यानन्द आचार्य महाराजके द्वारा विशेष उत्साहपूर्वक रचे गये तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालकार नामक महान् ग्रन्थमे नौवा अध्याय परिपूर्ण हो चुका है। --इस नौमे अध्यायके प्रकरणोकी सक्षेपसे सूचना इस प्रकार है कि प्रथमही सवरका लक्षण करते हुये निरोध और सवरका सामानाधिकरण्य निरुक्ति अनुसार बताया गया है। बधके निरोधको सवरपनेका निषेध किया है, द्रव्यसवर और भावसवरका विचार करते हुये गुणस्थानोकी चर्चा की है। तेरहवे तक देश सवर और चौदहवे गुणस्थानमें पूर्ण सवर होना बताया है। सवरके गुप्ति आदि कारणोका हेतुहेतुमद्भाव पोषते हुये तपसे निर्जराका होना भी युक्ति सिद्ध किया है। सूत्रानुसार गुप्ति, समिति और धर्मोंकी ऊहापोहपूर्वक प्रतिपत्ति कराई है। आठ शुद्धियोका विवरण करते हुये मुनिकी पाच भिक्षावृत्तियोका दिग्दर्शन किया है।

जैन समाजमे पूजन करना अच्छा प्रचलित है। देव, गुरु, शास्त्र अथवा अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, जिनधर्म, जिनागम जिनचैत्य, जिनचैत्यालय, इन नौ देवोकी अर्चा करनेसे सम्यग्दर्शन पुष्ट होता है। देव पूजनमे सभी व्यवहारधर्म गर्भित है। जैसे कि विश्वासघातमे सम्पूर्ण पाप छिपे हुये है।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।

श्री समन्तभद्राचार्यके प्रमाणवाक्यानुसार कही गयी सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा पूजनो द्वारा होती है। पूजा करना, सम्यग्दर्शनका कार्य भी है और कारण भी है। जैसे कि आप्तका उपदेश सम्यग्ज्ञानका कार्य और कारण है अथवा

यम, नियम ये सम्यक्चारित्रके कार्य और कारण भी है। नौ देवोकी नित्य नैमित्तिक पूजनसे मोक्ष मार्ग माने गये रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है।

भाद्रपद दशलक्षण पर्वमे बहुभाग जैन बन्धु जिनचैत्यालयमे जो दशधर्मोकी पूजा करते है वह नैमित्तिक पूजा है। गृहस्थके आवश्यकोके अनुसार प्रतिदिन जो पूजा की जाती है वह नित्यमह है।

जैनोमे कितनेही पर्व या पुण्य दिवस, पूर्व कालोसे चले आ रहे है। उनमे यथा-योग्य नव देवताओका पूजन किया जाता है।

वीर निर्वाण दिवस, नन्दीश्वर पर्व आदिमे मुख्य रूपसे जिनेन्द्रदेव या प्रतिमा देवताकी पूजा की जाती है। श्रुतपचमीको जिनागम देवकी अर्चा प्रधानतया होती है।

सम्मेदशिखर, सोनागिर, पावापुर आदिकी वन्दना करते समय चैत्यालयदेवकी या वहांसे मोक्ष गये सिद्धोकी अर्चा होती है। रक्षाबन्धन (सलूना) के दिन तो विशेष पूजा की जाती है वह गुरुपूजा है। अर्थात् विष्णुकुमार अकपन आदि आचार्य उपाध्याय, साधुओकी पूजा है। दशलक्षण पर्वमे ती उत्तम क्षमा आदि या रत्नत्रय आदि धर्मोके पूजनकी मुख्यता है। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, जिनधर्म, जिनागम, जिनचैत्य और जिन चैत्यालय इन नव देवताओमे पाच परमेष्ठी तो जीव तत्व है। और चैत्यालय पुद्गल तत्व है। सिद्धोके विना चार परमेष्ठियोके प्रतिपादित वचन और श्रुतज्ञानको जिनागम कहते हैं। धर्म देवता तो वस्तु स्वभाव, जीवदया, व्रतधारण, व्यवहार रत्नत्रय, सामायिक, गुप्ति, उपशम श्रेणि, क्षपकश्रेणि, इन अवस्थाओको पार करता हुआ, उत्तम क्षमा, अहिंसा, ब्रम्हचर्य, केवलज्ञान, शुद्ध चारित्र, अव्याबाध आदि रूप हो रहा जीवस्वभाव ही है। सचित्त अचित्त द्रव्यों या भावो द्वारा नौ देवोकी पूजा करनेवालोको परिशेपमे आठ देवताओका परित्याग करना पडेगा। ऊची ध्यान अवस्थामें निज -आत्म--स्वरूप धर्मदेवताकी ही उपासना की जायगी तव मोक्ष प्राप्त होगी। मोक्ष हो चुकनेपर भी शुद्ध धर्मदेवही वहा सर्वदा स्वरस स्वानुभूत सच्चिदानन्दमय अनुभूत होते रहेगे। निश्चयधर्म और व्यवहार धर्मके भेदसे आत्मीय धर्म दो प्रकार का है। पूजन ईर्यासमिति, ब्रम्हचर्याणुव्रत, मुनि दान व्युत्सर्ग, अनशन, वैयावृत्य, परीषहजय, परिहार, विशुद्धि आदि ये निचले गुणस्थानोमें पाये जानेवाली

परिणतिया सब व्यवहार धर्म है। किन्तु उपरिमगुणस्थान या गुणस्थानातीत निश्चय-धर्मकी प्राप्तिके निताात आवश्यक मार्ग ये ही है। अतः तब तक उपादेय है।

परमभावग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके द्वारा जो आत्माका स्वरूप ग्रहण किया जाता है वही निश्चय धर्म समझना चाहिये। जैन शासनका मन्थन करनेसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि धर्म और धर्मीका अभेद सबध है। यहा अन्य द्रव्योके तदात्मक धर्मो या सासारिक जीवोके धर्मोका विचार नही कर केवल आत्मद्रव्यके अविष्वग्भावी धर्मोका परामर्श किया जाता है। उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रम्हचर्य ये दशलक्षण धर्म कहे गये है। साथही इनको परमब्रम्ह शुद्धसिद्ध परमात्मस्वरूप भी इष्ट किया जाता है। दशलक्षण पर्वमें पूजन करते समय " ॐ ऱ्ही परब्रह्मणे उत्तमक्षमाधर्माङ्गाय नम " " ॐ ऱ्ही परब्रम्हणे उत्तममार्दवधर्माङ्गाय नमः " इत्यादि से अनादिकालीन मत्रोको बोलकर पूजकजन अष्ट द्रव्योको चढाते है और नियत दिनोमे यथाक्रमसे उक्त अनादिकालीन दशो मत्रोका दश दिनतक जाप करते है। इन धर्मोका व्याख्यान श्रवण, मनन, पालन, ध्यान भी उनकी लब्धिके लिये किया जाता है। उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोका व्याख्यान सुनना जितना मनोहारी है उनका पालन करना उससे कही असख्यात गुण अधिक आनन्दप्रद है।

सम्यग्दृष्टि जीवको स्वात्मानुभवसे जैसा निजानन्द रस झलकता है। उसी प्रकार धार्मिक पुरुषोको उक्त सिद्ध परमात्मस्वरूप क्षमा आदि धर्मोके धारण, पालन द्वारा आत्मीय रसानुभवकी अलौकिक छटा प्रतिभासित रहती है। आत्माके निज गुण कभी नियुक्त नही हो पाते है। प्रत्युत सिद्ध अवस्थामे तो वे और भी परिस्फुट, निर्मल, निःप्रतिबन्ध होकर व्यक्त हो जाते है। निश्चय धर्म अविनाशी है, अन्तकाल तक आत्मामे तदात्मक होकर बना रहता है। प्रकरणमे यह कहना है कि ये क्षमा आदि धर्म शुद्ध आत्माके परमोत्कृष्ट परिणाम है। अशुद्ध निश्चय नय, सद्भूत व्यवहार नय, अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय, उपनय आदि नयोके विषय हो रहे और ससारी जीवोके कर्तव्य माने गये मतिज्ञान, देवपूजन, गुरुसेवा अध्ययन, प्रतिक्रमण, आलोचना, सस्थानविचय, मदीय शरीर आदि हेय परिणतियोके सदृश ये धर्म नही है किन्तु आत्माके तदात्मक निज स्वरूप है। यानी इन धर्मोको अलग कर दिया जाय तो धर्मी आत्मा कुछ भी नही रह जायगा। जैसे कि उष्णता या उसके अविनाभावी गुणोके निकाल देनेपर अग्नितत्व असत् हो जाता है।

इन दश धर्मोमे सभीके पहिले ' उत्तम ' शद्ब पडा हुआ है जो की इस लोक या परलोकके सुखप्रद अभ्युदयोकी अपेक्षासे किये गये व्यवहारी जघन्य, मध्यम, धर्मोका व्यावर्तक है । भावार्थ--व्यावहारिक क्षमा, मार्दव, आदि धर्म ससारी जीवोके भी पाये जाते है जो कि परम भाव माने गये उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि धर्मोके सपादक है । साधनोसे साध्य न्यारा है या परिमार्जित है ।

चारित्रगुणस्वरूप उत्तम क्षमा आदिको यो परब्रम्हमय समझिये कि आत्माकी वैभाविक परिणतिको करनेवाले चारो प्रकारके क्रोध कर्मोका उदय हो जानेपर आत्मा अपने क्षमाभावसे च्युत हो जाता है । क्रोधको आत्मीय पुरुपार्थ द्वारा नही उपजने देना क्षमा है । मुनियोमे क्षमा पाई जाती है किन्तु दशवे गुणस्थानमे क्रोधका उदय हट जानेपर उत्कृष्ट क्षमा हो जाती है तथा आनुपङ्गिक दोषोके भी टल जानेपर चौदहवे गुणस्थानके अन्तमे (सिद्धोकी क्षमा) अत्यन्त उत्कृष्ट उत्तम क्षमा ह । गुणकी परम स्वाभाविक परिणति कर्मकलक रहित सिद्ध अवस्थामें पाई जाती है तभी तो क्षमाके लिये " ध्यान कोटि समा क्षमा " यह लिखा गया है । करोड शुभध्यानोके बराबर एक क्षमा है । उत्तम ध्यान माने गयें धर्म्य ध्यान और शुक्लध्यानसे भी क्षमा कोटिगुणी उपादेय है । ध्यान तो ससार अवस्था है, सातवे गुणस्थानतक ही धम्य ध्यान है तथा एक अर्थमे चिन्ताओको रोककर शुद्ध आत्म--सवधी लम्बे२ नयज्ञानोके पिण्ड हो रहे श्रुतज्ञानोका समुदायस्वरूप शुक्लध्यान भी बारहवे गुण-स्थान तक ही पाया जाता है । उत्तमक्षमा तो इन गुणस्थानोमें पूर्णक्षमाके अनन्तवे भाग मात्र है । वस्तुत अनन्तानन्त अविभाग प्रतिछेदोके धारी उतम क्षमा, मार्दव, आर्जवशील, केवलज्ञान आदि क्षायिक भाव तो अनन्तकालतक पूर्णरीत्या सिद्ध परमात्माओके ही पाये जाते हैं । क्षायिक भाव और पारमाणिक भावोका अखण्ड समुदाय ही सिद्ध परमात्मा है । यो चारित्र मोहनीय माने गयें क्रोध, मान माया, लोभ नामक कर्मोके क्षयसे हुए यें उत्तम क्षमा, मार्द्दव, आर्जव, शौच धर्म भी केवलज्ञान क्षायिक सम्यक्त्वके समान अक्षय अनन्तानन्तकालतक शुद्ध परमात्मास्वरूप होकर मुक्तात्माओमें तदवस्थ जडे हुए है ।

असदभिधानरूप झूठे वचनका त्याग करना सत्यव्रत है । पावता निश्चय सत्य-धर्म इससे भी कही ऊचा आत्मतत्व है नथा ' अहिसा भूताना जगति विदित ब्रम्हपरमम्' समन्तभद्राचार्यकी इस उक्तिके अनुसार अहिंसाके समान सत्य भी शुद्ध सिद्ध परमेष्ठीका

अनन्त अविनाशी धर्म है। 'सत्सु साधु सत्य' जो सज्जनोमे साधु है वह सत्य है, तीर्थंकरसे अधिक सज्जन अन्य कौन हो सकते है, तीर्थंकर भगवान दीक्षाके समय या आगे पीछे भी सत्य सिद्धोको नमस्कार करते है। छठे सयमके विषयमें यो विचार कीजिये कि व्रत--धारण, समिति--पालन, कषायनिग्रह, इन्द्रिय-जय, योगनिरोधरूप व्यवहार सयम तो श्रावक या मुनिवरोमे पाया पाता है। इन्द्रियसयम या प्राणसयम भी व्रतियोमे मिलता है। हा, क्षायिकलब्धि या क्षायिक उपयोग स्वरूप इन्द्रियोको स्वायत्त रखना, अथवा सुख सत्ता, चैतन्य, बोध इन भाव प्राणोकी बाल २ रक्षा करना बडे भारी पुरुषका कार्य है। इस कामको सिद्ध भगवान विना इच्छाके स्वभावत. अनुरक्षण करते रहते है। जैसे कोई पहलवान शरीरावयवो, धातु उपधातुओको यत्न द्वारा यथास्थान स्थिर रखता है। इस मल्लके कार्यमे भले ही कुछ इच्छाका योग भी है किन्तु मुक्त जीवोके मोहकर्मजन्य इच्छा नही है। हा, ज्ञान और प्रयत्न है। टोटल ऐसा है कि जगत्का एक कार्य इच्छासे होता है और अनन्त कार्य बिना इच्छाके स्वकारणोसे होते रहते है। पैतालीस लाख योजन परिमित ऊपरले तनु वातवलयमे विराजमान हो रहे और भूतकालीन समयोसे असख्यातवे भाग नामक अनन्तानन्त सख्यावाले सिद्ध भगवान स्वकीय निरिच्छ छत्रच्छायासे त्रस स्थावर जीवोकी रक्षा कैसे करते है? अथवा जीवोको आत्मीय गुण या मोक्षमार्गपर उदासीन कारण होकर कैसे लगा देते है? इस सिद्धान्तको पुष्ट करनेके लिये एक स्वतत्र लम्बा लेख अपेक्षणीय है।

श्री राजवार्तिकमे एकेद्रिय आदि प्राणियोकी पीडाका परिहार और इन्द्रिय विपयोमे आसक्ति नही करना सयम माना है। ये अभावात्मक प्रतिजीवी गुण जैसे सिद्धोमे निवसते है वैसे मुनियोमे तो क्या क्षपकश्रेणीमे भी नही पाये जाते है। गृहस्थोकी तो बात ही क्या है, अज्ञान या अशक्यानुष्ठान होनेके कारण क्षपकश्रेणीमे भी उत्तम समय नही पल पाता है। क्षपक श्रेणी भी तो ससार है। मुमुक्षु जीव क्षपक श्रेणीको प्राप्त कर पुन छोड देता है। तब कही आगेके पुरुपार्थो द्वारा वह मोक्ष प्राप्त कर पाता है। सातवे तपो धर्मका विवरण यो है कि कर्मोकी निर्जरा हो जाय या पुन कर्मोका सम्बन्ध न हो जाय एतदर्थ तप करना पडता है। व्यावहारिक वाह्य और आभ्यन्तर बारह तप तो सिद्धोमे नही है। किन्तु पुनः योग और कपायका प्रकरण नही

मिल सके तथा पुन कर्मसम्बन्धा न हो जाय इसके लिये मुक्त जीवोका स्वाभाविक उत्तम तप नामक पुरुषार्थ होता रहता है।

देखो भावात्मक अनुजीवी और अभावात्मक प्रति-जीवी गुणो, तथा अनेक स्वभावोका पिण्ड ' वस्तु ' है। विद्वान् पुरुष इस सिद्धान्तको भले प्रकार जानते है कि प्रत्येक पदार्थ पर छ स्थानवाली हानि वृद्धिको ले रहे भाव गुणोके समान अविभाग प्रतिच्छेदहीन ये प्रागभाव, ध्वस, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव चारो अभाव भी तदात्मक होकर लद रहे है। कोई भी वस्तु निजस्वरूप इनके बोझको उतार कर फेक नही सकती है। प्रागभावका तिरस्कार कर यदि पाचसौ वर्ष आगेकी औलादोको आज पैदा कर लिया जाय तो इस अन्नके दुर्लभ युगमे क्या भरपूर सुभिक्षमे भी आपके हिस्सेमे एक अन्नका दाना भी न पडेगा तथा रहनेके लिये एक अगुल स्थान भी बाटेमे नही आयगा। ' कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निन्ह्वे '। (समन्तभद्र) इसी प्रकार पाचसौ वर्षके पूर्ववर्ती मुर्दाघाटो, श्मशानो या कबरिस्तानोको जगा दिया जाय तो पुरखा लोग अन्न जलके कष्टमे दुखी होकर हत्याकाड मचा देगे। जैसे कभी (प्राचीन समयमे) बारहवर्षके अकालमे लोग दूसरोके पेटमेसे अन्न निकालकर खा लिया करते थे। ' प्रध्वसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्तता व्रजेत् ' (समन्तभद्र) बात यह है कि आगे होनेवाले पदार्थोके प्रागभावोको वैसाही निषेध रूपमे बना रहने दो इसपर खुशिया मनाओ । तथा स्वकीय पुरखाओको भी ध्वसकी मृत्यु निद्रामें सोता रहने दो तभी आप हम चैनकी वशी बजा सकते है। यों प्रागभाव और ध्वस का मानना अत्यावश्यक है तथैव अपने सिरपर या परोसी हुई थालीमे सर्प व्याघ्र आदिका अभाव बना रहने दो अन्यथा इस अभावका कतिपय क्षणके लिये भी यदि तिरस्कार कर देवेगे तो उसी क्षण फण उठाये हुये सर्प, दहाडता हुआ बघेरा सिरपर चढ बैठेगा। थाली कालचक्र बन जायगी। यो प्रत्येक वस्तुमे स्वातिरिक्त अनन्तानन्त पदार्थों स्वरूप नही परिणत हो जानेका उद्देश्य रख जम कर बैठ गये असख्य अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभावकी भीतर भीते पडी हुई है।

' स्वपरादानापोहनव्यवस्थापाद्यम् खलु वस्तुनो वस्तुत्वम् ' (राजवार्तिक) अपने निज तत्वको पकडे रहना और परकीय उपाधियोका परित्याग करते रहना ही वस्तुका वस्तुत्व है, यहा प्रयोजन इतना ही है कि कर्मबन्ध पुन। नही बन बैठे एतदर्थ

सिद्ध भगवान भी निश्चय तपको तपते रहते है। जैसे कि कमलपत्र सर्वदाही कोशिशसे अपने लोटे २ रोगटोंको सतर किये रखता है, जो कि रोम पानीके कणोसे भी बहुत् बारीक और सघन है। तभी पत्तेंको पानी नही छू पाता है। हा, उस रोमावलीके मुरझा जानेपर पत्तेसे पानी भिड जाता है। क्योकि पत्तेको बेलसे तोड देनेपर या सुखा देनेपर कुछ काल पश्चात् वह यत्न ढीला पड जाता है। प्रत्येक वृक्ष स्वशक्तिसे अपने तना, शाखाओ, पत्तो, फूलो, फलोको ताजा (सजाता हुआ) बनाये रखता है। अत रोमावलीको सदा सतर बनाए रखना पडता है तभी कमलपत्र अपने शरीरसे पानीको नही लगने देता है। ससारी जीवो या पुद्गलोके गुणो समान सिद्ध भगवानके गुणोको भी अर्थक्रियाये करनी पडती है। तभी वे अपने कैवल्य या सिद्धत्वकी रक्षा कर पाते है। यो शुद्ध आत्माओका स्वरूप हो रहा तपोधर्म है।

परिग्रहनिवृत्ति स्वरूप त्याग तो पूर्णरीत्या सिद्धोमे ही है। अर्हन्तोके भी शरीर और चार अघातिया कर्म लग रहे है। दानान्तराय कर्मके क्षयसे उपजा क्षायिक दान सिद्धोमे भी पाया जाता है। उदासीनतया वे जीवोके लिये ज्ञानदान, अभयदान मोक्षमार्ग प्रदान करते रहते है। अष्टशतीकी ' यावन्ति कार्याणि तावन्त स्वभावभेदा ' इस पक्ति तथा श्री गोम्मटसार अनुसार नो आगम द्रव्यको जब सिद्धमे लगाया जायगा तो विशुद्ध बुद्धिवाले जिज्ञासुओके हृदयमें उक्त सिद्धान्त भले प्रकार बैठ जावेगा। यो निश्चय उत्तमत्यागधर्मस्वरूप तो सिद्धचक्र ही है अन्य कोई नही।

जैन न्यायशास्त्रका अखण्ड सिद्धान्त है कि ' भावाभावात्मक वस्तु ' प्रत्येक पदार्थ भावो और अभावोका तदात्मक पिण्ड हो रहा है। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्य या उसकी पर्यायोके साथ अत्यन्ताभाव हो रहा है। द्रव्यकी सजातीय पर्यायोमे अन्योन्याभाव प्रविष्ट हो रहा है। यें अभाव सभी द्रव्यो और स्वभावोमें, अविभाग प्रतिच्छेदोमे यहातक कि स्वय अभावोमे भी पाये जाते है। इसका दृष्टान्त द्वारा स्वल्प स्पष्टीकरण यो है। वर्तमानमे जितने मनुष्य विद्यमान है उन सवके भाग्य, आदतें, वचन--प्रणाली, विचारणाये, हस्ताक्षर आदि न्यारे २ है। यही नही सवकी सूरते मूरते भी न्यारी २ है। तभी तो लोग अपने २ लडके, मा, वाप, पत्नी, स्वामी, सेवकको झट पहचान लेते है। इस आकृति भेदसेही ब्रम्हचर्य और अचौर्याणुव्रतकी खासी रक्षा हो पाती है। यदि मूरते या आकृतिया भिन्न २ न होती तो सुन्दरी ताराके लिये

विद्याबलसे सुग्रीवकी सूरत बदल कर आ गये साहसगति विद्याधरके प्रकरण समान बडे २ अनर्थ या अत्याचार मच जाते, कोई भी सरकार किसी भी प्रकार इसका फैसला नही कर पाती ।

भाइयो ! मनुष्यो, स्त्रियो, लडके, लडकियोकी सूरते तो पृथक २ आपको दीख ही रही है । मै तो यह कहता हू कि घोडे, बैल, भैस, गाय, हिरण, बन्दर, सर्प, इन सब जीवोकी भी सूरते आपसमे एकसी नही है । यानी जयपुरमें यदि पच्चीस लाख कबूतर है तो उनकी एक २ की सूरत भी अलग २ है । आपके घरमें यदि पचास चिडिया है तो उन सबकी सूरते न्यारी २ है । जरा उनके बच्चोसे पूछो वे सब अपनी२ माताको पहचान कर अपनी २ खास मा से शीघ्र लपट जाते है । नासमझ और बेवकूफ बच्चेकी बात न्यारी है । इतनाही नही, मक्खिया चीटिया, दीमके, खटमल, बर्र ततैया, मच्छर, मकडिया, मछलिया, मगर, कछुआ आदि ये सबही अपनी २ जातिमे एक दूसरेसे न्यारी २ सूरतवाले होते है मेरे अभिप्रायको आप समझ गये होगे । मै कह रहा हू कि सहारनपुरमे कई करोड मक्खिया है लेकिन एक २ मक्खीकी सूरत न्यारी २ है । कोई भी मक्खी दूसरी मक्खीसे शकलमे नही मिलती है । स्थूलदृष्टिवालोको वे एकसी दीखती है, किन्तु उनकी सूरते उसी प्रकार न्यारी २ है जैसे कि प्रत्येक कुटुम्बके सब मनुष्योके शरीरोके आकार और मुखाकृतिया भिन्न २ है । केवल मनुष्योकी मुखाकृतिया ही न्यारी २ नही किन्तु हरएकके पेट हाथ कान अगुली रोम सभी अग प्रत्यङ्गोकी सूरत न्यारी २ है । कोई भेद-विज्ञान कर सके या न कर सके यह दूसरी बात है । आपकी आवश्यकता या अनावश्यकताके साथ वस्तुव्यवस्थाका अन्वय व्यतिरेक नही है । टकसालमे सन १९४१ के ढले हुए रूपसे एकसे है उनकी आकृतिया समान है । भले ही उनका उपादान कारण भिन्न २ हो इसका यहा विचार नही चल रहा है । इसी प्रकार एक साचीकी बनी हुई ईटे या एक साथ छपी हजार पुस्तके एकसी हो सकती है । डीवनका लट्ठा अथवा सरोजनीकी मलमल इनके सैकडो थान अथवा एक साथ उसी साचेमे ढले हुये कल पुरजे, एक सूरतवाले हो सकते है । हमें इनकी आकृतिया न्यारी २ नही सिद्ध करनी है । कैमरामे इनकी तस्वीरे खिचवावे तो वे तस्वीरे एकसी हो भी, किन्तु उक्त जीवोके शरीरोकी आकृतिया समान नही है । मक्खियोके फोटो प्रत्येक रूपसे भिन्न २ है ।

हा, तो थोडा और आगें सरकिये, जुये, लीखे, घुन, लटे, पइया गिजाइया ही अकेली अकेली भिन्न २ आकृतिवाली है किन्तु इतनाही प्रत्येक वस्तुमे तादात्म्य रूपसे पाया जा रहा अभाव पदार्थ हमे आदेश देता है कि मैने छाप लगाकर प्रत्येक गेहू चावल मक्का, बाजरा, पोस्त, सरसो, जीरा, इलायची आदि सब चीजोमें अथवा आम, अमरूद, खरबूजा और अगूर आदि फलो यहातक कि साग, तोरई, घास, पत्ता, फूल, डण्ठल सबकी परस्परमे न्यारी २ आकृतिया बनने दी है। भावार्थ -दुनियामे करोडो मन गेहू उपजता है। लाखो मन बाजरा उगता है। उन अरबो खरबो गेहूका प्रत्येक दाना दूसरे गेंहूके दानेकी सूरतका नही है। एक बाल (कुकडी) के दो हजार बाजरा भी सब न्यारी २ सूरतके है जैसे एक मा के लडकोकी आकृति न्यारी २ है। प्रत्येक अगूर या अमरूदकी शक्ल दूसरे किसी अगूर या अमरूदसे नही मिलेगी। सूक्ष्मदृष्टिसे निरखिये, पारखी जौहरीके समान इन रत्नोपर भेदभावकी गहरी दृष्टि डालिये, ससारमे भेद विज्ञानही कठिन है। और भी आगे बढकर समझिये कि भूतकालमे भी जितने घोडे, मक्खिया, गेहू, बाजरा, पोस्त, घास, वृक्ष, वनस्पतिया और फल हो चुके है वे भी सब न्यारी २ आकृतियोको लिये हुए थे, वे आकृतिया इन वर्तमानके घोडे आदिकी न्यारी २ आकृतियोसे भिन्न २ प्रकारकी ही थी। जैसे कि भूतकालमे ऐसा कोई मनुष्य नही हुआ जिसकी सूरत आपसमे या आजकलके किसी भी मनुष्यसे ठीक २ पूर्णतया मिलती हुई हो। अब आप सभी अन्य देव–देविया, त्रसकाय, स्थावरकाय जीवोकी भूत, वर्तमान, भविष्यकालीन भिन्न २ अनन्तानन्त आकृतियोका विचार स्वय कर सकते है। क्योकि जीवोके अगुरुलघुगुण और अभाव स्वभाव बहुत विलक्षण प्रकारके है। समवायीकारण तो भिन्न २ है ही, इस बातको तो सभी जानते है। इसकी यहा चर्चा ही नही है। इस बातका भी लक्ष्य रखना कि प्रत्येक मनुष्य, घोडा, कबूतर, चीटी, लट, फल, घास, गेहू आदिकी सूरत कुछ दिनोमे बदली रहती है। अर्थात् एक मनुष्यकी बाल्य अवस्थामे मुखाकृति न्यारी थी, युवावस्था और वृद्धदशाकी सूरत बदली हुयी निराली है। यदि आप किसीको शीघ्र २ नही देखेगें तो पहिचानना कठिन हो जाय, बीस वर्ष पीछे तो बाप बेटेको नही चीन्ह सकता है। इस आकृतिओके परिवर्तित भेदको मै कहातक वीस वर्ष या दश वर्ष, एक वर्ष, एक मास, एक दिन, एक घटा, एक मिनट या अन्तिम सीमा एक समयतक ले जाऊ ? । इस सिद्धातका परीक्षण, निर्णय अब स्वय कर लीजियेगा।

तात्पर्य यह है कि भावोके समान अभावोका भी साम्राज्य सर्वत्र छा रहा है। आप भावोके कार्योको देखते आ रहे है किन्तु अभावोके कार्योका विस्तार बहुत वढा हुआ है। सम्पूर्ण कार्योंमे केवलान्वयी होकर प्रतिबन्धकाभावको कारण माना गया है। अभाव उन बडे २ कार्योको साधते है जो कि भाव कारणोके द्वारा कालत्रयमे नही हो सकते है। असम्भव है, जैन न्यायग्रन्थोमे इस तत्वका अति सुन्दर विवेचन किया गया है। यो ' भावाभावैर्गुम्फित वस्तु। ' प्रत्येक वस्तु अनन्तानन्त भाव और अभावोके साथ तदात्मक होकर गुथ रही है।

' मेरा कुछ नही और मै किसीका नही ' यह नौवा आकिंचन धर्म तो पूर्ण-रीत्या सिद्धोमें ही मिलेगा जब कि अरहन्तोके भी आठ प्रातिहार्य, परमौदारिक शरीर, सुस्वरप्रकृतिका उदय अनेक उपाधियां लग रही है। सिद्धोका आत्मा निजस्वरूप बना रहे, पर पदार्थपर ही रहे। इस अर्थक्रियाके लिये किसी स्वभावका वहा बैठे रहना अनिवार्य है। एक बात यह भी ध्यानमे रखनेकी है कि प्रत्येक सत् वस्तु अर्थ क्रिया-ओको करती है, मुक्त हो चुके सिद्धभगवानको भी स्वोचित क्रियाये करनी पडती है। जनसिद्धान्तमे पुरुषार्थ चार माने गये है। पुरुष यानी आत्माका अर्थ यानी प्रयोजन या कर्तव्य इसको पुरुषार्थ कहते है। असि, कृषि, वाणिज्य, अध्यापन आदि द्वारा न्यायपूर्वक अर्थोपार्जन करना अर्थपुरुषार्थ है। तलवार, व्यापार, शिल्प, गायन आदि साधनोसे किये गये अर्थ पुरुषार्थके अनेक भेद है। इन्द्रियोके भोग्य-उपभोग्य माने गये अथवा जलक्रीडा, दौलत, नाच देखना, रतिक्रिया आदि उपायोसे हुये काम पुरुषार्थके भी अनेक प्रकार है। तथा पूजन, दान, ईर्या, व्रतपालन, सत्य भाषण, उपवास, दीक्षा लेना आदि रूपसे धर्म पुरुषार्थके अनेक भेद है। उसी प्रकार सिद्ध लोकमें निश्चय रत्नत्रय, स्वार्थ निष्ठा, आत्मगुणोको भरपूर बनाए रखना लोकाग्र निवास, कर्मबन्ध नही होने देना, उत्तम ब्रम्हचर्य रक्षित रखना, उत्तमक्षमा अहिंसा आदि मोक्ष पुरुषार्थ अनेकविध हो रहे है।

सिद्धोके अगुरुलघुगुण या अन्य गुण कोई खाली नही बैठे है। स्वल्प भी ढील कर देनेपर भिन्न डाकुओके द्वारा छापा मार देनेका अदेशा है। आपको क्या पता है कि पुरुषार्थियोको क्या २ कार्य करने पडते है, तब कही अर्थक्रियाये हो पाती है। किसान बीज डालकर अलग हो जाता है। फिर भूमिके भीतर बीजमे जन्म ले चुके जीवको या

गर्भाशयमे आ गये जीवको कितनेही अव्यक्त अबुद्धि-अनिच्छापूर्वक कार्य स्वकीय प्रयत्नोमे करने पडते है। तभी विविध प्रकारके फल, फूल, अन्न, गन्ना, औषधियोका स्वरूप तैयार होता है। गर्भस्थित जीव अपनें पर्याप्ति या अन्य प्रयत्नोसे हड्डी, मास, रुधिर, नाक, कान आदि अवयवोको बना डालता है। यह विचित्र जगत तो जीव अजीवकी चमत्कारिक अर्थक्रियाओका ही परिणाम है।

जलबिन्दुको ऊपरसे गोल मटोल बना रहनेके लिये या लवणसमुद्रके पानीको हजारो योजन ऊचा उठा रहनेके लिये, तथा आगको अग्नि ज्वालाओको ऊपर फेकते रहनेके लिये एप वायुको तिरछा फैलनेके लिये भीतरी अनेक कोशिशे करनी पडती है। जीवके यत्नको पुरुपार्थ कह देते है। जडकी कोशिशको सामर्थ्य कह देते है। सक्षेपमें यही कहना है कि सिद्धभगवान कोई 'वस्तु' से न्यारे नही है। ससारी जीव या अजीव तत्वोके समान सिद्धोको भी निज निष्ठा बनाये रखनेके लिये पुरुषार्थ करना अनिवार्य है। कारण रूप मोक्ष पुरुषार्थ सम्यग्दर्शन अवस्थासे शुरू हो जाता है। और साध्यस्वरूप मोक्ष पुरुषार्थ सिद्धोमे पाया जाता है। सिद्ध निठले नही बैठे है 'किदकिच्चा' सिद्धोको जो कृतकृत्य कहा है उसका तात्पर्य इतनाही है कि वे लौकिक वाणिज्य, देवपूजन, स्वाध्याय, खेलना, कूदना, अध्ययन, भोजन, शयन, कर्मबन्ध, योग कषाय आदि कार्योको करचुके है। ये कार्य अब उन्हे आगे नही करना है। किन्तु सिद्ध सभी कार्योसे मुक्त नही अन्यथा वहा 'वस्तुत्व' ही प्रतिष्ठित नही रह सकेगा।

दशवा धर्म ब्रम्हचर्य है। शुद्ध चिदात्मक परमब्रम्हमे चर्या करना यह ब्रम्हचर्य तो शुद्ध परमात्मामे ही घटित होता है। तभी तो अठारह हजार शीलोके भेदोका स्वामित्व होना चौदहवे गुणस्थानमे माना गया है। स्वस्त्रीपरस्त्रीत्याग या स्वपरपति भी कोई कल्पित धर्म नही है, वास्तविक भाव द्रव्य आत्मक धर्म है। न्याय ग्रन्थोमे अभावको भावस्वरूप सिद्ध किया है।

प्रत्येक द्रव्यमे अनन्त गुण है। सिद्धपरमात्मा भी शुद्ध द्रव्य है। अत उनमें अपरिमित गुण भरे हुये है। यदि इन सिद्ध गति, केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक-सम्यक्त्व अनाहार, उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव ब्रम्हचर्य, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि क्षायिक या पारिणामिक भावोको सिद्धोमे नही माना जाय तो फिर मुक्तजीव आकाश-कुसुम समान कुछ नही रहते है। "वौद्धोका प्रदीपनिर्वाण सम आत्माका निर्वाण हो जाना

मोक्षतत्व " व्यवस्थित नही है । क्षायिक भाव सिद्धोंकी आत्मा ही है। रत्नत्रय या वीर्य, सूक्ष्मत्व आदि गुण इनहीमे गर्भित हो जाते है। अथवा ये उत्तम क्षमा आदि धर्म भी उन सम्यक्त्व आदि आठ गुणोमे लीन हो जाते है। राजवार्त्तिकमें अनन्तवीर्य अनन्तसुख, चारित्र आदिका इन्ही गुणोमें अन्तर्भाव बताया है। वस्तुत ये सम्पूर्ण गुण या धर्म स्वतत्र होकर अनन्त है। केवल गिनतीका सकोच कर अन्तर्भाव करना रुचि न होते हुये भी लिख दिया है। जैसे कि बन्धन और सघात ये दश कर्मप्रकृतिया सर्वथा भिन्न है फिर भी बन्ध और उदयअवस्थामे शरीर कर्ममे ही अभिन्न गिन ली गई है। यो गिननेसे क्या तत्वनिन्हव हो सकता है ? कभी नही।

आप लोग विचार सकते है कि ' ॐ ह्री परब्रम्हणे उत्तमक्षमाधर्माङ्गाय नम ' यहा मत्रोमे क्षमा, ब्रम्हचर्य आदि धर्मोंके साथ ही परब्रम्ह शब्द लगाया गया है। ईर्यासमिति, भाषासमिति, परीषहजय, प्रतिक्रमण, शुक्ल ध्यान, आलोचन आदिको परब्रम्ह क्यो नही कहा जाता है ? इसमे अवश्य रहस्य है। सिद्धान्त यह है कि ईर्यासमिति, प्रतिक्रमण, आलोचना आदि तो छठे गुणस्थानतकही पाये जाते है। सामायिक नौवेतक है। परीषहजय बारहवे तक है। यो ये सब ससार अवस्थाये है। किन्तु ये धर्म तो मोक्षस्वरूप अन्तिम लक्ष्य है। व्यवहार रत्नत्रय भी इनका साधन है परम साध्य नही है। माघ, चैत्र, भाद्रपदमे इन धर्मोका पूजन, स्तवन, चितन, ध्यान करनेमे पूरे वर्ष भर सस्कार बना रहता है। इससे भी बढकर पूरे जन्मभर तक, यह भी नही मोक्ष होनेतक असख्य भवोमे और यहातक कि मोक्ष हो चुकनेपर भी अनन्तकाल ये धर्म टिके रहेगे। ऐसे अक्षयनिधिको अपनाना प्रत्येक मुमुक्षुका प्रधान कर्तव्य है जो कि अपनी आत्मामे ही रक्खी हुई है, कही बाहरसे लाना नही है। केवल व्यक्त करना है। बस यह काय कर लिया--तो बाजी जीत ली समझो।

॥ ॐ धर्मस्वरूपपरमब्रम्हसिद्धेभ्यो नम ॥

बारह अनुप्रेक्षाओके विषय अनित्यपन आदि धर्मोका तात्त्विकपन पुष्ट किया है। परीषहोके लक्षण, भेद, स्वामियो और कारणोको युक्तिपूर्वक दर्शाया है। अनन्तर पाच चारित्र और बारह तपोका वर्णन किया है। व्युत्सर्ग, दान, परिग्रहनिवृत्ति त्याग इनके पृथग्भावपर विचार किया गया है। ध्यानका बढिया विवेचन करते हुये कापिलोके मन्तव्यका निराकरण किया गया है, इस स्थलका खण्डन, मण्डन अतीव मनन करने

योग्य है। ध्यान कल्पनारूप नही है। और निरोध अभावरूप नही है, वह ध्यान अन्त-मुहूर्तही ठहर सकता है। प्राणायाम आदि शारीरिक क्रियाये ध्यानस्वरूप नहीं है इत्यादि सिद्धान्तोका बढिया परामर्श किया है। ध्यान विषयके ऊहापोह भी ध्यानियोके ही ध्येय है। ध्यानके चारो भेदोमें ध्यानसामान्यका लक्षण घटित कर हेतुवाद मुद्रासे पहिलेके दो ध्यानोको संसारका कारण और पिछले दो ध्यानोको मोक्षका कारण सिद्ध किया है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यानके भेदोमें युक्तिया प्रदर्शित की है। धर्म्यध्यानके भेदोका विवरण कर शुक्लध्यानका सूत्रानुसार युक्तिपूर्ण विवेचन किया गया है। कतिपय स्थलोपर राजवार्त्तिक ग्रन्थसे तात्त्विक सम्मेलन हो जाता है। वितर्क और विचारका विचार कर शुक्लध्यानके स्वामियोका प्ररूपण करते हुये ग्रन्थकारने केवलज्ञानीके भी मुख्यरूपसे ध्यान होना पुष्ट किया है, जो कि हृदयाकर्षक है। ग्रन्थकार स्याद्वादनीतिको साथ साथही पुष्ट करते जाते है। यो नौमे अध्यायका पहिला आन्हिक समाप्त किया गया है। दूसरे आन्हिककी आदिमे सम्यग्दृष्टि आदिकी असख्यात गुणी निर्जरा होनेमे युक्तियोको दिखलाते हुये ग्रन्थकारने सभी सयमी तपस्वियोका नैगमनय अनुसार निर्ग्रन्थपना प्रदर्शित किया है। व्यवहार और निश्चय नयसे भी पुलाक आदि पाचो निर्ग्रन्थ है। वस्त्र, पात्र, दण्ड, कम्बल आदिका ग्रहण करनेवाले साधुओंका मोहीपना और मूर्च्छासहितपना पुष्ट किया है। ऐसे साध्वाभास कभी निर्ग्रन्थ नही कहे जा सकते है। इन मोही साधुओसे विचारे गृहस्थ हजार गुणे अच्छे है। तभी तो श्री समन्तभद्र आचार्यनें " गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्, अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुने. " मोही साधु पतित है, मिथ्यादृष्टि है, गृहस्थ पाचवे गुणस्थानमे है। शून्यसे एकको कितना भी गुणा कहा जाय वह गुणाकार अल्पोयान् हो रहेगा। राजवार्त्तिक ग्रन्थके समान यहा भी कुछ शंकाये की गई है। उनका युक्तिपूर्वक निराकरण कर दिया गया है। " सयमश्रुत " आदि सूत्रके विवरणमे कुछ लिपिकी अशुद्धियां है। प्रतिभाशाली विद्वान् लिपिकर्ताओपर दया करते हुये ग्रन्थको शुद्ध कर लेवे। यहा उपकरण वकुशकी अपेक्षा मुनिके कदाचित् वस्त्रका ग्रहण करना आभासित होता है। जो कि दिगम्बर सम्प्रदाय अनुसार सत्यार्थ नही है। स्वय ग्रन्थकारने पुलाकवकुश " आदि सूत्रमे वस्त्र आदिका अखण्ड युक्तियोसे खण्डन किया है।

भगवती आराधना मूल ग्रन्थमे साधुके वस्त्रका ग्रहण देखा नही गया है। "आचेलक्कुद्देसिय सेज्जा हरराय पिण्ड किरियम्मे, वद जेट्ट पडिक्कमणे मास पज्जो सवणकप्पो" यह चारसौ छब्बीस (४२६) वी गाथा है। मूलमे आचेलक्यपद पडा हुआ है। सर्वथा वस्त्रके त्यागको आचेलक्य कहते हैं। जव परिग्रहका त्याग हुआ तो वस्त्रका त्याग अवश्यभावी है। वस्त्रके ग्रहण करनेसे सयम पल नही सकता है। वस्त्रमे पसेव, रज, मल लग जानेसे त्रस जीवोकी उत्पत्ति हो जाती हैं। वस्त्रके दवनेसे, मसलनेसे, त्रस जीवोकी हिंसा होवेगी। वस्त्रमे मल, रुधिर, पसीना लग जानेपर पुन धोया जायगा तो साधुके महान् असयम होगा, नही धोवे तो अपने और दूसरेके ग्लानिका कारण होय। वस्त्रको कोई चुराले जाय तो क्रोध होय, लज्जा उपजे यह भावहिसा हुई। लज्जावश ग्राम, नगर आदिमे जा नही सकते, वस्त्रको दूसरेसे मागें तो दीनता उपजे, सुन्दर बढिया वस्त्र मिले तो अभिमान हो जाय, मोटा, खोटा मिले तो परिणामोमे दीनता होय, वस्त्रके रखनेंसे चोर आदिका डर है, वायुके द्वारा वस्त्र उडे तो पुन अग ढकनेका विकल्प हो जाय ऐसी दशामे स्वाध्याय, जप, ध्यानका भग होय, यो सीवना, समेटना, उतारना, धोना, मागना आदि द्वारा महान् पापवन्धका कारण वस्त्र है। जव मुनिका शरीरसेही ममत्व नही है, तो फिर वस्त्र क्यो ग्रहण करने लगे ? मुनि महाराजकी सिंहवृत्ति है। वे दीनता, हीनता, याचकताको कदाचित् भी धारण नही करते हैं। यद्यपि ग्रन्थोमे आर्यिका साध्वीके सोलह हाथकी साडी रखनेका विधान है। तथापि उसको निर्ग्रन्थ नही माना गया है। आर्यिकाका प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय है। तीर्थंकर महाराजको भलेही पूर्ण वैराग्य हो जाय, लौकान्तिक देव आकर उनके निष्क्रमण कल्याणककी स्तुति करे। फिर भी वनमे जाकर केशलोच कर लेनेपरही आत्मध्यान करते हुये उनके सातवा गुणस्थान और मन पर्ययज्ञान युगपत् होता है। स्त्रियोके सचेल सयम है जो कि मोक्षका कारण नही हैं। ऋद्धिविशेषोका भी हेतु नही है। सचेल सयमसे जव सासारिक ऋद्धियाही प्राप्त नही हो पाती हैं। तो नि शेषकर्मोका क्षय हो जाना स्वरूप मोक्ष तो कैसे मिल सकता है ? "स्त्रियो न मोक्षहेतुसयमवत्य साधूनामवन्द्यत्वाद्गृहस्थवत्" न चात्रासिद्धो हेतुः "वरसमयदिक्खियाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू, अभिगमण वदणणमसण विणएण सो पुज्जो" इत्यभिधानात्। बाह्याभ्यन्तर परिग्रहवत्वाच्च न तास्तद्वत्यस्तद्वत्। (प्रमेयकमलमार्तण्ड) वस्त्रग्रहण आदि बाह्य परिग्रहसे अन्तरगके शरीरानुराग आदि परिग्रहका अनुमान कर दिया जाता है। यदि कोई

यो कहे कि शरीरकी उष्मासे वायुकाय आदिके जीव नही मरे अत. रागद्वेप नही होते हुये भी अहिसाके लिये वस्त्र ले लिया जाता है तब तो दिगबरोकी ओरसे कहा जा सकता है कि– " वस्त्ररहित साधुओके हिसकपनेका प्रसग आ जावेगा, अरहन्त आदिक मुक्तिको नही प्राप्त कर सकेगे क्योकि इनके वस्त्र नही है। हिसादोष लगता रहेगा वस्त्रवाले गृहस्थही मोक्षको जा सकेगे और वस्त्रग्रहण कर चुकनेपर भी जन्तुओका उपघात होना दोष तदवस्थ रहेगा क्योकि वस्त्रसे नही ढके जा सके हाथ, पाव, मुख आदि प्रदेशोसे निकल रही ऊष्मासे जीवहिसा अवश्यभाविनी है। जैसे वीजनेकी वायुसे अनेक जीव मरते है। उसी प्रकार वस्त्रके सकोचने, फैलाने आदिसे उपजी वायु करके अनेक जीवोको पीडा उपजेगी ऐसी दशामे प्राणिसयम नही पल सकता है। मागना, सीवना, धोना, सुखाना, धरना, लेना, चोरभय, रागद्वेप आदि द्वारा मनके सक्षोभको करनेवाले वस्त्रका ग्रहण करना साधुओके लिये सर्वथा निषिद्ध है, सयमका उपघातक है। साधु यदि लज्जा या शीतके निवारणके लिये वस्त्र रखता है तो कामपीडा, मुखदुर्गन्ध, मार्गश्रम आदिके निवारणार्थ कामिनी, ताम्बूल, घोडा आदिको भी रख लेवे। मनचली तन्वी युवतियोके मनमे क्षोभ न हो जाय इस कारण यदि स्वकीय अग, उपाङ्ग ढकनेके लिये वस्त्रका ग्रहण मानोगे तब तो साधुको अपने नेत्र फोड डालने चाहिये। या नेत्रोसे कपडा बाध लेना चाहिये। क्योकि रागवर्धक अन्य पदार्थोको देखनेमें नेत्र निमित्तकारण हो रहे है। बात यह है कि वस्त्र रखनेसे इन्द्रियसयम भी नही पलता है। कम्बल या कौशेय वस्त्र तो मूलमे स्वय अपवित्र भी है। वैष्णव, श्वेताम्बर, मोहमदीय, लोगोने कम्बलको पवित्र मान रक्खा है। वह सर्वथा निन्द्य है। युक्ति और विज्ञानसे भी सिद्ध हो जाता है कि मास, रक्त, चर्म, हड्डी, ऊन इनमें सतत त्रस जीवोका उत्पाद होता रहता है, अत. कम्बल, पात्र, डण्डा, कौशेय आदिको महान् परिग्रह समझा जाय। छठे, सातवे, या इससे ऊपरले गुणस्थानोवाले साधु कदाचित् भी कोई परिग्रह ,नही रखते है। कमण्डलु, पिच्छिका, शास्त्र तो सयमके उपकरण है। तपश्चर्याके साधन है, परिग्रह नही है। अतः मोहरहित साधु इनको अहिसा, स्वाध्याय, ध्यानकी सिद्धिके लिए रख लेता है। पण्डित सदासुखजी कासलीवालने भगवती आराधनाके "आचेलक्कुद्देसिय" आदि गाथाकी भाषाटीका करते हुये लिखा है कि इसकी सस्कृत टीकाके कर्ता श्वेताबर है। कम्बल, पात्र आदि रखनेकी पुष्टि की है, इसका शास्त्रनिमग्नविद्वान् विचार

कर लेवे । इसके आगे भगवती आराधनाकी सस्कृत टीका अर्थसहित देशभाषाकारके द्वारा दिखाई गई है । मेरी वुद्धि अनुसार अपराजितसूरि दिगम्बराचार्य हैं । उन्होने भगवती आराधना की सस्कृत टीकामें वहुत वढिया अचेलताका सयुक्तिक समर्थन किया है और श्वेताम्बर ग्रन्थोसेही अचेलताको समझा कर पुष्ट किया है । श्वेताम्बरोके पूर्वपक्ष उठाये गये है, उनका महती विद्वत्तासे उत्तरपक्ष किया गया है, सम्भव है। पण्डित सदासुखजीकी अपराजितसूरिकी इस " आर्यिकाणामागमेऽनुज्ञात वस्त्र कारणा. पेक्षया, भिक्षूणा न्हीमानयोग्य शरीरावयवो दुश्चर्माभिलम्बमान वीजो वा परीपहसहने वा अक्षम सगृण्हाति " पक्तिका अर्थ यह जच गया होय कि भिक्षुक लज्जा या परीपहोको नही सहनेंपर वस्त्रोको ग्रहण कर लेता है । किन्तु यह पक्ति तो विशेप परिस्थिति उपस्थित हो जानेपर श्वेताम्बरोके मतानुसार वस्त्रका ग्रहण कह रही है। यह दिगम्बरोका सिद्धान्त न समझ लिया जाय । अपराजित सूरि या दिगम्बर शासन वस्त्र-ग्रहणको पुष्ट नही करते है । अपराजितसूरि तो वडे उत्साहपूर्वक अचेलतापर झुके हुये है । अव रही श्लोकवार्त्तिककी वात कि"यह व्याख्यान अपवादरूप समझना चाहिये" । उसका अभिप्राय यही है कि आचार्यने लज्जा, त्रिस्थानदोप आदि सवका पर्यवेक्षण कर निर्दोष पुरुषको जिनदीक्षा दी थी । किन्तु जो पुनः निर्वलतावश कर्मपरतन्त्रतासे लज्जा-शील या शीतवाधाको नही सहनेवाला अथवा त्रिस्थानदोषी हो गया है । वह अपवाद मार्ग अनुसार वस्त्रको ग्रहण कर लेवे । सयमसे च्युत हो जाय किन्तु सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट न होय । पुन वलवान आत्मा होकर उत्सर्गमार्ग आचेलक्यको धारण करता हुआ मोक्ष-मार्गमें लग वैठे। तभी तो आगे चलकर "जैनाभासा केचित् सचेलत्व मुनीना ख्यापयन्ति" तन्मिथ्या साक्षान्मोक्षकारण निर्ग्रन्थलिग " ग्रन्थकारने इस पक्ति द्वारा जैनाभासोके माने गये सचेलत्वको मिथ्या ठहरा कर मोक्षका कारण निर्ग्रन्थ लिगही माना है । पडित आशाधरजीने भी 'भगवती आराधना' की टीकामे निर्वस्त्रत्वको वहुत वढिया पुष्ट किया है । मुनिके पात्र, दण्ड, आदिका तो परिपूर्ण रीत्या परित्याग समझो ही । यो " भगवती आराधना " और उसकी अपराजितसूरि कृत विजयोदया टीका तथा आशाधर कृत मूलाराधना टीका एव श्लोकवार्त्तिक और उसके भाष्यका पूर्वापर सदर्भ मिलाकर विद्वान् पुरुप पर्यवेक्षण करे । उनको सर्वत्र साधुके निर्वस्त्रत्व या निष्परिग्रहत्व गुणका समर्थन मिलेगा । "अलमेतद्विपयकवावदूकतया नमोऽस्तु दिगम्बरमुनिभ्य ।"

आगे पुलाक आदि मुनिवरोको लेश्या उपपाद आदिका प्रतिपादन कर मगला-चरणपूर्वक द्वितीय आन्हिकको समाप्त किया है। -इस श्लोकवार्त्तिक महान् ग्रन्थका अध्ययन, अध्यापन इन पचासो वर्षोमे क्वचित्, कदाचित् ही हुआ है। शुद्धलिपि के पुस्तकका मिलना भी अतीव दुर्लभ हो गया है। टीका, टिप्पणी तो नाममात्र भी उपलब्ध नही है। कर्नाटक देश या किसी प्राचीन भण्डारमे कोई ताडपत्रपर लिखी हुई या किसी प्रकाण्ड विद्वान्के द्वारा निरीक्षित की गई पुस्तक मिले तो गुणग्राही विद्वान् पाठ या देशभाषाको शुद्ध करते हुये सर्वज्ञ आम्नाय तत्त्वार्थोका यथार्थ श्रद्धान् कर लेवे। "नहि सर्व सर्ववित्" नमोऽस्त्वभिमतसिद्धिकर्त्र्यै स्याद्वादवाण्यै" कतिपयदिनो पश्चात् प्रयत्न करके ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन प्रतिके लेखको मूडबिद्रीसे मगाया गया तदनुसार "सयमश्रुतप्रतिसेवना" सूत्रकी श्लोकोमे रचित वार्त्तिको और उनके भाष्यभूत अलकारका अविकल हिन्दी अनुवाद कर दिया गया है। अब सभी सशयोका निराकरण होकर आतमा आल्हादित हो जाता है। दिगम्बर विद्वान् दिगम्बरसे कथमपि विचलित नही हो सकते है। "प्रीणन्तु सन्त,"

इति श्री विद्यानन्द स्वामिविरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकार नामक महान् ग्रन्थकी आगरामण्डलांतर्गत चावली ग्रामनिवासि श्री हेतुसिहसुत सहारनपुर वास्तव्य माणिकचन्द्रकृत देशभाषामय "तत्त्वार्थचिन्तामणि" नामकी टीकामे नौमा अध्याय परिपूर्ण हुआ।

ध्याने हित्वार्तरौद्रे समितिमुपगता दैशिकं संवरं ये,
ध्यायन्तो धर्म्यशुक्ले परिषहजयतो भावनेद्धाष्टशुद्धीः,
कुर्वाणा. स्वात्मपलादगणितगुणितां निर्जरा कर्मणान्ते
निर्ग्रन्थाः संयमाद्यै स्वपरहितरताः पान्तु भाज्यास्त्रिगुप्ताः ॥ १ ॥

इति नवमोऽध्यायः ॥

॥ श्री ॥

अथ दशमोऽध्यायः ॥

नवम अध्यायके अनन्तर अब तत्त्वार्थाधिगमशास्त्रके दशवे अध्यायका प्रारम्भ किया जाता है-

असंख्यवन्दारुसुरेन्द्रवृन्द-
निमेषशून्याक्षिसहस्रलोक्यं
निकृष्टकर्माष्टकशैलवज्र,
नमामि वीरं त्रिजगच्छरण्यम् ॥ १ ॥

इदानीं मोक्षस्य स्वरूपाभिधानं प्राप्तकालं तत्प्राप्ति केवलज्ञानपूर्विकेति केवलज्ञानोत्पत्तिकारणमुच्यते । "अथेदानीं मोक्षस्वरूपमप्रतिपादयितुंकामो भगवान् पर्यालोचयति मोक्षस्तावत्केवलज्ञानप्राप्तिपूर्वको भवति, तस्य केवलस्योत्पत्तिकारणं किमिदमेवेति निर्धार्य सूत्रमिदमाहुः, ।

अब इस समय दशमें अध्यायके प्रारम्भमे सातवे मोक्ष तत्त्वके प्रतिपादनके लिये शुभकामना रख रहे भगवान् उमास्वामी महाराज मनमे पर्यालोचना करते है कि मोक्ष तो पहले केवलज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर होती है । यो मोक्षके स्वरूप कथनका अवसर प्राप्त हो जानेपर मोक्षके पूर्वमे हुये केवलज्ञानका निरूपण करना आवश्यक हुआ । उस केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण क्या यह ही वक्ष्यमाण सूत्रोक्त हो सकता है ? इस प्रकार सदागम--सत्तर्क अनुसार निर्धारण कर केवलज्ञानके उत्पादक कारणकी प्रतिपत्ति करानेवाले इस अग्रिम सूत्रको महामना उमास्वामी महाराज स्पष्टरूपेण कह रहे है ।

मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥

मोहनीयकर्मके क्षयसे तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोके क्षयसे आत्मामे केवलज्ञान आदि उपजते है। अर्थात् बारहवे गुणस्थानके आदिमे मोहनीयकर्मका निरवशेष क्षय हो जाता है। मोहका पलसाध्य क्षय करनेमे आत्माको विशेष परिश्रम करना पडता है। अत बारहवे गुणस्थानमे अन्तर्मुहूर्त कालतक आत्मा विश्राम करता है। साथही तीन घातिकर्मोका क्षय करनेके लिये घोर प्रयत्न भी करता जाता है। एकत्ववितर्क अवीचार नामक बलवत्तर समर्थ पुरुपार्थ हो चुकनेपर तेरहवे गुणस्थानके आदिमे ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोका क्षय कर डालता है। तव विश्व-प्रकाशक केवलज्ञान सूर्य उत्पन्न हो जाता है। ज्ञानावरणके क्षय और केवलज्ञानकी उत्पत्तिका समय वही एक है। रोगोत्पादक पौद्गलिक दोषोका विनाश और आरोग्य उत्पत्ति भिन्न कालीन नही है। जिस जीवके मोहका क्षय हो चुका है, या ज्ञानावरणके क्षय अनुसार केवलज्ञान उपज चुका है। उस जीवको मोक्ष होना अनिवार्य है। अतः इस सूत्रमे मोक्षके समर्थ कारण केवलज्ञान तथा केवलदर्शन आदिके भी समर्थ उत्पादक कारणोका प्ररूपण किया गया है।

मोहस्य क्षयो विध्वंसो मोहक्षयस्तस्मात् । आवरणशद्ब प्रत्येकं प्रयुज्यते तेन ज्ञानावरणं च दर्शनावरणं च ज्ञानदर्शनावरणे तौ चान्तरायश्च ज्ञानदर्शनावरणान्तराया-स्तेषां क्षयो ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयस्तस्माच्चकारादायुस्त्रिकनामत्रयोदशक्षयाच्च केवल केवलज्ञानमुत्पद्यते । त्रिषष्ठिप्रकृतिक्षयात्केवलज्ञानं भवतीत्यर्थः । अष्टाविंशतिः प्रकृतयो मोहस्य, पञ्च ज्ञानावरणस्य नव दर्शनावरणस्य पञ्चान्तरायस्य । मनुष्यायुर्वर्ज्यं मायुस्त्रय । साधारणातप पञ्चेन्द्रियरहित चतुर्जाति नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, स्थावर, सूक्ष्म, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, उद्योतलक्षणास्त्रयोदश नामकर्मणः प्रकृतयश्चेति त्रिषष्ठि ।

सूत्रमे कहे गये मोहके क्षयका अर्थ मोहका विध्वन्स हो जाना है अर्थात् आत्मासे बद्ध हो रहा मोहनीयकर्म आत्मीय पुरुषार्थ द्वारा निर्जीर्ण कर दिया जाता है। वह कर्म आत्मासे पृथक् होकर अन्य धूल, रेत, आदि पर्यायोमे परिणत हो जाता है। जैसे कि सोडा, साबुन, पानी द्वारा वस्त्रसे मल छूटकर अन्य कीच, धोवन आदि पुद्गल पर्यायोरूप परिणम जाता है। कर्म या मलका समूलचूल विनाश नही हो जाता है।

घटका ध्वस ठीकरा आदि पर्याय उपज जाता है, यो ऐसा मोहका क्षय है। उस मोह क्षयसे यो निरुक्ति कर पाचमी विभक्तिमे " मोहक्षयात् " शब्द बना लिया है। द्वद्वसमासके आदि या अन्तमे पडे हुये पदका प्रत्येकमे अन्वय कर लिया जाता है। प्रकरणमे यह कहना है कि " ज्ञानदर्शनावरण " पदके अन्तमे पडे हुयें आवरण शद्वका प्रत्येकमे प्रयोग कर देना चाहिये। तैसा कर देनेसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण यो निर्वचन कर समासद्वारा " ज्ञानदर्शनावरणे " पद बना दिया जाता है। वे ज्ञानावरण और दर्शनावरण तथा अन्तराय यो द्वन्द्वसमास कर " ज्ञानदर्शनावरणान्तराया पद बना लिया जाय। उनका क्षय हो जाना " ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षय है। उसको पञ्चम्यन्तपद बनाकर उससे क्षायिक ज्ञानकी उत्पत्ति होना ज्ञात कर उसे केवलज्ञानका उत्पादक हेतु समझ लिया जाय। सूत्रमे समुच्चय अर्थका द्योतन कर रहा चकार पडा हुआ है। उससे तीन आयुमे और नामकर्मकी तेरह प्रकृतियोका एकत्रीकरण हो जाता है। इनका भी क्षय हो जानेसे केवल यानी केवलज्ञान उपज जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि त्रेसठि प्रकृतियोका क्षय हो जानेसे केवलज्ञान आदि होते है। अट्ठाईस तो मोहनीय कर्मकी प्रकृतिया है, पाच ज्ञानावरण की, नौ दर्शनावरण की, पाच अन्तरायकी, तथा मनुष्य आयुको छोडकर नरकआयु तिर्यञ्चआयु, देवआयु यो तीन आयुकर्म एव साधारण आतप, पञ्चेन्द्रिय जातिसे रहित एकेद्रिय जाति, द्विइन्द्रिय जाति, त्रिइन्द्रियजाति, चार इन्द्रियजाति, ये चार जातिया कर्म नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, स्थावर, सूक्ष्म, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य उद्योत, स्वरूप तेरह नामकर्मकी प्रकृतिया है। इस प्रकार जाति कर्मोकी सैंतालीस, आयु कर्मकी तीन, नामकर्मकी तेरह, यो त्रेसठि प्रकृतिया हुई इनके क्षयसे केवलज्ञान उपजता है।

> ननु मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणक्षयात्,
> अन्तरायक्षयात्प्राप्तिः केवलस्य नृणां भवेत् ॥ १ ॥
> वाक्यभेदः कर्मणां च क्षयाच्च परिभाषितः।
> प्रतिपादनमुत्क्षिप्यानुक्रमास्तच्च कोप्यसौ ॥ २ ॥
> पूर्वमेवास्ति जीवस्य विज्ञेयः कर्मणां क्षयः।
> कर्मक्षयं विना भव्यो नो याति परमां गतिम् ॥ ३ ॥

यहा कोई शका उठा रहा है कि मनुष्योके केवलज्ञानकी प्राप्ति होना मोहनीय कर्मके क्षयसे तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मोके क्षयसे होगी। इस प्रकार वाक्यका भेद क्यो किया गया है ? समास कर लाघवसे एक साथ मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, कर्मोके क्षयसे केवलज्ञानका उत्पाद होना कह देना चाहिये था। वाक्यका भेद कर देनेसे सूत्रकारके ऊपर गौरवदोष दिया जा सकता है। ग्रन्थकार कह रहे कि है समासवृत्ति कर प्रतिपादन करानेका उल्लघन कर जो कोई वाक्य भेद किया गया है। वह किसी भी अनुक्रम नामके अतिशयका परिभाषण करता है। उक्त कर्मोका क्रमानुसार क्षय हो जानेसे केवलज्ञान उपजता है। पहिले ही इस जीवके मोहनीय कर्मका क्षय हो जाता है। पश्चात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मोका क्षय किया जाना है। तब केवलज्ञान आदि चतुष्टयकी प्राप्ति होती है। कर्मोका क्षय किये विना कोई भी भव्य जीव उत्कृष्ट मोक्षगतिको प्राप्त नही कर पाता है। अत्याधिक पुरुपार्थपूर्वक प्रणिधान विशेप लगाकर विशिष्ट जातीय परिणामो करके आत्मा कर्मोका क्षय करनेके लिये उद्युक्त हो जाता है।

भव्य प्राणी सम्यग्दृष्टिर्जीवः परिणामविशुद्धचा वर्द्धमानोऽसंयतसम्यग्दृष्टि, देशसंयत, प्रमत्तसयताप्रमत्तसंयत गुणस्थानेष्वन्यतमगुणस्थानेऽनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टय दर्शनमोह त्रितय क्षयसुपनय तत क्षायिक सम्यग्दृष्टिर्भूत्वाऽप्रमत्तगुणस्थानेऽथाप्रवृत्तकरणमगीकृत्यापूर्वाकरणाभिमुखी भवति।

भव्य प्राणी ज्ञानोपयोगी जीव सम्यग्दृष्टि होकर परिणामोकी विशुद्धि करके अनुक्षण बढ रहा सन्ता चौथे असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान या पाचवे देशसयत गुणस्थान अथवा छठे प्रमत्तसयत गुणस्थान एव सातमें निरतिशय अप्रमत्तसयत गुणस्थान इन चारमेसे किसी भी एक गुणस्थानमे करणत्रय द्वारा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारो कपायोका विसयोजन करता हुआ मिथ्यात्व, सम्यड्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व इन तीनो दर्शन मोहनीय कर्मोके क्षयको प्राप्त कर देता है। उसके पश्चात् क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर सातमे अप्रमत्तगुणस्थानमे अथाप्रवृत्तकरणको अड्गीकार कर आठमे अपूर्वकरण गुणस्थानके अभिमुख हो जाता है। भावार्थ--प्रथमोपशम सम्यक्त्व, अनन्तानुवन्धि विसयोजन, क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेके पूर्वमे कतिपय स्थलोपर भिन्न भिन्न जातिके करणत्रय होते है। किन्तु यहा प्रकरण अनुसार सातिशय अप्रमत्त सातवे

गुणस्थान और आठवे तथा नौवे गुणस्थानोमे पाये जा रहे तीनो कारणोका अग्रिम वार्त्तिको द्वारा निरूपण करते है। ज्ञानके विना सभी आत्मीय परिणाम यद्यपि अवाच्य है फिर भी चारित्र गुणके परिणाम हो रहे उन तीनो कारणोके अन्तस्तलपर शिष्यको पहुचानेके लिये आचार्य महाराज स्तुत्य प्रयत्न करते है। अविनाभावी हेतुओसे साध्यकी प्रतिपत्ति होवेगी ही।

अथाप्रमत्तकरणमपूर्वकरणं च वा,
निवृत्तिरहितं यस्मिन्न निवृत्तिश्च कथ्यते ॥ ४ ॥
परिणामविशेषात्किं सोऽयं समुपवर्णितः
कीदृशास्ते भवन्त्येवानिवृत्तिकरणांतगाः ॥ ५ ॥
विशिष्टपरिणामाश्च वाच्यं शब्दमनुक्रमं।
एकस्मिन् समयेऽन्यस्यैकैकस्य समयस्य तत् ॥ ६ ॥

एकदा लोकमानाश्च जीवस्य परिणामिका ।

पहिला करण अथाप्रवृत्त करण है और दूसरा अपूर्व करण है, तथा तीसरा निवृत्तिरहित अनिवृत्तिकरण कहा जाता है। परिणामोकी विशुद्धियोका विशेषरूपसे बढना होते रहनेसे यह अनिर्वचनीय करणोका क्रम आगममें भले प्रकार वर्णित किया गया है। वे अनिवृत्तिकरण तक अन्तको प्राप्त हो रहे विशिष्ट परिणाम भला किस ढगके है ? और वे इसही क्रमसे उपजते है ? इन प्रश्नोका उत्तर शद्बो द्वारा नही कहा जा सकता है। तथापि क्रम अनुसार शिष्य व्युत्पत्तिके लिये शद्बो द्वारा कहा जा रहा है। जैसे कि अन्धे पुरुषको कच्चे, पके, आम्र फलोके वर्णका ज्ञान उनकी अविनाभावी गन्धोद्वारा कर दिया जाता है। एक समयमें दूसरे अन्य एक एक समयके एक काल देखे जा रहे परिणाम समुदाय नाना जीवोके हो जाते है। तिस कारण पहिला करण अथाप्रवृत्त या अध करण है। भावार्थ—यहा कुछ पाठमें त्रुटि रह गयी दीखती है, " श्री गोम्मटसार " मे—

जह्मा उवरिम भावा हेठ्ठिम भावेहि सरिसगा होंति
तह्मापढम करणं अधापवत्तोत्ति णिद्दिठ्ठं ॥

अन्तोमुहुत्त मेत्तो तक्कालो होदि तत्थपरिणामा
लोगाणमसंखमिदा उवरुवरिं सरिसवढ्ढिगया ॥
वावत्तरिति सहस्सा सोलस चउचारि एक्क पंचेव,
धण अद्धाण विसेसे तिय संखाहोइ संखेज्जे ॥

इत्यादि कतिपय गाथाओ द्वारा तीनो कारणोका उदाहरणसहित विस्तृत वर्णन है। समकालीन और भिन्न कालीन जीवोके परिणाम सदृश और विसदृश भी हो इस कारण पहिला करण अध करण है। ऊर्ध्वगच्छ, तिर्यग्गच्छ, प्रचयधन, अनुकृष्टि-रचना, इत्यादि विधिसे विचार कर लिया जाय। पहिले करणका अन्तमूहूर्तकाल बडा है। उत्तरोत्तर छोटा है। दूसरे अपूर्व करणमे समान सामयिक नाना जीवोके परिणाम सदृश और विसदृश भी है हा, भिन्नकालीन जीवोके परिणाम विसदृश ही है,--

छण्णउदि चउ सहस्सा अट्ठय सोलस धणं तवद्धाणं,
परिणामविसेसोवि य चउसंखा पुव्वकरण संदिट्ठी ॥

इन दोनो करणोके परिणाम असख्यात लोक प्रमाण है। एक जीवके केवल अन्तर्मुहूर्त कालकी गणनामे आनेवाले छोटे असख्यात समयो प्रमाणही परिणाम होते है। हा, तीसरे करणके सम्पूर्ण परिणामके वल छोटे अन्तमुहूर्तके समयो वरावर स्वल्प असंख्याते ही है। समान समयोके जीवोके परिणाम समान ही है और भिन्नकालीन जीवोके परिणाम विसदृश ही है--

एगम्हि कालसमये संठाणादीहिं जह णिवदृन्ति
ण णिवदृन्ति तहा विय परिणामेहिं मिहो जेहिं ॥

यो गोम्मटसारमें इन करणोका व्यासरूपेण वर्णन है। विशेष परिच्छित्तिके अभिलापुक विद्वान् वहासे परितृप्ति करे यहा मात्र सकेत करनाही पर्याप्त समझा जाय।

एकस्मिन् समये ह्यवलोकमानावच्छिन्ना जीवस्य परिणामा: सन्ति, तत्राप्रमत्त-गुणस्थाने पूर्वपूर्वसमये प्रवृत्ता यादृशा परिणामास्तादृशा एव, अथानन्तरमुत्तरसमयेष्वास-मंतात्प्रवृत्ता विशिष्टचारित्ररूपा परिणामा अथाप्रवृत्तकरणवाच्या भवंति अपूर्वकरण-प्रयोगेणापूर्वकरणक्षपकगुणस्थानव्यपदेशमनुभूयाभिनवशुभाभिसंधिर्ना धर्म्यशुक्लध्याना-भिप्रायेण कृशीकृतपापप्रकृतिस्थित्यनुभाग: सन् संवर्धितपुण्यकर्मानुभव: सन् अनिवृत्तिकरण लब्ध्वा अनिवृत्तिबादरसांपरायक्षपकगुणस्थानमधिरोहति ।

एक समयमे नियमित सभावित देखे जा रहे परिणाम जीवके मर्यादित है। तीनो करणोके परिणामोंकी मर्यादा न्यारी न्यारी है । उन तीन परिणामोमे पहिला करण सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानमे होता है। पहिले पहिले समयोमे जिस प्रकारके परिणाम प्रवृत्त हुये है उनके पश्चात् उत्तर समयोमे भी वैसे ही परिणाम चारो ओरसे प्रवृत्त हो जाय वे चारित्र गुणके विशिष्ट रूप हो रहे परिणाम अथाप्रवृत्तकरण शब्द करके वाच्य हो जाते है । दूसरे अपूर्वकरण नामक प्रयोग करके आठवे अपूर्वकरण क्षपक गुणस्थान नामका अनुभव कर नवीन नवीन शुभ परिणामोको विचार रहा आत्मा पहिले ध्याये गये धर्म्यध्यान और वर्तमानमे ध्याये जा रहे शुक्लध्यानके अभिप्राय (नय विचार) करके पापकर्म प्रकृतियोके स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्धको कृप कर देता है । वही आत्मा पुण्य कर्मोके अनुभागको बढिया बढा चुका सन्ता नवमे गुणस्थानमे अनिवृत्तिकरणको प्राप्त करके "अनिवृत्तिवादरसापरायक्षपक" गुणस्थानपर चढता है । यहा दशमे गुणस्थानकी अपेक्षा कपाय मोटी है, निवृत्ति नही है। अत इसका नाम अन्वर्थ है । जैसा नाम है वैसा ही अर्थ है ।

तत्राप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानकषायाष्टकं नष्ट विधाय नपुंसकवेदविनाश कृत्वा स्त्रीवेद समूलकाषं कषित्वात्र हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षण नोषायषट्क पुंवेदे प्रक्षिप्य क्षपयित्वा पुंवेदं क्रोधसंज्वलने च क्रोधसज्वलनं मानसज्वलने, मानसज्वलन मायासंज्वलने, मायासज्वलनं लोभसंज्वलने, लोभ सज्वलन क्रमेण वादरकिद्दिविभागेन विनाशमानयति । वादर किद्दिरिति कोर्थ । उपायद्वारेण फल भुक्त्वा निर्जीर्यमाणमुद्धत शेषमुपहतशक्तिक कर्म किद्दिरित्युच्यते आज्य किद्दिवत् । सा किद्दिर्द्विधा भवति । वादर. किद्दिसूक्ष्मकिद्दिभेदार्दात किद्दिशब्दस्यार्थो वेदितव्य । तत्पश्चाल्लोभसज्वलन कृषीकृत्य सूक्ष्मसापरायक्षपको भूत्वा नि.शेष मोहनीय निर्मूल्य क्षीणकषायगुणस्थाने स्फोटितमोहनीयभारः संन्नधिरोहति । तस्य गुणस्थानोपांत्य समयेत्यसमयात्प्रथमसमये द्विचरमसमये निद्राप्रचले द्वे प्रकृती क्षपयित्वा अन्त्यसमये पच ज्ञानावरणानि, चत्वारि दर्शनावरणानि पचान्तरायान् क्षपयति तदनन्तर केवलज्ञान, केवलदर्शनस्वभाव केवलं सप्राप्याचिन्त्य विभूतिमाहात्म्य प्राप्नोति ।

उस नवमे गुणस्थनमे अप्रत्याख्यानावरण कर्म, क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्याख्यानावरण कर्म क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठो कषायोको नष्टकर पुन नपुसकवेदका विनाश करके और स्त्रीवेद कर्मको मूलसहित कसते हुये वधकर पश्चात्

हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा स्वरूप छओं नोकषाय कर्मोको पुवेद कर्ममं प्रक्षेपण कर क्षय कर दिया जाता है। पुवेदका क्रोधसज्वलनमे और क्रोधसज्वलन कर्मका मानसज्वलनमे, तथा मानसज्वलनका मायासंज्वलनमे एव मायासज्वलन कर्मका लोभसज्वलनमें प्रक्षेपण कर सक्रमण क्रम अनुसार प्रलय कर दिया जाता है। वादर-कृष्टि विभाग करके वादरलोभ सज्वलन कर्मका विलय कर मात्र सूक्ष्म सज्वलन कर्म अवशेष रह जाता है। किट्टि शद्ब प्राकृतभाषाका है, जो कि कृष्टिका अपभ्रश है। वादर किट्टि इस शद्बका अर्थ क्या है ? इसका उत्तर यही है कि उपाय द्वारा फलको भोग कर निर्जराको प्राप्त हुये कर्मोसे उद्धृत कर लिये गये अवशेपहीन शक्तिवाले कर्म किट्टि नामसे कहे जाते है। जैसे कि घृतका विलोडनकर मोटे रूपसे सूक्ष्म कर्षण हो जाता है अथवा अन्नको चाकीमे पीस देनेसे उसके सूक्ष्मखण्ड हो जाते है। यो नवमे गुणस्थानमे पूर्वस्पर्द्धक, अपूर्व स्पर्द्धक, वादरकृष्टि, सूक्ष्मकृष्टि, अनुभाग अनुसार सज्वलन कर्मको सूक्ष्म कर दिया जाता है। वह किट्टि वादरकिट्टि और सूक्ष्मकिट्टि भेदसे दो प्रकार की होती है। यो किट्टि शद्बका अर्थ समझ लेना चाहिये। उसके पश्चात् लोभ सज्वलनको कृषकर दशवे गुणस्थानमे सूक्ष्मसापरायक्षपक होकर अन्तमे सम्पूर्ण मोहनीय कर्मका निर्मूलनकर क्षीणकषाय नामक बारहवे गुणस्थानमे मोहनीय कर्मके भारको फेककर निर्मोह हो रहा सन्ता परिणामोकी विशुद्धि द्वारा ऊपर चढ जाता है। उस अन्तर्मुहूर्त कालस्थायी बारहमे गुणस्थानके उपान्त्य समयमे यानी अन्तिम समयसे पहिले समयमे अर्थात् द्विचरम समयमे निद्रा और प्रचला दो प्रकृतियोका क्षय कर अन्तिम समयमे पाच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण तथा पाच अन्तराय कर्मोका पुरुषार्थ द्वारा क्षय करा देता है। उसके अव्यवहित पश्चात् आत्माके स्वभाव हो रहे केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वरूप केवलको भले प्रकार प्राप्त कर नही चिन्त-नमे आवे ऐसी बहिरग, अन्तरग विभूतिके माहात्म्यको वह यत्नशील आत्मा प्राप्त हो जाता है। वीरनिर्वाण सम्वत् २४४४ यानी विक्रम सम्वत् १९७५ में मुद्रित हुई पुस्त-कमे " मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तराय क्षयाच्च केवल " सूत्रकी टीका छपी नही है, उत्तर प्रान्तकी लिखित पुस्तकमे जो कुछ शुद्ध, अशुद्ध टीका पाई गई उसकी भाषा यथायोग्य सशोधन कर कर दी गई है। पुनः मूडविद्रीसे ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन

प्रतिके लेखको मगाया गया। वह इस प्रकार है– " मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्ष-याच्च केवलम् " ॥१॥ निर्जरा पदार्थस्यैव सवरानन्तरनिर्देशभाज प्रस्तुतत्वात् तन्निर्देश एव युक्तोऽधुना न पुन केवलोत्पत्तेरिति कश्चित् तदसत्। मोक्षवचनादेव निर्जरास्वभाव सम्प्रत्ययान्मोक्षनिर्देशोपपत्तेस्तर्हि मोक्षसूत्रमेवारब्धव्यमिति चेत्, अत्रोच्यते;--

अथ मोहक्षयाज्ज्ञानावरणादिक्षयाच्च नु.
केवलं व्यक्तिमेतीति यन्मोक्ष. प्रस्तुतादपि ॥
सूत्रकारोऽब्रवीन्नून तत्तत्प्राधान्यसिद्धये
मुक्तस्याज्ञानरूपत्वव्युदासाय च कस्यचित् ॥
सुखं केवलमत्रोक्त दुःखेनापृक्तमुत्तमं,
ज्ञानं प्रादेशिकैर्ज्ञानैर्दर्शनं दर्शनैस्तथा ॥
वीर्यं च देशवीर्येण दानाद्यैस्तद्विपर्यय
मोहस्यात्यन्तिकध्वंसात्सुखमात्यन्तिक भवेत् ॥
प्रशमात्मकमित्येतत्प्रतिक्षेपो न निर्वृतौ।
ज्ञान तथा विध शुद्ध ज्ञानावरणसंक्षयात् ॥
दर्शनावरणध्वंसाद्दर्शनं चेति तत्स्थिति,
वीर्यं च दानाद्यशेष स्वान्तरायक्षयादिति ॥
नाकिंचित्कर चैतन्यमात्र मुक्तावशक्तिक।

नन्विह दशमेऽध्याये कथं मोक्षस्य प्रस्तुतिरिति चेत् नवमाध्याये संवरस्य गुप्त्यादिसूत्रेण प्ररूपणात्। " तपसानिर्जरा च " ति सूत्रेण निर्जराया कथनात् " मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या परीषहा " इति चाविपाकनिर्जराप्रतिपत्तेः। " ततश्च निर्जरे'त्यनेन विपाकनिर्जरायाः प्रतिपादनात्। नन्वेतदपि निर्जराकारणकथन न स्वरूपवचनमिति चेत् न निर्जराशद्वनिरुक्त्यैवार्थाव्यभिचारिण्या निर्जरालक्षणस्याभिधानात् तदर्थ सूत्रान्तरानारम्भाभिप्रायात्। ततो मोक्षस्यैवेह प्रस्तुतिः। तस्यामपि केवलस्यैवोप-त्तिहेतुकथनं किमर्थमिति चेत् तस्य प्राधान्यसिद्धचर्थं मुक्तस्याज्ञानरूपव्यवच्छेदार्थं चेव सूत्रकारोऽब्रवीदिति नो निश्चय। द्विविध हि निःश्रेयसं परापरभेदात्। तत्र केवलोत्पत्ति-रपरामुक्तिः, कृत्स्न विप्रमोक्षः परा, यद्येव न्यायप्राप्तमेव प्रथमं अपरमोक्षस्य केवलोत्पाद-लक्षणस्य वचन तदनन्तर परमोक्षवचनात्। तथा च कथ केवलस्य प्राधान्यसिद्धचर्थं

तदभिधानमिति न चोद्यं केवलस्योत्पादस्यात्मलाभलक्षणत्वात् । आत्मलाभस्यान्तर्मलक्षय-हेतुकस्य मोक्षत्वव्यवस्थानान् जीवस्याज्ञानव्यवच्छेदात् सर्वथाप्यभावात् किंचित्करत्वव्यव-च्छेदवत् । तथाचोक्तम्—

आत्मलाभं विदुर्मोक्ष जीवस्यान्तर्मलक्षयात् ।।
नाभावं नाप्यचैतन्य न चैतन्यमनर्थकम् । इति

किं पुनः केवलमत्राभिप्रेतं ? निःशेष मोहक्षयादनंतप्रशमसुखं केवलं सांसारिक-सुखेन दुःखानुषक्तेन रहितत्वात्, ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च अनन्तं ज्ञानदर्शन वीर्य-मभयदानादि च केवलं, क्षायोपशमिकाज्ञानादिविविक्तत्वात् न चैतद्विरुद्ध नवानां केवल-लब्धीनामुपदेशात् । मोहादिप्रक्षयः कुतः सिद्ध ? इति चेदुच्यते,—

मोहादिप्रक्षयः सिद्ध परमः क्वचिदात्मनि ।।
प्रकृष्यमाणरूपत्वान्माणिक्यादौ मलादिवत् ।

ततः प्रोक्त केवलं सर्वार्थगोचरं, किंचिद्दर्शनं ज्ञान चेति । सूत्रे वृत्तिप्रसंगो लघ्वर्थमिति चेन्न, क्रमेण क्षयज्ञापनार्थत्वात् मोहादीनां तत्क्षयो हेतुः केवलोत्पत्तेरिति हेतुलक्षण विभक्तिनिर्देशः । एतदेवाह—

पूर्व मोहक्षयो ज्ञानावरणादित्रयक्षय
तदनन्तरमित्येतद्वृत्यनिर्देशतो मतं
घातिसघातनिर्घाता देव केवलमात्मनः,
स्वरूप मुख्यमुद्भूति स्तल्लब्धिर्मुक्तिरर्हतां ।।

इतश्च केवलस्य प्राधान्यमित्याह,—

तस्यां सत्यां मुमुक्षूणां मुक्तिमार्गोपदेशनात् ।
सिद्धयेदिति प्रधानत्वं केवलस्येति पूर्ववाक् ।।

कुत पुन मोहादीनां क्षय इति चेदुच्यते "सजीवस्यात्मविशुद्धि विशेषात् । असंयतसम्यग्दृष्टयादिगुणस्थाने वेदकसम्यक्त्व क्षायिकदर्शनचारित्रपरिणामविशेषात् क्रमशोऽशुभेतर कर्मप्रकृतिक्षपणनिबन्धनादित्यर्थ ।

इन वार्त्तिको और भाष्यका अर्थ यो है कि मोहके क्षयसे और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, तथा अन्तराय कर्मोके क्षयसे केवलज्ञान उपजता है । ऐसा सूत्रार्थ होनेपर

कोई आक्षेप करता है कि नौमे अध्यायमे सवर तत्त्वका निरूपण कर चुकनेपर उसके पश्चात् दशमे अध्यायमे अगिले निर्जरा पदार्थकाही निर्देश करना योग्य है। अवसर सगति अनुसार निरूपण योग्यताको धार रहा निर्जरा तत्त्वही प्रस्ताव प्राप्त है। अत दशमे अध्यायके आदिमे अव उस निर्जराका प्ररूपण करना ही समुचित है, किन्तु फिर केवलज्ञानकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करना सूत्रकारको युक्त नही है। यहा तक कोई प्रतिवादी कह रहा है। ग्रन्थकार कहते है कि यह उसका कहना प्रशसनीय नही है, असत्यार्थ है। कारण दशवे अध्यायमे मोक्षतत्त्वका कथन कर देनेसेही निजरा स्वरूपकी भले प्रकार प्रतीति हो जाती है। एकदेश होना निर्जरा है, और पूर्णरूपेण कर्मोका क्षय हो जाना मोक्ष है। जैसे कि कोई भी अवयवी प्रासादकी रचना उसके भीत, खम्भ, छत आदि अवयवोकी रचनापूर्वक होती है। उसी प्रकार निर्जराकी प्रतीति हो जानेमेही मोक्षका प्रतिपादन युक्तिपूर्ण सिद्ध हो जाता है। इसपर यदि आक्षेप कर्ता यो कहे कि तब तो इस अध्यायकी आदिमें मोक्षके प्रतिपादक सूत्रका ही प्रारम्भ करना चाहिये, केवलज्ञानको आदिमे क्यो कह बैठे ? इस प्रकार विक्षेप उठानेपर तो ग्रन्थकार करके इस अवसरपर समाधानार्थ अग्रिम वार्त्तिके कही जा रही है। उन वार्त्तिकोका अर्थ यह है कि अब दशमे अध्यायके प्रारम्भमे यह कहा जाना है कि मोहनीय कर्मका क्षय हो जानेसे तथा ज्ञानावरण आदि कर्मोका क्षय हो जानेसे आत्माका केवल (ज्ञान) प्रकट हो जाता है। जिस कारणसे कि केवलज्ञानका प्रकट हो जानाही जीवन्मोक्ष है। अत मोक्षका प्रस्ताव हो जानेमे भी सूत्रकार महाराज नियमसे केवलज्ञानको कह चुके है। तत उस केवलज्ञानकी प्रधानताको सिद्ध करनेके लिये यह रचना की गई है। केवलज्ञानीका मोक्ष हो जाना रोकनेपर भी नही रुक पाता है। अत केवलज्ञानकी उत्पत्ति प्रधान मानी गई है। दूसरी बात यह भी है कि किसी किसी वादीके यहा मोक्ष अवस्थामे ज्ञान नही माना गया है। वैशेषिकोने मोक्ष अवस्थामे बुद्धि आदि नौ गुणोका ध्वस हो जाना स्वीकार किया है। अत मोक्षप्राप्त जीवके ज्ञानरहित स्वरूप हो जानेका खण्डन करनेके लिये केवलज्ञानका आद्यमे प्रतिपादन करना आवश्यक पड गया है। ।। १-२ ।। का० " यहा सूत्रमे केवल पद दिया गया है। उसका केवलज्ञान अर्थ करना उपलक्षण है। साथही अनन्तसुख, दर्शन, वीर्य आदिका उपज जाना भी अभिप्रेत हो रहा है। केवल का अर्थ अन्योसे रीता होता है। जैसे कि कोई पण्डित केवल वैयाकरण है,

इसका तात्पर्य यही है कि वह न्यायशास्त्र, साहित्य, सिद्धान्त, ज्योतिष आदि शास्त्रोंके ज्ञानसे रहित हो रहा शुद्ध वैयाकरण मात्र है। इसी प्रकार केवल सुखका अर्थ यह है कि अर्हन्त अवस्थामें दु ख सर्वथा नही रहे। दु खके सम्पर्कसे रहित हो रहा उत्तम सुखही यहा केवलसुख कहा गया है। " तत्सुख यत्र नासुख " प्रदेश प्रदेश यानी स्वल्प विषयोमे होनेवाले क्षायोपशमिक ज्ञानोके ससर्गसे रहित हो रहा क्षायिकज्ञानही यहा केवलज्ञान अभीष्ट है। तिसी प्रकार एकदेशी क्षायोपशपिक दर्शनोसे रहित हो रहा क्षायिक दर्शन ही यहा दर्शन माना गया है ।। ३ ।। का० ।। वीर्य भी छोटी छोटी स्वल्प सासारिक शक्तियोसे पृथग्भूल हो रहा अनन्तवीर्य यहा केवलवीर्य प्रतिपादित किया गया है। एव उस अनन्तदान, लाभ आदिसे विपरीत हो रहे ससारी जीवोके अल्पदान, स्तोकलाभ, अदान आदि भावोसे असलग्न हो रहे क्षायिकदान, क्षायिकलाभ आदि भी सूत्रोक्त केवल-पद करके कहे गये है। यो चार कर्मोके क्षय हो जानेसे अनन्त चतुष्टयोका होना निरूपित किया गया है। अन्तका अतिक्रमण कर रहे अनन्तकाल तकके लिये मोहकर्मका ध्वस हो जानेसे जीवन मुक्तको आत्यन्तिक अनन्तानन्त सुख हो जावेगा। यह सुख परमशान्ति स्वरूप है। वैशेषिक या नैयायिक कुछ भी माने किन्तु जैन सिद्धान्त अनुसार मोक्ष अवस्थामें इस अनन्तानन्त प्रशमसुखका निराकरण नही है तथा ज्ञानावरणका अतीव क्षय हो जानेसे तिसी प्रकार अनन्तानन्त शुद्ध क्षायिकज्ञान भी मोक्ष अवस्थामे विद्यमान है। निराकरणीय नही है।' ४-५ का० ।। एव दर्शनावरण कर्मका प्रध्वस हो जानेसे अनन्तानन्त क्षायिक महासत्तालोचनात्मक दर्शन भी व्यक्त हो जाता है। अपने अपने क्षायिकदान, क्षायिकलाभ आदिके प्रतिपक्षी हो रहे दानान्तराय, लाभान्त-राय आदि सम्पूर्ण अन्तराय कर्मोके क्षयसे अनन्तज्ञान, अनन्तानन्तवीर्य, आदिकी भी मोक्ष अवस्थामें स्थिति प्रसिद्ध है। इस प्रकार मोक्षमे चैतन्य, सुख, दर्शन, वीर्य, दान आदि अनेक शुद्ध परिणतियोकी व्यवस्था हो रही है। जो साख्यमतानुयायी मोक्ष अव-स्थामे केवल चैतन्यही मानते है! अथवा ज्ञानाद्वैतवादी या ब्रम्हाद्वैतवादी अकेले ज्ञान या चित्सत्ताको मान बैठे है। ऐसा मुक्तिमे शक्ति (वीर्य) दान आदिसे रहित हो रहा केवल कुछ भी नही कर सकनेवाला चैतन्यही नही व्यवस्थित है। अर्थात् ज्ञानावरण, लाभान्तराय, भोगान्तराय आदिका क्षयोपशम हो जानेपर भी यदि वीर्यान्तरायका क्षयोपशम नही है। तो वे सब व्यर्थ (फेल) है। निर्बल, अशक्त या सरोग अवस्थामे

पण्डितो, धनाढ्योके ज्ञान, भोग, उपभोग कुछ भी नही होने पाते है। अत अनेक गुणोकी स्फूर्ति होनेमे वीर्यगुणका स्फुरायमाण होना अनिवार्य आवश्यक है । जिस दार्शनिकने मोक्ष अवस्थामे वीर्यगुणसे रहित हो रहा केवल चैतन्यमान रक्खा है । वह कोरा चैतन्य अकिंचित्कर है, जडताके समान है । शारीरिक अगोके समान अनेक गुण परस्परापेक्ष होकरही स्वकीय सत्ताको स्थिर किये हुये है। धडके विना अकेला मस्तक मर जायगा, मस्तकके विना धड सी जीवित नही रह सकता है। तद्वत् चैतन्यकी स्थिति अनन्तवीर्यके साथ अवलम्बिन है ।। ६॥० ॥ "शक्तिर्यस्य बल तस्य" यो वार्त्तिको द्वारा अनेक विप्रतिपत्तियोका निराकरण हो चुकनेपर पुन कोई आक्षेपकर्ता शका उठा रहा है कि यहा दशमें अध्यायमे सातवे मोक्ष तत्त्वके निरूपणका प्रस्ताव किस प्रकार समझा गया ? बताओ । ऐंसा आक्षेप प्रवर्तनपर तो हम ग्रन्थकार समाधान करते है कि नौवे अध्यायमे " सगुप्तिसमिति " इत्यादि सूत्र करके सवरतत्त्वकी प्ररूपणा की जा चुकी है । वहा ही "तपसा निर्जराच" इस सूत्र करके छठे निर्जरा तत्त्वका भी कथन हो चुका है । तथा " मार्गाच्यिवननिर्जरार्थ परिपोढव्या परीपहा " इस सूत्र करकें अविपाक निर्जराकी प्रतिपत्ति कराई जा चुकी है । " ततश्च निर्जरा " इस आठवे अध्यायके सूत्र करके सविपाक निर्जराका भी प्रतिपादन कर दिया गया है। अतः छहो तत्त्वाका व्याख्यान हो चुकनेपर परिशेप न्यायसे इस दशवे अध्यायमे मोक्षका निरूपण करना न्याय प्राप्त है । यदि यहा कोई यो शका उठावे कि यह तीन सूत्रो द्वारा निर्जराका प्रतिपादन भी निर्जराके कारणोका कथन है ' इनमें निर्जराका सिद्धान्तलक्षण नही कहा गया है । अत' निर्जराका सूत्रकारको कण्ठोक्त लक्षण यहा करना चाहिये । यो कहनेपर तो ग्रन्थकार कहते है कि यह नही कहना क्योकि निर्जरा शद्बकी व्यभिचार दोषसे रहित हो रही " निर्जीर्यते यया सा निर्जरा " इस निरुक्ति करकेही निर्जराके लक्षणका कथन हो जाता है। अत उस निर्जरा स्वरूपके लियें अन्य सूत्रके आरम्भ करनेमे सूत्रकारका अभिप्राय नही है । शद्ब निरुक्ति करकेही यदि पदका यौगिक अर्थ निकल पडता है । तो उनके पारिभाषिक लक्षण सूत्रको बनानेकी आवश्यकता नही रह जाती है । जैसे कि ज्ञान चारित्र, क्षायिक, ईर्या, ज्ञानावरण आदिक पद है । हा, जिन शद्बोका योगिक अर्थ सूत्रकारको अभीप्ट नही हें । उन सम्यग्दर्शन उपयोग, गुप्ति, परीपह आदि शद्बोकी निरुक्ति कर देनेसे इप्ट अर्थका व्यभिचार हो जाता है। अत उनका लक्षण

स्वतन्त्र सूत्रो द्वारा कहा ही है। तिस कारण निर्जराका व्याख्यान हो चुकनेपर यहा दशमे अध्यायमे मोक्षतत्त्वका ही प्रस्ताव प्राप्त है। ऐसा समझ लेनेपर शिष्य पूछता है कि अच्छी बात है। उस मोक्षका प्रस्ताव प्राप्त होनेपर मोक्षकी प्रतिपत्ति करानेवाला सूत्र कहना चाहिये था। अप्रकृत केवलकी ही उत्पत्तिके हेतुका कथन भला किसलिये किया जा रहा है ? बताओ। यो भलमनुषाई का प्रश्न उतरनेपर तो ग्रन्थकार समाधान करते है कि उस केवल (ज्ञान) की प्रधानताको सिद्ध करनेके लिये तथा मोक्षप्राप्त जीवके अज्ञान स्वरूप हो जानेका निराकरण करनेके लियें सूत्रकार इस दशम अध्यायके प्रथम सूत्रको कह चुके है, ऐसा हमारा निश्चय यह है कि नि श्रेयस यानी मोक्ष होना परनि श्रेयस और अपर नि श्रेयस भेदसे दो प्रकार है। उनमे केवलज्ञान, अनन्तदर्शन आदिकी उत्पत्ति हो जाना तो अपरमोक्ष है। जो कि तेरहवे, चौदहवे गुणस्थानमे हो रही जीवनमुक्ति कही जाती है। हा, सम्पूर्ण आठो कर्मोका अनन्तकाल तकके लिये नि शेष रूपेण छूट जाना परमुक्ति है जो कि सिद्ध अवस्थामे प्राप्त हो जाती है। इस समाधानपर शकाकार पुन आक्षेप उठाता है कि यदि इस प्रकार है। " कि केवलज्ञानका उपज जाना अपरनि श्रेयस है। " तब तो केवलज्ञान सुखादिकी उत्पत्ति हो जाना स्वरूप अपर मोक्षका पहिले कथन करना न्याय मार्गद्वारा प्राप्त हुआ, उस अपरनि श्रेयसके अव्यवहित पश्चात् परमोक्षका कथन करना ठीक है और तैसा सुव्यवस्थित हो जानेपर ग्रन्थकारने केवलकी प्रधानताको सिद्ध करनेके लिये उस प्रथम सूत्रको कहा है। यह समाधान करना किस प्रकार ठीक कहा जा सकता है ? बताओ यही सीधा उत्तर अच्छा था कि मोक्षका प्रस्ताव प्राप्त हो रहा है। प्रथम सूत्र द्वारा अपरमोक्षका प्रतिपादन है, और दूसरे सूत्र करके परमुक्ति कही जा रही है। अब ग्रन्थकार कहते है कि यह चोद्य उठाना उचित नही है। क्योकि केवलज्ञान आदिका उत्पाद हो जाना आत्मलाभ स्वरूप है। अत अन्तरग घातिकर्म स्वरूप मलोके क्षयको हेतु मानकर उपजे आत्मलाभको ही मोक्षपनकी व्यवस्था दी गई है। ऐसा नियत कर देनेसे मोक्षमे जीवके अज्ञान स्वरूप (ज्ञानरहित) हो जानेका परिहार हो जाता है। जैसे कि मोक्ष अवस्थामे सभी प्रकारोसे अभाव हो जाने और कुछ भी नही कर सकनेका व्यवच्छेद कर दिया जाता है । अर्थात् बौद्धोने मोक्ष अवस्थाको सर्वथा अभावरूप मान रक्खा है। जैसे कि दीपक बुझ जाता है। कुछ भी शेष नही रहता है, तथा वैशेषिकोंके

यहा मुक्तात्मा कुछ भी नही करनेवाला अकिचित्कर माना गया है। अद्वैतवादियोके यहा छोटी सत्ताका अभाव होकर बडी सत्तामे मिल जाना मोक्ष कहा है। किन्तु जिनागममे अनन्तज्ञान, और सुख, वीर्य, चारित्र आदिको पुरुषार्थो द्वारा भोगनेवाला मुक्तात्मा अभीष्ट किया है। यहा, लौकिक खाना, पीना, सोना आदि क्रियाओको मुक्तात्मा नही करता हैं। बात यह है कि कर्मोदय–जन्य खाने, पीने आदि क्रियाओमे इतना पुरुषार्थ नही किया जाता है। जितना कि मुक्तात्माको यथा प्राप्त स्वकीय सुख, ज्ञान, वीर्य, चारित्र आदिका उपभोग करने या स्वरूपनिष्ठ होनेमे प्रयत्न करना पड़ता है। विद्यार्थीको अपनी ग्रन्थोक्त प्रमेयोकी स्मृतियोको धारे रहनेमे भारी पुरुपार्थ लगाना पडता है। तभी वह उत्तीर्ण हो पाता है। अनेक सकल्प, विकल्पोमे पडे हुये और कर्मो द्वारा सताये गये ससारी जीव अपने स्तोकज्ञान, दर्शन, आत्मनिष्ठा, उत्साह, स्वल्प स्वतन्त्रता आदिका भी उपभोग नही कर पाते हैं। इस त्रैराशिक द्वारा मुक्तोके अनन्तज्ञान आदिका अनुभव न करनेमे किये जा रहे पुरुपार्थका अनुमान कुछ कुछ लगाया जा सकता है। आचार्य इसी बातको कह रहे है कि जीवके सर्वथा अभाव तथा अकिंचित्करपनका व्यवच्छेद हो जानेके समान आदि सूत्र द्वारा अज्ञान स्वभावका व्यवच्छेद कर दिया जाता है। और तिसी प्रकार पूर्वाचार्यप्रणीत अन्य ग्रन्थोमें कहा जा चुका भी है कि जीवके अन्तरग द्रव्य भाव मलोका क्षय हो जानेसे स्वात्मलाभ हो जानेको ही गणधरदेव मोक्ष मानते हैं। जीवका अभाव हो जाना मोक्ष नही है, जीवका अचेतन हो जाना भी मोक्ष नही है। तथा व्यर्थ अकिञ्चित्कर कूटस्थ चैतन्य मात्र हो जाना भी मोक्ष स्वरूप नही है। अर्थात् इन तीनो अवस्थाओमें निजात्मस्वरूपका लाभ नही हो पाया है। प्रत्युत अपनी गाठकी छोटी मोटी सम्पत्ति ही खोई जा चुकी है। इस प्रकार प्रथम सूत्रसे आत्मलाभ और द्वितीय सूत्रसे कारणो द्वारा प्रतिवन्धकोका दूर हो जाना मोक्षका स्वरूप कहा गया है। यहा कोई प्रश्न उठाता है कि यहा प्रथम सूत्रमे कहे गये केवलपदका फिर क्या अर्थ लिया गया है ? वताओ। इसके समाधानार्थ पूर्वकारिकाओमे कहे गये अर्थकाही आचार्य महाराज विवरण करते है कि शेपरहित सम्पूर्ण मोहनीय कर्मका क्षय हो जानेसे उत्पन्न हुआ। प्रशान्तिस्वरूप अनन्तसुख यहा केवलपदका वाच्यार्थ है। जो कि मुख कर्मजन्य दु खोसे वहुभाग मिल रहे सासारिक सुखसे रहित है। तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोके क्षयसे उपजा

विवरण करते हुये ग्रन्थकारने अष्टसहस्रीमे अच्छा विवेचन किया है । यहा ग्रन्थकार उपसहार करते है कि तिस कारण सम्पूर्ण अर्थोंको विषय कर रहे कोई क्षायिक दर्शन और ज्ञान आदि भी केवल है । यह वहुत वढिया प्रथम सूत्रमे कहा जा चुका है । अव यहा दूसरे प्रकारकी शका उठाई जाती है । जैसे कि राजवार्त्तिकमें की गई है कि यहा प्रथम सूत्रमे लाघव करनेके लिये सूत्रमे समासवृत्ति कर देनेका प्रसग प्राप्त है । ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि क्रमसे मोह आदि कर्मोके क्षय हो जानेकी ज्ञप्ति करानेके लिये पहिले पदका द्वन्द्वसमास नही किया गया है । अन्तर्मुहूर्त पहिले उस मोहका क्षय हो जाना केवलकी उत्पत्तिका हेतु है इसी कारण मोहक्षयात् पदका हेतु-स्वरूपको कहनेवाली पञ्चमी विभक्ति द्वारा कथन किया गया है । इसही रहस्यको ग्रन्थकार अग्रिम दो वार्त्तिकोमे कह रहे है कि “ पूर्वही वारहवे गुणस्थानकी आदिमे चारित्र मोहनीय कर्मका क्षय हो जाता है, उसके अन्तर्मुहूर्तका पश्चात् तेरहवे गुणस्था-नकी आदिमे ज्ञानावरणादि तीनो कर्मोका क्षय हो जाता है । यह तत्त्वसमासवृत्तिपूर्वक कथन नही करनेसे सूत्रकारका मन्तव्य है यो प्रतीत हो जाता है ॥ ९ ॥ इस प्रकार घातिकर्मोके समुदायका समूल घात हो जानेसे आत्माके केवल उपजता है । उन क्षायिक भावोका प्रकट हो जानाही आत्माका मुख्य स्वरूप है । अरहन्त परमेष्ठियोके उस स्वरूपकी लब्धि हो जाना ही मोक्ष है । अरहन्तदेवके अनुयायी दार्शनिक स्वरूपलाभ हो जानेको मोक्ष स्वीकार करते है ॥ १० ॥ ग्रन्थकारको केवलकी प्रधानता अभीष्ट है । उसका समर्थन किया जा चुका है, फिर भी कुछ अस्वरस रह गया दीखता है । अत ग्रन्थकार उस बातको सिद्ध करनेके लिये सर्वोत्कृष्ट हेतु दे रहे है कि इस हेतुसे भी सूत्रोक्त केवलकी प्रधानता पुष्ट होती है । इसको अग्रिम वार्त्तिक द्वारा ग्रन्थकार कहते है कि उस केवलकी उत्पत्ति होते सन्तेही मोक्षाभिलाषी जीवोको मुक्तिके मार्गका उपदेश प्राप्त होता है । अत केवलकी प्रधानता भले प्रकार सिद्ध हो वैठेगी इसही कारण सूत्रकारने दशमे अध्यायके पूर्वमे केवलकी उत्पत्ति हो जानेका वचन कहा है । ॥ ११ ॥ अब यहा किसीका प्रश्न उठता है कि फिर यह बताओ कि मोहादिकोका क्षय भला किस कारणसे हो जाता है । इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तनपर तो ग्रन्थकार द्वारा यो समाधान कहा जाता है कि वह कर्मोका क्षय तो जीवकी विशेष आत्मविशुद्धिसे हो जाता है । शुद्ध प्रणिधानोसे कर्मोका क्षय हुआ करता है । चौथे असयतसम्यग्दृष्टि आदि

गुणस्थानोंमे उपशमसम्यक्त्वके पीछे वेदकसम्यक्त्व और क्षायिकसम्यग्दर्शन तथा चारित्र सवन्धी परिणाम विशेषोसे कर्मोका क्षय कर दिया जाता है । जो कि उपयोग द्वारा लगाये गये विशुद्ध परिणाम क्रम क्रमसे अशुभ और शुभ कर्म प्रकृतियोंकी क्षपणा करनेमे समर्थ कारण हो रहे है । यहां तक इस सूत्रके अर्थका स्पष्टीकरण कर दिया गया है ।

अथ केवलज्ञानोत्पत्तिं प्रवितर्क्येदानीं पूर्वोदितनिर्जरानिदानानां सन्निधाने मोक्षकारणं मोक्षस्वरूपं च व्याचष्टे ।

अब इसके अनन्तर केवलज्ञानकी उत्पत्तिकी बढिया वितर्कणा कर इस समय पहिले कह दिये गये । निर्जराके कारणोकी सन्निकटता हो जानेपर सूत्रकार महाराज मोक्षके कारण और मोक्षके स्वरूपका अग्रिम सूत्र द्वारा व्याख्यान करते है । मुद्रित पुस्तकमे इस सूत्रका अवतरण यों है कि–कस्माद्धेतोर्मोक्ष. किं लक्षणश्चेत्यत्रोच्यते–किस कारणसे मोक्ष होती है ? और उस मोक्षका लक्षण क्या है ? यहां ऐसी जिज्ञासा उत्थित होनेपर सूत्रकार आचार्य करके अग्रिम सूत्र कहा जाता है ।

बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥

कर्मबन्धके हेतु हो रहे मिथ्यादर्शनादिको या आस्रवका अभाव हो जाना स्वरूप सवर और एकदेश कर्मक्षय करनेवाली निर्जरा इव दो आत्मीय परिणामो करके सम्पूर्ण कर्मोका अनन्तानन्त कालके लिये प्रकर्षरूपेण छूट जाना मोक्ष है ।

बधस्य हेतवो मिथ्यादर्शना विरतिप्रमादकषाययोगास्तेषामभावो नूतनकर्मणामप्रवेशो बन्धहेत्वभावः । पूर्वोपार्जितकर्मणामेकदेशक्षयो निर्जरा । बन्धहेत्वभावश्च निर्जरा च बन्धहेत्वभावनिर्जरे । तभ्यां बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां द्वाभ्यां कारणाभ्यां कृत्वा कृत्स्नानां विश्वेषां कर्मणां विशिष्टमन्यजनासाधारणं प्रकृष्टमेकदेशकर्मक्षयनामनिर्जरायां तु उत्कृष्टमात्यन्तिक मोक्षणं मोक्षः । कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष उच्यते । एतेन पूर्वपदेन मोक्षस्य हेतुरुक्तो, द्वितीयपदेन मोक्षस्वरूपं प्रतिपादितमिति वेदितव्यम् ।

वन्धके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग है । उनका अभाव हो जाना अर्थात् नवीन कर्मोका प्रवेश नही होना ही बन्धहेत्वभाव है । पहिले समयोंमें उपार्जित किये गये संचित कर्मोका एकदेशरूपेण क्षय कर देना निर्जरा है ।

बन्धहेत्वभाव और निर्जरा इन दो पदोका इतरेतर नामक द्वन्द्व समास कर " बन्ध-हेत्वभाव निर्जरे " ऐसा पद बना लिया जाता है । तृतीया या पञ्चमी विभक्तिके द्विवचन अनुसार ताभ्यां कर देनेपर " बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्या " पद बन जाता है । इन दोनो कारणो करके कृत्स्न यानी सम्पूर्ण कर्मोका वि यानी विशिष्ट जो कि अन्य मनुष्योसे असाधारण होय ऐसा प्र यानी प्रकृष्ट हो रहा जो एक देश कर्मोका क्षय हो जाना नामक निर्जरा करके उत्कृष्ट आत्यन्तिक यानी अनन्तानन्त कालतकके लिये छूट जाना मोक्ष है । यो " कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष. " इस लक्षणवाक्यके एक एक पदका अर्थ कह दिया गया है । इस सूत्रके " बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्या " इस पूर्व पद करके तो मोक्षके हेतुका निरूपण किया गया है । जो कि सवर और निर्जरा है । तथा दूसरे " कृत्स्नकर्मविप्रमोक्ष " इस पद करके मोक्षके स्वरूपकी प्रतिपत्ति दरसाई गई है । यो समझ लेना चाहिये ।

नन्वत्र सप्तसु तत्त्वेषु षट्तत्त्वस्वरूपं प्रोक्तं, निर्जरास्वरूपं नोक्तं । सत्य सर्वकर्मणां हरणान्मोक्षः ।

यहा कोई शका उठा रहा है कि इस तत्त्वार्थशास्त्र ग्रन्थमे सात तत्त्वोमेसे जीव, अजीव, आस्रव बन्ध, सवर और मोक्ष इन छह तत्त्वोका स्वरूप बहुत अच्छा कहा जा चुका है । किन्तु छठे निर्जरातत्त्वका स्वरूप नही कहा गया है, इसका क्या कारण है ? आचार्य कहते हैं कि यह प्रश्नकर्ताका कथन सत्य है । " यावदुत्तर न वदामि तावत्सत्यम् " जबतक हम समाधानार्थ उत्तर नही कह देते है । तबतक शकाकार ठीक कह रहा है, श्रोताओपर उसका प्रभाव पड सकता है । अब समझो, बात यह है कि सम्पूर्ण कर्मोका विनाश हो जानेसे मोक्ष होता है । कर्मोका क्षय युगपत हो नही सकता है । सचित कर्मोका क्षय क्रमसे ही होगा । अत विना कहे ही अर्थापत्ति प्रमाणकी सामर्थ्यसे निर्जरातत्त्वका स्वरूप जान लिया जाता है । भावार्थ–जो छात्र यहातक तत्त्वार्थ शास्त्रका अध्ययन कर चुका है । उसको अनेक अवक्तव्य या अनुक्त प्रमेयोकी प्रतिपत्ति भी हो जानेकी योग्यता है । गुरुजी महाराज सभी भावार्थोको अपने मुखसेही कहते फिरे तो शिष्योकी बुद्धि विशुद्ध नही हो पाती है । रसाढयव्यञ्जनोको कितना भी भाजनोमे पकाकर निष्पन्न कर दिया जाय फिर भी मुखमें लार मिलाने और स्वाद आनेके लिये दान्तोसे चवाये जानेका कार्य शेष रखना पडता है । अत नही कहे गये ।

अथवा " ततश्च निर्जरा " और तपसा निर्जरा च, यों सकेतमात्र कह दिये गये निर्जरातत्त्वको अनभिधायक उच्चार्यमाण शब्दोकी सामर्थ्यसेही समझ लिया जाय। इसी तत्वको ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा कह रहे है।

सर्वकर्मक्षयो मोक्षो यदि प्रोक्तस्ततस्तथा।
सामर्थ्यादेव ज्ञायेत कर्मणां निर्जरा मता॥ १॥

सूत्रकार महाराजने यदि " सम्पूर्ण कर्मोका क्षय हो जाना मोक्ष है। " यह वढिया सूत्रमे कह दिया है। तब तो उन्ही पदोमे तिस प्रकार कहे विना सामर्थ्यसेही यह बात जान ली जाती है कि मध्यमे कर्मोकी निर्जरा होना मान लिया गया है। भावार्थ-- निर्जरापूर्वक ही मोक्ष होती है, क्रम क्रमसेही नदी सूखती है, बालक क्रम अनुसार युवा होता है। महान् अगाध, ग्रन्थोकी व्युत्पत्तिका लाभ कालक्रमसेही होता है। इसी प्रकार कर्मोका क्षय भी क्रमसे निर्जरा होते सन्तेही हो पाता है। अत निर्जराका स्वरूप अभिहित शब्दो द्वारा ही गम्यमान है। गम्यमानको पुन कण्ठोक्त शब्दो द्वारा कह देनेपर " पुनरुक्त दोष " लग जानेकी सम्भावना है।

यदैकदेशेन कर्मक्षयो निर्जरा तेन पृथक् सूत्रं निर्जरालक्षणप्रतिपादकं न विहितमिति वेदितव्य।

जब कि एकदेश करके कर्मोका क्षय होना निर्जरा है। जब कभी कर्मोका क्षय होगा तब एक एक अश करकेही होगा, तिस कारण निर्जराके लक्षणकी प्रतिपत्ति करादेनेवाला पृथक् सूत्र सूत्रकार महोदयने नही किया है। यह पूर्वोक्त शकाका समाधान समझ लेना चाहिये।

कर्मक्षयो द्विप्रकारो भवति प्रयत्नाप्रयत्नसाध्यविकल्पात्तत्राप्रयत्नसाध्यश्चरमोत्तमशरीरस्य नारकतिर्यग्देवायुषां भवति। प्रयत्नसाध्यस्तु कर्म्मक्षयः कथ्यते।

चलाकर प्रयत्नसे साध्य किया जाय और विनाही प्रयत्नके साध्य हो जाय। यो इन दो विकल्पोसे कर्मोका क्षय हो जाना दो प्रकार होता है। उन दो भेदोमे दूसरा विनाही प्रयत्नके साध्य हो जाय ऐसा कर्म क्षय तो तद्भवमोक्षगामी उत्तम चरमशरीरवाले जीवके नरकआयु, तिर्यञ्चआयु, और देवआयु, इन तीन कर्मोका हो जाता है। क्योकि चरमशरीरी जीवके परभवकी आयु का वन्ध ही नही होता है।

भावार्थ--यदि देवआयुका बन्ध हो जाता तो मरकर उनको देवगतिमे जाना पडता, जब कि उनका उसी भवमें मोक्ष हो जाना अनिवार्य है। तथा नरक आयु, और तिर्यक् आयुका उनको यदि बन्ध हो गया होता तो वे चरम शरीरी जीव नही होते हुवे वे अणुव्रत या महाव्रतोको ही धारण नही कर पाते। क्योकि " चत्तारि वि खेत्ताइं आउग बन्धेण होइ सम्मत्त अणुवय महव्व आइ ण लहइ देवाउग मोत्तु "अत उसी मनुष्य पर्यायमे मोक्षको प्राप्त करनेवाले जीवके चार आयु, कर्मोमें केवल भुज्यमान मनुष्य आयुष्य कर्मका सद्भाव है। इतर तीन आयुओका विना यत्न किये ही क्षय हो चुका समझो। हा, प्रथमोक्त प्रयत्नोसे साध्य हो रहा कर्मोका क्षय तो अब यथाम्नाय कहा जा रहा है। सम्पूर्ण कर्मप्रकृतिया एकसौ अडतालीस (१४८) है। उनमे तीन आयुओका तो यत्न किये विना ही क्षय हो जाना कहा जा चुका है। शेष एकसौ पैतालीस प्रकृतियोका क्षय करनेके लिये मुमुक्षु पुरुषार्थी जीवको महान् प्रयत्न करना पडता है। ससारी जीवोके अनेक प्रकार पुरुषार्थ होते है। खाये हुये को पचाना लडका, लडकी उत्पन्न करना उनको पालना, पढाना, पावोसे चलकर देशान्तरको जाना, पूजन करना, सामायिक करना, स्वाध्याय, ध्यान करना इत्यादिक सम्पूर्ण क्रियायें पुरुषार्थ है। औषधिकी सहायता पाकर अनेक रोगोको स्वकीय ज्ञात, अज्ञात पुरुषार्थों द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। छोटी फुसिया, हलका श्लेष्म, स्वल्प सुईका चुभ जाना आदिक पचासों लघु रोगोंका विना औषधिके ही स्वकीय आरोग्यवर्धक अस्वसविदित पुरुषार्थ द्वारा विनाश कर दिया जाता है। बहुभाग बडे रोगोमे भी औषधि मात्र आश्वासन करा देती है। कुछ कुपित बात, पित्त, कफ, सम्बन्धी दूषित पुद्गलका निवारण भी कर देती है। किन्तु आरोग्य, स्वाथ्य, बलबृद्धि तो शारीरिक प्रकृति अनुसार निज पुरुषार्थ द्वाराही प्राप्त होते है। घोडा को जब थकान हो जाती है। तब वह लेट लाटकर स्वकीय पुरुषार्थसे मार्गखेदको मिटा देता है। अनेक मनुष्य दिनमे कार्य करके थक जाते है। रातको सो जानेपर शारीरिक प्रकृतिके बलसे बुद्धिपूर्वक या पुरुषार्थों द्वारा उस थकानको दूर कर दिया जाता है। " स्वजीविते काम सुखे च तृष्णया, दिवाश्रमार्ता निशिशेरते प्रजा। त्वमार्य नक्तदिवमप्रमत्त वा नजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि " ("बृहत् स्वयभूस्तोत्र") यो एकेंद्रियसे लगाकर पञ्चेन्द्रियपर्यन्त अनन्तानन्त जीवोके वुद्धिपूर्वक, अबुद्धिपूर्वक, इच्छापूर्वक, अनिच्छापूर्वक, विचारपूर्वक, अविचारपूर्वक अनेक पुरुषार्थ होते रहते है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थके भेद हैं। हगना, मूतना, जम्हाई लेना, छीकना ये भी पुरुषार्थ हैं। ऐसे पुरुषार्थोंसे लौकिक कार्य सम्पादित होते हैं। साधारण रूपेण सभी जीवोमे पाये जा रहे खाना, पीना, सो जाना, उच्चारण करना, चलना आदि पुरुषार्थोंसे न तो कर्मका क्षय होता है। और न ऐसे कार्योको करनेसे कोई प्रमाणपत्र मिलता है। हा, मोक्षके साधनभूत पुरुषार्थोंका सपादन करनेसे महती प्रतिष्ठा और अविनश्वर सुखसपत्ति प्राप्त होती है। लौकिक पुरुषार्थोंसे असख्यातगुणा पुरुषार्थ अलौकिक कार्योंमे करना पडता है। हसने, रोने, व्यायाम करने, नाचने, घोडा बैल हाकने, पाव दावने, गाडी खेचने, कुस्ती लडने आदि कार्योंमे जो ईषत् अगण्य पुरुषार्थ होता है उससे असख्यातगुणा पुरुषार्थ मन, काय द्वारा देवदर्शन, देवार्चन, मुनिदान आदि शुभक्रियाओके अनुष्ठानमे किया जाना है। सामायिक करने और शुभध्यान लगानेंमे तो अपरिमित पुरुषार्थ सयमीको करना पडता है। यदि कोई इन्द्र शारीरिक वलसे जम्बूद्वीपको उठा लेवे उस प्रयत्नसे' उपशमश्रेणी, क्षपकश्रेणीवालोका बुद्धिपूर्वक पुरुपार्थ कही अनन्तगुणा तोलमे समझा जायगा। सच पूछो तो पशुवल या शारीरिक वलसे आत्मीय पुरुपार्थ बलोके लिये गुणकारका मिलनाही असभव है। शून्यसे एक अक्षरको कितना गुना कहा जा सकता है? जो कोई सख्या गुणाकारके लिये नियत की जायगी, अल्पीयसी पडेगी इस रहस्यको पहिले भी कहा जा चुका है। नि.संशय अव-धारण करनेके लिये पुनरुक्त किया गया है। वात यह है कि सातिशयमिथ्यादृष्टिसे प्रारम्भकर चौदहवें गुणस्थानतक जीवोके वडे भारी प्रयत्नपूर्वक पुरुपार्थ हो रहे हैं। समाधिमरण कर रहा, श्रावक या मुनि तथा भावनाओको भाव रहा धर्मात्मा अथवा उत्तमक्षमा आदिक धर्मोंको धार रहा, व्रतोको पाल रहा, इन्द्रियोका निग्रह कर रहा, परीषहोको जीत रहा, कषायोंपर विजय पा रहा, अभक्ष्योंको त्याग कर रहा, अहिसा, ब्रम्हचर्य आदिमे तन्मय हो रहा, मन, वचन, कायका गोपन कर रहा मुमुक्षु जीव वडा भारी पुरुषार्थी है। एक रटे हुये व्याख्यानको झाड देनेवाले पण्डितसे सिद्धान्त या न्यायकी कठिन पक्तिको चुपके होकर लगा रहा विद्वान् अत्यधिक पुरुपार्थी है। अलमे-तत् प्रसगिन्या कथया।

चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, सप्तमेषु गुणस्थानेषु मध्येऽन्यतम गुणस्थानेऽनन्तानुवन्धि-कषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वप्रकृतित्रयस्य च क्षयो विधीयते, अनिवृत्तिवादरसांपरायगुण-स्थानस्य नव भागाः क्रियन्ते तत्र प्रथमभागे निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि,

नरकगति, तिर्यग्गति, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य आतपोद्योत स्थावर सूक्ष्म, साधारणाभिधानकानां षोडशानां कर्मप्रकृतिनां प्रक्षयो भवति । द्वितीयभागमध्ये कषायाष्टक नष्ट विधीयते, तृतीयभागे नपुंसकवेदच्छेदः क्रियते । चतुर्थभागे स्त्रीवेदविनाश सृज्यते,पञ्चमे भागे नोकषाय षट्कं प्रध्वन्स्यते, षष्ठे भागे पुंवेदानां पुंवेदाभावो रच्यते, सप्तमे भागे सज्वलनक्रोधविध्वन्सः कल्प्यते । अष्टमे भागे संज्वलनमानविनाशः प्रणीयते, नवमे भागे संज्वलनमायाक्षयः क्रियते । लोभसज्वलनं दशमगुणस्थानप्रान्ते विनाशं गच्छति । निद्राप्रचले द्वादशगुणस्थानस्योपात्यसमये विनश्येते पच ज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिकेवल दर्शनावरणचतुष्टयपञ्चान्तरायाणां तदन्त्यसमये क्षयो भवति ।

अर्थात् ससारी जीव जीनासे उतरने, चढने, पानीमे तैरने, साइकिल चलाने, दण्ड बैठक करने आदि प्रयत्नोकोही पुरुषार्थ समझ रहा है। सामायिक, ध्यान आदिमें किये जा रहे वुद्धिपूर्वक पुरुपार्थोका कभी परिचय नही हो पाया है। " न हि बन्ध्या विजानाति गुर्वी प्रसववेदना " बन्ध्या स्त्री पुत्रप्रसवकी भारी सुखदु.ख वेदनाका अनुभव नही कर पाती है। शास्त्रीय, आचार्य परीक्षा की उत्तीर्णताप्रयोजनको साधनेवाले शास्त्ररहस्य चिन्तनके पुरुपार्थोका सवेदन एक लट्ठ किसान क्या कर सकता है ?। अनादि कालीन मिथ्यादृष्टि जीवको सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें महान् अत्यधिक प्रयत्न करना पडता है। क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाना तो सामग्री मिलनेपर घोर पुरुषार्थका कार्य है। चौथें, पाचवे, छठे या सातवे गुणस्थानोके मध्यमेंसे किसी भी एक गुणस्थानमे अनन्तानुबन्धी कषायोके क्रोध, मान, माया, लोभ चारो पौद्गलिक कर्मोंका तथा मिथ्यात्व, सम्यड्मिथात्व, और सम्यक्त्व इन तीनो प्रकृतियोका यत्न द्वारा क्षय कर दिया जाता है। इस घोर प्रयत्नसाध्य कार्यमे श्रान्त हो चुके आत्माको दो बार विश्राम लेना पडता है। ऐसा गोम्मटसारकी सस्कृत टीकामे निरूपित है। ग्रन्थकार कह रहे हैं कि अनिवृत्ति सापराय नामक गुणस्थानके नौ भाग किये जाते है। उनमेसे पहिले भागमे निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति, तिर्यग्गति, एकेन्द्रियजाति, द्विइन्द्रियजाति, त्रिइन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, नामक सोलह कर्म प्रकृतियोका प्रक्षय हो जाता है। नवमे गुणस्थानके द्वितीय भागके मध्यमे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और

प्रत्याख्यानावरग क्रोध, मान माया, लोभ इन आठों कपायोंको मुनिके जिनदृष्ट या स्वसविदित प्रयत्न द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। तीसरे भागमे नपुसकवेद कर्मका चौथे भागमे स्त्रीवेद कर्मका छेद किया जाता है। विनाश करना रचा जाता है, पाचवे भागमे हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छहो नोकपायोका प्रध्वस कर दिया जाता है। छठे भागमे पुवेदका अत्यन्ताभाव रचा जाता है। सातवे भागमे सज्वलन क्रोधका विध्वंस आत्मसामर्थ्य द्वारा बनाया जाता है। आठवे भागमे सज्वलन मानके विनाशकी बढिया रचना की जाती है। नवमे गुणस्थानके नववे भागमे सज्वलन माया कर्मका क्षय कर दिया जाता है। सूक्ष्मलोभसज्वलन कर्मको यह पुरुषार्थी जीव दशमे गुणस्थानके प्रकृष्ट अन्तसमयमे विनाशको प्राप्त कर देता है। क्षपकश्रेणीवाला यति-वर्य इससे परे बार हमे गुणस्थानके अन्तिम समयके पूर्व निकटवर्त्ती उपान्त समयमें निद्रा और प्रचला दो कर्मप्रकृतियोको नष्ट कर डालता है। उस बारहमे गुणस्थानमें क्षीणकपाय परमपुरुषार्थी जीव ज्ञानावरणकी पाचो कर्मप्रकृतिया और दर्शनावरणकी चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण इन चारो प्रकृतियोका तथा पाच अन्तरायकर्मकी प्रकृतियोका बुद्धिपूर्वक यत्न द्वारा क्षय कर डालता है। उसी क्षण तेरहवे गुणस्थानके आदिमे मुमुक्षु जीव अनन्तानन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इस अनन्तचतुष्टयको प्राप्त कर अपर निश्रेयस अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। शुभ पुरुपार्थ कभी व्यर्थ नही जाता है। " पुरुषार्थी लभते मोक्षम्। "

सयोगकेवलिन: कस्याश्चिदपि प्रकृतेः क्षयो नास्ति। चतुर्दशगुणस्थानस्य द्विचरमसमये द्वासप्ततिप्रकृतीनां क्षयो भवति। कास्ता प्रकृतय ? । अन्यतर हि वेदनीर देवगति, औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरपचकं ॥ ७ ॥ तद्बन्धनपचक॥१२॥ तत्सघातपंचकं ॥ १७ ॥ तत्संस्थानषट्कं ॥ २३ ॥ औदारिकवैक्रियिकाहारक शरीरां-गोपांगत्रयं ॥ २६ ॥ सहननषट्क ॥ ३२ ॥ प्रशस्ताप्रशस्तवर्णपचकं ॥ ३७ ॥ सुरभिर-सुरभिगंधद्वयं ॥ ३९ ॥ प्रशस्ताप्रशस्तरसपञ्चकं ॥ ४४ ॥ स्पर्शाष्टकं । ५२ ॥ देवगति प्रायोग्यानुपूर्व्यं ॥ ५३ ॥ अगुरुलघुत्व ॥ ५४ ॥ उपघात ॥ ५५ ॥ परघात ॥ ५६ ॥ उच्छ्वास ॥ ५७ ॥ प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिद्वयं ॥ ५९ ॥ अपर्याप्ति ॥ ६० ॥ प्रत्येक-शरीर ॥ ६१ ॥ स्थिरत्वमस्थिरत्वं ॥ ६३ ॥ शुभत्वमशुभत्वं ॥ ६५ ॥ दुर्भगत्वं ॥६६॥ सुस्वरत्व, दुःस्वरत्व ॥६८॥ अनादेयं च ॥ ६९ ॥ अयशस्कीर्ति ॥७०॥ निर्माण ॥७१॥

नीचगोत्र ।।७२।। मिति अयोगिकेवलिचरमसमये त्रयोदश प्रकृतयः क्षयमुपयान्ति। कास्ता–अन्यतरवेदनीयं १ मनुष्यायु, २ मनुष्यगति, ३ पञ्चेन्द्रियजाति, ४ मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वी ५ त्रसत्वं ६ वादरत्वं ७ पर्याप्तकत्वं ८ शुभगत्वं ९ आदेयत्वं १० यशस्कीर्तिः ११ तीर्थंकरत्व १२ उच्चैर्गोत्रं १३ चेति एतासां द्रव्यकर्मप्रकृतीनां क्षयान्मोक्षोऽवसीयत इति निरुक्तिः। पुनस्तथाच तस्य कर्मण. सद्बन्धादयोदीरण व्यवस्थाग्रहण तत्कृत-विभागो गुणस्थानापेक्ष. प्रवचनाज्ञेयः।

तेरहवे गुणस्थानवाले योग सहितके वलज्ञानीके तो किसी भी प्रकृतिका क्षय नही होता है। हा, चौदहवे गुणस्थानके द्विचरम समय यानी अन्तिम समयके पूर्ववर्त्ती समयमे वहत्तर प्रकृतियोका क्षय हो जाता है। वे वहत्तर प्रकृतिया कौनसी है ? इसका उत्तर यह है कि साता, असाता दो वेदनीय कर्मोमेंसे एक कोई सा भी वेदनीयकर्म, देव-गति, औदारिकशरीर, वैक्रियिकशरीर नामकर्म, आहारक शरीर तैजसशरीर नामकर्म, कार्मणशरीर, ये पाचो शरीर नामक नामकर्म, उन पाचो शरीरोके पाचो वन्धनकर्म और पाचों शरीरोके पाचो सघात नामकर्म, उन शरीर कर्मोमे उपजे नोकर्म शरीरोके उपयोगी छहो संस्थान, औदारिक अगोपाग, वैक्रियिकशरीर अगोपाङ्ग, आहारक शरीर अगोपाग यो ये तीनो अगोपाग नामककर्म, छओ सहननकर्म, प्रशस्त और अप्रशस्त पाचो वर्णकर्म, सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनो गन्ध कर्म, प्रशसनीय और अप्रशसनीय पाचो रस-कर्म, आठो स्पर्शकर्म, देवगति प्रायोग्यानुपूर्व्य, अगुरुलघुत्व, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, ये दोनो कर्म प्रकृतिया, अपर्याप्तिकर्म प्रत्येक शरीर, स्थिरत्व, अस्थिरत्वकर्म, शुभ, अशुभत्वकर्म, दुर्भगत्व, सुस्वरत्व, दु स्वरत्व, अनादेयकर्म, अयशस्कीर्ति, निर्माण नामकर्म और नीचैर्गोत्र इस प्रकार वहत्तर प्रकृति-योका योग है। चौदहवे गुणस्थानवर्त्ती अयोगकेवली महाराजके अन्तिम समयमे तेरह प्रकृतिया क्षयको प्राप्त हो जाती है। वे तेरह कर्म प्रकृतिया कौनसी है ? इसका समाधान यह है कि दोनो वेदनीय कर्मोसे शेष रहा कोई भी एक वेदनीय कर्म, मनुष्य आयुष्य, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, त्रसत्व, वादरत्व, पर्याप्तकत्व, शुभगत्व, आदेयत्व, यशस्कीर्ति, तीर्थंकरत्व, उच्चैर्गोत्र, यो तेरह प्रकृतिया चौदहवेके अन्तिम समयके अव्यवहित उत्तर क्षणमे नष्ट हो जाती है। यों इन एकसौ अडतालीस कर्म प्रकृतियोके क्षयसे मोक्ष हो जाना निर्णीत किया जाता है। यहातक मोक्ष शब्दकी

निरुक्ति कर कर्मोंके छूट जानेको मोक्ष कहा जा चुका है। पुनः इनका विशेष वर्णन तथा उन कर्मोंकी सत्ता, बन्ध, उदय, उदीरणा आदिकी व्यवस्थाका ग्रहण करना या इस गुणस्थानमे कित प्रकृतियोका बन्ध है ? यो बन्ध, अबन्ध, बन्धव्युच्छित्ति, उदय, अनुदय, उदयव्युच्छित्ति, सत्ता, असत्ता, सत्ताव्युच्छित्ति, उदीरणा, अनुदीरणा, उदीरणा-व्युच्छित्ति इत्यादि करके लिये गये विभागको गुणस्थानोकी अपेक्षा रखकर आर्ष आम्नाय अनुसार चले आ रहे शास्त्रसे लगा लेना चाहिये। भावार्थ–राजवार्त्तिक, गोम्मटसार आदि ग्रन्थोसे बन्ध, उदय, सत्ता आदिकी गुणस्थानोमे व्यवस्थाको समझ लिया जाय, यहा संक्षेपसे कथन करना मात्र अभीष्ट है। मुद्रित पुस्तकमे " बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष " इस सूत्रकी टीका छपी नही है। उत्तर प्रांतकी लिखित पुस्तकमे जो कुछ शुद्ध अशुद्ध, टीका पाई गई उसका यथायोग्य सशोधन कर देशभाषा कर दी गई है। पुन. मूडबिद्रीसे ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन प्रतिके लेखको मगाया गया वह इस प्रकार है।

अथ परममोक्ष कुतः स्यादिति प्रतिपादनार्थमाह,— " बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष । कोऽय बन्धहेतुः ? को वा तदभावः ? इत्याह—

आस्रवाभिहितो बन्धहेतु पूर्वमनेकथा
तस्याभावः परो ज्ञेयः संवरः सर्वकर्मणां ।। १ ।।

कासौ निर्जरेत्याह; —

निर्जरा च परायोग–केवल्यन्तक्षणोद्भवा,
ताभ्यां मोक्षस्तयोरन्यतरापायेऽस्य नोदय ।। २ ।।

न तावत्संवरापाये कृत्स्नकर्मक्षयः क्वचित्
अपरापरकर्मोपढौकनात्स्वनिमित्तत ।। ३ ।।

नापि तन्निर्जरापाये पूर्वकर्मव्यवस्थितेः
नानुपक्रमसाध्यायां निर्जरायां विरोधद ।। ४ ।।

तपोतिशयतः सम्यग्दर्शनज्ञानयोगिनः
न भावसंवरोऽन्योतो मार्गो रत्नत्रयात्मकः ।। ५ ।।

निर्जरादेशमोक्षात्मा सन्मार्गफलमेव सा
न त्रयात्मकमार्गस्य विघातकृदितीरित ॥ ६ ॥

ननु च मिथ्यादर्शनादि हेत्वभावादभिनवकर्मादानाभावः पूर्वोदित निर्जराहेतु सन्निधाने चार्जितकर्मनिर्जरा इति । बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां प्रादुर्भवन् मोक्षः किं लक्षण इत्याह । कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष इति तद्व्याख्यानार्थमाह,—

विशेषेणप्रकृष्टेन मोक्षः स्यात्कृत्स्नकर्मणां
जीवस्यात्यन्तविश्लेष स मोक्ष इति लक्ष्यतां ॥ ७ ॥

ननु च कृत्स्नकर्मसन्तानस्याद्याभावादन्ताभाव इति चेत् न बीजांकुरसन्तानेनानेकान्तात्-उक्तं च—

दग्धेबीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः
कर्मवीजे तथा दग्धे नारोहति भवांकुरः ॥ ८ ॥ इति

केनरूपेण कर्मपुद्गलद्रव्यस्य क्षय इति चेदभिधीयते । कृत्स्नस्य कर्मत्वेनक्षयः कर्मणो न पुद्गलत्वेन । सतो द्रव्यस्य द्रव्यत्वेनात्यन्तविनाशायोगात् । तदनुत्पत्तिमत्त्वात्सर्वदास्थितेरेव प्रसिद्धेः । कर्मत्वपर्यायेण तु तस्यात्मपरिणामविशेषादुत्पत्ति सिद्धेः युक्तो विनाश इति सिद्ध- कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष भावसाधनो मोक्षशद्बो द्विविषयो विप्रयोगक्रियामात्रगतेः । "मोक्ष आसने" इत्यस्य धातोर्घञि सति मोक्षणं मोक्ष इति व्युत्पत्ते । मोक्तव्य मोक्षकापेक्षत्वाद्विप्रयोगक्रियामात्रस्व गतेः । कृत्स्नशद्बेनाष्टविधस्य कर्मणः सद्बन्धोदयोदीरणव्यवस्थस्य ग्रहण । तत्क्षयविभागो गुणस्थानापेक्ष प्रवचनान्नेयः ।

इसका देशभाषामे अर्थ इस प्रकार है कि इसके अनन्तर परममोक्ष किन कारणोसे उपजेगा ? इस सिद्धान्तकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकार महाराज इस अगिले सूत्रको कहते हे--सूत्रार्थ यो है कि वन्धके हेतुओका अभाव और निर्जरामे सम्पूर्ण कर्मोंका निश्शेषरूपेण प्रागभावानधिकरण होकर निरन्त छूट जाना मोक्ष है। यहापर कोई विनीत शिष्य प्रश्न उठाता है कि यह बन्धका हेतु क्या पदार्थ है ? और उस बन्ध हेतुका अभाव भी क्या है ? वताओ। ऐसी विनीत शिष्यकी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्त्तिकको कह रहे है। पूर्व अध्यायोमे आस्रवको कहा जा चुका है। उसके अनेक भेद है। आस्रवही बन्धका हेतु है। सम्पूर्ण कर्मोके उस आस्रवका

उत्कृष्ट अभाव हो जाना तो संवर समझ लिया जाय अर्थात् बन्धहेत्वभावका अर्थ संवर तत्त्व है ॥ १ ॥ पुन वही जिज्ञासु पूछ रहा है कि महाराज वह निर्जरा भला क्या पदार्थ है ? बताओ । ऐसी सविनय जिज्ञासा प्रवर्तनेपर आचार्य महाराज अग्रिम वार्तिकोको स्पष्टरूपेण कह रहे है कि चौदहवे गुणस्थानवर्त्ती अयोग केवली भगवान्के अन्तिम क्षणमें उपजी उत्कृष्ट निर्जराही यहा निर्जरा ली गई है। समर्थ कारणों करके अव्यवहित उत्तर क्षणमेही कार्य बना दिया जाता है। अत उन उत्कृष्ट सवर और उत्कृष्ट निर्जरा तत्त्वो करके अनन्तर क्षणमे मोक्ष तत्त्व उत्पन्न हो जाता है। उन सवर और निर्जरा दोनोमेसे किसी भी एकका अपाय यानी विकलता हो जानेपर इस मोक्ष कार्यकी उत्पत्ति नही हो पायेगी ॥ २ ॥ क्योकि पहिले कहे गये सवरका विश्लेष हो जानेपर तो किसी भी आत्मामे सम्पूर्ण कर्मोका क्षय नही हो पाता है। जब कि अपने निमित्तकारणो द्वारा उत्तरोत्तर कर्मोका आना बढता रहेगा तो सम्पूर्ण कर्मोका क्षय नही हो पायेगा। भावार्थ--नावमेसे शनै शनै पानी निकालते हुये भी यदि नावका छेद नही बन्द किया है। तो नावका पानी कभी नही निश्शेप हो सकेगा। इसी प्रकार यदि गुप्ति आदि द्वारा सवर नही किया जायगा तो अविरति, प्रमाद आदि भावो करके कर्मोका आस्रव हो जाता ही रहेगा मोक्ष नही हो पायेगा ॥ ३ ॥ तथा दूसरे कारण निर्जराका अपाय मान लेनेपर भी किसी भी आत्मामे सर्व कर्मोका विनाश नही हो सकेगा। जब कि सचित हो रहे पूर्व कर्मोकी आत्मामे दृढरूपेण अवस्थिति हो रही है। अर्थात् छेद बन्द कर देनेपर भी नावमेंसे यदि पूर्वसचित जलको नही निकाला जायगा तो नाव आधी पौन तो अब डूब ही रही है। फल कालमे सस्कारवश वायुके झकोरो द्वारा पूरी डूब जायगी यो नावमेसे जल निश्शेप नही हो पायेगा, अत अनुपक्रमसे साध्य हो रही निर्जराके होते सन्तेही मोक्ष हो पाता है। यह कार्यकारणभाव कोई विरोध दोपको देनेवाला नही है ॥ ४ ॥ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त हो रहे जीवके चमत्कारक तपसे भावसवर उपज जाता है। इससे अन्य कोई मोक्षका मार्ग नही है। तप तो चारित्र है, अत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनो रत्नत्रय स्वरूपही मोक्षमार्ग है। जो कि आद्य सूत्रमें कहा गया था ॥५॥ इसी प्रकार एक देश मोक्ष हो जाना स्वरूप जो निर्जरा है। वह भी उस श्रेष्ठमार्ग रत्नत्रयका फलस्वरूपही है। सचित कर्मोकी रत्नत्रयसे निर्जरा हो जाती है। यो

रत्नत्रयात्मक मार्गका विघात करनेवाला यह सूत्रोक्त सिद्धान्त नही है। यह इस सूत्र द्वारा सूत्रकारने कह दिया है। भावार्थ--प्रथमाध्यायके पहिले सूत्रमे रत्नत्रयको मोक्षका मार्ग (उपाय) बताया गया है। और अब बन्धहेत्वभाव और निर्जराको मोक्षका कारण कह दिया है। यह सूत्रकारका निरूपण विरोध दोषापन्न होय यह नही समझ बैठना क्योकि संवर और निर्जरा रत्नत्रयस्वरूपही है ॥ ६ ॥ अब कोई ऊहापोह करनेवाला प्रश्न उठाता है कि आपने पूर्वकारिकाओ द्वारा सूत्रोक्त कारणकोटिको बहुत अच्छी तरह समझा दिया है कि इस रत्नत्रयधारी जीवके मिथ्यादर्शन, अविरति आदि हेतुओका अभाव हो जानेसे नवीन नवीन आनेवाले कर्मोंके ग्रहणका अभाव हो गया तथा पूर्वमे कह दिये गये निर्जराके अनुभव चमत्कारिक तपश्चरण हेतुओका निकटपन हो जानेपर सञ्चित कर्मोंकी निर्जरा हो गई। इस प्रकार बधहेत्वभाव और निर्जरा करके मोक्षका प्रादुर्भाव हुआ अब यह बताओ कि उस उपज रही मोक्षका लक्षण क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर सूत्रकार महाराज सूत्रके विधेयदलको यो कह रहे है कि सम्पूर्ण कर्मोका विशेषरूपेण प्रकृष्ट मोक्ष हो जाना मोक्ष है। यो कह चुकनेपर उसका व्याख्यान करनेके लिये ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकको कह रहे है कि "वि" यानी विशेषरूपसे और "प्र" यानी प्रकृष्ट रूपसे जीवके सम्पूर्ण कर्मोंका अत्यन्त वियोग जो हो जावेगा वही मोक्ष है। ऐसा इस लक्ष्यलक्षणभाव द्वारा समझ लेना चाहिये। सूत्रकारका एक एक पद अनिष्ट व्यावर्त्तक है ॥ ७ ॥ अब यहा कोई प्रश्न उठा रहा है कि व्यक्ति-रूपसे कर्म भलेही सादि और सान्त हो किन्तु सम्पूर्ण कर्मोंकी सन्तान अनादि कालसे चली आ रही है। अनादि पदार्थ अवश्य अनन्त होता है। वैशेषिक प्रागभावको अनादि और सान्त मानते है। अत प्रागभावसे भिन्न हो रहा जो जो सत्पदार्थ अनादि है। वह निश्चयसे अनन्त है, यह निर्दोष व्याप्ति बन रही है। अत सर्व कर्मोकी सन्ता-नका आदि नही होनेसे उसके अन्तका भी अभाव हो जायगा ऐसी दशामें अनन्तकाल तकके लियें कर्मोका अभाव नही हो सकता है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि बीजकी सन्तान और अकुरकी सन्तान करके व्यभिचारदोष आ जायगा। अर्थात् जो जो अनादि सत् है। वह वह अनन्त है, यह व्याप्ति व्यभिचरित है। देखिये किसी भी बीज या अकुरको पकड लिया जाय उसकी सन्तान बराबर अनादिकालसे चली आ रही है। मध्यमे एक व्यक्तिके भी टूटनेका व्यवधान नही पडा है किसी भी

लडका लडकी या गर्भज नपुसक (हीजडा) को ले लिया जाय उसके अनादिकालीन अनन्तानन्त पिताओने अपने औरस्य सन्तानको अवश्य उपजाया था, सन्तानको नही उपजा करवे क्लीवपनेकी गाली खाकर वे नही मरे। इसी प्रकार उस मानवकी अनादि-कालीन अनन्त मातायें भी बन्ध्याये न कहाकर प्रसवित्री बन चुकी हैं। अब बीज, अकुरपर आ जाइये कि उसको भूज लेनेपर या जला देनेपर पुन उसकी सन्तान नही चलती है। अतः जला दियें गये बीजकी अनादि सन्तान भी सान्त हो गई इसी बातको अन्य ग्रन्थमे भी यो कहा गया है कि जिस प्रकार बीजके अग्निद्वारा अत्यन्त रूपसे दग्ध किये जानेपर पुन उससे अकुर नही उगता है। तिसी प्रकार रत्नत्रयद्वारा कर्म-बीजके दग्ध हो जानेपर पुनः जन्मजरामृत्युस्वरूप ससार अकुर नही उपज पाता है। पुन कोई जिज्ञासु पूछ रहा है कि कर्मपरिणत पुद्गलद्रव्यका क्षय बताओ किस स्वरूपसे हो जाता है ? क्या उसका मटियामेट होकर समूलशिख विनाश हो जाता है ? अथवा उस पुद्गलकी कर्मअवस्थाका विनाश हो जाता है, बताओ। यो सानुनय तर्क उठानेपर ग्रन्थकारसे यह समाधान कहा जाता है कि सम्पूर्ण कर्मका कर्म अवस्थापनेसे क्षय हो जाता है, पुद्गलपने करके क्षय नही होता है। क्योकि अनादि अनन्त सत्स्वरूप हो रहे किसी भी द्रव्यका द्रव्यपने करके अत्यन्त विनाश हो जानेका योग नही है। " नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत " सद्द्रव्यका विनाश नही होता है, और सद्द्रव्य कभी उपजता नही है। जितने एक या असख्यात वा अनन्त द्रव्य हैं तीनों कालोमे उतनेही हैं, अपनी इयत्ताको नही छोडते हैं। " नित्यावस्थि-तान्यरूपाणि " अतः उन द्रव्योकी उत्पत्ति भी नही मानी गई है। विनाश और उत्पा-दसे रहित हो रहे द्रव्यकी सदा स्थितिही प्रसिद्ध है। हा, उन परिणामी द्रव्योकी पर्यायोका उत्पाद या विनाश होता रहता है। कार्मणवर्गणास्वरूप उस पुद्गलकी ससारी आत्माके कषाय आदि परिणाम विशेषसे कर्मपर्यायरूप करके उत्पत्ति हो जाना सिद्ध है। इसी कारण आत्मपरिणामो करके उसका कर्मत्व पर्यायरूपसे विनाश हो जाना भी युक्तिपूर्ण है। इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मोका क्षय हो जाना मोक्ष सिद्ध कर दिया गया है। अब ग्रन्थकार दूसरी बातको बता रहे है। मोक्ष शद्ब भावमे प्रत्यय कर साधा गया है। जो कि दो को विषय करता है। कारण कि प्रकर्ष रूपसे वियोग हो जाना मात्र इतनीही क्रियाकी ज्ञप्ति हो रही है। "मोक्ष असने" यो इस धातुसे घञ् प्रत्यय करनेपर

छूट जाना मात्र क्रिया मोक्ष है। यो मोक्ष शद्बकी निरुक्ति कर व्युत्पत्ति कर लेनी चाहिये। सयोग, वियोग, द्वित्व, त्रित्व सख्या इत्यादि पदार्थ दो आदि पदार्थोमे रहते है। छोडने योग्य कर्म मोक्तव्य है, और छोड देनेवाला आत्मा पुरुपार्थी मोक्षक है। इस अपेक्षासे केवल विप्रयोग यानी केवल वियोग हो जाना इतनी क्रियाकी ज्ञप्ति हो जाती है। कर्मका विशेषण सूत्रमे कृत्स्न कहा गया है। कर्मोकी सत्ता, बन्ध होना, उदयमें आना, उदीरणा हो जाना, आदिक अनेक अवस्थाये है। मोक्षमे पौद्गलिक सम्पूर्ण कर्मोका नाश तो हो ही जाता है। साथही कर्मोकी तत्स्वरूप कृत्स्न अवस्थाओसे भी कर्मोका नाश हो जाता है। अत सत्ता, बन्ध, उदय और उदीरपणा अवस्थाओमे व्यवस्थित हो रहे आठो प्रकारके कर्मोका कृत्स्न शद्व करके ग्रहण हो जाता है। उन र्मोके क्षय होनेका विभाग कैसा है ? इसका गुणस्थानोकी उपेक्षा रखता हुआ वह विभाग आप्तोक्त आगमसे उपरिष्ठात् प्राप्त कर लेना चाहिये। अर्थात् किस २ गुणस्थानमे किन किन प्रकृतियोका क्षय होता है। इस रहस्यको राजवार्तिक, गोम्मटसार, आदि महान् आर्ष ग्रन्थोसे समझ लिया जाय।

किं द्रव्यकर्मणामेव मोक्षः स्यादुत भावकर्मणामपीत्याशंकायामिदमाह; —

यहा कोई प्रश्न उठाता है कि क्या पौद्गलिक द्रव्यकर्मोके क्षयसेही मोक्ष होवेगी ? अथवा क्या भाव कर्मोके क्षयसे भी मोक्ष हो सकेगी ? इस प्रकार आशका प्रवर्तनेपर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्रको स्पष्टरूपेण कह रहे है।

औपशमकादिभव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

उपशम सम्यक्त्व, उपशमचारित्र इन औपशमिक भाव और मतिज्ञान आदिक क्षायोपशमिक भावको आदि लेकर भव्यत्व पर्यन्त भावकर्मोका भी क्षय हो जानेसे मोक्ष होती है। अर्थात् दोनो औपशमिक भाव, अठारहो क्षायोपशमिकभाव, इकईसो औदयिक भाव और पारणामिक भव्यत्वभावका मोक्ष अवस्थामें क्षय हो जाता है। अभव्यत्वभाव तो मोक्षगामी जीवके है ही नही।

" भविया सिद्धि जेंसि जीवाणं ते हवन्ति भवसिद्धा,
तव्विवरीया भव्वा संसारादो ण सिज्झन्ति ॥ "

जिनकी भविष्यमे सिद्धि होनेवाली है। वे जीव भव्य है किन्तु जिनकी सिद्धि हो चुकी वे तो भूत सिद्ध है। उनमे भविष्य कालकी अपेक्षा रखनेवाला भव्यत्व नही

है। हा, जीवत्वभाव विद्यमान है। कर्मोके क्षयसे उपजनेवाले क्षायिक भाव तो मोक्ष अवस्थामे रहनेही चाहिये।

भव्यत्वग्रहणमन्यपारिणामिकानिवृत्त्यर्थं, तेन जीवत्वादेरव्यावृत्ति सर्वतः सर्वदा प्रसिद्धा भवति। कस्मादौपशमिकादिक्षयान्मोक्ष इत्याह;—

इस सूत्रमे भव्यत्वका ग्रहण करना तो अन्य पारिणामिक भावोकी नही निवृत्ति करनेके लिये है। यो तिस भव्यत्वका कण्ठोक्त निरूपण कर देनेसे जीवत्व, अस्तित्व, पर्यायत्व, असर्वगतत्व, अरूपत्व आदि पारिणामिक भावोकी व्यावृत्ति नही होना सर्वदा सब ओरसे प्रसिद्ध हो जाता है। अर्थात् जीवत्व, अस्तित्व आदिक पारणामिक भाव मोक्ष अवस्थामें सदा सर्व रूपसें विद्यमान रहते है। यहा कोई तर्कशील विद्यार्थी पूछता है कि किस कारणसे औपशमिक आदि भावोके क्षयसे मोक्ष हो जाता है ? युक्तिपूर्वक समझाओ। ऐसी तर्कणा उपस्थित हो जानेपर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकोको कह रहे है।

तथौपशमिकादीनां भव्यत्वस्य च संक्षयात्।
मोक्ष इत्याह तद्भावे संसारित्वप्रसिद्धितः ॥ १ ॥
नन्वौपशमिकेऽभावे क्षायोपशमिकेऽपि च।
भावेऽत्रौदयिके पुंसो भावोस्तु क्षायिके कथं ॥ २ ॥

तिस प्रकार औपशमिक, क्षायोपशमिक आदि और भव्यत्वभावका बढिया क्षय हो जानेसे मोक्ष होती है। इस सिद्धान्तको सूत्रकारने हेतुपूर्वक कहा है। (प्रतिज्ञा) क्योकि उन औपशमिक आदि भावोके पाये जानेपर ससारी बने रहनेकी प्रसिद्धि है। (हेतु) अर्थात् उपशम सम्यग्दर्शन, मतिज्ञान, सयमासंयम, देवगति, क्रोध आदि भावोका सद्भाव ससारी जीवोमेही पाया जाता है। यदि मुक्त जीवोमे भी उक्त भावोकी सत्ता मानी जायगी तो वे ससारी हो जावेगे। उनको कभी मोक्ष नही नही हो सकेगा। हा, औपशमिक, औदयिक आदि भावोका अभाव हो जानेपर शुद्ध आत्माकी कोई क्षति नही होती है। प्रत्युत, आत्माकी स्वात्मीयता और शुद्धता अधिक प्रकट हो जाती है। यहा कोई शका उठाता है कि औपशमिक भाव और क्षायोपशमिक भी भाव

तथा मनुष्यगति आदि औदयिक भावोके अभाव हो जानेपर आत्माका सद्भाव बना रहे क्योकि ये नैमित्तिकभाव है। पर उपाधियोसे जन्य है। औपाधिक भाव नष्ट हो जानें ही चाहिये तभी निराकुल होकर स्वात्मलाभ हो सकेगा किन्तु क्षायिक भावोके अभाव हो जानेपर आत्माका सद्भाव किस प्रकार ठहर सकता है ? क्योकि पर उपाधियोका क्षय हो जानेपर स्वात्मनिष्ठा प्राप्त होती है। सूत्रकार महाराजने " औपशमिकादि भव्यत्वाना च " इस सूत्रमें आदि पद करके क्षायिक भावोका भी ग्रहण किया होगा। क्षायिकचारित्र, क्षायिकदान, आदि भावोकी निवृत्ति हो जाना तो अच्छा नही जचा ।

अत्र समाधीयते ;—

यहा ऐसी शका उपस्थित हो जानेपर ग्रन्थकार करके अब समाधान वचन कहा जाता है।

सिद्धिः सव्यपदेशस्य चारित्रादेरभावतः ।
क्षायिकस्य न सत्यस्मिन् कृतकृत्यत्वनिर्वृतिः ॥ ३ ॥
न चारित्रादिरस्यास्ति सिद्धानां मोहसंक्षयात् ।
सिद्धा एव तु सिद्धास्ते गुणस्थानविमुक्ततः ॥ ४ ॥

देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्र, सामायिक, छेदोपस्थापना इत्यादि नामोसे कहे जा रहे चारित्र अथवा क्षायिकदान, लाभ, आदि नामवाली लब्धिया आदिके अभावसे सिद्धि होती है। हा, शुद्ध अव्यपदेश्य क्षायिक भावोके अभावसे सिद्धि नही है। प्रत्युत इन निर्विकल्पक चारित्र, क्षायिकदान आदि भावोके होनेपरही सिद्धोके कृतकृत्यपनकी सिद्धि हो रही है। स्वरूपनिष्ठा करानेवाले परिणामोको चारित्र माना गया है। अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्ति होनेको चारित्र कहते है। " असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्त " अथवा " बहिरअन्तर किरिया रोहो भवकारणप्पणासट्ठ " ससार कारणोके विनाशार्थ बहिरग अन्तरग क्रियाओका रोध करना चारित्र है। जब मोक्ष अवस्थामे जीव कृतकृत्य हो जाता है। करने योग्य कृत्योको कर चुकता है। तो इसके उक्त चारित्र, दान, आदिक सविकल्प नही है। हा, चारित्र मोहनीय कर्मका बढिया क्षय हो जानेसे सिद्धोके क्षायिकभावका सद्भाव है। वस्तुत

लडका लडकी या गर्भज नपुंसक (हीजडा) को ले लिया जाय उसके अनादिकालीन अनन्तानन्त पिताओंने अपने औरस्य सन्तानको अवश्य उपजाया था, सन्तानको नही उपजा करवे क्लीवपनेकी गाली खाकर वे नही मरे । इसी प्रकार उस मानवकी अनादि-कालीन अनन्त माताये भी बन्ध्याये न कहाकर प्रसवित्री बन चुकी है। अब बीज, अकुरपर आ जाइये कि उसको भूज लेनेपर या जला देनेपर पुन. उसकी सन्तान नही चलती है । अतः जला दियें गये बीजकी अनादि सन्तान भी सान्त हो गई इसी बातको अन्य ग्रन्थमे भी यो कहा गया है कि जिस प्रकार बीजके अग्निद्वारा अत्यन्त रूपसे दग्ध किये जानेपर पुन उससे अकुर नही उगता है। तिसी प्रकार रत्नत्रयद्वारा कर्म-बीजके दग्ध हो जानेपर पुनः जन्मजरामृत्युस्वरूप ससार अकुर नही उपज पाता है। पुन कोई जिज्ञासु पूछ रहा है कि कर्मपरिणत पुद्गलद्रव्यका क्षय बताओ किस स्वरूपसे हो जाता है ? क्या उसका मटियामेट होकर समूलशिख विनाश हो जाता है ? अथवा उस पुद्गलकी कर्मअवस्थाका विनाश हो जाता है, बताओ । यो सानुनय तर्क उठानेपर ग्रन्थकारसे यह समाधान कहा जाता है कि सम्पूर्ण कर्मका कर्म अवस्थापनेसे क्षय हो जाता है, पुद्गलपने करके क्षय नही होता है। क्योकि अनादि अनन्त सत्स्वरूप हो रहे किसी भी द्रव्यका द्रव्यपने करके अत्यन्त विनाश हो जानेका योग नही है । " नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत " सद्द्रव्यका विनाश नही होता है, और सद्द्रव्य कभी उपजता नही है । जितने एक या असंख्यात वा अनन्त द्रव्य है तीनों कालोमे उतनेही है, अपनी इयत्ताको नही छोडते है। " नित्यावस्थि-तान्यरूपाणि " अतः उन द्रव्योकी उत्पत्ति भी नही मानी गई है । विनाश और उत्पा-दसे रहित हो रहे द्रव्यकी सदा स्थितिही प्रसिद्ध है। हा, उन परिणामी द्रव्योकी पर्यायोका उत्पाद या विनाश होता रहता है । कार्मणवर्गणास्वरूप उस पुद्गलकी ससारी आत्माके कषाय आदि परिणाम विशेषसे कर्मपर्यायरूप करके उत्पत्ति हो जाना सिद्ध है। इसी कारण आत्मपरिणामो करके उसका कर्मत्व पर्यायरूपसे विनाश हो जाना भी युक्तिपूर्ण है । इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मोका क्षय हो जाना मोक्ष सिद्ध कर दिया गया है । अब ग्रन्थकार दूसरी बातको बता रहे है। मोक्ष शद्व भावमे प्रत्यय कर साधा गया है । जो कि दो को विषय करता है । कारण कि प्रकर्ष रूपसे वियोग हो जाना मात्र इतनीही क्रियाकी ज्ञप्ति हो रही है । "मोक्ष असने" यो इस धातुसे घञ् प्रत्यय करनेपर

छूट जाना मात्र क्रिया मोक्ष है। यो मोक्ष शद्बकी निरुक्ति कर व्युत्पत्ति कर लेनी चाहिये। सयोग, वियोग, द्वित्व, त्रित्व सख्या इत्यादि पदार्थ दो आदि पदार्थोमे रहते है। छोडने योग्य कर्म मोक्तव्य है, और छोड देनेवाला आत्मा पुरुपार्थी मोक्षक है। इस अपेक्षासे केवल विप्रयोग यानी केवल वियोग हो जाना इतनी क्रियाकी ज्ञप्ति हो जाती है। कर्मका विशेपण सूत्रमे कृत्स्न कहा गया है। कर्मोकी सत्ता, बन्ध होना, उदयमे आना, उदीरणा हो जाना, आदिक अनेक अवस्थाये है। मोक्षमे पौद्गलिक सम्पूर्ण कर्मोका नाश तो हो ही जाता है। साथही कर्मोकी तत्स्वरूप कृत्स्न अवस्थाओसे भी कर्मोका नाश हो जाता है। अत सत्ता, बन्ध, उदय और उदीरपणा अवस्थाओमे व्यवस्थित हो रहे आठो प्रकारके कर्मोका कृत्स्न शद्ब करके ग्रहण हो जाता है। उन कर्मोके क्षय होनेका विभाग कैसा है? इसका गुणस्थानोकी उपेक्षा रखता हुआ वह विभाग आप्तोक्त आगमसे उपरिष्ठात् प्राप्त कर लेना चाहिये। अर्थात् किस २ गुणस्थानमे किन किन प्रकृतियोका क्षय होता है। इस रहस्यको राजवार्त्तिक, गोम्मटसार, आदि महान् आर्ष ग्रन्थोसे समझ लिया जाय।

किं द्रव्यकर्मणामेव मोक्षः स्यादुत भावकर्मणामपीत्याशंकायामिदमाह; —

यहा कोई प्रश्न उठाता है कि क्या पौद्गलिक द्रव्यकर्मोके क्षयसेही मोक्ष होवेगी? अथवा क्या भाव कर्मोके क्षयसे भी मोक्ष हो सकेगी? इस प्रकार आशका प्रवर्तनेपर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्रको स्पष्टरूपेण कह रहे है।

औपशमकादिभव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

उपशम सम्यक्त्व, उपशमचारित्र इन औपशमिक भाव और मतिज्ञान आदिक क्षायोपशमिक भावको आदि लेकर भव्यत्व पर्यन्त भावकर्मोका भी क्षय हो जानेसे मोक्ष होती है। अर्थात् दोनो औपशमिक भाव, अठारहो क्षायोपशमिकभाव, इकईसो औदयिक भाव और पारणामिक भव्यत्वभावका मोक्ष अवस्थामें क्षय हो जाता है। अभव्यत्वभाव तो मोक्षगामी जीवके है ही नही।

" भविया सिद्धि जेंसि जीवाणं ते हवन्ति भवसिद्धा,
तव्विवरीया भव्वा संसारादो ण सिज्झन्ति ॥ "

जिनकी भविष्यमे सिद्धि होनेवाली है। वे जीव भव्य है किन्तु जिनकी सिद्धि हो चुकी वे तो भूत सिद्ध है। उनमे भविष्य कालकी अपेक्षा रखनेवाला भव्यत्व नही

है। हा, जीवत्वभाव विद्यमान है। कर्मोके क्षयसे उपजनेवाले क्षायिक भाव तो मोक्ष अवस्थामे रहनेही चाहिये।

भव्यत्वग्रहणमन्यपारिणामिकानिवृत्त्यर्थं, तेन जीवत्वादेरव्यावृत्ति सर्वतः सर्वदा प्रसिद्धा भवति। कस्मादौपशमिकादिक्षयान्मोक्ष इत्याह;—

इस सूत्रमे भव्यत्वका ग्रहण करना तो अन्य पारिणामिक भावोकी नही निवृत्ति करनेके लिये है। यो तिस भव्यत्वका कण्ठोक्त निरूपण कर देनेसे जीवत्व, अस्तित्व, पर्यायत्व, असर्वगतत्व, अरूपत्व आदि पारिणामिक भावोकी व्यावृत्ति नही होना सर्वदा सब ओरसे प्रसिद्ध हो जाता है। अर्थात् जीवत्व, अस्तित्व आदिक पारणामिक भाव मोक्ष अवस्थामें सदा सर्व रूपसे विद्यमान रहते है। यहा कोई तर्कशील विद्यार्थी पूछता है कि किस कारणसे औपशमिक आदि भावोके क्षयसे मोक्ष हो जाता है ? युक्तिपूर्वक समझाओ। ऐसी तर्कणा उपस्थित हो जानेपर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकोको कह रहे है।

तथौपशमिकादीनां भव्यत्वस्य च संक्षयात्।
मोक्ष इत्याह तद्भावे संसारित्वप्रसिद्धितः ॥ १ ॥
नन्वौपशमिकेऽभावे क्षायोपशमिकेऽपि च।
भावेऽत्रौदयिके पुंसो भावोस्तु क्षायिके कथं ॥ २ ॥

तिस प्रकार औपशमिक, क्षायोपशमिक आदि और भव्यत्वभावका बढिया क्षय हो जानेसे मोक्ष होती है। इस सिद्धान्तको सूत्रकारने हेतुपूर्वक कहा है। (प्रतिज्ञा) क्योकि उन औपशमिक आदि भावोके पाये जानेपर ससारी बने रहनेकी प्रसिद्धि है। (हेतु) अर्थात् उपशम सम्यग्दर्शन, मतिज्ञान, सयमासंयम, देवगति, क्रोध आदि भावोका सद्भाव ससारी जीवोमेही पाया जाता है। यदि मुक्त जीवोमे भी उक्त भावोकी सत्ता मानी जायगी तो वे ससारी हो जावेगे। उनको कभी मोक्ष नही नही हो सकेगा। हा, औपशमिक, औदयिक आदि भावोका अभाव हो जानेपर शुद्ध आत्माकी कोई क्षति नही होती है। प्रत्युत, आत्माकी स्वात्मीयता और शुद्धता अधिक प्रकट हो जाती है। यहा कोई शका उठाता है कि औपशमिक भाव और क्षायोपशमिक भी भाव

तथा, मनुष्यगति आदि औदयिक भावोके अभाव हो जानेपर आत्माका सद्भाव बना रहे क्योकि ये नैमित्तिकभाव है। पर उपाधियोसे जन्य है। औपाधिक भाव नष्ट हो जानें ही चाहिये तभी निराकुल होकर स्वात्मलाभ हो सकेगा किन्तु क्षायिक भावोके अभाव हो जानेपर आत्माका सद्भाव किस प्रकार ठहर सकता है ? क्योकि पर उपाधियोका क्षय हो जानेपर स्वात्मनिष्ठा प्राप्त होती है। सूत्रकार महाराजने " औपशमिकादि भव्यत्वाना च " इस सूत्रमे आदि पद करके क्षायिक भावोका भी ग्रहण किया होगा। क्षायिकचारित्र, क्षायिकदान, आदि भावोकी निवृत्ति हो जाना तो अच्छा नही जचा ।

अत्र समाधीयते; —

यहा ऐसी शका उपस्थित हो जानेपर ग्रन्थकार करके अब समाधान वचन कहा जाता है।

सिद्धिः सव्यपदेशस्य चारित्रादेरभावतः ।
क्षायिकस्य न सत्यस्मिन् कृतकृत्यत्वनिर्वृतिः ॥ ३ ॥
न चारित्रादिरस्यास्ति सिद्धानां मोहसंक्षयात् ।
सिद्धा एव तु सिद्धास्ते गुणस्थानविमुक्ततः ॥ ४ ॥

देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्र, सामायिक, छेदोपस्थापना इत्यादि नामोसे कहे जा रहे चारित्र अथवा क्षायिकदान, लाभ, आदि नामवाली लब्धिया आदिके अभावसे सिद्धि होती है। हा, शुद्ध अव्यपदेश्य क्षायिक भावोके अभावसे सिद्धि नही है। प्रत्युत इन निर्विकल्पक चारित्र, क्षायिकदान आदि भावोके होनेपरही सिद्धोके कृतकृत्यपनकी सिद्धि हो रही है। स्वरूपनिष्ठा करानेवाले परिणामोको चारित्र माना गया है। अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्ति होनेको चारित्र कहते है। " असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्त " अथवा " बहिरअन्तर किरिया रोहो भवकारणप्पणासट्ठ " ससार कारणोके विनाशार्थ बहिरग अन्तरग क्रियाओका रोध करना चारित्र है। जब मोक्ष अवस्थामे जीव कृतकृत्य हो जाता है। करने योग्य कृत्योको कर चुकता है। तो इसके उक्त चारित्र, दान, आदिक सविकल्प नही है। हा, चारित्र मोहनीय कर्मका बढिया क्षय हो जानेसे सिद्धोके क्षायिकभावका सद्भाव है। वस्तुत

देखा जाय तो सिद्ध भगवान् तो सिद्ध ही हैं। "चारित्रवान् है, दानवान् है, इत्यादिक रूपसे उनका निरूपण करना शोभा नही देता है। "गगन गगनाकार, सागर सागरोपम। अर्हन्नर्हन्निव प्रोक्तः सिद्धा सिद्धोपमाः स्मृतः"। निर्विकल्पक निरुपम सिद्धपरमेष्ठी सिद्ध ही है। क्योकि वे गुणस्थानोके झगडेसे विशेषरूपेण मुक्त हो चुके है।

नन्वेव केवलदर्शनादीनामपि क्षायिकभावानां मोक्षे क्षय प्रसज्यत इत्यारेकायामपवादमाह;—

यहा कोई विनीत शिष्य आशका उठा रहा है कि इस प्रकार औपशमिक आदि भावोका क्षय माननेपर तो मोक्ष अवस्थामे केवलदर्शन, केवलज्ञान आदिक क्षायिक भावोके भी क्षय हो जानेका प्रसग आ जावेगा ? और ऐसी दशामे प्रदीपनिर्वाण समान मोक्ष तत्त्व शून्यपदार्थ बन बैठेगा तुच्छाभावको जैनोने अभीष्ट नही किया है। इस प्रकार सशय उपस्थित हो जानेपर सूत्रकार महाराज अपवाद मार्गको अग्रिम सूत्र द्वारा स्पष्ट रूपेण कह रहे हैं।

अन्यत्र केवल सम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

केवलसम्यक्त्व, (क्षायिकसम्यग्दर्शन) केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व भाव इनसे वर्जित शेप सम्पूर्ण भावोका मोक्षमे क्षय हो जाता है। भावार्थ–औपशमिक आदिक त्रेपन भावोमेसे कतिपय क्षायिकभाव और जीवत्वभाव मुक्तोमे अवश्य पाया जाता है। अस्तित्व आदि भाव भी उनके पाये जाते है। एकसो अडतालीस प्रकृतियोमेसे किसी भी एक आदिका उदय या सद्भाव वना रहनेसे जीव सिद्ध नही हो पाता है। हा, सम्पूर्ण कर्मोका क्षय हो जानेपर सिद्धत्व भाव सदा सिद्धोंका जगमगाता रहता है। अत अनेक शुद्धभावोका पिण्ड मुक्त अवस्थामे है। मोक्ष तुच्छ पदार्थ नही है।

अन्यत्र शब्दोऽयं परिवर्जनार्थस्तदपेक्षः सिद्धत्वेभ्य इति विभक्तिनिर्देशः। 'अन्यत्र द्रोणभीष्माभ्यां सर्वेयोधाः पराङ्मुखा, इति यथा। अन्यशब्दप्रयोगे तद्विज्ञानमिति चेन्न, प्रत्ययान्तस्यापि प्रयोगे तद्दर्शनात्।

सूत्रमें पडा हुआ यह "अन्यत्र" शब्द तो परित्याग अर्थको लिये हुये है। उस परिवर्जन अर्थकी अपेक्षा अनुसार "सिद्धत्वेभ्य" यहा पञ्चमी विभक्तिका निर्देश

किया गया है । जिस प्रकार कि द्रोण और भीष्मको छोडकर सभी योद्धा युद्धसे पराङ्मुख हो गये है । इस प्रयोगमे अन्यत्र शद्वका योग हो जानेपर " द्रोणभीष्माभ्या " इस पदमें पञ्चमी विभक्ति की गई है । यहा कोई आक्षेप करता है कि अन्य शद्वका प्रयोग करनेपर भी उस वर्जन अर्थका विशेषज्ञान हो सकता था सूत्रकारने व्यर्थ " त्र " प्रत्यय लगाकर अन्यत्र इतने बडे शद्वका प्रयोग किया ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि जिस प्रकार " अन्यो देवदत्तात् " यहा अन्य शद्वके प्रयोगमें पञ्चमी विभक्ति हुई है । उसी प्रकार स्वार्थमे त्र प्रत्ययकर त्र प्रत्ययान्त अन्यत्र शद्वके प्रकृष्ट सन्निधान होनेपर भी विभक्त्यर्थ अनुसार उस पञ्चमी विभक्तिका होना देखा जाता है । स्वार्थिक प्रत्ययोके लग जानेसे कोई गौरव दोषचर्चा आदर नही पाती है ।

अनन्तवीर्यादिनिवृत्तिप्रसग इति चेन्न, अत्रैवान्तर्भावात् । अनन्तवीर्यहीनस्यानतावबोधवृत्त्यभावात् सुखस्य ज्ञानसमवायित्वात् । बन्धस्याव्यवस्था अश्वादिवदिति चेन्न, मिथ्यादर्शनाद्युच्छेदे कात्स्न्येन तत्क्षयात् । पुन प्रवर्तनप्रसंगो जानतः पश्यतश्च कारुण्यादिति चेन्न, सर्वास्रवपरिक्षयात् । वीतरागे स्नेहपर्यायस्य कारुण्यस्यासंभवाद् भक्तिस्पृहादिवत् । अकस्मादिति चेदनिर्मोक्षप्रसंगः सतो हेतुकस्य नित्यत्वापत्तेर्विनाशायोगात् ।

पुन कोई शकाकार बोल उठा कि सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और सिद्धत्वभाव इन चारकाही उल्लेख कर देनेसे तो अन्य अनन्तवीर्य, अनन्तसुख, सूक्ष्मतत्व आदि भावोकी निवृत्ति हो जानेका प्रसग आ जावेगा । आचार्य कहते है कि यह तो नही कहना । क्योकि उन अनन्तवीर्य आदिकोका इन्ही सम्यक्त्व आदिमें अनन्तभाव हो जाता है । जो जीव अनन्तवीर्यसे हीन है, उसके अनन्तज्ञानकी प्रवृत्ति हो जानेका अभाव है । ज्ञान और वीर्यका अविनाभावी सम्बन्ध है । जैसे कि रूप कह देनेसे रस आदि विना कहे ही समझ लिये जाते है । उसी प्रकार क्षायिकज्ञानका कण्ठोक्त सद्भाव स्वीकार कर लेनेपर तद्विनाभावी अनन्तवीर्यका सद्भाव विना कहे ही अर्थापत्त्या प्रतीत हो जाता है । तथा सुखका ज्ञान गुणके साथ एकार्थसमवाय सबन्ध हो रहा है । ज्ञान और सुख दोनो एक अर्थ आत्मामे गुरुभाईके समान एकार्थ समवेत हो रहे है । अत ज्ञानका निरूपण कर देनेसे उसके सहचर सुखका भी निरूपण हो चुका समझो । अथवा सुख ज्ञानमय ही है । अत ज्ञानपदसे तदभिन्न सुखका भी ग्रहण हो जाता है । यहा

कोई तर्क उठा रहा है कि घोडे, बैल, आदिके समान बन्धकी कोई व्यवस्था नही हो सकेगी। अर्थात् घोडे आदिका एक बन्धन टूट जानेपर भी पुन दुसरे बन्धनोसे जैसे उनका बन्ध जाना सम्भव है। उसी प्रकार जीवका भी कोई एक बन्ध दूर हो गया है। तो भी अन्य कर्मबन्धन बन बैठेंगे। सदाके लिये मोक्ष हो जानेकी व्यवस्था नही मानी जा सकती है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि बन्धके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति आदिक परिणाम है। परिपूर्णरूपसे मिथ्यादर्शन आदिका जब उच्छेद हो चुका है। तब उन बन्ध हेतुओंका क्षय हो जानेसे पुन बन्ध नही हो पाता है। जब कारणही नही रहे तो कार्योकी उत्पत्ति किनसे होगी ?। पुनः कटाक्ष उठाया जा रहा है कि एक बार मुक्त हो जानेपर भी फिर उनके बन्धकी प्रवृत्ति हो जानेका प्रसग लग जावेगा। कारण कि अनेक शारीरिक और मानसिक दुःख समुद्रमे डूब रहे जगत्को ज्ञानद्वारा जान रहे और केवलदर्शन द्वारा सत्तालोचन कर रहे मुक्त जीवके अवश्य करुणा उपजेगी, दुःखित जीवोको देखकर अहिंसक दयालु जीवका करुणाभाव उपज जाना स्वाभाविक है। मुनियोके भी क्लिश्यमान जीवोमे कारुण्यभावनाका उपज जाना सातवे अध्यायमे कहा गया है। उस करुणासे सिद्धोके द्रव्यकर्मोका बन्ध जाना अनिवार्य है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्यो कि सम्पूर्ण शुभ, अशुभ, आस्रवोका परिपूर्ण क्षय हो जानेसे मुक्त जीवोके बन्ध परिणतिका अभाव है। आस्रवपूर्वक बन्ध होता है। सिद्धोमे करुणा नही है, करुणा तो स्नेहप्रमादकी पर्याय है। रागभावोसे सर्वथा रीते हो रहे मुक्त जीवोमे स्नेहकी पर्याय हो रही करुणाका उसी प्रकार असभव है जैसे कि भक्ति, स्पृहा, गृद्धि, आकाक्षा आदि नही सभवती है। अर्थात् सिद्धभगवान् अहिंसा, उत्तमक्षमामय है। उनमे भक्ति, करुणा, आदिक राग परिणतिया नही है। जो कि बन्धके कारण है। यदि किसी भी कारणके नही भी होनेपर अकस्मात् मुक्तके बन्ध होना मानोगे यानी विनाही कारणके मुक्तजीव कर्मबद्ध हो जावेगा। कहोगे तब तो कदाचित् भी मोक्ष नही हो सकनेका प्रसग आ जावेगा। मोक्ष हो जानेके अव्यवहित उत्तर कालमे ही पुन कर्मबन्ध बन बैठेगा। तब मोक्ष कहा हुई। यह दार्शनिकोंका नियम है कि "सदकारणवन्नित्य" सत् होकर जो उत्पादक कारणोसे रहित है वह नित्य है। गगनकुसुम, अश्वविषाण, या वैशेषिकके यहा माने गये। प्रागभाव इन असत् पदार्थोमे अतिप्रसगका निवारण करनेके लिये

नित्यके लक्षणमे सत् विशेषण दिया गया है। और घट, पट, आदिमे अतिव्याप्ति न होय अतः अकारणवत् विशेष्य है। अब यदि सत्पदार्थ माने गये बन्धके हो जानेका कोई कारण नही माना जावेगा विना ही कारण बन्ध होता रहेगा तो अहेतुक सद्भूत बन्धको नित्य होते रहनेकी अनिष्ट आपत्ति आ जावेगी। और ऐसा होनेसे बन्धका कभी विनाश नही हो पावेगा। तब तो किन्ही भी जीवोका मोक्ष होना असभव हो जावेगा। किन्तु कालान्तर स्थायी मोक्ष तत्त्व है। अत कारणोके नष्ट हो जानेपर पुन बन्धका नही होना प्रमाण प्रसिद्ध है।

मुक्तस्य स्थानवत्त्वात् पात इति चेन्न, अनास्रवत्वात् सास्रवस्य यानपात्रादेः पातदर्शनात्, गौरवाभावाच्च तस्य न पात स्तालफलादेः सतिगौरवे वृन्तसंयोगाभावात् पतनप्रसिद्धे ।

यहा किसी स्थूल वुद्धि दार्शनिकका आक्षेप है कि आप जैनोने मुक्त जीवोका जब विशेष स्थान माना है। अर्थात् तनुवातवलयमे सिद्धपरमेष्ठी विराजते है। जो कोई पदार्थ स्थिर रहता है वह आधारके नही होनेपर गिर पडता है। अत मुक्त जीवका अधोदेशमे पतन हो जाना चाहिये। आचार्य कहते है कि यह तो न कहना क्योकि मुक्त जीवोकी आत्मामे कोई द्रव्यकर्म या नोकर्मका आस्रव नही हो रहा है। नावमें छेद हो जानेपर छेद द्वारा पानीका आस्रव होते रहनेसे नाव जलमग्न हो जाती है, मुख द्वारा अन्न, जलका आस्रव होते रहनेसे उदर स्थिति मल मलाशयमें गिरता है, पर्वतीय पिछले जलका धकापेल आगमन होते रहनेसे अगिला जल नीचे गिर पडता है। यो आस्रव सहित हो रहे नाव आदिका पात देखा जाता है। मुक्त जीवोके आस्रवही नही है। " कारणाभावे कार्याभाव " एक बात यह भी है कि भारी पदार्थ नीचे गिरता है मुक्त जीवोमे गौरव यानी भारीपन नही है जो कि पुद्गल स्कन्धोमे ही पाया जाता है। देखिये, तालफल, सेव, नारियल आदिका गौरव होते सन्तेही फलके डाठल और शाखाके सयोगका अभाव हो जानेसे पात हो जाना प्रसिद्ध हो रहा है। " वृन्त कुसुमबन्धनम् "। उछाली गई गेंद भारी होनेसे नीचे गिर पडती है। अत मुक्त जीवोमे भारीपन नही होनेसे उनका पतन नही होने पाता है। केवल अवस्थान होने मात्रसेही किसीका पात नही हो जाता है। अन्यथा वायु, सूर्य आदि सभी पदार्थोका पतन हो जायगा जो कि किसीको भी इष्ट नही है।

ननु महापरिमाणानामल्पीयस्याधारे मोक्षक्षेत्रे परस्परोपरोध इति चेन्न, अवगाहशक्तियोगात् नानाप्रदीपमणिप्रकाशादिवत् तत एव जन्ममरणद्वन्द्वोपनिपात व्याबाधाविरहात् परमसुखिनः। तत्सुखस्य नास्तुपमानमाकाशपरिमाणवत्।

पुनः कोई शंका उठाता है कि सिद्ध परमेष्ठी अनन्तानन्त है। महापरिमाणवाले सिद्धोंका अत्यन्त छोटे पैंतालीस लाख योजन प्रमाण आधारभूत सिद्ध क्षेत्रमें अवगाह माना जायगा। तो परस्पर अवरोध यानी रुक जाना, धक्का पेल होना, घिचपिच संकीर्ण होना आ रहे अन्य सिद्धोंको स्थान न मिल सकना, हो जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि अमूर्त सिद्धोंमें अवगाह शक्तिका योग हो रहा है। जैसे कि अनेक दीपक, मणि, टॉर्च, अग्नि आदिके प्रकाश, प्रताप, उद्योत, उष्णता आदिक एक ही घर या डेरेमें उपरोध किये बिना समा जाते हैं। सिद्ध भगवान् तो अमूर्त हैं, बहुतसे मूर्त बादर पुद्गलोंका भी परस्पर एक क्षेत्रमें अवगाह हो जाता है। दूधमें थोडा बूरा समा जाता है, ऊंटनीके दूधमें मधु वहीं समा जाता है, ऊपर आकाशमें वायु, बिजली, मेघ, धुआं सुगन्ध, दुर्गन्ध, स्कन्ध आदिक अनेक पदार्थ भरे पडे हैं। यों मूर्त स्थूलोंकी जब यह दशा है। तो सूक्ष्म पुद्गल या अमूर्त पदार्थ धर्म, अधर्म आदि तो बडी निराकुलतासे एक स्थान पर ठहर जा सकते हैं। एक सिद्ध भगवान्के स्थानपर अनन्तानन्त सिद्ध विराजमान हैं। क्योंकि वे अवगाहनशक्तिवाले अमूर्त परमात्मा पदार्थ हैं। तिस ही कारणसे जन्म लेना, मरना, आकुलता, झगडे, टन्टोंका ऊपर पडना, बहुत बाधायें होना, उनका विरह हो जानेसे वे मुक्त जीव परमसुखी हैं। आयुष्यकर्मके अभावमें अवगाहगुण और वेदनीय कर्मके अभावसे अव्याबाधगुण तथा नामकर्मका ध्वंस कर देनेसे उनके अमूर्तत्व गुण प्रकट हो गये हैं। विशेषरूपेण सभी आत्माभावोंके अभावको निमित्त पाकर हुआ सिद्धोंके अनन्त समीचीन गुण हैं। सिद्धोंके उन परम सुखका दृष्टान्त देने योग्य कोई उपमान नहीं है। जैसे कि आकाश परिमाणकी उपमा रखनेवाला कोई नहीं है।

मुक्तानामनाकारत्वादभाव इति चेन्नातीतानन्तर शरीराकारानुविधायित्वात् गतसिक्थमूषागर्भवत्। मुक्तानामशरीरत्वे तदभावाद्विसर्पणप्रसंग इति चेन्न, कारणाभावात्। पुनः कारणात् संहरणविसर्पणे संसारिण स्यातामिति चेत्, नामकर्मसंबंधात् संहरणविसर्पणधर्मत्वं प्रदीपप्रकाशवत्।

यहा कोई आक्षेप कर रहा है कि मुक्तजीव अमूर्त है। ऐसी दशामे उनका लम्बाई चौडाईवाला या रूप, रसवाला कोई आकार नही होनेसे मुक्तोका अभाव हो जावेगा। जैसे कि कोई आकार न होनेसे जगत्मे अश्वविषाण नही है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो ठीक नही है। क्योकि अव्यवहित व्यतीत हो चुके शरीरके आकारका अनुकूल विधान करनेवाली मुक्त आत्माये है। जिस साचेके गर्भमेसे मौम निकाल दिया गया है, उस आकाशका वही आकार पीछे बना रहता है। "मौम गयो गलि मूष मझार रह्यो तहा व्योमतदाकृतिधारी" उसी प्रकार मुक्तके आत्माकी लम्बाई, चौडाई, मोटाई, स्वरूप आकृति तो पूर्वशरीर अनुसार है। "कि चूणा चरमदेहदो सिद्धो" स्वास, उश्वासके लेनेसे जीवित शरीर कुछ बढ जाता है। मुक्त जीवके स्वास उस्वासको निमित्त पाकर आत्म प्रदेशोका बढ जाना नही है। तथा मुख प्रदेश, उदराशय, पोली नसे इनके भर जानेसे आत्मप्रदेश कुछ ठुस जाते है। यहा कोई कटाक्ष कर रहा है कि आत्माके प्रदेश गृहीत शरीर अनुसार घटते बढते रहते है। मुक्तजीवोके शरीर तो नही है। ऐसी दशामे उस शरीरका अभाव हो जानेसे मुक्त आत्माओके लोक बराबर फैल जानेका प्रसग आता है। जब कि आप जैनोने एक जीवको प्रदेश लोकाकाशके समान माना है। "असख्येया प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्" ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि कारणका अभाव है। यहा, कोई प्रश्न उठाता है कि ससारी जीवके किस कारणसे सकोच विस्तार हुआ करते है ? जो कि कारण मुक्तोके नही है, बताओ ? यो पूछनेपर तो आचार्य कह रहे है कि नामकर्मके सम्बन्धसे ससारी जीवका सकोच विस्तार धर्मोसे सहितपना है। जैसे कि प्रदीपका प्रकाश सकुचता फैलता है। अर्थात् प्रदीपका लम्बा, चौडा प्रकाश नियत परिमाणको ले रहा सन्ता भोलुआ, मौनि, डेरा आदि द्रव्योसे रुक जानेपर छोटा बडा हो जाता है। उसी प्रकार नामकर्मके सम्बन्धसे जीवका परिमाण छोटा बडा शरीरावच्छिन्न होकर परिमित है। नामकर्मका अभाव हो जानेसे मुक्तजीवके सकोच विस्तार कुछ हो नही पाता है। अन्तिमशरीर अनुसार कुछ घटकर उतनाही बना रहता है।

नात्मनः संहरणविसर्पणवत्त्वे साध्ये प्रदीपो दृष्टान्तः श्रेयान् मूर्ति मद्द्रव्यधर्मादिति चेन्न, उभयलक्षणप्राप्तत्वात्। दृष्टान्तस्य हि लक्षणं साध्यधर्माधिकरणत्व साधनधर्माधिकरणत्व च। तत्र सहरणविसर्पणधर्मकत्वस्य साध्यस्याधिष्ठानपरिमाणानुविधायित्वस्य

साधनस्य च प्रदीपे सद्भावात् स दृष्टान्त. स्यादेव जीवस्य चामूर्तमूर्तत्वोभय लक्षणयुक्तत्वात् न मूर्तिमद्वैधर्म्यमस्ति यतोऽयं दृष्टान्तो न स्यात्। "बन्धं प्रत्येकत्वं लक्षणतो भवति तस्य नानात्व, तस्मादमूर्तिभावो नैकांताद्भवति जीवस्य।" इति रचनात् कथंचिन्मूर्तिमत्त्वस्यापि प्रसिद्धेः। नामकर्मसंबन्धप्रसगः प्रदीपस्येति चेन्न, तस्य दृष्टान्तत्वेनाविवक्षितत्वात् साधन धर्मत्वानभिप्रायात् स्वाधिष्ठानपरिमाणानुविधायित्वस्य च साधनधर्मस्य तत्र भावात् शरीरं हि जीवस्याधिष्ठान प्रदीपस्य तु गृह तत्परिमाणानुविधान. मुभयोरस्तीति नोपालंभः। शरीरपरिमाणानुविधायित्वं साधनं प्रदीपे तस्या सत्त्वात्। नापि गृहपरिमाणानुविधायित्व तस्यात्मन्यभावात् तत इदमुच्यते—संसारी जीवः प्रदेशसंहरणविसर्पण धर्मकः स्वाधिष्ठानपरिमाणानुविधायित्वात् प्रदीपप्रकाशवत्, नहि मुक्तात्मा स्वाधिष्ठानपरिमाणानुविधायी तस्याशरीराधिष्ठानस्याभावात्। पूर्वानन्तरशरीरपरिमाण तु यदनुकृतं तत्परित्यागकारणस्य नामकर्मसबंधिनिबन्धनशरीरान्तरस्याभावान्न विसर्पण मुक्तस्य यतो लोकाकाशपरिमाणत्वापत्तिः।

यहा कोई आक्षेप करता है कि आत्माके सकोच विस्तारसहितपना साधनेमे दीपक दृष्टान्त देना श्रेष्ठ नही है। क्योकि आत्माका मूर्तिमान्‌के साथ विलक्षण धर्मसहितपना हो रहा है। प्रदीप मूर्तिमान् है। अमूर्ति आत्मा उससे विलक्षण है। साधर्म्य रखनेवाला पदार्थ दृष्टान्त हो सकता है, विधर्मा नही। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि मूर्त और अमूर्त दोनो लक्षणोसे प्राप्त हो रहा आत्मा है। शुद्ध उपयोग लक्षणकी अपेक्षा आत्मा अमूर्त है। और कर्म नोकर्मके बन्ध परिणामकी अपेक्षा आत्मा मूर्त है। साध्यधर्मका अधिकरणपना और साधनधर्मका अधिकरणपना दृष्टान्तका स्वरूप है। उनमे सकोच विस्तार धर्मोसे सहितपने साध्यका और अधिष्ठानके परिमाणका अनुविधान करना साधनका प्रदीपमें सद्भाव है। अत वह दीपक दृष्टान्त हो हो जायगा। जीवके नयविवक्षा अनुसार अमूर्तपन और मूर्तपन दोनो लक्षणोका योग है। इस कारण मूर्तिमान्‌के साथ विधर्मापन नही है जिससे कि मूर्त जीवका मूर्त दीपक दृष्टान्त नही हो पाता, अर्थात् साधर्म्य होनेसें दीपक दृष्टान्त समुचित है। सिद्धान्त ग्रन्थोमे इस प्रकार वचन है कि जीव और पुद्‌गलका बन्धाके प्रति एकत्व हो रहा है। और अपने अपने लक्षणोसे उनका नानात्व नियत है। तिस कारण एकान्त रूपसे जीवका अमूर्त होना नही है। यो बन्धकी अपेक्षा जीवका कथचित् मूर्तिसहितपना

भी प्रसिद्ध हो रहा है । यहा कोई स्थूल वुद्धि श्रोता आक्षेप उठाता है कि मूर्त आत्माके नामकर्मका वन्ध हो रहा है । उसीके समान प्रदीपके नामकर्मके सम्बन्ध हो जानेका प्रसग आवेगा । आचार्य कहते है कि यह तो न कहना क्योकि उसकी दृष्टान्तपनेसे विवक्षा नही की गई है । कर्मवन्धनकी अपेक्षा हेतुधर्मपनका हमारा अभिप्राय नही है । अपने आधार हो रहे अधिष्ठानके परिमाणका अनुविधान करना केवल इतनेही साधन धर्मका कुछ दीपकमे सद्भाव है । सभी दार्ष्टान्तिके धर्म दृष्टान्तमे नही मिलते है । अन्यथा वह दृष्टान्तही नही रहेगा दार्ष्टान्त वन वैठेगा । प्रकरणमे जीवका अधिष्ठान नियमसे शरीर है । और दीपकका आश्रय तो घर है, जीव और प्रदीप दोनोमे उन अपने आधारोके परिमाणका अनुविधान करना पाया जाता है । इस कारण हमारे ऊपर कोई उलाहना नही आता है । जीवमे अपने शरीरके परिमाणका अनुविधान करना साधन है । उसका प्रदीपमे असद्भाव है, और प्रदीपमे अपने आधार हो रहे घरके परिमाणका अनुविधान है उसका जीवमे भी अभाव है । तिस कारण अनुमान वाक्य बनाकर यह कह दिया जाता है कि ससारी जीव (पक्ष) आत्मप्रदेशोकें संकोचविस्तार धर्मोको लिये हुये है । (साध्य) अपने अधिष्ठानके परिमाणका अनुविधान करनेवाला होनेसे (हेतु) प्रदीपके प्रकाशसमान (अन्वयदृष्टान्त) किन्तु तथा मुक्त आत्मा (पक्ष) अपने अधिष्ठानके परिमाणका अनुविधान करनेवाला नही है । (साध्यदल) क्योकि वह अरीर है, उसके अधिष्ठानका अभाव है । (हेतु) मुक्त आत्माने जो अव्यवहित पूर्ववर्ती शरीरके परिमाणका अनुकरण कर लिया है । वह तो अन्तिम शरीर उपाधिके हट जानेसे स्वाभाविक हो गया है । यदि नामकर्म पुन कोई दूसरा शरीर रचा जाता तो उस आकारको मुक्त आत्मा अवश्य छोड देता नामकर्म सम्बन्धका निमित्त पाकर शरीरान्तरकी रचना होना उस पूर्वाकारके परित्यागका कारण है । मुक्त जीवके अव शरीर रचनाका अभाव है । अत मुक्त आत्माका प्रदेश विस्तार हो जाना नही होता है । जिससे कि लोकाकाश बरोबर परिमाण हो जानेकी आपत्ति प्राप्त होती ।

ननु सहरणविसर्पणस्वभावस्यात्मन प्रदीपवदेवानित्यत्वप्रसग इति चेन्न तावन्मात्रस्य विवक्षितत्वात् चन्द्रमुखीवत् । सहरणविसर्पणस्वभावत्वमात्रं विवक्षितं चन्द्रमुखीप्रियदर्शनवत् । सर्वसाधर्म्ये दृष्टान्तस्यापन्हवात् ।

यहा कोई अनुनयपूर्वक आक्षेप करता है कि प्रदीप प्रकाशके समान आत्माका यदि सकुचित होना, फैलना स्वभाव माना जायगा। तब तो प्रदीपके समानही आत्माको भी अनित्य हो जानेका प्रसग लागू होगा, आचार्य महाराज कहते हैं कि यह तो न कहना क्योकि हमको प्रदीपका केवल उतनाही धर्म विवक्षा प्राप्त हो चुका है। जैसे कि किसी सुन्दर मुखवाली स्त्रीको चन्द्रमुखी कह दिया जाता है। " चन्द्रवन्मुख यस्या: सा चन्द्रमुखी " जिसका मुख चन्द्रमाके समान है। वह चन्द्रमुखी है। यहा केवल चन्द्रमाका दर्शन जैसे प्रिय है। उसी प्रकार स्त्रीका मुखदर्शन भी प्यारा है। यहा मात्र चन्द्रका प्रियदर्शन होना गुणही स्त्रीमुखमे विवक्षित कर स्त्रीमुखकी चन्द्रमाकी उपमा दे दी गई है। यो तो चन्द्रमामे आकाश प्रलम्बमानत्व, सकलकत्व, कुमुदबन्धुत्व, रत्नमयत्व आदि अनेक धर्म है। जो कि स्त्रीमुखमे नही पाये जाते है, एव स्त्रीमुखमे भी चर्म वेष्टितत्व, नेत्रकृष्णत्व, भक्षकत्व, कफवत्त्व, शद्बोत्पादकत्व, अस्थिमासवत्त्व, उच्चारकत्व आदि अनेक धर्म पाये जाते है जो कि ज्योतिष्क विमान हो रहे चन्द्रमामे नही पाये जाते है। अत प्रदीप दृष्टान्त अनुसार आत्मामे प्रदीपका केवल सकोच विकासशालित्व स्वभाव वक्ताको अभीष्ट हो रहा है। जैसे कि चन्द्रमुखी कहनेपर चन्द्रमाका प्रियदर्शन स्वभावही स्त्रीमुखमे उपमाताको इष्ट हो रहा है। प्रदीपके अन्य अनित्यत्व, प्रतापकत्व, धूमोत्पादकत्व, अग्निकायिकजीव धारित्व, पौद्गलिकत्व, घृत,तैल,विद्युत्, गैस जन्यत्व आदिक धर्म आत्मामे नही है। तथैव आत्माके चैतन्य, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिक धर्म प्रदीपमे विद्यमान नहीं है। सभी प्रकारोसे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिका समानधर्म सहितपना माना जावेगा तो दृष्टान्तकाही अपन्हव हो जायगा। दार्ष्टान्त स्वय दृष्टान्त बन बैठेगा। या दृष्टान्तही दार्ष्टान्त हो जायगा, ऐसी दशामे जगत्से सभी दृष्टान्त चुरा लिये जायगे। अथवा सर्व दृष्टात छिप जायंगे।

सर्वथाऽभावो मोक्षः प्रदीपवदिति चेन्न, साध्यत्वात्। प्रदीपेपि निरन्वयविनाशस्याप्रतीते स्तस्य तमः पुद्गलभावेनोत्पादाद्दीपपुद्गलभावेन विनाशात्पुद्गलजात्या ध्रुवत्वात्। दृष्टत्वाच्च निगलादिवियोगे देवदत्ताद्यवस्थानवत्। न सर्वथा मोक्षावस्थायामभाव:।

यहा कोई बौद्धदार्शनिक कटाक्ष करता है कि जैसे वत्ती, तैल, अग्नि, पात्रके, मिल जानेपर दीपक निरन्तर प्रवर्तता रहता है। और उनका क्षय हो जानेपर किसी

दिशा विदिशाको नही जाता हुआ उसी स्थलपर अत्यन्त विनाशको प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार कारणवश स्कन्धकी सन्तान प्रतिसन्तान रूपसे चला आ रहा यह विज्ञान स्कन्धस्वरूप जीव पदार्थ विचारा क्लेशका क्षय हो जानेपर किसी दिशाविदिशाको नही जाकर जहा था वहा का वही प्रलयको प्राप्त हो जाता है। यही मोक्ष है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना क्योकि आपका दिया हुआ दृष्टान्त स्वयं साध्य कोटिमें पडा हुआ है। प्रदीपमे भी अन्वय सन्तान नही रहकर निरन्वय नष्ट हो जानेकी प्रतीति नही हो रही है। दीपक बुझ जानेपर अन्धकार या काजल स्वरूप पुद्गल पर्याय हो करके उस दीपकका उत्पाद हो रहा है। और पुद्गलकी पर्याय हो रहे दीपक रूपसे उसका नाश हो गया है। तथा पुद्गल जातिस्वरूपसे ध्रुवता है। " न सर्वथा नित्य मुदेत्यपैति, न च क्रियाकारक मत्रयुक्त, नैवासतो जन्मसतो न नाशो दीपस्तम पुद्गलभावतोऽस्ति " (श्री समन्तभद्र स्वामी) जब दृष्टान्त दिये जा रहे दीपककाही अत्यन्त विनाश नही हुआ है। तद्वत आत्माका भी मोक्ष अवस्थामें अभाव नही होता है। प्रत्येक द्रव्यमे अनादिसे अनन्तकालतक उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप परिणाम होते रहते है। एक बात यह भी है कि जैसे साकल, बेडी, रस्सी, पीजरा आदिका वियोग हो जानेपर देवदत्त, कैदी, बैल, पक्षी आदिका अवस्थान रहता है। यानी उनका सद्भावना बना रहता है। यो देखा जाता है, अत इसी प्रकार आत्माके कर्मबन्धका क्षय हो जानेपर आत्माके सद्भावको छिपा नही सकते है। अर्थात्–आत्माका समूलचूल मटियामेट नही हो जाता है। यो मोक्ष अवस्थामे सभी प्रकारोसे अभाव हो जाना सिद्ध नही हो सकता है।

यत्रैव कर्मविप्रमोक्षस्तत्रैवावस्थानमिति चेन्न, साध्यत्वात् यो यत्र विप्रमुक्तः स तत्रैवावतिष्ठत इति । सिद्धं, देशान्तरगतिदर्शनात् निगलादिविनिर्मुक्तस्य । गतिकारणसद्भावाद्देशान्तरगतिदर्शनमिति चेत्, नि शेषकर्मबन्धन विप्रमुक्तस्यापि गतिनिमित्तस्योर्ध्वव्रज्यास्वभावस्य भावात् देशान्तराग तिरस्तु । तदेवम् ।

यहा कोई अक्रियावादी दार्शनिक कह रहा है कि जहा ही स्थलपर कर्मोका विप्रमोक्ष हुआ है। वहा ही स्थानपर आत्माकी अवस्थिति हो जायगी क्योकि गतिके कारण नोई कर्म नही रहे है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना क्योकि तुम्हारा आपादन प्रमाण निर्णीत नही हो सका है। " जो जहा कोई छूटता है, वह वहा ही

निश्चल होकर बैठा रहता है। " यह बात साधने योग्य है, जब कि गायु, वायु, कैदी, छूटनेके स्थानसे अन्यत्र जाते हुये भी देखे जाते हैं। हा यह बात सिद्ध हो चुकी है कि साकल आदिसे विशेषरूपेण निर्मुक्त हो गये। भैस, हाथी आदिका अन्य देशोमे गमन होना देखा जा रहा है। यदि इसपर कोई यो कहे कि भैस आदिकी गतिके कारण हो रहे उत्साह, वेग, इच्छा, शारीरिक पुरुषार्थ आदि कारणोका सद्भाव है। अत उनको देशातरमे गमन हो जाना दीख रहा है। यो कहनेपर तो हम भी बडी प्रसन्नताके साथ समाधान करेगे कि नि शेष कर्मबन्धनोसे विप्रमुक्त हो रहे आत्माके भी ऊर्ध्वगमनके निमित्तकारण हो रहे ऊर्ध्वगति स्वभावका सद्भाव है। अत: अन्यदेशसबधिनी गति हो जाओ। मुक्त आत्मामे वीर्य पुरुषार्थ, ऊर्ध्वगमनस्वभाव, चैतन्य सत्ता, अगुरुलघु, सम्यक्त्व, अनन्तसुख आदि अनन्तानन्त गुण और स्वभाव विद्यमान रहते है। द्रव्य या शुद्धद्रव्यकी पर्याय मुक्त आत्मा है। कोई मात्र अविभाग प्रतिच्छेद या स्वभावही तो मुक्त आत्मा नही है। तिस कारण इस प्रकार उक्त आक्षेपोका बढिया समाधान हो चुकनेपर सूत्रोक्त रहस्य जो सिद्ध हुआ है। उसको अग्रिम वार्त्तिको द्वारा सुनो समझो।

मोक्षः केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसंक्षयात्।
सिद्धत्वसंक्षयान्नेति त्वन्यत्रेत्यादिनाब्रवीत्॥ १॥
एतैः सह विरोधस्याभावान्मोक्षस्य सर्वथा।
स्वयं सव्यपदेशैश्च व्यपदेशस्तथात्वतः॥ २॥
सिद्धत्वं केवलादिभ्यो विशिष्टं तेषु सत्स्वपि,
कर्मोदयनिमित्तस्या सिद्धत्वस्य क्वचिद्गतेः॥ ३॥

औपशमिक सम्यक्त्व, भव्यत्व, मन पर्ययज्ञान, मनुष्यगति आदि भावोका क्षय हो जानेसे जैसे मोक्ष होता है। उस प्रकार केवल सम्यक्त, या केवलज्ञान अथवा क्षायिक दर्शन आदि भावोका भी भले प्रकार क्षय हो जानेसे मोक्ष होती है ऐसा नही है। एव कर्मोदय जन्य असिद्धत्व भावका विनाश होनेपर उपज गये सिद्धत्व भावका समीचीन क्षय हो जानेसे भी मुक्ति नही हो पाती है इस सिद्धान्तको तो " अन्यत्र केवलज्ञानदर्शन " इत्यादि सूत्र करके उमास्वामी महाराज कह चुके है। अर्थात् अन्य भावोके

समान मोक्षमे क्षायिक सम्यग्दर्शन आदि भावोका नाश नही हो पाता है। जो कि सूत्रकारने इस सूत्रसे कह दिया है। उन क्षायिक सम्यग्दर्शन आदि भावोके साथ मोक्षका सभी प्रकारोसे विरोधका अभाव है। अर्थात् औपशमिक, क्षायोपशमिक भावोके साथ जैसे मोक्षका विरोध है। वैसा क्षायिक भावोके साथ विरोध नही है। जैन-सिद्धान्त अनुसार मोक्ष अभावस्वरूप नही है। किन्तु विभावपरिणतिका क्षय होकर गुणोका स्वाभाविक परिणमन होते रहना मोक्ष है। मोक्षमें क्या सर्वत्र सर्वदाही द्रव्यामे अनेक नही कहने योग्य अनिर्वचनीय गुण पाये जाते है। फिर भी शिष्योको प्रतिपत्ति करानेके लिये कतिपय शब्दो द्वारा निरूपे जा रहे व्यपदेश सहित भावो करके द्रव्योकी प्रतिपत्ति कराई जाती है। मोक्षमे परिपूर्ण स्वानुभव है, विश्वपदार्थोका ज्ञान है। सम्पूर्ण सत्तालोचन है, स्वनिष्ठा है, तथा सिद्धत्व या कृतकृत्यपना भरपूर हो रहा है। इस कारण स्वय व्यपदेश यानी शब्दप्रयोगसहित हो रहे सम्यग्दर्शन आदि करके तिस प्रकार मोक्षका निरूपण हो रहा समझो। यदि यहा कोई यो पूछे, कि क्षायिक सम्य-ग्दर्शन, क्षायिकज्ञान आदिभावोसे सिद्धत्व भावमे क्या विशिष्टता है, जो केवलज्ञान आदिको प्राप्त हो चुका है। वह सिद्ध भी हो चुका है समझो, फिर सिद्धत्व भावका पृथक् निरूपण क्यो किया गया है ? इसका समाधान ग्रन्थकार पहिलेसेही करे देते है कि केवल आदिसे सिद्धत्वभाव विलक्षण है। क्योकि उन केवलज्ञान आदिके होते सन्ते भी किसी भी कर्मके उदयको निमित्त पाकर हुये असिद्धपनकी कही कही ज्ञप्ति हो रही है। एक सौ अडतालीस कर्मोमेसे चाहे किसी भी कर्मका उदय बना रहनेसे जीव सिद्ध नही हो पाता है। चौथेसे लेकर सातवे तक किसी भी गुणस्थानमे क्षायिक सम्यक्त्व उपजकर ऊपर गुणस्थानोमे भी पाया जाता है। नाना क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवोके चौथे गुणस्थानमे एकसौ इकतालीस प्रकृतियोकी सत्ता है। यथायोग्य अनेक प्रकृतियोका उदय है। तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनो तेरहवे गुणस्थानोमें उपज जाते है। वहा पिचासी प्रकृतियोका सद्भाव है, चौदहवे गुणस्थानके उपान्त्य-समय और अन्त्यसमयमे बहत्तर और तेरह कर्मोकी सत्ता है। अभी तक सिद्धत्व भाव नही हो पाया है। अत ग्रन्थकार लिख रहे है कि वह सिद्धत्वभाव उन केवल सम्यक्त्व आदि परिणतियोसे विभिन्नही है। कारण कि कही कही तेरहवे या चौदहवे गुण-स्थानोमे तीन अन्तर्मुहूर्तोसे प्रारम्भ कर करोडो वर्षों तक केवलज्ञान आदिके होते हुये भी असिद्धत्व भावकी प्राप्ति हो रही है।

ततः सकलकल्मषसन्ततिसंसक्तिविनिर्मुक्तिरेव स्वात्मेति समाचक्षते युक्ति-शास्त्राविरुद्धवचसः सूरयो भगवन्तस्तस्य स्वात्मन प्राप्तिः परा निवृत्तिरिति निःसंदिग्धं, तेन स्वविशेषगुणव्यावृत्तिर्मुक्तिश्चैतन्यमात्रस्थितिर्वा अन्यथा वा वदतोपाकृताः, प्रमाण-व्याहतत्वादिति निवेदयति; —

तिसही कारण पूर्व आचार्य महाराज यो भले प्रकार आम्नायपूर्वक बखानते आ रहे है कि सम्पूर्ण पापोकी संततिके संसर्गका विशेषरूपेण सर्वांग मोक्ष हो जानाही आत्माका निजस्वरूप है। अर्थात् किसी समयके भी कर्मसमुदायको जीव अधिकसे अधिक सत्तर कोटाकोटी सागर कालमे छुडा देगा किन्तु उनके उदय अनुसार कषाय-वश हो रही पापोकी सन्ततिसे मोक्ष पा जाना अतीव दुर्लभ है। कषायोके सस्कारवश अनन्तानन्त वर्षोसे जीवके कर्मबन्ध सन्तति लगी चली आ रही है। कर्मोकी स्थिति सत्तर कोटाकोटी सागर, चालीस कोटाकोटी सागर आदि रूप करके व्यवस्थित है। किन्तु कर्म सन्तानका कोई स्थितिबन्ध नियत नही है। "अन्तोमुहुत्त पद्धव छम्मासं सख सख णातभव" यह सब एक उदयापन्न कर्मव्यक्तिका वासनाकाल है। सन्तानका नही अनादिसे अनन्त कालतक भी अभव्योकी कल्मषसन्तति पायी जाती है। गेहू, चना, व्यक्तियोकी उम्र दश, बीस, पचास, सौ वर्ष नियत हो सकती है। परन्तु गेहू, चनोकी बीजाकुर सन्ततिकी कालमर्यादा कोई नियत नही है। किसी बीज व्यक्तिकी अनादि-सान्त और अन्य बीजोकी अनादिसे अनन्तकाल तक सन्तति चली जाती है। मुमुक्षु महापुरुषार्थी जीव क्षपक श्रेणीपर चढकर परले दो शुक्लध्यानो द्वारा सम्पूर्ण पापो और पाप सन्ततियोका परिक्षय कर देता है। वही शुद्धात्माका सम्यक्त्व, ज्ञान दर्शन, सिद्धत्व, सत्ता, आत्मक स्वरूप है। युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध वचनोको कहनेवाले आचार्य भगवान् उसी स्वामीकी प्राप्तिको कर्मोका उत्कृष्टतया निवृत्त हो जाना मानते है। निर्वृत्ति पाठ अच्छा जचता है अथवा स्वात्माकी प्राप्तिही उत्कृष्टमोक्ष (पर निश्रेयस) स्वीकार करते है। यह सिद्धान्त सन्देहरहित होकर सिद्ध किया जाता है। ग्रन्थके आदिमें दो सौ पचास वी "तत्र प्रायः परिक्षीणकल्मषस्यास्य धीमत, स्वात्मोपलब्धिरूपेस्मिन् मोक्षे सप्रतिपत्तित." इस वार्तिक द्वारा ग्रन्थकारने जो कहा था। उसी रहस्यको पुष्ट कर दिया गया है। तिस कारण अपनी आत्माके बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेप, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और संस्कार इन नौ विशेप गुणोकी व्यावृत्ति

हो जाना मोक्ष है। ऐसा वैशेषिक मान रहे है। अथवा प्रकृतिका ससर्ग छूटकर शुद्ध चैतन्य मात्रमे आत्माकी स्थिति हो जाना मोक्ष है। ऐसा साख्य मान रहे हैं, अद्वैत परमानन्दमे निमग्न हो जाना परनि.श्रेयस है। ऐसा ब्रम्हाद्वैतवादी मान रहे है। अथवा अन्य प्रकारोसे बौद्ध, मीमासक, शाक्त योग आदि दार्शनिक मोक्षके स्वरूपको बोल रहे है। यो मोक्षके सूत्रोक्त स्वरूपकी युक्तिसहित सिद्धि हो जानेपर उक्त वैशेषिक आदि दार्शनिकोके अभीष्ट मोक्षवादका निराकरण कर दिया गया समझा जाय क्योकि उनका मुक्तिवाद प्रमाणोसे व्याघातको प्राप्त हो रहा है। इसी बातका ग्रन्थ-कार " शार्दूलविक्रीडित " छन्द में कही गई अगली वार्तिक द्वारा निवेदन कर रहे है।

स्वात्मांतर्बहिरंगकल्मपतति व्यासक्तिनिर्मुक्तता,
जीवस्येति वदंति शुद्धधिषणा युक्त्यागमान्वेषिणः।
प्राप्तिस्तस्यतु निर्वृतिः परतरा नाभावमात्रं न वा,
विश्लेषो गुणतोन्यथा स्थितिरपि व्याहन्यमानत्वतः॥ ४॥

जीवतत्त्वकी शुद्ध आत्मा यही है कि अन्तरग और बहिरग पापोकी लडी या सन्तानके विशेषतया चारो ओरसे वन्धजानेका अनन्तकाल तकके लिये मोक्ष हो जा[illegible] हित विचारिणी शुद्ध बुद्धिको धारनेवाले तथा युक्ति और आगमका अन्वेषण कर रहे पुरातन आचार्य ऐसा अक्षुण्ण सिद्धान्त कह रहे है। अत्यन्त उत्कृष्टपर नि.श्रेयस तो उस स्वात्माकी प्राप्ति हो जाना है। बौद्धोके मन्तव्य अनुसार प्रदीप निर्वाणवत् केवल अभाव हो जाना मोक्ष नही है। और वैशेषिकोके विचार अनुसार आत्माका विशेष गुणोसे विश्लेष (वियोग) हो जाना भी परमोक्ष नही है। अथवा अन्य प्रकारोके चैतन्य मात्र स्थिति होना या सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, सारूप्य आदिक भी मोक्ष नही है। क्योकि उक्त अलीक सिद्धान्तोमें व्याघात, पूर्वापर विरोध, गुणीका अभाव हो जाना आदि अनेक दोषो द्वारा बाधाये उपस्थित हो रही है जिनको कि पहिले प्रकरणोमे दिखाया जा चुका है।

इति दशमाध्यायस्य प्रथममान्हिकम्।

यहा तक तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालकार संज्ञक महान् ग्रन्थमे दशवे अध्यायका पहिला आन्हिक यानी प्रकरण समुदाय समाप्त हो चुका है।

कर्माष्टकप्रमोक्षणजाष्टगुणा अष्टमीधराधिष्ठाः,
सच्चित्क्षमादिरूपाः सिद्धाः पुरुषार्थिनोददतु बोधिम् ॥ १ ॥

++++

अगिले सूत्रका अवतरण यो है कि यहा कोई दार्शनिक कह सकता है कि यदि मोक्ष हो जानेपर कारण नही रहनेसे जीवका सकोच और विस्तार नही होता है। तब तो गतिके कारणोका अभाव हो जानेसे मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन भी नही हो सकेगा। जैसे कि नीचे या तिरछा गमन नही हो रहा है। तिस कारण जिस स्थानपर जीव मुक्त हुआ है। वहा ही अनन्तकाल तक उसी आसनसे स्थित बना रहेगा। ऐसी अनिष्टापत्तिके प्रवर्त्तनेपर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्रका झटिति प्रतिपादन करते है।

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकांतात् ॥ ५ ॥

उस मोक्षके अव्यवहित उत्तर कालमे मुक्त जीव स्वभावसे लोकके अन्तपर्यन्त ऊपरको चला जाता है अर्थात् जीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है। अस्वाभाविक यहा वहां ले जानेका निमित्त कारण कर्मबन्ध था जब कर्मबन्धका परिपूर्णरूपेण अभाव हो गया तो अपनी वैस्रसिक परिणति अनुसार जीव ऊपरको चला जाता है। लोकान्तसे ऊपर गमनका सहकारी कारण धर्मद्रव्य नही है। अत. लोकान्ततक जाकर वहाही सिद्धक्षेत्रमे विराजमान हो जाता है।

तद्ग्रहणं मोक्षस्य प्रतिनिर्देशार्थं, आङ्भिविध्यर्थः। एतदेव समभिधत्ते।

" तत् " शद्ब पूर्वका परामर्शक होता है। इस सूत्रमे तत् पदका ग्रहण है जो कि कुछ व्यवहित पडे हुये मोक्षका प्रतिनिर्देश करनेकें लिये है। ततका अर्थ प्रधान भी होता है। यहा प्रकरणमे मोक्ष प्रधान है। अत उसी प्रधानका प्रतिकृति कथन हो जाता है। " आलोकान्त " पदमे पडे हुये " आङ् " उपसर्गका अर्थ " अभिविधि " है। उच्चार्यमाण अर्थसे सहित अभिविधि होती है। अत लोकका ऊपरला अन्तिमस्थान भी गृहीत हो जाता है। इसही मन्तव्यको ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिको द्वारा कह रहे है।

तच्छद्वादगृह्यते मोक्षः सूत्रेस्मिन्नान्यसंग्रहः,
सामर्थ्यादिति तस्यैवानन्तरं तदनंतरं ॥ १ ॥
गच्छतीति वचःशक्तेर्मुक्तिदेशे स्थितिच्छिदा,
ऊर्ध्वमित्यभिधानात्तु दिगन्तरगतिच्युतिः ॥ २ ॥
अलोकान्तादिति ध्वानान्ना लोकाकाशगामिता,
मुक्तश्चेति त्वयं पक्षनिर्देशः कृतमित्यपि ॥ ३ ॥

इस सूत्रमें उपात्त किये गयें तत् शद्बसे दशम अध्यायके द्वितीय सूत्रोक्त मोक्षका ग्रहण किया जाता है। अन्य केवलसम्यक्त्व आदिका समीचीनतया ग्रहण नही हैं। यह व्यवस्था कहे विनाही प्रकरण अनुसार सामर्थ्यसे प्राप्त हो जाती है। इस कारण उस मोक्षके झटिति उत्तरकालही तदनन्तरका अर्थ है। इस सूत्रमे " गच्छति " यह वचन कहा गया है। इस शद्बकी सामर्थ्यसे मुक्तिप्रदेश ढाई द्वीपमेही जहा की तहा मुक्त जीवकी स्थिति बने रहनेका व्यवच्छेद कर दिया गया है। और सूत्रमे " ऊर्ध्वं " इस प्रकार कथन कर देनेसे तो ऊपरसे अतिरिक्त अन्य दिशाओमे मुक्त जीवोकी गति हो जानेकी व्यावृत्ति हो जाती है। तथा " आलोकान्तात् " इस प्रकार इस पदका निरूपण कर देनेसे तो अलोकाकाशमे भी चले जानेकी टेब रखनेका निषेध हो जाता है। और गच्छति क्रियासे आक्षिप्यमाशा ' मुक्त ' यह तो पक्षका निर्देश किया गया है। अर्थात् " मुक्तो जीवस्तदनन्तरमालोकान्तादूर्ध्वं गच्छति " इतना प्रतिज्ञावाक्य है। इसमे पडें हुये सभी पदोकी इतर व्यावृत्ति करते हुये सफलता दिखा दी गई है। धर्म-द्रव्य, और अधर्मद्रव्यका ऊपरला भाग तथा सभी अनन्तानन्त परमेष्ठियोके शिरोभाव यानी मूड सम्बन्धी उपरिम आत्मप्रदेश तो अखण्ड आकाशके खण्डरूपेण कल्पित कर लिये गये तत्रस्थ अलोकाकाशके अधस्तन प्रदेशोमे सस्पृष्ट हो रहे हैं।

हेतुनिर्देशस्तर्हि कर्तव्य इत्याह; —

विनीत शिष्य कह रहा है कि इस सूत्रानुसार कही गयी प्रतिज्ञाके हेतुका निर्देश तब तो करना चाहिये। हेतु प्रयोगके बिना कोरी प्रतिज्ञाका कोई परीक्षक आदर नही करता है। ऐसी जिज्ञासा उत्थित होनेपर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्रको कह रहे है।

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बंधच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥ ६ ॥

मुक्त जीव मोक्ष हो जानेके अव्यवहित उत्तर कालमे ऊपरको जाता है। (प्रतिज्ञा) पहिले सस्कृत कर दिये गये। ऊर्ध्वगमनका प्रयोग होनेसे (पहिला हेतु) लगे हुये कर्म, नोकर्म, परिग्रहोका संगछूट जानेसे (दूसरा हेतु) बन्धका छेद हो जानेसे (तीसरा हेतु)। तिस प्रकार ऊर्ध्वगमन करना रूप स्वाभाविक परिणति होनेसे (चौथा हेतु)। इन चार हेतुओंसे पूर्व सूत्रोक्त प्रतिज्ञाको साध लिया जाय।

एतच्च हेतुचतुष्टयं कथं गमकमित्याह; —

ये चारो हेतु उक्त प्रतिज्ञाके किस प्रकार ज्ञप्ति करानेवाले हो सकते हैं ? सम्भव है, इनकी साध्यके साथ व्याप्ति नही घटित होय। ऐसी निर्णेतु इच्छा प्रवर्तने-पर ग्रन्थकार अगिली वार्तिकको कह रहे है।

पूर्वेत्याद्येन वाक्येन प्रोक्तं हेतुचतुष्टयं,
साध्येन व्याप्तमुन्नेयमन्यथानुपपत्तितः ॥ १ ॥

" पूर्व प्रयोगात् " इत्यादि सूत्रवाक्य करके पूर्वप्रतिज्ञाके साधक चारो हेतु वहुत वढ़िया कहे जा चुके है जो कि हेतुकी प्राण हो रही अन्यथानुपपत्ति (अविना-भाव) से साध्य करके व्याप्त चारो हेतु है। यह वात विना कहेही ज्ञानलक्षण द्वारा समझ लेने योग्य है। अर्थात् इस सूत्रमे कहे गये चारो हेतु अपने ऊर्ध्वगमन साध्यके साथ व्याप्तिको रखते है। अत निर्दोप हेतु अपने साध्यको अवश्य सिद्ध कर डालेगे।

अत्रैव दृष्टान्त प्रतिपादनार्थमाह; —

इसही अर्थ निर्णयमे अन्वय व्याप्तिको धार रहे दृष्टान्तोंकी प्रतिपत्ति करा-नेके लिये सूत्रकार अग्रिम सूत्रको कह रहे है।

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरंडबीजवदग्निशिखावच्च ॥ ७ ॥

वेगसहित घुमा दिये गये कुम्हारके चाक समान १ लगे हुये लेपको हटा चुकी तूम्बीके समान २ अण्डीके वीजसमान ३ और अग्नीकी शिखाके समान ४ पूर्वोक्त चारो अनुमानोके ये चारो अन्वय दृष्टान्त है। अर्थात् " मुक्तो जीव ऊर्ध्वं गच्छति (प्रतिज्ञा) पूर्वप्रयोगात् (हेतु) आविद्धकुलालचक्रवत् (अन्वयदृष्टान्त) मुक्त जीव

ऊपरको चला जाता है। क्योंकि ऊपर जानेका पूर्वसेही प्रयोग लग रहा है। जैसे कि घुमा दिया गया चाक बिचारा दण्डके हट जानेपर भी पूर्व संस्कारवश गतिक्रिया करता है। १ " मुक्तो जीव ऊर्ध्वं गच्छति (प्रतिज्ञा) असगत्वात् (हेतु) व्यपगतलेपालबुवत् (अन्वय दृष्टान्त) मुक्त जीव ढाई द्वीपसे शीघ्र ऊपरको जाता है। क्योंकि उसक किसीका ससर्ग नही रहा है। जैसे कि जिस तूम्बीका सलग्न लेप दूर हो गया है। वह तूम्बी तहसे जलके ऊपर स्वभावत आ जाती है २। मुक्तो जीव· (पक्ष) ऊर्ध्वं गच्छति (साध्य) बन्धच्छेदात् (हेतु) एरण्डबीजवत् (अन्वयदृष्टान्त) मुक्त जीव ऊपरको जाता है। क्योंकि उसके बन्धनोका छेद हो गया है। जैसे कि अण्डीका बीज डोडासे निकल कर प्रथमही ऊपरको जाता है। ऐठपरी या अन्य भी कतिपय फलियोमें प्रथमसे ही ऐठका सस्कार रहता है। उनका बन्धन हटा देनेपर स्वभावत वे सिकुड जाती है। सस्कार अनुसार इठ जाती है। आदि, अण्डीके बीजमें ऊपर जानेका सस्कार उत्पत्ति कालसेही प्रविष्ट हो रहा है ३। मोक्षानन्तर जीव. ऊर्ध्वगच्छति (प्रतिज्ञा) तथागतिपरिणामात् (हेतु) अग्निशिखावत् (अन्वयदृष्टान्त) मोक्षके पश्चात् जीव ऊपरको जाता है। क्योंकि तिस प्रकार ऊर्ध्वगमन उसकी स्वाभाविक परिणति है। जैसे कि स्वत. स्वभाव अग्निकी शिखा ऊपरको जाती है ४। यो चारो पदार्थानुमानो द्वारा प्रतिवादीके सन्मुख सूत्रकार महाराजने मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन सिद्ध कर दिया है।

किमर्थमिदमुदाहरणचतुष्टयमुक्तमित्याह; —

ये चारोही उदाहरण भला किस प्रयोजनके लिये सूत्रकार महोदयने कहे है ? इस प्रकार किसीका तर्क उपस्थित हो जानेपर श्री विद्यानन्द स्वामी उसके समाधानार्थ इस अग्रिम वार्त्तिकको कह रहे है।

आविद्धेत्यादिना दृष्टं सद्दृष्टांतचतुष्टयं,
बहिर्व्याप्तिरपीष्टेह साधनत्वप्रसिद्धये ॥ १ ॥

" आविद्धकुलाल " इत्यादि सूत्र करके चारो श्रेष्ठ दृष्टान्त दिखा दिये गये है। यहा अनुमानमे इष्ट साध्यके अविनाभावी हो रहे प्रकृत हेतुमे साधनपनेकी प्रसिद्धिके लिये बहिरग व्याप्ति भी घटित हो रही है। भावार्थ–पक्षसे बाहर दृष्टान्तमें जो व्याप्ति दिखलाई जाती है। वह बहिरग व्याप्ति है। जैसे कि पर्वतमे आग है।

धूम होनेसे रसोई घरके समान । यहा पक्ष हो रहे पर्वतसे बाहर रसोई घरमे व्याप्ति साधी गई दिखलाई गई है । तथा सम्पूर्ण अनेकान्त आत्मक है । प्रमेय होनेसे अग्निके समान यहा पक्ष हो रहे सम्पूर्ण पदार्थोके भीतरही अग्निमें साध्य और हेतुकी व्याप्ति ग्रहण की गई है । यह अन्तर्व्याप्ति है । प्रकरणमे पक्षसे अतिरक्त चक्रतूम्बी आदि बाहर ले पदार्थोमे अन्वय व्याप्ति दिखलाई गई है । पक्षसे बाहर दृष्टान्तमे व्याप्तिको दिखलानेपर प्रतिवादीको अधिक विश्वास हो जाता है । क्योकि " लौकिकपरीक्षकाणां यत्र बुद्धिसाम्य स दृष्टान्त. " लौकिक और परीक्षक या वादी और प्रतिवादी दोनोंकी बुद्धि जिसको समानरूपेण मान्य कर रही है वह दृष्टान्त होता है । यो अन्तिम अध्यायमे सूत्रकारने हेतु दृष्टान्तपूर्वक मुक्तकी ऊर्ध्वगतिको सिद्ध कर दिया है । सूत्रकार महाराजके अन्य अध्यायोमे निरूपे गये तत्त्व सभी युक्ति, दृष्टान्तोसे भरपूर है । " स्थाली तडुल " न्याय अनुसार सभी तत्त्वार्थोमे विद्वान् पुरुष सामर्थ्यसे हेतु और दृष्टान्तोको लगा लेवे । न्यायशास्त्रके गम्भीर विद्वान् श्री विद्यानन्द स्वामीने इस ग्रथमे तत्त्वार्थसूत्रोक्त प्रमेयोकी हेतु दृष्टान्तपूर्वक सिद्धि करनेमे किसी भी प्रकारकी कसर नही छोडी है । विवक्षित तत्त्वको सिद्धिकी चूडापर मणि बना कर विराजमान कर दिया है । तभी तो यह ग्रन्थ सूत्रोक्त तत्त्वार्थ सिद्धान्तोका श्लोको द्वारा वार्त्तिकोमें रचित किया गया अलकार स्वरूप है । जिज्ञासु सज्जन उसी रहस्यको स्पष्टरूपेण देशभाषामय " तत्त्वार्थचिन्तामणि " मे परिज्ञातकर सफल मनोरथ होवे ।

हेतुदृष्टान्तानां यथासंख्यमभिसंबन्ध. । कथमित्याह; —

पूर्व सूत्रमे कहे गये चारो हेतुओ और इस सूत्रमे कहे गये चारो दृष्टान्तोका सख्या अनुसार यथाक्रमसे आगे पीछे सबन्ध कर दिया जाय । किस प्रकार सबन्ध करे ? ऐसी जिज्ञासा उत्थित होनेपर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकोको कह रहे है ।

ऊर्ध्वं गच्छति मुक्तात्मा तथा पूर्वप्रयोगतः,
यथाविद्धं कुलालस्य चक्रमित्यत्र साधनं ॥ २ ॥
नासिद्धं मोक्तुकामस्य लोकाग्रगमनं प्रति,
प्रणिधानविशेषस्य सद्भावाद्भूरिशः स्फुटं ॥ ३ ॥

नचानैकांतिकं तत्स्याद्विरुद्ध वा विपक्षतः,
व्यावृत्तेः सर्वथा नेष्ट विघातकृदिदं ततः ॥ ४ ॥

मुक्त आत्मा ऊपरको चला जाता है। (प्रतिज्ञा) तिस प्रकार पूर्वकालका प्रयोग होनेसे (हेतु) जैसे कि कुम्हारका गोल घुमा दिया गया चाक है। (अन्वयदृष्टात) इस अनुमानमे प्रयुक्त किया गया हेतु असिद्ध नही है। यानी "पूर्वप्रयोग" हेतु मुक्तात्मा पक्षमे विद्यमान है। क्योकि मोक्षकी तीव्र कामना कर रहे ससारी जीवका लोकके अग्रभागमे गमन करनेके लिये स्पष्ट रूपसे बहुत बार योगविशेष लगाये रहनेका सद्भाव है। जिस कार्यको करनेके लिये अनेक वार मनोयोग लग चुका है। उस प्रणिधानका इतना आवेश आत्मामे भरा हुआ है कि मनोयोगसे हट जानेपर भी उसके आवेश अनुसार मुक्त आत्मा ऊपरको चला जाता है। अत उक्त हेतु असिद्ध हेत्वाभास नही है। तथा कहा गया "पूर्वप्रयोग हेतु" अनैकान्तिक (व्यभिचारी) अथवा विरुद्ध हेत्वाभास भी नही है। क्योकि सभी प्रकारो करके विपक्षसे हेतु व्यावृत्त हो रहा है। विपक्षके एक देशमें रहता तो व्यभिचारी होता, बिपक्षमे सर्वांग रहता तो विरुद्ध होता, किन्तु यह हेतु विपक्षमे रहता ही नही है अत निर्दोप है। तिस कारण सिद्ध हुआ कि यह हेतु या अनुमान अभीष्ट साध्यका विघात करनेवाला नही है। प्रत्युत साध्यका साधक है।

असंगत्वाद्यथालाबूफलं निर्गतलेपनं,
बंधच्छेदाद्यथैरण्डबीजमित्यप्यतो गतं ॥ ५ ॥
ऊर्ध्वव्रज्यास्वभावत्वादग्नेर्ज्वाला यथेति च;
दृष्टान्तेऽपि न सर्वत्र साध्यसाधनशून्यता ॥ ६ ॥

मुक्त जीव ऊपरको जाता है। सगरहित हो जानेसे जैसे कि लेपनको निकाल चुका तूम्बीफल ऊपरको आ जाता है। भावार्थ--तूम्बीफलपर मिट्टीका लेप कर देनेपर जलमे डाल देनेसे वह नीचे पड जाती है। और वही तूम्बी जलके क्लेद द्वारा मिट्टीके बन्धनको पृथक् कर हलकी हो चुकी ऊपरही चली जाती है। तिसी प्रकार कर्मके बोझसे आक्रान्त हो रहा आत्मा ससारमें डूबा रहता है, कर्मससर्गके छूट जानेपर

शीघ्र ऊपरही चला जाता है। मट्टी, पत्थर आदि पदार्थ अधोगौरवशील हैं, वायु तिर्यग्गौरव स्वभाव है। किन्तु आत्मा ऊर्ध्वगौरवशील है। यह तीसरा अनुमान भी इन्ही युक्तियोसे परिज्ञात हो जाता है कि जिस प्रकार एरण्डका बीज बन्धनका छेद हो जानेसे ऊपरको जाता है। उसी प्रकार आत्माका कर्मबन्ध टूट जानेपर ऊपरको चला जाता है। जब तक वौडीमे अण्डी थी तब भी एरण्ड बीजको ऊर्ध्वगमनकी प्रेरणा लग रही थी अवरोधकके हट जानेपर वह ऊपर उछल जाता है। उसी प्रकार रोकनेवाले गति, जाति आदि कर्मबन्धोके छेद हो जानेसे मुक्तकी गति ऊपर हो रही जान ली जाती है। चौथा अनुमान यो है कि देशमें जानेकी टेव होनेसे जैसे अग्निकी ज्वाला ऊपरको जाती है। उसी प्रकार मुक्त आत्मा ऊपरको गति करता है। इन सभी दृष्टान्तोमें साध्य और साधनसे रीतापन नही है। यानी चारो भी दृष्टान्तोमे नियत हेतु और साध्य सुघटित पाये जाते है। चारो अनुमानोमे प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण तीनों अग सूत्रकारने कण्ठोक्त कर दिये है। बालकोको व्युत्पत्ति करानेके लिये उपनय और निगमन भी प्रयुक्त किये जा सकते है।

असंगत्वबन्धच्छेदयोरर्थाविशेषादनुवादप्रसंग इति चेन्नार्थान्यत्वात्। बन्धस्यान्योन्यप्रवेशे सत्यविभागेनावस्थानरूपत्वात्, संगस्य च परस्य प्राप्तिमात्रत्वात्। नोदाहरणमलाबूर्मारुतादेशादिति चेन्न, तिर्यग्गमनप्रसगात् तिर्यग्गमनस्वभावत्वान्मारुतस्य।

यहा कोई आक्षेप कर रहा है कि दूसरे असगत्व हेतु और तीसरे बन्धच्छेद हेतु इन दोनोमें कोई अर्थ की विशेषता नही दिखती है। परद्रव्यके ससर्गसे रहित हो जाना और परद्रव्यके बन्धका छिद जाना दोनो एकही बात है। अतः तीसरे हेतुका कहना तो मात्र दूसरेका अनुवाद कर देना है। ग्रन्थकार कहते है कि ऐसा दोष प्रसग तो नही उठाना क्योंकि दोनोका अर्थ न्यारा न्यारा है। देखिये बन्धने योग्य आत्मा और कर्मका परस्पर प्रदेश प्रवेश होते सन्ते विभाग रहित होकर स्थित हो जाना स्वरूप ती बन्ध है। जो कि एकपनकी बुद्धि उत्पन्न कहता है। और प्रकृत द्रव्यके साथ दूसरे पदार्थको छू लेना मात्र प्राप्ति हो जाना सग है "परस्पर प्राप्ति" पाठ भी अच्छा है। दूधमे बूरेका बन्ध हो रहा है। और दूधमें डाल दिये गये सौवर्ण ककणका ससर्ग है। यों बन्ध और सयोगके अर्थमें अन्तर है। यहा कोई प्रतिवादी कह रहा है कि मुक्त जीवका स्वभावसेही ऊर्ध्वगमन हो जानेमे तूम्बीका उदाहरण ठीक नही है क्योकि तूम्बी

तो वायुके आवेशसे जलके ऊपर उछल आती है। मुक्त जीवको कोई ऊपर नही उठा देता है। अत दृष्टान्त विषम है। आचार्य कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि वायुका तिरछा गमन करनेका स्वभाव होनेसे तूम्वीके तिरछे गमन होनेका प्रसग आ जावेगा। वायुसे प्रेरित होकर तूम्वी जाती तो तिरछी जाती, किन्तु तूम्वी जलमे ऊपर जाती है। अत. वह किसीकी प्रेरणासे नही किन्तु स्वभावसेही ऊपरको गमन करती है। यों तूम्बी दृष्टान्त सम है।

नन्वेवमूर्ध्वगतिस्वभावस्यात्मनः ऊर्ध्वगत्यभावेऽपि तदभावप्रसंगोऽग्नेरौष्ण्यवत् तदभावेऽभाववदिति चेन्न, गत्यन्तरनिवृत्त्यर्थत्वात् तदूर्ध्वगतिस्वभावस्य, ऊर्ध्वज्वलनवद्वा तद्भावे नाभावः। वेगवद्द्रव्याभिघातादनलस्योर्ध्वज्वलनाभावेऽपि तिर्यग्ज्वलनसद्भावदर्शनात्।

यहा मुक्त जीवकी सदा ऊर्ध्वगति होती रहना माननेवाले मण्डलीकी ओरसे पूर्वपक्ष उठाया जा रहा है कि जैसे अग्निका स्वभाव उष्णता है। उस उष्णस्वभाववाले अग्निके उष्णपनका अभाव हो जानेपर मूल अग्निका भी जिस प्रकार अभाव हो जाता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वगमन स्वभाववाले मुक्त आत्माकी ऊर्ध्वगतिका अभाव हो जानेपर भी उस मुक्त आत्माके अभाव हो जानेका प्रसग आता है। जैसे कि उष्णताके अभाव हो जानेपर अग्निके अभाव हो जानेका दृष्टान्त दिया जा चुका है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योकि उस मुक्तात्माके ऊर्ध्वगमन स्वभावका तो अन्य गतियोकी निवृत्तिके लिये कथन किया गया है। जैसे कि अग्निका स्वभावसे ऊपरकी ओर ज्वाला उठना होता है। उस ऊर्ध्वज्वलनका अभाव हो जानेपर अग्निका अभाव नही हो जाता है। देखिये ऊपर वेगवाले द्रव्यका सयोग विशेष हो जानेसे अग्निका ऊर्ध्वज्वलन नही भी है। तो भी अग्निके तिरछी ओर जलनेका सद्भाव देखा जाता है। भावार्थ–सुनार या लुहार धातुको गलाते समय तिरछी वायुसे अग्निज्वालाको तिरछा वहा देते है, एक फुट ऊचे चूल्हेपर दो फुट ऊची अग्निज्वालापर तवा धर देनेसे अग्निशिखाये तिरछी फैल जाती है। वेगवान् या बलवान् पदार्थ ज्वालाओको तिरछा कर देते है। वेगवाली वायुसे प्रेरित होकर गैसके हण्डेमे प्रदीपज्वाला, या सुनारोके प्राइमस चूल्हेकी ज्वाला नीचे प्रदेशोकी ओर जलती है। यो अग्निका अभाव नही हुआ है। और तिरछा चलना, नीचैर्ज्वलन अग्निका स्वभाव भी नही माना जाता है।

इसी प्रकार यदि मुक्तका गमन होगा तो ऊपरही होगा। अन्य दिशाओमे नही होगा केवल इतनाही अभीष्ट है ऊपर गमन होताही रहे यह मन्तव्य आर्हतोको इष्ट नही है। यो उपरिम तनुवातके अग्रभागमे मुक्तोके ऊर्ध्वगमनका अभाव होते हुये भी मुक्त द्रव्यका अभाव नही हो पाता है। सभव है पूर्ण कारण सामग्री मिल जाती तो मुक्तका ऊर्ध्वगमन होता रहता, जैसे कि घोडेके शिरपर भी कठिनावयव सीग बनानेकी सामग्री मिल जाती तो बैलके समान अश्वके भी विषाण उठ निकलते। किन्तु जब असभाव्य कार्योका प्रतिबन्धक कारण विद्यमान है तो ऊर्ध्वगमन नही हो पाता है। "प्रतिबन्धकाभाववत्त्वेसति कारणतावच्छेदकावलीढधर्मावच्छिन्नाविकलत्व सामग्री"।

नन्वेवं मुक्तस्य लोकात्परतः कुतो नोर्ध्वगतिरित्याह;—

पुन. किसीको यह शका रह गयी है कि मुक्त जीवका लोकसे परली ओर ऊपर किस कारणसे ऊर्ध्वगमन नही हो पाता है? बताओ अर्थात् अग्निका तो वेगवाले द्रव्यके साथ सयोग हो जानेसे तिरछा ज्वलन हो जानेपर अभाव नही हो सकना समुचित है। मुक्त जीवके तो फिर स्वभाव गतिको लोपनेवाला कोई हेतु नही है। अत: ऊर्ध्वगमन होनेको विराम नही मिलना चाहियें, ऊर्ध्वगमन अनन्तकाल तक होते रहना चाहिये ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर सूत्रकार महोदय इस अग्रिम सूत्रको कह रहे है।

धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण जीव और पुद्गलोके गमन करनेमे सहकारी कारण हो रहे धर्मास्तिकायका लोकके ऊपर अभाव होनेसे लोकाग्रके उपरिम अलोकमे मुक्त जीवका गमन नही हो पाता है। भावार्थ--लोक और अलोकके विभागकी अन्यथा अनुपपत्ति अनुसार धर्मास्तिकायकी सिद्धि हो रही है। धर्मद्रव्य अनेक गुणोका पिण्ड है त्रिकाल अस्तित्वको लिये हुये है। लोकाकाश बरोबर व्यञ्जन पर्यायको धार रहा प्रदेशोका प्रचय स्वरूप है। ऐसा अमूर्त धर्मास्तिकाय अलोक आकाशमे नही है। अत. उदासीनकरणके नही होनेसे अलोकाकाशमे किसीका गमन नही हो पाता है।

कः पुनर्धर्मास्तिकाय इत्याह; —

यह धर्मास्तिकाय फिर क्या पदार्थ है? ऐसी विस्मरणशील शिष्यकी जिज्ञासा उठनेपर ग्रन्थकार समाधानार्थ अग्रिम वार्त्तिकोको कह रहे है।

उक्तो धर्मास्तिकायोऽत्र गत्युपग्रहकारणं।
तस्याभावान्न लोकाग्रात्परतो गतिरात्मनः ॥ १ ॥
एवं निःशेषमिथ्याभिमानो मुक्तौ निवर्तते,
युक्त्यागमबलात्तस्याः स्वरूपं प्रति निर्णयात् ॥ २ ॥

इस " तत्त्वार्थाधिगम " ग्रन्थमे पाचवे अध्याय धर्मास्तिकायको कहा जा चुका है । गति परिणत जीव पुद्गलके गमन उपकारका सहकारी करण धर्म द्रव्य है । उसका अभाव हो जानेसे मुक्तात्माकी लोकाग्रसे परली ओर ऊपरको गति नही हो पाती है । उपरिम तनुवातके नौ लाखवे भाग क्षेत्र या पन्द्रहसौवे भाग अथवा इनके मध्यवर्त्ती भागोमे सिद्ध विराज रहे है जो कि सम्यक्त्व आदि अष्ट गुणोसे सहित है, कर्मरहित है । सादि नित्य है, कृतकृत्य है, लोकालोक ज्ञाता है, दृष्टा है, चरम शरीरसे कुछ न्यून आकृतिको लिये हुये है, रूपादिरहित है । गति आदि नौ मार्गणाओसे रीते है । यो अनेक गुण या स्वभावोसे सिद्धोका निरूपण किया जाता है । बौद्ध, नैयायिक आदि दार्शनिकोने जैसा मुक्त आत्माका स्वरूप माना है वह प्रामाणिक नही है । उनका साभिमान मन्तव्य मिथ्या है । इस प्रकार मुक्त अवस्थामे अन्य दार्शनिकोके सम्पूर्ण असत्य मन्तव्योकी निवृत्ति हो जाती है । क्योकि युक्ति और आगमकी सामर्थ्यसे उस मोक्षके स्वरूपके प्रति निर्णय कर दिया गया है । सत्यमार्गमे मिथ्या अभिमानोकी गति नही हो पाती है । अत. उक्त निरूपण अनुसार मोक्ष सम्बन्धी सम्पूर्ण विवादोकी निवृत्ति कर दी गयी समझो ।

अथ किमेते मुक्ता. समानाः सर्वे किं वा भेदेनापि निर्देश्या इत्याशकायामिदमाह; —

इसके अनन्तर कोई विनीत जिज्ञासु प्रश्न करता है कि ये मुक्त जीव सबके सब क्या समान है ? अथवा क्या भिन्न भिन्न स्वरूपसे भी कथन करने योग्य है ? जिसके कि अवलम्बपर उनको जानकर परमात्माओका ध्यान लगाया जा सके, बताओ, इस प्रकार समुचित आशका उपस्थित हो जानेपर सूत्रकार महाराज इस पावन अन्तिम सूत्रको स्पष्टतया कह रहे है ।

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनांतरसंख्याल्प-बहुत्वतः साध्याः ॥ ९ ॥

१ क्षेत्र २ काल ३ गति ४ लिंग ५ तीर्थ ६ चारित्र ७ प्रत्येकबुद्ध बोधितबुद्ध ८ ज्ञान ९ अवगाहना १० अन्तर ११ सख्या १२ अल्पबहुत्व, इन बारह अनुयोगो करकें सिद्ध जीवोका विभिन्न प्रकारोसे चिन्तन करना चाहिये। भावार्थ--नैयायिकोने सम्पूर्ण मुक्त जीवोको सर्वथा सदृश स्वीकार किया है। अद्वैतवादी तो सभी मुक्त जीवोका परब्रम्हमे लीन हो जानेको मोक्ष मान बैठे है। इसी प्रकार अन्य दार्शनिकोने भी स्वेच्छा परिकल्पित मुक्त जीवोमे भेद, अभेद, विभेद कल्पित कर रक्खा है। किन्तु जैन सिद्धात अनुसार मुक्त जीवोके केवलज्ञान, सिद्धत्व, कर्मनोकर्मरहितत्व, अगुरुलघुत्व, क्षायिक लब्धिया, अमूर्तत्व आदि भावोमे कोई अन्तर नही है। तथा पूर्व जन्मोमे कर्मोदय अनुसार हुये गति, जाति, त्रसत्व आदि कारणो अनुसार भी कोई भेद अब नही रहा है। तथापि प्रत्युत्पन्न नय और भूतानुग्रह नय इन दो नयोकी विवक्षाके वशसे क्षेत्र,काल, आदि भेदो द्वारा सिद्ध भगवान्का ध्यान किया जा सकता है। ज्ञापक कारणोकी विभिन्नता हो जानेसे ज्ञेयतत्त्वकी अन्तस्तलस्पर्शिनी ज्ञप्ति हो जाती है। ध्यान भी अन्तर्मुहूर्तसे अधिक ठहरता नही है। झट दूसरी ओर उपयोग चला जाता है। अत स्वकीय शुद्धात्माके चिन्तन करनेमे मुक्त जीवोका स्वरूप चिन्तन करना आवश्यक कारण है। भगवान् ऋषभदेवका क्षेत्र, काल, अवगाहना आदि द्वारा चिन्तन कर चुकनेपर शान्तिनाथ सिद्ध परमेष्ठीके क्षेत्र आदिका विचार करो पुन नेमिनाथ, पार्श्वनाथ आदिके चारित्र आदिका ध्यान लगाओ। यो क्रमानुसार उत्कट प्रयत्न करते हुये स्वकीय शुद्धात्म चिन्तन द्वारा मुमुक्षु जीव मोक्षमार्गमे सलग्न हो जाता है।

केन रूपेणसिद्धाः क्षेत्रादिभिर्भेदंनिर्देष्टव्या इत्याह; —

यहा कोई तत्त्वबभुत्सु आज्ञाकारी शिष्य प्रश्न करता है कि किस स्वरूपसे क्षेत्र, काल आदि करके बारह भेदो द्वारा सिद्ध परमेष्ठी निर्देश कर लेने योग्य है? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार महोदय इन अग्रिम वार्त्तिकोका स्पष्ट निरूपण कर रहे है।

सिद्धाः क्षेत्रादिभिर्भेदैः साध्याः सूत्रोपपादिभिः।
सामान्यतो विशेषाच्च भावाभेदेऽपि सन्नयैः ॥ १ ॥

इस सूत्रमे ग्रहण किये गये क्षेत्र आदि भेदो द्वारा श्रेष्ठ नयो करके सिद्धोकी विकल्पना कर लेनी चाहिये। यद्यपि क्षायिक सम्यक्त्व, सिद्धत्व आदि भावो करके सम्पूर्ण सिद्धोका सादृश्यमुद्रया अभेद हो रहा है। तथापि तिर्यकसामान्य द्वारा समान हो रहे सम्पूर्ण सिद्धोकी तद्व्याप्य सामान्य और विशेषो करके श्रेष्ठ नय योजनिका अनुसार चिन्तनाये की जानी चाहियें। स्मृतियोका समन्वाहारही ध्यान वन वैठेगा।

क्षेत्रं स्वात्मप्रदेशाः स्युः सिद्ध्यतां निश्चयान्नयात्,
व्यवहारनयाद्व्योमसकलाः कर्मभूमयः ॥ २ ॥
मनुष्यभूमिरप्यत्र हरणापेक्षया मता,
हृत्वा परेण नीतानां सिद्धेः सूत्रानिवारणात् ॥ ३ ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोमेसे निश्चयनय अनुसार क्षेत्रका विचार करनेपर विवक्षित द्रव्यके स्वकीय प्रदेशही स्वक्षेत्र समझे जाते हैं। गृह, आकाश आदिको व्यवहार नयसे घटादिका क्षेत्र कह दिया जाता है। प्रकरणमे सिद्धिको प्राप्त हो रहे मुक्त जीवोका निश्चय नयसे क्षेत्र तो स्वकीय आत्माके असख्यात प्रदेशही हो सकते हैं जिनका कि मुक्त आत्म द्रव्यके साथ चोखा अभेद हो रहा है। हा, व्यवहार नयसे आकाश या पाच मेरु सम्बन्धी भरत, ऐरावत, विदेह क्षेत्र अनुसार सम्पूर्ण पन्द्रहो कर्म भूमिया भी क्षेत्र हैं। क्योकि सभी पदार्थ आकाशमे ठहरते है। अत सामान्य रूपसे सबका क्षेत्र आकाश है। सम्पूर्ण कर्मभूमियोंमे जन्म लेकर स्वेच्छापूर्वक तपश्चरण कर क्षपक श्रेणी अनुसार केवलज्ञानको प्राप्त कर कुछ कालतक ससारमे ठहरते हुये जीव कर्म भूमियोसेही मोक्ष प्राप्त करते है। अत भूत पर्यायको ग्रहण करनेवाली भूतनयकी अपेक्षा जन्मसे प्रारम्भ कर चौदहवे गुणस्थानतक सिद्धोका क्षेत्र पन्द्रह कर्मभूमिया है। हा, सहरणकी अपेक्षासे पैंतालीस लाख योजन लम्वी चौडी गोल मनुष्य भूमि भी सिद्धोका क्षेत्र माना गया है। कारण कि दूसरे शत्रुभूत विद्याधर या देवद्वारा हर लेने पर कही भी मनुष्य लोकमे फैंक दिये गये या ले जायेगा ये जीवोकी वहासे सिद्धि हो जानेका आगम सूत्रोमे निवारण नही किया गया है। पैंतालीस लाख योजन प्रमाण सिद्ध क्षेत्र सर्वत्र ठसाठस अनन्तानन्त सिद्धोसे भरा हुआ है। लवणसमुद्र कालोदधि समुद्र, सुमेरुपर्वतकी चूलिका, नदी, हृद, ज्वालामुखी पर्वत उपसमुद्र आदि सभी तपस्वियोके

अगम्य भी स्थलोके ऊपर यानी ढाई द्वीपके सभी भागोके ऊपर सिद्धलोकमे अनन्तानन्त सिद्ध विराज रहे हे। अतः प्रतीत होता है कि उपसर्ग प्राप्त हो कर अनन्तकृत्केवली उन अगम्य स्थानोसे मोक्ष गये हे। ढाई द्वीपसे वाहर मनुष्य शरीर कथमपि नही जा पाता है। जैसे कि अग्निमे होकर पारा अक्षुण्ण नही निकल पाता है। बिजलीके तीक्ष्ण प्रवाह (करेन्ट) का जीवित, अनावृत, मानव शरीर उलघन नही पाता है। अतः मनुष्य लोकको भी सहारकी अपेक्षा भूतभाव प्रज्ञापननय अनुसार सिद्धोका क्षेत्र कह दिया गया है।

> तेषामेकक्षणः कालः प्रत्युत्पन्ननयात्मनः।
> भूतप्रज्ञापनादेव स्यात्सामान्यविशेषतः ॥ ४ ॥
> उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्जाताः सिद्ध्यन्ति केवल।
> चतुर्थकाले पर्यन्तभागे काले तृतीयके ॥ ५ ॥
> सर्वदा हरणापेक्षा क्षेत्रापेक्षा हि कालभृत्।
> सर्वक्षेत्रेषु तत्सिद्धौ न विरुद्धा कथंचन ॥ ६ ॥

उन सिद्ध जीवोका प्रत्युत्पन्ननय यानी ठीक अवस्थाको कहनेवाले नय स्वरूपसे तो काल एकही क्षण है। अर्थात् कर्मोका नाश कर उस एकही क्षणमें सिद्ध हो जाते है। हा, पहिले कालोमे हो चुकी परिणतियोको वढिया समझानेवाले भूतप्रज्ञापन नयसे सामान्य विशेषकी अपेक्षा करके काल अनुयोग यो खतिपाना चाहिये, कि सामान्यरूपसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोमे जन्म ले चुके कतिपय जीव सिद्ध हो जाते है। उत्सर्पिणी या अवसर्पिणीके विशेष रूपमे विचार करनेपर तो अवसर्पिणीके पूरे चौथे कालमें और तीसरे कालके पर्यन्त भागमे सिद्धि हो जाती है। हा, उत्सर्पिणीके तो तीसरे दुःषमसुषमा कालमे सिद्ध होते हैं। हर ले जानेकी अपेक्षा सभी कालोमे सिद्धि है। जब कि देवकुरु उत्तर कुरुओमे सदा सुषमसुषमा काल वर्त रहा है। हरि और रम्यक वर्ष क्षेत्रोमें सर्वदा सुषमाकाल विद्यमान है। हैमवतक और हैरण्यवतकमे सदा सुषमदुःषमा समय हो रहा है। यदि कोई विद्याधर या देव किसी चरम शरीर मोक्षगामी जीवको तपश्चरण करते हुये उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमियोंमे हर ले जाय तो वहासे भी पहिले, दूसरे, तीसरे कालोमे सिद्धि हो जाना सम्भवता है। भरत, ऐरावत, क्षेत्रोमे छठे

कालकी प्रवृत्ति हो जानेपर विदेह क्षेत्रसे मुमुक्षुका हरण कर भरत, ऐरावतोमे धर दिया जा सकता है । तब जो मुक्ति होगी वह छठे कालमे मुक्ति हुई समझी जावेगी यो क्षेत्रकी अपेक्षा सिद्धि हो जाना सभी कालोको धार रहा है । क्योकि सभी क्षेत्रोमे उन अन्तकृतकेवलियोकी सिद्धि माननेपर किसी भी प्रकारसे विरोध नही पडता है । अवसर्पिणीके चौथें कालमें लेकर पाचवे कालमे मोक्ष जाना अविरुद्ध है । पाचमे कालमे उत्पन्न हुये जीवको उस पर्यायसे मोक्ष नही हो सकती है ।

सिध्दिः सिध्दगतौ पुंसां स्यान्मनुष्यगतावपि ।
अवेदत्वेन सावेदात्रितया द्वास्तिभावतः ॥ ७ ॥
पुल्लिंगेनैव तु साक्षाद्द्रव्यतोन्या तथागम--
व्याघाताद्युक्तिबाधाच्च स्त्र्यादिनिर्वाणवादिनां ॥ ८ ॥
साक्षान्निर्ग्रन्थलिंगेन पारंपर्यात्ततोन्यतः ।
साक्षात्सग्रंथलिंगेन सिध्दो निर्ग्रन्थता वृथा ॥ ९ ॥

तीसरे गतिके अनुयोगमे यह कहना है कि प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा सिद्धगतिमें ही पुरुपोकी सिद्धि हो रही है । हा, भूतप्रज्ञापनसे मनुष्योकी सिद्धि मनुष्यगतिमें भी हो रही कही जाती है । उससे भी पहिले पर्यायका यदि विचार किया जायगा तो चारो भी गतियोमे आकर मनुष्य पर्याय लेते हुये तद्भव मोक्ष हो सकता है । लिंगकी अपेक्षा यो विचार है कि वस्तुत वेदरहितपनें करके वह सिद्धि होती है । क्योकि दशमे गुणस्थानसे प्रारम्भ कर चौदहवेके अनन्ततक वेद कर्मका उदयही नही है । हा, अतीत परिणतियोका विचार करनेपर तो भावसे नवमे गुणस्थानतक तीनो वेदोका उदय है । अत भावलिंगकी अपेक्षा तीनो वेदोसे सिद्धि हो जाती है , द्रव्य वेदकी अपेक्षासे तो पुरुपलिंग करकेही साक्षात् मोक्ष होता है । तिस ढगसे अन्य प्रकार व्यवस्था माननेपर स्त्री, नपुसक, पशु पक्षी आदिका भी निर्वाण होना कहनेवाले श्वेताम्बर, वैष्णव आदि वादियोके यहा तो सदागमद्वारा व्याघात दोप उपस्थित होगा, तथा युक्तियोसे भी वाधा प्राप्त होगी । सर्वज्ञोक्त आगमोमें द्रव्य पुरुपकाही मोक्ष जाना लिखा है । मनुष्यही क्षपक श्रेणीपर चढ सकता है, स्त्रियोके जब विशेप ऋद्धियाही नही हो पाती है । तो तद्भव

मोक्षका हेतु हो रहा यथाख्यातसंयम तो कथमपि नही हो सकता है। स्त्रिया (पक्ष) मोक्षके हेतु माने गये, सयमको साक्षात् नही धारती है। (साध्य) क्योकि वे साधुओके वन्दनायोग्य नही है। (हेतु) जैसे कि गृहस्थ विचारे साधुओके वन्दनीय नही होनेसे मोक्ष हेतु सयमके धारी नही है। (अन्वयदृष्टान्त)। अन्य भी अनेक आगमवाक्य और युक्तियोसे स्त्रियोका तद्भवसे मोक्ष हो जाना सिद्ध नही हो पाता है। श्वेताम्बरोके यहा वदतो व्याघात दोप आ रहा है। एक ओर स्त्रियोको मोक्ष नही हो सकनेके कारणोका निरूपण है, दूसरी ओर स्त्रियोको मोक्ष हो जानेका आदेश (फतवा) दे दिया है। प्रमेयकमल मार्तण्डमे स्त्रीमुक्तिका विशदरूपेण परिहार किया गया है। लिगका दूसरा विचार निर्ग्रन्थलिग और सग्रन्थलिग स्वरूपसे भी किया जाता है। अव्यवहित रूपसे तो निर्ग्रन्थ यानी परिग्रहरहितपन लिग करके ही मोक्ष होती है। हां, परम्परासे उससे अन्य सग्रन्थलिगसे भी मोक्षोपाय प्रदर्शित किया गया है। श्वेताम्बर या पौराणिक सम्प्रदाय अनुसार यदि सग्रन्थलिग करके सिद्धि मानी जायगी तो निर्ग्रन्थता व्यर्थ पडेगी। प्राय. सभी सम्प्रदायोमे दीक्षा, वैराग्य, परिग्रह त्यागको ही उच्चकोटिका मोक्ष मार्ग स्वीकार किया गया है।

सति तीर्थकरे सिद्धि रसत्यपि च कस्यचित्,
भवेदव्यपदेशेन चारित्रेण विनिश्चयात् ॥ १० ॥
तथैवैकचतुःपञ्चविकल्पेन प्रकल्पते,

तीर्थकी अपेक्षा यो सिध्दिकी चिन्तना की जाय कि तीर्थकर जिनेन्द्रके विद्यमान होनेपर जीवोकी सिध्दि होती है। और किसी किसी जीवकी तीर्थकरोके नही होनेपर उनके वारेमें मोक्ष हो जावेगी। चारित्र करके सिध्दोकी यो भावनाकी जाय कि वस्तुत प्रत्युत्पन्न नयद्वारा विशेप निर्णय किया जाय उससे तो शद्बो द्वारा नही कथन करने योग्य चारित्र करके सिध्दि होती है। छठे गुणस्थानसे प्रारम्भ कर चौदहवे गुणस्थानतक यथायोग्य सामायिक, आदि चारित्र पाये जाते है। पाचवे गुणस्थानमे देश चारित्र कहा जाता है। यो इन चारित्रोका नामनिर्देश है। चौदहवे गुणस्थानके अन्तिम समयवर्त्ती चारित्रका नाम यथाख्यात चारित्र है। जो कि आत्माके चारित्र गुणकी परिणति है। द्रव्योके गुण अनादिसे अनन्तकाल तक नित्य रहते है। हा, उनकी स्वभाव

विभाव पर्यायें पलटती रहती हैं। चौदह गुणस्थानोमें मिथ्याचारित्र, अचारित्र देश-चारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यात चारित्र ये चारित्रके नाम निरूपणीय हैं। किन्तु गुणस्थानोसे अतिक्रान्त हो जानेपर सिद्धि होनेके आद्यक्षणमे चारित्रका कोई शद्व द्वारा निर्देश नही किया जाता है। किन्तु चारित्र गुणका स्वाभाविक परिणाम विद्यमान है। अत शद्व द्वारा अब व्यक्तव्य हो रहे चारित्र करके साक्षात् सिद्धि होना माना गया है। हा, भूत पूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे तिस प्रकार विचार करनेपर एक, चार, पाच भेदोवाले चारित्रसे सिद्धि होनेका समर्थन किया जाता है। अर्थात् अव्यवहित रूप करके एक यथाख्यात चारित्रसेही सिद्धि होगी। हां, व्यवधान देकर तो सामायिक आदि चारो अथवा परिहार विशुद्धि चारित्रसे अधिक हो रहे पाचो भी चारित्रोसे मोक्ष हो जाता है। लाखो मोक्षगामियोसे एक दोकेही परिहार विशुद्धि सयम हो पाता है। अत पाचो सयमोका सभव जाना किसी किसीका ही कहा गया है।

परोपदेशशून्यन्यत्वात्सिद्धौ प्रत्येकबुद्धता ॥ ११ ॥
परोपदेशतः सिद्धौ बोधितः प्रतिपादितः
ज्ञानेनैकेन वा सिद्धिर्द्वाभ्यां त्रिभिरपीष्यते ॥ १२ ॥
चतुर्भिः स्वाभिमुख्यस्यापेक्षायां नान्यथा पुनः ।

परोपदेशकी शून्यता होनेसे स्वशक्ति अनुसार सिद्धि हो जानेपर जीवकी प्रत्येक बुद्धता व्यवच्छित है। और परोपदेशसे सिद्धि होनेपर बोधित बुद्ध समझाया गया है। अर्थात् परम्परापर लक्ष्य दिया जायगा तो प्रत्येकबुद्धको भी कभी पहले देशना-लब्धि, शास्त्र श्रवण, परोपदेश, मिलही चुका होगा और बोधितबुद्ध भी मोक्ष जानेके अव्यवस्थित पूर्व परोपदेशको नही सुनता रहता है। यो सर्वत्र स्याद्वाद सिद्धान्त अनु-प्रविष्ट हो रहा है। आठवे ज्ञान अनुयोग करके सिद्धोकी यो विकल्पना की जाय कि प्रत्युत्पन्नग्राही नयके आदेशसे एक केवलज्ञान करके ही सिद्धि होगी। सिद्धलोकको जा रहे मुक्त जीवके उस समय अकेला केवलज्ञान है। हा, भूतपूर्व अवस्थाका निरूपण कर-नेसे तो मति, श्रुत, दो ज्ञानोसे या मति, श्रुत, अवधि तीन ज्ञानोसे अथवा चारो क्षायोपशमिक ज्ञानोसे सिद्धि होना अभीष्ट किया गया है। अर्थात् केवलज्ञानके पूर्वमें नियमत श्रुतज्ञान होता है। लब्धिरूपसे चारो ज्ञान हो सकते हैं। स्वात्मलब्धिके अभिमुख

कोई जीव मतिज्ञानसे होता है, अन्य जीव अवधिज्ञानसे रूपीद्रव्योकी स्पष्ट ज्ञप्ति कर आत्मलब्धिके अभिमुख होता जाता है, तीसरा जीव श्रुत या मन.पर्ययसे भी श्रेणीके योग्य ज्ञानधाराको उपजाता है। अत. स्वज्ञानके अभिमुख हो जानेकी अपेक्षा होनेपर दो, तीन, चार ज्ञानोका व्यवहितमे होना कहा गया है। फिर अन्य प्रकारोस नही कहा गया है।

अवगाहनमुत्कृष्टं सपादशतपञ्चकं ॥ १३ ॥
चापानामर्धसंयुक्तमरत्नित्रयमप्यथ,
मध्यमं बहुधा सिध्दिस्त्रिप्रकारेऽवगाहने ॥ १४ ॥
स्वप्रदेशे नभोव्यापिलक्षणे संप्रवर्तते,
अनन्तरं जघन्येन द्वौ क्षणौ सिध्द्यतां नृणां । १५ ॥
उत्कर्षेणपुनस्तत्स्यादेतेषां समयाष्टकं ।
अंतरं समयोस्त्येको जघन्येन प्रकर्षतः । १६ ।
षण्मासाः सिध्द्यतां नाना मध्यमं प्रतिगम्यतां ।

अवगाहनाकी अपेक्षा सिद्धोका परामर्श यो किया जाय कि सिद्धोकी उत्कृष्ट अवगाहना सवा पाचसौ धनुष है जो कि बडे धनुषोसे पौने सोल्ह सौ धनुष मोटे उपरिम तनुवातवलयके पन्द्रहसौवे भाग है। और सिद्धोकी जघन्य अवगाहना आधारसहित तीन हाथ पानी साडे तीन हाथ प्रमाण है जो कि तनुवातवलयके नौलाखवे भाग है।
$\frac{१५७X५००}{५२५}$ = १५००,, $\frac{१५७५X५००X८}{७}$ = ९००००० ,, अर्थात्- मोक्षगामी मनुष्योंका छोटा शरीर साडे तीन हाथ माना गया है। अर्थापत्ति द्वारा यह रहस्य प्रतीत हो जाता है कि छोटी अवगाहनावाले खड्गासनसेही मोक्ष गये है। अन्यथा साडे तीन हाथका पल्यङ्कासन पौने दो हाथ ही ऊचा रह जाता जो कि अवगाहना मोक्षमे अभीष्ट नही है। मोक्षमे सिध्दोके खड्गासन दोही आसन अभीप्ट किये गये है। कौनीसे लगाकर फैली हुई छोटी अगुलीतकको नापको अरत्नि कहते है। जघन्य अवगाहना साडे तीन अरत्नि है। मध्यम अवगाहनाओके बहुत प्रकार है। यो उत्कृष्ट, जघन्य

और मध्यम तीन प्रकार अवगाहनाओंके होनेपर जीवोकी सिध्दि हो रही है। चरम शरीरसे कुछ न्यून हो जाना प्रसिध्दही है। स्वकीय आत्माके व्यञ्जन पर्याय स्वरूप प्रदेशमे अथवा उतने प्रदेशोको व्यापनेवाले आकाश स्वरूप क्षेत्रमे जीवोकी अवगाहना भले प्रकार प्रवर्त रही है। दशवे अन्तरके खातेमे यो विचार किया जाय कि सिध्दिको प्राप्त हो रहे मनुष्योका जघन्य रूपसे अन्तर नही पडे तो दो समयतक न पडे। किसी भी पदार्थका छोटेसे छोटा अनन्तर (यानी व्यवधान नही पडना) दो समयही हो सकता है। फिर उत्कृष्ट रूपसे इन सिद्धोका अव्यवधान पडे तो आठ समय पड सकता है, आठ समयतक बराबर व्यवधान रहित सिद्ध होते रहते है। पश्चात् अवश्य अन्तर पट जावेगा यानी कुछ देरके लिये सिद्धोका उपजना वन्द हो जावेगा। तथा सिद्ध होनेवालोका यदि जघन्य रूपमे अन्तर पडे तो एक समय है। अर्थात् एक समय व्यवधान देकर पुन तीसरे क्षणमे सिद्ध उत्पन्न हो जाय। हा, सिद्ध हो रहे जीवोका उत्कृष्ट रूपमे अन्तर पडे तो छ महीनें तक विरहकाल पड जावेगा मध्यम भेदोके प्रति अनेक अन्तर समझ लिये जाय।

एकस्मिन्समये सिद्ध्येदेको जीवो जघन्यतः ॥ १७ ॥
अष्टोत्तरशतं जीवाः प्रकर्षेणेति विश्रुतं,
नाल्पे न बहवः सिद्धाः सिध्दक्षेत्रव्यपेक्षया ॥ १८ ॥
व्यवहारव्यपेक्षायां तेषामल्पबहुत्ववित्,
तत्राल्पे हरिणात्सिध्दा जन्मसिध्दसमूहतः ॥ १९ ॥
जन्मसिध्दाः पुनस्तेभ्यः संख्येयगुणताभृतः,
कर्मभोगधरा वार्धि द्वीपोर्ध्वाधस्तिरोभुवाः ॥ २० ॥
सिध्दानामूर्ध्वसिद्धाः स्युः सर्वेभ्योल्पे परेन्यथा,
स्युः संख्येयगुणास्तेभ्योधस्तिर्यग्भिर्वृताः क्रमात् ॥ २१ ॥

ग्यारहवी सख्याका विमर्ष यो करो कि जघन्य रूपसे एक समयमें एकही जीव सिद्ध हो पाता है। हा, प्रकर्षपनेसे एक समयमें एकसौ आठ जीव सिद्धलोकमे पहुच जाते है। यह सिद्धान्त पूर्वाचार्य प्रसिद्ध है। बारहवे अल्पबहुत्वनामक अनुयोगका यो

ध्यान लगाना चाहिये कि सिद्धक्षेत्रकी अपेक्षा करके सिद्धभगवान् न थोडे है और न बहुत है। क्योकि सिद्ध अनन्तानन्त है, जो कि दो चार, सौ, हजारसे बहुत बडी सख्या है। अतः सिद्ध थोडे नही कहे जा सकते है। साथही आजतक जितने सिद्ध हो चुके है वे एक निगोदिया शरीरमे विद्यमान जीवोंके अनन्तवे एक भाग प्रमाण है। " एय णिगोद सरीरे जीवाद्व्वथमाणदो दिट्ठा, सिद्धेहि अणेतगुणा सव्वेहि वितीद कालेण " एक निगोदियाके शरीरमे काहागण्यनानुसार भूतकालके समयोसे ओर द्रव्य सख्यानुसार सिद्धराशिसे अनन्तानन्तगुणे जीव पाये जाते है , पुद्गलराशि या अलोकाकाश प्रदेशराशि अथवा जघन्य ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोसे तो सिद्धराशि अतीव अल्प है। समुद्रमेंसे सूचीके अग्रभागपर आ गये जल कणकी और समुद्रकी उपमा विषम पडेगी, क्योकि समुद्रके पूरे जलसे सुईके अग्रभागपर आया हुआ पानी सख्यातवे, या असंख्यातवे भाग है। और सिद्धराशि तो पुद्गलराशि या उक्त पदार्थोके अनन्तानन्तवें भाग प्रमाण है। अत सिध्दोको थोडा या बहुत कहना उचित नही जचा। एक बात यह भी है कि जो जीव एक समयमे सिध्द हो रहे है। उनका थोडा बहुतपन किसकी अपेक्षा लगाया जाय ? प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा सिध्द हो रहे जीवोका कोई अल्प बहुत्व नही है, हा भूत पूर्व अवस्थाको जाननेवाली व्यवहार नयकी अपेक्षा करनेपर उन सिध्दोका थोडापन और बहुतपन विचारा जा सकता है। जो कि इस प्रकार है। थोडापन और बहुतपनको जाननेंके लिये क्षेत्रोसे हुये सिध्द दो प्रकार प्रतीत करने योग्य है। प्रथम तो किसीके द्वारा हर लिये जानेसे जो अन्य क्षेत्रोमे पडकर सिध्दिको प्राप्त हुये है। वे सहरण सिध्द है। और जो अपने जन्म स्थानोंके निकट प्रान्तोमेही स्वच्छन्द विहार कर उन्ही क्षेत्रोसे कर्मोका क्षय कर चुके है। वे जन्मसिध्द समझे जाते है। उन दोनोमे सहरण द्वारा क्षेत्रान्तरोसे सिध्द हुये मुक्त जीव तो जन्मक्षेत्रसे सिध्द हुये मुक्त जीव समुदायसे थोडे है। किन्तु फिर उन सहरण क्षेत्रसिध्दोसे जन्मक्षेत्र सिध्द हो रहे मुक्तजीव सख्यातगुणेपनको धार रहे है। इसी प्रकार कर्मभूमि और भोगभूमिकी गणना कर ली जाय, अर्थात् ढाई द्वीपकी जघन्य, मध्यम, उत्तम भोग भूमियोसे जितने जीव सिध्द हुये है। ढाई द्वीपसम्बन्धी कर्मभूमि भूमियोमेंसे उनसे सख्यात गुणे अधिक जीवोने सिध्दगति प्राप्त की गई है। तथा समुद्रोसे सिध्द हुये जीवोकी अपेक्षा द्वीपोसे सिध्द हुये जीव सख्यात गुणे है। ऊर्ध्वभूमि, अधोभूमि और तिरछी भूमियोसे हुये सिध्द भी उत्तरोत्तर सख्यात गुणे है। ऊर्ध्वदेशमें मनुष्य सुदर्शन मेरुकी चोटीतक ले जाये जा

सकते है । ढाई द्वीपकी समतल भूमिसे कहींसे भी निन्न्यानवे हजार चालीस योजन ऊचे मनुष्य उछाले जा सकते है । उन उच्च प्रदेशोसे जो सिद्धि प्राप्त करेगे वे ऊर्ध्वलोक सिद्ध कहे जायगे, और यहासे एक हजार योजन मोटी चित्रा पृथ्वीमे नीचे कही भी तक मनुष्य गिराये जा सकते है । यहा समतलसे लगाकर नीचली वज्रा पृथ्वीके उपरिम भाग तक गेर दियें गयें मनुष्योकी सिद्धि होना अधोलोक सिद्धि कही जावेगी । तिरछे ढाई द्वीपके पैतालीस लाख बृहत् योजन लम्वे, चौडे, गोल क्षेत्रसे जो सिद्ध होगें, वे तिर्यक्लोक सिद्ध माने जाते है । या अनन्तानन्त कर्मोका विनाश कर अनन्तानन्त गुणोको प्राप्त कर चुके तथा जिनका शिरोग्र भाग उस अनन्तानन्त प्रदेशी अलोकाकाशसे सयुक्त हो रहा है । वे अनन्तानन्त सिद्ध है । जो कि अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदोको धार रही अनन्तानन्त पर्यायोके समुदाय स्वरूप अनन्तानन्त गुणोके अविष्वग्भूत पिण्ड है । उन सम्पूर्ण सिद्धोको ऊर्ध्वदेश, अधोदेश और तिर्यक्देशसे यदि साधा जायगा तो उसका निर्णय इस प्रकार है कि सवसे थोडे ऊर्ध्वलोक सिद्ध है, इतर सिद्ध अन्यथा है । यानी बहुत है । उन ऊर्ध्व सिद्धोसे अधोलोक सिद्ध सख्यात गुण है । दो से प्रारम्भ कर उत्कृष्ट सख्यात तक सख्यात नामक सख्याके सख्याते प्रकार है । अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका, महाशलाका कुण्डो अनुसार समझाये गये उत्कृष्ट सख्यातको यदि लाखो योजन लम्बे चौडें कागजपर भी लिखा जाय तो पूरा नही लिखा जा सकता है । यहा जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा ज्ञात हो रहा, अथवा तदनुसार ग्रन्थित किये गये आगममे उपदिष्ट हो रहा, कोई विशेष सख्यात आचार्यको अभीष्ट है । अधोलोकमे हुये सिद्धोकी गणनासे तिर्यञ्चो करके वेष्टित हो रहे तिर्यक् लोकमे मनुष्य होकर सिद्ध हो चुके जीवोकी गिनती क्रमसे सख्यात गुणी है ।

समुद्रे सर्वतः स्तोका द्वीपे संख्येयसंगुणः,
लवणोदे समस्तेभ्यः स्तोकाः सिद्धा विशेषतः ॥ २२ ॥
कालोदे सागरे जम्बूद्वीपे च परिनिर्वृताः,
धातकीखण्ड सद्द्वीपे पुष्करद्वीप एव च ॥ २३ ॥
ते संख्येयगुणाः प्रोक्ताः क्रमशो बहवोन्यथा,
प्रत्येतव्याः समासेन यथागम मशेषतः ॥ २४ ॥

समुद्र और द्वीपोकी अपेक्षा सिद्धोको ख्याति आना चाहिये कि समुद्रोंमेसे तबसे थोडे जीव सिद्ध हुये है, द्वीपोमेंसे उनसे संख्याते गुणे सिद्ध हो चुके है। यह सामान्य बात हुई। अब विशेष रूपसे यो समझो कि लवण समुद्रमेसे सम्पूर्ण स्थानोंकी अपेक्षा थोडे जीव सिद्ध हुये है, कालोदधि समुद्रसे उस लवण समुद्रके सिद्धोकी अपेक्षा सख्यात गुणे जीव मोक्षको गये है। कालोदधि समुद्रकी अपेक्षा जम्बूद्वीपोमेंसे सख्याते गुणे जीवोंने निर्वाण प्राप्त किया है। भलेही जम्बूद्वीपसे लवणसमुद्र चौवीस गुना है। और जम्बूद्वीपसे लोदक समुद्रका क्षेत्रफल छह सौ बहत्तर गुना है। तथापि जम्बूद्वीपसे हुये सिद्धोकी सख्या अधिक है। हरे गये या विद्याधर अथवा देवोद्वारा फेके गये अन्तकृत केवलीही समुद्रोसे मोक्ष गये है। वहा यत्न द्वारा इच्छापूर्वक कोई मुनि ध्यान नही लगा सकता है। जिस जीवने जहापर अष्टकर्मोंका क्षय कर दिया है। वह तो उसी क्षेत्रपर सिद्ध हो गया समझा जावेगा। भलेही उसी समय सात राजुऊर्ध्वगमन कर सिद्धलोकमे विराजमान हो जाय।

" बाहिर सूई वग्ग अब्भन्तर सूइ वग्गपरिहीणं, "

" जम्बूवास विभत्ते तत्तियमेत्ताणि खण्डाणि " (त्रिलोकसार) बाहिरली सूचीके वर्गमेसे अभ्यन्तर सूचीके वर्गको घटा दिया जाय और जम्बूद्वीपके वर्ग आत्मक व्यासका भाग दे दिया जाय। तो जम्बूद्वीपकी बरोबरके उतनी सख्यावाले टुकडे बन जाते है। श्रेष्ठ धानकी खण्डद्वीपमे हुये सिद्धोकी सख्या जम्बूद्वीपके सिद्धोसे सख्यात गुणी है। जम्बूद्वीपसे धातकी खण्डका क्षेत्रफल एक सौ चवालीस गुणा वडा है। तथा धातकी खण्डमे हुये सिद्धोमेंसे पुष्कर द्वीपमेही उपजे वे सिद्ध सख्यातगुणे है। जम्बूद्वीपसे ग्यारह सौ चौरासी गुणा ओर धातकी खण्डसे किंचित् अधिक अठगुना वडा पुष्करार्ध द्वीप है। यो क्रममे गुणाकार रूप हो रहे सिद्ध वहुत समझे जाते है। अन्यथा यानी जिनसे गुणाकार किया गया है। वे सिद्ध थोडे समझने चाहिये, इस प्रकार पूर्वागमका अतिक्रमण नही कर सक्षेपसे अल्प और बहुत सम्पूर्ण सिद्धोको बढिया कहा जा चुका है। विस्तार रूपसे अन्य आगम ग्रन्थों द्वारा पूर्णतया प्रतीति कर लेनी चाहिये। जैसे कि मनुष्यगतिसे पूर्वगतिकी अपेक्षा अल्पबहुत्व यो समझिये कि तिर्यञ्च गतिसे आकर मनुष्य होकर मोक्षको गये, जीव स्वल्प है। मनुष्यगतिसे पुन मनुष्य होकर सिद्ध हुये जीव उनसे सख्यात गुणे है, इनसे भी सख्यात गुणे वे जीव है। जो नरकोसे आकर मनुष्य होकर

मोक्षको गये है । देवयोनिसे मनुष्य होकर मोक्ष जानेवालोंकी सख्या इनसे भी सख्यात गुणी है । इसी प्रकार वेदके अनुयोगमें नपुसकवेद, स्त्रीवेद, और पुवेदके उदय होनेपर क्षपकश्रेणी चढनेवालोकी सख्या उत्तरोत्तर सख्यात गुणी अधिक है । प्रत्येक बुद्ध थोडे है, बोधितबुद्ध उनसे सख्यात गुणे अधिक है । एव चारित्र, ज्ञान, अवगाहना, सख्या, अन्तर अनुसार भी अल्पबहुत्व आर्ष आगमका अतिक्रमण नही कर लगाया जा सकता है ।

एक एव तु सिद्धात्मासर्वथेति यकेविदुः,
तेषां नानात्मनां सिद्धिमार्गानुष्ठावृथा भवेत् ॥ २५ ॥
क्षेत्राद्यपेक्षं प्रत्युक्तं संसार्येकत्वमञ्जसा,
एकात्मवादिनां चैवं तत्र वाचोऽप्रमाणता ॥ २६ ॥
निःशेषकुमतध्वांत विध्वंसनपटीपसी,
मोक्षनीतिरतो जैनी भानुदीप्तिरिवोज्ज्वला ॥ २७ ॥

यहा ब्रम्हाद्वैतवादी कह रहे है कि सिध्दि आत्मा तो सभी प्रकारोसे एकही है । शरीर आदि उपाधियोके द्वारा एकही आत्मा भिन्न भिन्न प्रतिभासित हो रहा है, जैसे कि एक शरीरावच्छिन्न अखण्ड एक आत्मामें कभी "मेरे सिरमें वेदना है।" कदाचित् "मेरे पावमें पीडा है, यो खण्ड कल्पना करली जाती है । मुख विवर, घरकी पोल आदि उपाधियोके हट जानेंपर जैसे खण्डरूपेण कल्पित कर लिया गया । आकाश पुन महा आकाशमें लीन हो जाता है । उसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय आदि झगडोके निवृत्त हो जानेंपर खण्डित मान लिया गया आत्मा उसी एक परब्रम्हमें मिल जाता है। अत सिध्द आत्मा एकही है । अब आचार्य कहते है कि इस प्रकार जो कोई वेदान्त मतानुयायी कह रहे है । उनके यहा अनेक आत्माओका सिध्दि या मोक्ष मार्गमे अनुष्ठान करना व्यर्थ हो जावेगा । जब कि आपके यहा एकही आत्मा है, तो एक जीवके मोक्ष प्राप्त कर लेनेपर सभी जीवोकी मुक्ति हो जावेगी । न्यारे न्यारे जीवोका दीक्षा लेना, तपश्चरण करना, वैराग्यभाव भावना, धर्म आचरण सब व्यर्थ हो जावेगें । एक बात यह भी है कि ऐसा कौन अज्ञ जीव होगा जो अपनी सत्ताको मटियामेट करना चाहेगा । ऐसी मोक्षको कोई नही वाच्छेगा जहा कि अपनाही खोज खो जाय अद्वैतवादियोने जो सिरमें पीडा, पावमे वाधा या आकाशके खण्डकी चर्चा की थी । वह दृष्टान्त तो विपम

है । किसी भी अवयवमे पीडा हो सम्पूर्ण आत्मामे उसका अनुभव होता है । दूसरी बात यह है कि आत्माके प्रदेश अनेक हैं । इसी प्रकार आकाशके प्रदेश भी नाना है। जो बम्बईमे आकाशके प्रदेश है । वे सहारनपुरमे नही है, अन्यथा माननें पर सहारनपुरके पेटमे उसी स्थलपर बम्वई घुस बैठेगी। शरीरमें मुखविवर, उदरदरी नासिकारन्ध्र न्यारे न्यारे हैं। यदि प्रदेशोको न्यारा न्यारा न माना जायगा तो शरीर या आत्माकी आकृति परमाणुके बरोबर हो जायगी। सरसोके स्थलपर सुमेरु पर्वत अक्षुण्ण समा जावेगा, सिध्दान्त यह है कि प्रत्येक शरीरमे ' स्व ' सवेदन प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीत हो रहे जीव द्रव्य प्रतिशरीर न्यारे न्यारे अनेक है। कोई धनवान है, कोई निर्धन है, मूर्ख पण्डित, नीरोग-सरोग, बाल वृद्ध, पशु, पक्षी, पुरुप-स्त्री, देव-नारकी, कीट-पतग, अग्निकायिक जलकायिक, कर्जदार, कर्जदेनेवाला, न्यायाधीश (जज) कैदी, पुण्यवान् पापी, अद्वैतवादी द्वैतवादी, ब्रम्हचारी व्यभिचारी, वध्य घातक, स्वामी सेवक, गुरु शिष्य, ठग और ठगा गया, ये सब जीव न्यारे न्यारे हैं। अभी इसी सूत्र द्वारा सूत्रकार महाराज करके क्षेत्र, काल आदिकी अपेक्षा जीवोको न्यारा न्यारा सिद्ध कर ससारी जीवोके एकपनका तात्त्विकरूपसे खण्डन किया जा चुका है । उस आत्मैकत्वमे कहे गये एक आत्मा तत्त्वको कहनेवालोके वचनको प्रमाणता नही है । प्रमाणरहित अटसट कहनेवालोके वचन परीक्षकोके यहा मान्य नही है। पर सग्रहनयसे सम्पूर्ण पदार्थोको एक कह देनेमे कोई बाधा नही हैं । किन्तु प्रमाणोसे अनेकोको एक कहना असत्यार्थ है । सिद्धोके समान कोई दूसरा नही है । अत वे अनन्तानन्त सुखी सिद्ध अद्वैत यानी अनुपम भी कहे जा जकते है। सग्रह नयकी अपेक्षा सिद्धोको एक कहा जा सकता है। इस कारण जिनेन्द्र करके प्रतिपादित की गयी और सम्पूर्ण खोटे मतो रूप गाढ अन्धकारका विध्वस करनेमे अतीव दक्ष हो रही यह मोक्ष तत्त्वार्थकी नीति तो सूर्यकी दीप्तिके समान उज्वल होकर तीनो लोक प्रकाश रही है। "खद्योतो द्योतते तावद्यावन्नोदयते शशि., उदिते तु दिवानाथें न खद्योतो न चन्द्रमा ॥" जुगुनू तब तक चमकता है जब तक कि चन्द्रमाका उदय नही होता है। हां, प्रतापी सूर्यका उदय हो जानेपर तो न चन्द्रमा और न पट बीजना चमक पाते है। इस श्लोकवार्तिक महान् ग्रन्थमे सर्वज्ञ जिनेन्द्र करके प्रतिपादित किये गये न्यायशास्त्रका निरूपण किया गया है । सहस्रनाम स्तोत्रमे 'अग्रणी ग्रमिणीर्नेता प्रणेता न्यायशास्त्रकृत्, शास्ता धर्मपतिर्धर्म्यो धर्मात्मा धर्मतीर्थकृत् " इस

श्लोक द्वारा भगवान्को विशेषरूपेण न्यायशास्त्रका करनेवाला कहा गया है। मोक्ष तत्त्वमे दार्शनिकोके अनेक विवाद पडे हुये है। जो कि प्रथम सूत्रकी व्याख्या अनुसार कतिपय जाने जा सकते है। इस दशवे अध्यायमें भी कतिपय दार्शनिकोका उल्लेख किया गया है। उन सम्पूर्ण कुमतोका इस अबाधित स्याद्वाद नीतिद्वारा खण्डन हो जाता है। और अनेकान्त शासन अनुसार मोक्ष तत्त्व प्रकाशित हो जाता है।

एवं जीवादि तत्त्वार्थाः प्रपञ्च्य समुदीरिताः।
सम्यग्दर्शनविज्ञानगोचराश्चरणाश्रयाः ॥ २८ ॥
ततः साधीयसी मोक्षमार्गव्याख्या प्रपञ्चतः,
सर्वतत्त्वार्थविद्येयं प्रमाणनयशक्तितः ॥ २९ ॥

ग्रन्थकार कह रहे है कि सम्यग्दर्शन और समीचीन विज्ञानके विपय हो रहे तथा उत्तम चारित्रके आश्रय हो रहे जीव, अजीव आदि तत्त्वार्थोका श्री उमास्वामी महाराजने सक्षेपसे आर्हतदर्शन मोक्षशास्त्रमे बहुत बढिया निरूपण किया है। उन्ही जीव आदि तत्त्वोका हमने विस्तारसे इस प्रकार "श्लोकवार्त्तिकालकार" ग्रन्थमे बढिया विवरण कर दिया है। ग्रन्थके अध्ययन, अध्यापनका फल रत्नत्रयका अवलम्ब प्राप्त हो जाना है। तिस कारण विस्तारसे मोक्ष मार्गकी व्याख्या करना बहुत बढिया कर्तव्य हुआ है। प्रमाण और नयकी प्रकाण्ड सामर्थ्यसे की गयी यह ग्रन्थ व्याख्या सम्पूर्ण तत्त्वार्थोकी विद्या है। भावार्थ–तर्क उठाकर पूर्वपक्षमे किये गये सम्पूर्ण दार्शनिकोके मतको दिखाया गया है। और उत्तर पक्षमे जैनदर्शनकी पुष्टि की गई है। या ग्रन्थके अध्ययन करनेवालोको सम्पूर्ण विद्याओका परिज्ञान होकर पूर्वपक्षोका त्याग और उत्तर पक्षोका सादर ग्रहण हो जाता है। आद्य सूत्र "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग" का अवतरण करते समय ग्रन्थकारने उसके अव्यवहित पूर्वमें "एव साधीयसी साधो प्रागेवासन्ननिर्वृते, निर्वाणोपायजिज्ञासा तत्सूत्रस्य प्रवर्त्तिका" यह वार्तिक कहा है। तदनुसार आदि ग्रन्थ और अन्तिम ग्रन्थका सदर्भ मिलाते हुये ग्रन्थकार कह रहे है कि सभी दार्शनिकोका अन्तिम ध्येय मोक्ष है। उस मोक्षके मार्गकी जिज्ञासा होना सहज है। अत आदि सूत्रमें मोक्षका मार्ग बताकर दशवे अध्याय तक मोक्षका निरूपण कर दिया गया है। मोक्ष और मोक्षके कारणोका निरूपण करते हुये आचार्योको संसार और ससारके

कारणोकी प्रतिपत्ति कराना भी आवश्यक हुआ है। तभी उनका परित्याग किया जा सकेगा। यों इस महान् ग्रन्थमे सात तत्त्वोका विशदरूपेण वर्णन है। रत्नोका सचय करना न्यारा कार्य है, किन्तु अपहारकोका या शत्रुओसे लढाईमे जीतकर उन तत्त्वार्थ रत्नोकी परिरक्षा करना, दीप्ति बढाना, विलक्षण कार्य है। स्वचतुष्टय अपेक्षा अस्तित्व धर्मसे परचतुष्टयापेक्ष नास्तित्व धर्म न्यारा है। जो कि साकर्य आदि दोषोको हटाकर स्वास्तित्वको बाल बाल रखाये हुये है। इस ग्रन्थका स्वाध्याय करनेंवाले जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका आश्रय पाकर मोक्षकी प्राप्ति कर लेते है। यह ग्रन्थकारके इन श्लोकोसे ध्वनित हो जाता है। ज्ञानी जीव तत्त्वज्ञान स्वरूप माणिक्यकी इस ग्रन्थ द्वारा चद्रवत् दीप्तिको बढाकर अज्ञानान्धकाररिक्त प्रकाशित मोक्षमार्गमे निरुपद्रव गमन करते है।

तदेव शास्त्रपरिसमाप्तौ परममगलं निःश्रेयसमार्गमेव मंगलमभिष्टोतुमनाः प्राह; —

तिस कारण इस प्रकार इस तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालकार नामक महान् शास्त्रकी सागोपाड्ग समाप्ति हो चुकनेपर सर्वोत्कृष्ट मगल हो रहे मोक्ष मार्गकोही अन्त्य मगल स्वरूप मानते हुये और उसही की अन्तिम स्तुति करनेके मानसिक अभिप्रायको धार रहे ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम पद्यको शार्दूल विक्रीडित छन्द द्वारा सानन्द गायन-पुरस्सर स्पष्ट कह रहे है।

> जीयात्सज्जनताश्रयः शिवसुधाधारावधानप्रभु-
> र्ध्वस्तध्वांततति: समुन्नतगतिस्तीव्रप्रतापान्वितः।
> प्रोर्जज्ज्योतिरिवावगाहनकृतानंतस्थितिर्मानतः,
> सन्मार्गस्त्रितयात्मकोऽखिलमलप्रज्वालनप्रक्षमः ॥ ३० ॥

प्रकृष्ट रूप करके बलवान् हो रही ज्योतिके समान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनो स्वरूप हो रहा श्रेष्ठ मोक्षमार्ग जयवन्ता रहे। यानी सूर्य या चन्द्रमाकी ज्योति जैसे अनादिसे अनन्तकालतक जयवन्ती है। उसी प्रकार रत्नत्रय आत्मक मोक्षमार्ग भी जयशील बना रहे। यहा उत्कृष्ट ज्योतिको उपमान और मोक्ष

मार्गको उपमेय बनाया गया है। अब ग्रन्थकार दोनोमें घटित हो जानें योग्य विशेषणोको कह रहे हैं कि मोक्षमार्ग कैसा है ? जो कि सज्जन पुरुषोकी मण्डलीको आश्रय यानी अवलम्ब (सहारा) हो रहा है। तापसतप्त जनसमुदाय भी चन्द्रमाकी ज्योतिका आश्रय पकडता है। तथा रत्नत्रयस्वरूप श्रेष्ठमार्ग उस मोक्ष स्वरूप अमृतधाराको वर्षानेकी एकाग्रतामे समर्थ हो रहा है। और सायही चन्द्रज्योति भी कल्याण करनेवाली अमृतकीधाराको वर्षानेके अवधानमे सामर्थ्यशाली है। रत्नत्रयने मिथ्या श्रद्धान, कुज्ञान और अचारित्र स्वरूप गाढान्धकारके विस्तारको नष्ट कर दिया हैं। इधर सूर्यकी ज्योति द्वारा अन्धकारपक्ति नष्ट कर दी जाती है। रत्नत्रयसे समीचीन उन्नत हो रही मोक्षगति प्राप्त होती है। साथही ज्योतिष्मान् सूर्यकी गति भी अच्छी उन्नत हो रही है। यहासे आठ सौ योजन ऊचा सूर्यमण्डल, और आठ सौ अस्सी योजन ऊचा आकाशमें चन्द्रमण्डल गमन (तिरछाभ्रमण) कर रहा है। रत्नत्रय तो सातिशय, अलौकिक आत्मीय उत्कट प्रतापसे सहित हो रहा है। चमकता हुआ ज्योतिर्मण्डल भी प्रगाढ-प्रतापमे सहित हो रहा है। रत्नत्रयमे प्रमाणसे या इकईस प्रकारके सख्यामान द्वारा अवगाह किये जाकर विषयतासम्बन्धेन अनन्तपदार्थोने स्थिति कर रक्खी है। प्रकृष्ट ज्योतिने भी अपने नियत परिमाणसे अनन्त आकाशमें अवगाह कर लिया है। सम्पूर्ण मलोके प्रज्वालनेमे अच्छा समर्थ जैसा ज्योतिष्मान् पदार्थ है। शारीरिक मलोका प्रक्षालन हो जाय यानी पसेव द्वारा दोष वह जाय इसके लिये कतिपय मनुष्य, पशु, पक्षी, धूपमे बैठकर सूर्यातपसे स्नान करते है। चन्द्रमा तो औषधीश माने गये है। उसी प्रकार श्रेष्ठमार्ग भी सम्पूर्ण पापोको प्रकर्षरूपेण जलानेमें बहुत बढिया समर्थ है।

इस प्रकार ग्रन्थकार श्री उमास्वामी महाराजने आदि सूत्रके प्रमेयकोही अन्तिम मगलाचरण कर " आदौ मध्येऽवसाने च मगल भाषित बुधैस्तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्र तदविघ्नप्रसिद्धये " इस नीति अनुसार ग्रन्थको निर्विघ्न समाप्त किया है।

इति दशमाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम्

यहा तक दशवे अध्यायका प्रकरणोका समुदायस्वरूप दूसरा आन्हिक पूर्ण होकर समाप्त हो चुका है।

इति श्री विद्यानन्दि आचार्य विरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकारे

इस प्रकार यहा तक प्रतिवादि भयकर उद्भट विद्वान् श्री विद्यानन्द महान् आचार्य महोदय करके विलक्षण स्वरूपसे रचे गये तत्वार्थ श्लोकवार्तिकालकार नामक अनुपम ग्रंथमे दशम अध्याय समाप्त होकर परिपूर्ण हो चुका है ।

इस दशवे अध्यायके प्रकरणोकी सूचिका सक्षेप इस प्रकार है कि प्रथमही सातवें मोक्ष तत्वका निरूपण करनेके लिये उसके पूर्ववर्त्ती केवलका प्रतिपादन किया गया है । इस सूत्रकी व्याख्या करते हुये उत्तर प्रातकी पुस्तकमे प्रकृतियोके क्षयके क्रम और अधःकरण आदि परिणामोकी चर्चा की गई है । बारहवे गुणस्थानके अन्ततक होनेवाले कर्मक्षयका क्रम दिखलाते हुये बादर कृष्टि, सूक्ष्म कृष्टिका स्वरूप कहा गया है । ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन पुस्तक अनुसार तो केवलके निरूपणकी सगति दिखलाते हुये मोक्षमे ज्ञान नही रहनेका खण्डन किया है । लौकिक ज्ञान सुखोसे भिन्न अनन्त चतुष्टयको जीवनमुक्तदशामे सिद्ध कर दिया है । निर्जराका प्रतिपादन करना चाहिये । इस शकाका प्रत्याख्यान करते हुए अपर मोक्ष और पर मोक्षका भद बतलाकर जीवके आत्मलाभको ही मोक्षपनकी व्यवस्था दी है । यहा दार्शनिकोके दूषित मन्तव्योका निषध किया है । सूत्रोक्त केवलपदसे अकेले केवलज्ञानकाही ग्रहण नही है किंतु ज्ञान दर्शन, वीर्य, दान आदि अनेक क्षायिक भावोको वाच्य किया गया है । सूत्रोक्त रहस्यका अनुमानसे सिद्ध कर मक्ष की अपेक्षा केवलीकी प्रधानता साधी गई है । इसके आगे दूसरे सूत्रमें मोक्षका सिद्धात लक्षण किया गया है । मोक्षके हेतुओकी व्याख्या कर 'वि' और 'प्र' शब्दो करके इतर व्यावृत्ति समझायी गई है । अयत्नसाध्य और पुरुषार्थसाध्य कर्मक्षयकी प्रतिपत्ति कराते हुये एक सौ अडतालीस प्रकृतिओका गिनाकर उनका मोक्षम क्षय हो जाना क्रमानुसार कहा है प्राचीन प्रतिसे प्राप्त हुई टीका अनुसार द्वितीय सूत्रकी उत्थानिका उठकर उत्कृष्ट सवर और निर्जराका स्वरूप बताते हुये सूत्रोक्त कार्यकारणभावको अन्वयव्यतिरेक द्वारा या अन्यथानुपपत्तिसे पुष्ट करदिया है । यहा भी ग्रथकारने मोक्ष लक्षणके घटकावयव हो रहे 'वि' और 'प्र' का वार्त्तिक द्वारा व्याख्यान किया है । बीजाकुरका दृष्टात देकर कर्मोका ध्वस समझाया गया है ।

व्यय, ध्रौव्य रूपसे पुद्गल द्रव्यका परिणमन पुष्ट किया गया है । कर्मोकी बन्ध, उदय उदीरणा आदिको प्राचीन ग्रथोसे ज्ञातकर लेनेका निदेश किया है । पश्चात् कतिपय क्षायिक भावोके अतिरिक्त अन्य सभी औपशमिक आदि भावोके मोक्षमे नाश हो

जानेका युक्तिपूर्वक विवरण किया है। अनन्तवीर्य, सुख, चारित्र आदि गुण मोक्षमें विद्यमान रहते बताये गये है। यहा दार्शनिकोकी मोक्षविषयिणी कतिपय शकाओ और आक्षेपोका विद्वत्तापूर्ण प्रत्याख्यान किया गया है। जिससे कि " अट्ठवियकम्मवियला सीदीभूदा णिरजणा णिच्चा, अट्ठगुणा किदकिच्चा,लोयग्गणिवासिणो सिद्धा," (गोम्मटसार) " णट्ठट्ठकम्मदेहो लोपालोपस्स जाणओ दट्ठा, पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोय सिहरत्थो " (द्रव्यसग्रह) इस प्रकार सिद्धस्वरूपको परिपुष्टि हो जाती है। सिद्धत्व परिणतिको न्यारा साधते हुयें ग्रन्थकारने अन्य दार्शनिकोके मोक्ष लक्षणका प्रतिवाद कर पहिला आन्हिक समाप्त किया है। उसके पश्चात् सूत्रोक्त हेतु, दृष्टान्त पूर्वक सिद्धोके ऊर्ध्वगमनकी व्याख्या की गई है। धर्मास्तिकाय नही होनेके कारण लोकाग्रसे परली ओर मुक्तोका जाना निषिद्ध किया है। इस प्रकार मोक्षतत्त्वमें सम्पूर्ण मिथ्या मन्तव्योकी निवृत्ति कर क्षेत्र आदिका व्याख्यान किया गया है। प्रारम्भसे लेकर ग्रन्थके अन्ततककी प्रबन्ध सगतिको मिलाकर मोक्ष मार्गकी स्तुति करते हुये अन्तिम मगलाचरण पढा है। प्रकृष्ट ज्योतिके समान रत्नत्रयकी शक्तिको दिखलाकर द्वितीय आन्हिक समाप्त किया गया है।

पादोनवर्षनवकोज्झदनादिकाला,
ल्लोकोर्ध्वनिष्ठतनुवातनिचीयमानां,
न्नित्यान्नमामि कृतकृत्यवरानन्तान् ।
सिद्धान् स्ववीर्यसुखदर्शनबोधिलब्धे ॥ १ ॥

इति श्री उमास्वामी महाराज विरचित तत्त्वार्थसूत्र (आर्हतदर्शन) प॰ श्री विद्यानन्द स्वामी महाराज करके रची गयी श्लोकवार्त्तिकालकार नामक महा॰ ग्रन्थकी आगरामण्डलान्तर्गत चावली ग्राम निवासी वर्तमान सहारनपुर वास्तव्य " माणिक्यचन्द्र " कृत देशभाषामय " तत्त्वार्थचिन्तामणि सज्ञक टीकामें दशवा अध्याय परिपूर्ण हुआ। " नमोस्तु सिद्धेभ्य. सिद्धिदेभ्य, "

" गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः "

इस नीति अनुसार मुझ अल्पबुद्धि जीवसे अनेक त्रुटियां हो जाना सभव किन्तु "हसक्षीर" न्याय अनुसार शोधन करते हुये सज्जन पुरुष सिद्धान्तोक्त अर्थका ग्रहण करे। ऐसा निवेदन है।

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः सिद्धिदेभ्यः ॥

॥ ॐ नमः शांतिनाथाय जगच्छरण्याय ॥

मिति प्रथम भाद्रपद कृष्णा नवमी मगलवार विक्रम सवत् १९९३
वीर निर्वाण सम्वत् २४६२

श्री वीरः स श्रिये नः स्याद्दुष्कर्मध्वान्तभास्करः ।
यज्ज्ञानाब्धौ प्रमीयेते लोकालोकौ द्विविन्दुवत् ॥

"नमोस्तु महावीराय"

मार्गशीर्ष पञ्चम्यां रविवासरे सं. १९९८
वीर नि. स. २४६७ शोधनकर्म निर्वृत्तम् ।

"नमोऽस्तु जिनवाण्यै, दुष्कर्मसम्वरनिर्जरासम्पादिकायै"